विद्यासागर

सिन्दूरसुन्दरतनुं गिरिजासुतं तं
सिद्धिप्रदं प्रणतिभिः परितोषयेऽहम् ।
यस्यानुकूलकमनीयकृपावलम्बी
विघ्नव्यथां न समुपैति नरः कदाचित् ॥

(रूपनारायणपाण्डेयस्य)

विचित्र-कर्मा विधाता के इन्द्रजाल-सदृश जटिल विधान से भारत-भूमि को यह सौभाग्य प्राप्त है कि वह रत्न-प्रसविनी कहलाती ही नहीं, वल्कि यथार्थ में है भी। सृष्टि के आदिकाल से भारत के सुपवित्र पुण्यक्षेत्र में भगवान् की लीला-परम्परा, असम्भव असंख्य घटनाओं का समावेश और सफलता देखकर मनुष्य का मन मुग्ध रहा है और रहेगा। यह वही भूमि है, जिसकी उपजाऊ शक्ति-जिसका स्वाभाविक (Natural) सौन्दर्य, जिसकी चिर-हिम-मण्डित उत्तुङ्ग पर्वत-माला, जिसके घने जङ्गल, जिसके शान्तिनिलय तरु के उच्च- जिसके निस्तब्ध नीरव गिरिगह्वर, जिसके सूनसान मैदान, सामाजिक

प्राणप्रद सुमिष्ट सलिल-पूर्ण नद, नदी और झीलें सदा बहारदार बनी रहकर लोगों के नयन और मन को शीतल बनाती हैं। यह वही देश है, जिसकी खानें अनन्त काल से अनन्त रत्न देती हुई संसार के लोगों की सुख-समृद्धि की वृद्धि करती आती हैं। यह वही देश है, जिसका समुद्र-तट चिरकाल से अतिथि-अभ्यागतों के पदार्पण और विदेशी सौदागरों के कोलाहल से परिपूर्ण बना रहा है। इसी शोभा-सौन्दर्य-निलय रत्न-पूर्ण भारत में छओं ऋतुओं का विकास है; अन्यत्र नहीं। इसी से यहाँ लोगों को विशेष प्रीति और सुख प्राप्त होता है। किन्तु केवल प्राकृतिक शोभा और सौन्दर्य की खान होने से ही इस श्यामला सुजला सुफला पृथ्वी का इतना आदर नहीं हो सकता था। जङ्गली फूल के समान वह शोभा निराले में छिपी ही रहती। इस सुख-सौन्दर्य-पूर्ण चिरशोभामयी भूमि की इतनी प्रसिद्धि और प्रशंसा का प्रधान कारण इसके अनेक वीर बालक हैं, जिन्होंने इस भारत माता की गोद में जन्म लेकर पुण्य-कृत्यों से निज नाम ... अमर बना दिया है। सम्पूर्ण सम्पत्तियों के आधाररूप इस कल्पवृक्ष के आश्रय में रहकर पाठकगण आप क्या चाहते हैं? आप जो चाहेंगे वही मिलेगा। ऐसा कौन अमूल्य फल है जो इस कल्पतरु की शाखाओं में नहीं फला? ऐसी कौन दुर्लभ वस्तु आप चाहते हैं जो इस सुमहान् "अक्षय-वट" की सुशीतल छाया में बैठकर नहीं पा सकते?

तुम्हारी स्मरण-शक्ति अगर एकदम नष्ट न हो गई हो तो समय-स्रोत का सारा कूड़ा हटा डालो; तुम्हें उसी गौरवानुभव-पूर्ण पुरातन ...ीति-कहानी की गुनगुनाहट इस समय भी सुनाई पड़ेगी। बहुत ...ों से तुम्हारी आँखों के ऊपर जिस 'काल' की धूल ने जमा होकर ...ी देखने की शक्ति को क्षीण कर दिया है उसे साधना से हटा ...दिव्य दृष्टि पाकर देखोगे कि यह वही देश है जिसके पवित्र

सामगान से आकाश गूँज उठता था। तत्त्वदर्शी ब्रह्मपरायण महर्षि-गण विचरकर इस भूमि को चिरकाल से पवित्र बनाते आते हैं। उस स्वर्णयुग को सैंकड़ों-हज़ारों वर्षों ने हमसे कोसों दूर हटा दिया है, तथापि हम देखते हैं कि मनुष्य की स्मरण-शक्ति उस शोभन दृश्य को, उस पवित्र चित्र को, उस सुमिष्ट कल्पना को यत्न के साथ अपने में बनाये रखने और भक्ति के साथ स्मरण करने का निरन्तर प्रयास कर रही है। यह वही पुण्यभूमि है जिसके तपोवनों में महा-योगी शुकदेव, नारद, वसिष्ठ, विश्वामित्र, वाल्मीकि, व्यास आदि महाबलसम्पन्न महात्मागण विचरते थे। इसी के राजसिंहासन पर राजर्षि जनक, प्रजावत्सल रामचन्द्र, सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र और राजा युधिष्ठिर आदि प्रातःस्मरणीय राजा लोग बैठ गये हैं। यही पवित्र भूमि सत्यधर्मपरायण विचित्र-बलशाली महानुभाव भीष्म, अर्जुन, कर्ण आदि वीर पुरुषों और उनके बाद अपेक्षाकृत आधुनिक भारत के सपूत पृथ्वीराज, प्रतापसिंह, राजसिंह, रणजीतसिंह, शिवाजी और उनकी सन्तान के रुधिर से सिँची है, पवित्र हुई है, धन्य हुई है। इसी देश में राजकुमार शाक्यसिंह ने सांसारिक सुख की असारता देखकर सार-तत्त्व की खोज में अपना जीवन लगा दिया था। यही पुण्यभूमि उनके मानव-प्रेम-प्रचार का पुनीत तीर्थ है। शङ्कर भगवान् के सुविशाल कीर्त्ति-स्तम्भ-स्वरूप वेदान्त-भाष्य आदि ग्रन्थ इस भारत की महिमा की पराकाष्ठा हैं। कविकुल-सम्राट् महामति कालिदास जिस महासभा के राजकवि और प्रधान रत्न थे वह महाराज विक्रमादित्य का कीर्त्ति-मन्दिर इसी भारत में था। यह सब कीर्त्ति-गाथा अनन्त काल तक भारत के गौरव की घोषणा करेगी।

धर्मनीति, समाज-तत्त्व और जन-हितकर अनुष्ठान आदि के उच्च-तम सोपान पर चढ़कर अन्त को जब धर्महीनता और सामाजिक

अवनति के प्रबल 'भँवर' में पड़कर आर्यजाति डूब गई, जब आर्यों का देश पराये हाथ में चला गया, जब इन्होंने अपने घर में दूसरों के धन से पलना सीख लिया, तब भी, उस निराशा के घने अन्धकार में—उन मृतप्राय नर-नारियों में—नानक, गुरु गोविन्दसिंह, दादू, कबीर, श्रीचैतन्य, नित्यानन्द, सूरदास, तुलसीदास आदि धर्मात्मा ईश्वरभक्त साधुओं का यहाँ अभ्युदय हुआ है।

उसके उपरान्त मृत्यु के कराल मुख में पड़े हुए, विस्मृति के अथाह पानी में मग्नप्राय भारत के अन्धकारपूर्ण पश्चिम प्रान्त में स्वामी रामतीर्थ स्वामी दयानन्द और पूर्वप्रान्त में परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, राजा राममोहन राय आदि का अभ्युदय भी विधाता के विधान की विचित्रता का एक मनोहर दृश्य है। जब इन लोगों की भारी पुकार से भारत-सन्तानों की गहरी नींद खुली, बहुत दिनों की चुप्पी का अन्त हुआ, उन लोगों के जड़-प्राय हाथ-पैरों में चेतना का सञ्चार हुआ, बहुत दिनों के घने अन्धकार के अन्त में जब नव्य भारत के भावी शुभ दिन के प्रथम उषःकाल की झलक दिखाई दी, भारत के पूर्व-प्रान्त में जब मेघमाला के घने आवरण को भेदकर सुप्रभात का आगमन हुआ, तब मनुष्य-लोक में ऋषियों ने और स्वर्ग में देवताओं ने जय-जयकार के साथ भारत-सन्तानों को आशीर्वाद दिये। जब आशा के प्रथम प्रकाश में वङ्ग-जननी का मुख-मण्डल विषाद-पूर्ण दिखाई पड़ रहा था, जिस समय अज्ञता, आलस्य, जड़ता, संकीर्णता आदि घुन लगकर बंग-समाज की जीवनी-शक्ति को क्षीण कर रहे थे, जिन दिनों भागीरथी के दोनों किनारों पर जलती हुई चिता में जीती हुई औरतें भस्म हो जाती थीं और उन असहाय हिन्दू-विधवाओं के आर्त्तनाद से आकाश गूँज उठता था; जड़ और जीव दोनों ही मिलकर इस नारी-हत्या के

बहुत सी सामग्री दी है। उनका भी मैं सदा कृतज्ञ रहूँगा। ...गर महाशय के जेठे नाती 'साहित्य'-सम्पादक मेरे परमस्नेह-पात्र श्रीयुत सुरेशचन्द्र समाजपति ने ग्रन्थ के आरम्भ से अन्त पर्यन्त सलाह देकर, पारिवारिक जीवन की बहुत सी बातें बताकर, तरह-तरह से सहायता पहुँचाकर मुझे अनुगृहीत बनाया है।

जिन बातों के बिना इस ग्रन्थ का प्रकाशन और प्रचार नहीं हो सकता था, उनके एक अंश का तो वर्णन हो चुका। अब दूसरे अंश का उल्लेख करके मैं इस वक्तव्य को समाप्त करूँगा। संस्कृत-प्रेस डिपोज़िटरी के प्रधान कर्मचारी मेरे सहोदर-तुल्य बन्धु श्रीयुत अविनाशचन्द्र मुकर्जी महाशय की सहायता और सहानुभूति के बिना इस पुस्तक का छपना सर्वथा असम्भव था। अविनाश बाबू ने पुस्तक के प्रूफ़ देखकर मुझे और भी ऋणी बना लिया है। इस पुस्तक में जो चित्र हैं उनके लिए मैं गवर्नमेंट आर्टस्कूल के प्रधान शिक्षक श्रीयुत बाबू अन्नदाप्रसाद बागची का अनुगृहीत हूँ। पुस्तक और चित्रों में ख़र्च अधिक देखकर मैं बड़े ही असमञ्जस में पड़ गया था। निम्नलिखित सज्जनों ने सहायता करके उससे मुझे उबारा है—

श्रीमती महारानी स्वर्णमयी, सी० आई०।
श्रीयुत माननीय गुरुदास बन्द्योपाध्याय।
श्रीयुत सर रमेशचन्द्र मित्र।
श्रीयुत राजा प्रमथभूषणदेवराय (नलडाँगा)।
श्रीयुत दुर्गामोहन दास।
श्रीयुत राय यतीन्द्रनाथ चौधरी (टाकी)।
श्रीयुत भूपेन्द्रनाथ बसु, एम० ए०, बी० एल०।
श्रीयुत राजकृष्ण बन्द्योपाध्याय।
...डाक्टर यदुनाथ मुखोपा...।

रीं

श्रीयुत नगेन्द्रनाथ सरकार।

श्रीयुत नारायणचन्द्र विद्यारत्न।

इन लोगों ने सहायता करके मुझे विशेष उपकृत और अनुगृहीत किया है।

५६।१ सुकियास्ट्रीट, कलकत्ता
२ ज्येष्ठ, १३०२ साल.

श्रीचण्डीचरण वन्द्योपाध्याय.

काम में लगे हुए थे* तब किसे पता था कि जन्मभूमि की भलाई के लिए एक वीर बालक अवतार लेगा? जिस समय कोमलकली ऐसे असहाय बच्चे समुद्र को अर्पण कर दिये जाते थे और उनके शोक-सन्तप्त मा-बाप सूना हृदय लिये सूने घर में लौट आकर आँधी में गिरे हुए पेड़ की तरह धराशायी होकर हाहाकार से आकाश-मण्डल को गुँजा देते थे †, जब सुशिक्षा और सुशासन के अभाव से अमीर ग़रीबों का गला दबाते थे, एक आदमी दूसरे का सर्वस्व हज़म करने की निरन्तर चेष्टा करता था, जब असहाय अबलाओं के पक्ष का समर्थन करने के लिए और ग़रीब प्रजा की स्वार्थरक्षा तथा सुखवृद्धि के लिए दृढ़व्रत धर्मात्मा राममोहन राय ने इँगलेंड की यात्रा की थी, जब भारत की आशा का बालसूर्य क्रमशः पश्चिम-आकाश में ढल रहा था, जब बङ्गाल का सूर्य अटलाण्टिक महासागर के गम्भीर गर्भ में सदा के लिए डूब गया था तब कौन जानता था कि और एक वीर बालक जन्मभूमि की भलाई के लिए अवतार लेगा? उस समय कौन जानता था कि संस्कृत कालेज की निम्नतम श्रेणी का दस वर्ष का बालक (ईश्वरचन्द्र) महात्मा राममोहन राय के पदाङ्क का अनुसरण करेगा? कौन जानता था कि राममोहन ने जिस समाज-संस्कार-कार्य की सूचना करके असमय में आत्मीय स्वजनों से दूर विदेश में शरीर-त्याग किया उस सत् अनुष्ठान का सूक्ष्म सूत्र वे बालक ईश्वरचन्द्र के हाथ में दे गये हैं? कौन जानता था कि हुगली के दक्षिणसीमान्त में स्थित छोटा सा गाँव राधा-

* पति के ऊपर हिन्दू स्त्री के गहरे प्रेम से ही सहमरण की चाल चली थी। वैसे सहमरण को कभी किसी देश में कोई भी क़ानून के द्वारा नहीं रोक सकता।

† केवल बङ्ग देश में ही कहीं-कहीं यह चाल थी।

नगर, मेदिनीपुर के उत्तरप्रान्तस्थ वीरसिंह गाँव के साथ, बङ्गाल के सामाजिक इतिहास में एक ही सूत्र में ग्रथित होगा? पर विधाता की इच्छा को कौन जान सकता है? दिव्य-ज्ञान-सम्पन्न साधु लोग ही विधाता के अङ्गुलि-सङ्केत को समझ सकते हैं। और की क्या मजाल कि उस गूढ़ अभिप्राय के कठिन पर्दे को खोल सके।

बङ्गाल के सुदिन के सुप्रभात में ईश्वरचन्द्र ने जन्म लिया था। उनका जन्म समाज-विप्लव, समाज-संस्कार और सामाजिक परिवर्त्तन के समय में हुआ था। वे जिस समय वीरसिंह गाँव की झोपड़ी में माता की गोद में बचपन बिता रहे थे उस समय कलकत्ते में राजा राममोहन राय, डेविड हेयर, दीवान रामकमल सेन और सर राजा राधाकान्त देव बहादुर उनके भावी कर्मक्षेत्र को तैयार कर रहे थे। बालक ईश्वरचन्द्र जिस समय देहात के मैदान में खेल-कूद के समय बिताते और अत्यन्त अधिक उद्दण्ड-स्वभाव के कारण पड़ोसियों को तरह-तरह के क्लेश पहुँचाने में आनन्द का अनुभव करते थे उस समय किसने सोचा था कि गँवई-गाँव का पर्ण-कुटीरवासी यह दरिद्र ब्राह्मण-सन्तान अपने अध्यवसाय और सहिष्णुता के कारण पौरुष और प्रतिभा के पराक्रम से वंग-समाज को हिला देगा? कौन जानता था कि बचपन की उस पत्थर सी निष्ठुरता के भीतर आर्त्त और विपत्तिग्रस्त लोगों के लिए अमृत-शीतल स्नेह छिपा हुआ है।

विद्यासागर का चरित्र विचित्र घटनाओं से परिपूर्ण है। और, वे घटनाएँ इतना चित्त को मुग्ध करनेवाली और उपदेश-पूर्ण हैं कि उनकी आलोचना से क्षुद्र हृदय और क्षुद्र ज्ञानवाली लोक-मण्डली का विशेष कल्याण होने की सम्भावना है। ग़रीब के घर में

जगत्प्रसिद्ध महापण्डित तेजस्वी और सर्वगुण-सम्पन्न सुसन्तान का जन्म लेना पाश्चात्य देशों में आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु आधुनिक भारत में ऐसी घटना एक प्रकार से अद्भुत ही मानी जायगी। दुःख-दारिद्र्य के कड़े कोड़ों की मार खाते हुए, एकाहार और अनाहार से दिन बिताकर, अन्त को समाज के अगुआ का सम्मानित पद प्राप्त करना, इस आलसी और उद्यमविहीन देश में अप्राप्य नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। किन्तु परलोक-गत महात्मा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की जीवनी इसी लिए अधिक उपादेय है कि वे ऐसे ही एक महापुरुष थे जो अनेक बाधा-विघ्नों और असुविधाओं की पर्वा न करके कर्त्तव्य के मार्ग में अग्रसर हुआ करते हैं।

विद्यासागर महाशय बहुत ग़रीब मा-बाप के घर पैदा होकर स्वयं सर्वगुण-सम्पन्न पुरुष-रत्न कैसे बन सके? क्या किसी ने कभी ध्यान देकर विचार किया है कि दरिद्र-कुमार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर दयासागर क्यों और कैसे बन गये? क्या किसी ने पुङ्खानुपुङ्ख-रूप से अनुसन्धान करके देखा है कि महामना महापुरुष विद्यासागर का महान् चरित्र किस सामग्री से सङ्गठित हुआ था? बुद्धिमान् और सोच-समझ सकनेवाले लोग देखेंगे कि विद्यासागर की प्रकृति को सुकोमल और सुन्दर बनाने का काम उनके चिरपूजनीय दृढ़व्रत और उदार-हृदय पिता ठाकुरदास और माता के ही हाथों सुसम्पन्न हुआ है। पुण्यवती और सहृदया उनकी माता भगवती देवी को ही विशेष रूप से प्रशंसा प्राप्त हो सकती है। उस दयामयी पतिव्रता के कोमल हृदय की बूँद-बूँद दया इकट्ठी होने से यह रत्नपूर्ण विद्यासागर हमारे समाज को प्राप्त हुआ था। उस हिन्दूललना ने बड़े ही यत्न से ईश्वरचन्द्र को पाला-पोसा था। इसी से आज उस

सुपुत्र का यश दूर-दूर तक सुनाई पड़ता है। विद्यासागर की पवित्र कीर्त्ति-गाथा सारे भारत में एक-स्वर से गाई जाती है। जिन पारिवारिक घटना-परम्पराओं से विद्यासागर का जीवन सङ्गठित हुआ था उन्हीं का उल्लेख, सबसे पहले, संक्षेप में, किया जाता है।

पूर्वपुरुष और जन्म-विवरण

१७४२ शकाब्द (हिजरी सन् १२२७ और अँगरेज़ी सन् १८२०) की आश्विन-कृष्णा द्वादशी मङ्गलवार को दोपहर के समय मेदिनीपुर ज़िले के अन्तर्गत वीरसिंह गाँव के एक ग़रीब ब्राह्मण-घराने में ईश्वरचन्द्र का जन्म हुआ था। ये अपने मा-बाप के पहले लड़के थे। जिस घराने में ईश्वरचन्द्र का जन्म हुआ वह ग़रीब अवश्य था; लेकिन उसमें निष्ठावान् और कर्त्तव्य-निरत लोगों की कमी न थी। जिन आचारों और आचरणों को देखने से सुशिक्षा प्राप्त कर लड़की-लड़के अपने भावी जीवन को उत्तम बना सकते हैं उनकी ईश्वरचन्द्र के घर में कमी न थी।

जो महा-पुरुष आगे चलकर विशेष रूप से प्रतिपत्ति प्राप्त करने में अपनी विद्या, बुद्धि और शक्ति-सामर्थ्य लगाकर अपने और असंख्य लोगों के सुख और समृद्धि की वृद्धि कर सकते हैं उन्हें पृथ्वी के लोग सहज ही अपने से अलग कर देते हैं। और, यदि वे अन्य दस आदमियों की तरह न्याय-अन्याय के विचार से शून्य होकर चिरागत पद्धति का अनुसरण न करके स्वयं अपनी राह खोज लेते हैं और अन्य दस आदमियों को भी उस मार्ग में चलाने या चलने में सहायता पहुँचाते हैं तो उन्हें लोग दैव-बल-सम्पन्न महापुरुष समझते हैं और कहते हैं कि यह व्यक्ति भगवान् की विशेष कृपा प्राप्त करके सिद्ध-पुरुष हो गया है। ऐसे मनुष्यों का जन्म-वृत्तान्त साधा-

रणत: कुछ-कुछ असाधारण और अश्रुतपूर्व घटनाओं से पूर्ण बतलाया जाता है और किसी-किसी पुरुष के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली वे अलौकिक आख्यायिकाएँ सत्य ही होती हैं; उन्हें झूठ समझने का कोई कारण नहीं देख पड़ता।

विद्यासागर महाशय के जन्म-वृत्तान्त में भी इस प्रकार की कुछ विचित्र बातें सुनने को मिलेंगी। जिस समय विद्यासागर माता के गर्भ में थे उस समय उनकी माता पागल थीं। अनेक प्रकार की दवाएँ होने पर भी उनका यह रोग आराम नहीं हो सका। किन्तु विद्यासागर महाशय के जन्म लेते ही वे चङ्गी हो गईं। उनका ज्ञान और भाव सब पूर्ववत् हो गया! उनको अचानक पूर्वावस्था में देखकर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ। कहा जाता है कि उदयगंज-निवासी ज्योतिषी भवानन्द शिरोमणि भट्टाचार्य ने आसन्नप्रसवा वधू की जन्म-कुण्डली देखकर बतला दिया था कि "उन्हें किसी प्रकार की रोग-बाधा नहीं है। उनका शरीर स्वस्थ है। ईश्वर का कृपा-पात्र कोई महापुरुष उनके गर्भ में आया है। उसी के तीव्र तेज से वे इतनी अधीर हो गई हैं! इस विशेष शक्तिशाली बालक के पैदा होते ही उनका चित्त स्वस्थ हो जायगा।" जब भट्टाचार्य महाशय का कहना सच निकला तब उस बालक के महापुरुष होने के सम्बन्ध में भी लोगों की धारणा बद्धमूल हो गई। बालक ईश्वरचन्द्र को महापुरुष समझने का कारण एक और भी था। ईश्वरचन्द्र के बाबा धर्मपरायण योगी थे। उनका नाम था रामजय तर्कभूषण। उन्होंने तीर्थ-यात्रा करने के समय एक दिन स्वप्न देखा कि उनके वंश में एक शक्तिशाली अद्भुतकर्मा महापुरुष जन्म लेगा। वह बालक आगे चलकर अपने वंश की प्रतिष्ठा बढ़ावेगा। उसके कामों से देश को गौरव प्राप्त होगा। वह दया का साक्षात् अवतार होगा। स्वप्न में

रामजय को यह भी आज्ञा मिली कि तुम अपने देश को लौट जाओ, अपने परिवार की ख़बर लो और उक्त बालक के जन्म की प्रतीक्षा करो। स्वप्न के अनुसार तर्कभूषणजी देश को लौट आये और स्वप्न की सफलता की अपेक्षा करने लगे। इस जगह पर और भी एक बात लिख देना आवश्यक है। शिशु के ज़मीन पर आते ही सिद्ध पुरुष तर्कभूषणजी ने उसकी जीभ के नीचे महावर से कुछ लिखकर कहा था कि यह बालक सयाना होने पर सबको परास्त करेगा; यह अपनी प्रतिज्ञा के पराक्रम से हलचल डाल देगा। इसकी दया देखकर सब लोग मुग्ध होंगे। मैं ही इसका दीक्षागुरु होता हूँ। इस बालक का और कोई गुरु न होगा। आज मेरा स्वप्न सफल हुआ; मेरा वंश पवित्र हो गया।

ईश्वरचन्द्र जब पैदा हुए तब उनके पिता ठाकुरदास वन्द्योपाध्याय घर में नहीं थे। निकट के एक स्थान में मङ्गल और शनिवार को—हफ़्ते में दो बार—बाज़ार लगता था। मङ्गलवार को भोजन करके वे बाज़ार गये थे। रामजय तर्कभूषण पुत्र को पुत्र-जन्म का शुभ समाचार सुनाने के लिए उधर ही जा रहे थे। रास्ते में ही पिता और पुत्र से भेंट हो गई। तर्कभूषणजी ने पुत्र से कहा—"एक बछड़ा पैदा हुआ है।" इसी समय घर में एक गाय भी व्यानेवाली थी। ईश्वरचन्द्र के पिता घर आते ही सबसे पहले बछड़ा देखने के लिए गोशाला की ओर चले। तब उनके पिता ने हँसते-हँसते कहा—"उधर नहीं, इधर आओ; मैं तुम्हें बछड़ा दिखाऊँ।" यह कहकर वे पुत्र को 'सौर' के पास ले गये और बोले—"मैंने इस बालक को बछड़ा इसलिए कहा कि यह बछड़े की ही तरह मनमौजी होगा। जो चाहेगा, उसे करके ही छोड़ेगा। किसी को भी नहीं डरेगा। यह बालक क्षणजन्मा महापुरुषों की श्रेणी में होगा। इसका कोई

प्रतिद्वन्द्वी न होगा। यह परम-दयालु होगा। इसकी कीर्त्ति चारों ओर फैल जायगी। इसके जन्म से मेरे वंश की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। इसी से मैंने इसका नाम रक्खा है ईश्वरचन्द्र।" विद्यासागर महाशय का यही एक नाम रक्खा गया। दूसरे नाम से वे नहीं पुकारे गये।

विद्यासागर महाशय की जन्मभूमि है वीरसिंह गाँव। वीरसिंह गाँव के वन, उपवन, अन्न के खेत, जलाशय और अन्यान्य साधारण से भी साधारण प्राकृतिक शोभा आदि के साथ ईश्वरचन्द्र के बाल्य-काल की पवित्र स्मृति का सम्बन्ध है। वीरसिंह में ही वे बचपन में खेले कूदे, और लड़े-झगड़े। उन्होंने आमोद-प्रमोद किये और ऊधम भी मचाया। वीरसिंह उन्हें बहुत ही प्रिय था। किन्तु विद्यासागरजी के पूर्व-पुरुष इस गाँव के रहनेवाले न थे। हुगली ज़िले के अन्तर्गत जहानाबाद के उत्तर-पूर्व कोण में तीन कोस के फ़ासले पर वनमालीपुर नाम का एक गाँव है। उसी में ईश्वरचन्द्र के बाबा तर्कभूषणजी रहते थे। वहां से वीरसिंह क्यों चले आये, सो नीचे लिखा जाता है।

वनमालीपुर में रहने के समय, विद्यासागर महाशय के परबाबा भुवनेश्वर विद्यालङ्कार महाशय के न रहने पर, उनके पाँचों पुत्र (बड़े नृसिंहराम, मँझले गङ्गाधर, तीसरे रामजय, चौथे पञ्चानन, पांचवें रामचरण) एक ही में रहते थे। किन्तु बड़े और मँझले दोनों भाई गृहस्थी का सब कर्तृत्व अपने हाथ में लेकर मामूली-मामूली बातों में ऐसा लड़ते-झगड़ते और अपने तीसरे भाई—विद्यासागर के बाबा—का इतना अपमान करते और इतना कष्ट देते थे कि वे कुछ समय तक तो निर्वाह करते रहे और फिर अन्त को दो पुत्रों और चार कन्याओं के साथ अपनी धर्म-पत्नी दुर्गादेवी को घर में छोड़कर बिना कहे-सुने चल दिये।

वीरसिंह गाँव में उमापति तर्क-सिद्धान्त नाम के एक प्रसिद्ध पण्डित रहते थे। राढ़ देश में वे अद्वितीय वैयाकरण माने जाते थे। कहा जाता है कि मेदिनीपुर के प्रसिद्ध धनी चन्द्रशेखर घोष की माता के श्राद्ध में जो अध्यापक पण्डित निमन्त्रण पाकर जमा हुए थे उनमें नवद्वीप के उस समय के प्रधान नैयायिक पण्डित शङ्कर तर्क-वागीश भी उपस्थित थे। उन्होंने उमापति तर्क-सिद्धान्त की असाधारण व्याकरण-पटुता देखकर प्रसन्न होकर सबके सामने उनकी बड़ी बड़ाई की। इससे उनकी प्रतिष्ठा और आदर बहुत बढ़ गया था। रामजय तर्कभूषण घर छोड़कर जाते समय जिस अपनी पत्नी दुर्गादेवी को बाल-बच्चों सहित वनमालीपुर में रख गये थे वे इन्हीं उमापति तर्क-सिद्धान्त की तीसरी कन्या थीं। तर्कभूषण महाशय के देशत्याग के उपरान्त दुर्गादेवी कुछ समय तक तो कष्ट सहती हुई ससुराल में ही रहीं और फिर जब कष्ट न सहा गया तब वीरसिंह में अपने पिता के घर जाकर रहने लगीं। दुर्गादेवी के दो पुत्र थे। बड़े का नाम ठाकुरदास और छोटे का कालिदास था। उनके चार लड़कियाँ भी थीं। बड़ी का नाम मंगला, मँझली का कमला, तीसरी का गोविन्दमणि और छोटी का अन्नपूर्णा था। इन सबमें बड़े विद्यासागर के पिता ठाकुरदास थे।

दुर्गादेवी लड़के-लड़कियों सहित पिता के घर रहने लगीं। उनके पिता उमापति तर्कसिद्धान्त महाशय बड़े आदर और यत्न से नाती और नतिनियों का लालन-पालन करने लगे। थोड़े दिनों तक तो दुर्गादेवी को यहाँ कोई कष्ट नहीं मिला और उससे उन्हें यह आशा हुई कि यहाँ मेरे दिन सुख से कट जायँगे। किन्तु कुछ ही दिनों में उनकी यह आशा निराशा के अन्धकार में लीन हो गई। एक तो उनके पतिदेव लापता थे, दूसरे कई एक दुधमुँहे बच्चों के

भरण-पोषण और देख-रेख का भार उनके ऊपर था। दुर्गादेवी के माता-पिता बहुत ही बूढ़े थे। गृहस्थी का कर्तृत्व दुर्गादेवी के भाई और भौजाई के हाथ में था। भाई और भौजाई एक अनिश्चित समय के लिए इन सात जीवों के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेना न चाहते थे। इसी कारण वे सदा साधारण-साधारण बातों पर लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज किया करते थे। समय-समय पर बहुत दुःखित होने पर दुर्गादेवी अपने वृद्ध माता-पिता से जाकर कहती थीं। लेकिन उससे कुछ फल नहीं होता था। क्योंकि, बूढ़े मा-बाप की कुछ चलती न थी। अन्त को पिता की आज्ञा से पिता के घर के पास ही दुर्गादेवी ने एक छोटी सी झोपड़ी बनवा ली और उसी में पुत्र-कन्यासहित रहकर बड़े कष्ट से दिन बिताने लगीं।

जिस समय का यह वर्णन है उस समय निरुपाय भले घरों की असहाय स्त्रियाँ तकुए और चर्खे में सूत कातकर, दूसरों के द्वारा उसे बाज़ार में बेचकर, अत्यन्त दीनभाव से अपना गुज़ारा करती थीं। दुर्गादेवी ने भी यही रास्ता पकड़ा। लेकिन केवल उतनी ही आमदनी से काम न चलता था। इसलिए उमापति तर्कसिद्धान्त भी बीच-बीच में कुछ-कुछ सहायता करते थे। इसी तरह कष्ट से कुछ काल बीता। इसी समय बड़े लड़के ठाकुरदास से माता का असह्य कष्ट नहीं देखा गया और उन्होंने धनोपार्जन के विचार से लड़कपन में ही घर छोड़कर कलकत्ते की यात्रा कर दी। माता की आज्ञा लेकर ठाकुरदास जब कलकत्ते आये तब उनकी अवस्था केवल पन्द्रह वर्ष की थी।

उसी समय उनके निकट सम्बन्धी जगन्मोहन न्यायालङ्कार, सुविधा और सुयोग की कृपा से, कलकत्ते में एक प्रतिष्ठित आदमी समझे जाते थे। वे सहृदय थे। उनका ज़माना भी अच्छा था।

वे जी खोलकर ग़रीबों को अन्नदान करते थे। ठाकुरदास के जाने पर उन्होंने बड़े आदर से इन्हें अपने घर में स्थान दिया। ठाकुरदास ने वनमालीपुर में और उसके बाद वीरसिंह में थोड़ा-बहुत व्याकरण पढ़ा था। अब उन्होंने न्यायालङ्कारजी की पाठशाला में संस्कृत पढ़ने का निश्चय कर लिया और न्यायालङ्कारजी भी इस पर राज़ी हो गये। किन्तु जब ठाकुरदास ने देखा कि संस्कृत पढ़ने में बहुत समय लगता है और शीघ्र धनोपार्जन की कोई आशा नहीं होती तब उन्होंने अपना विचार बदल दिया। एक ओर विद्या प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा थी और दूसरी ओर असहाय माता और भाई-बहनों का अन्नकष्ट मिटाने की प्रबल उत्तेजना थी। अन्त को ठाकुरदास ने यही निश्चय किया कि थोड़े दिनों में कोई अर्थकरी विद्या सीखकर माता का दुःख दूर करना चाहिए।

उस समय साधारण अँगरेज़ी जानने से सौदागर अँगरेज़ों के आफ़िसों में सहज ही नौकरी मिल जाती थी। सबने ठाकुरदास को अँगरेज़ी पढ़ने की ही सलाह दी। किन्तु आजकल की तरह उस समय अँगरेज़ी पढ़ने का सामान या सुभीता न था। पढ़ने की पुस्तकें और पढ़ानेवाले आदमी भी न थे। उस समय आजकल की तरह महल्ले-महल्ले और गाँव-गाँव में स्कूल भी नहीं थे। साहबों के आगे मन का भाव व्यक्त करने के समय अँगरेज़ी पढ़े हिन्दुस्तानी लोग दो-तीन विशेष्य-पद या दो-तीन क्रियापद एक जगह मिलाकर मन का भाव व्यक्त करते थे। साहब लोग किसी तरह मतलब समझ लेते थे। बहुत लोग तो मन का भाव व्यक्त करते समय कुछ अँगरेज़ी और कुछ हिन्दी के साथ इशारों से काम लेते थे। कोई आदमी अगर अच्छे अँगरेज़ीदाँ होने का प्रशंसापत्र पाता था तो उसकी योग्यता हज़ार दो हज़ार अँगरेज़ी के शब्द कण्ठस्थ कर लेने

की ही होती थी। इतनी ही योग्यता में उस समय की अँगरेज़ी-शिक्षा समाप्त हो जाती थी। ठाकुरदास ने इसी तरह की अँगरेज़ी-शिक्षा के लिए तैयारी की। न्यायालङ्कार महाशय के एक मित्र काम चलाने भर की अँगरेज़ी जानते थे; वही न्यायालङ्कारजी के अनुरोध से ठाकुरदास को अँगरेज़ी सिखलाने लगे। वे भद्र पुरुष दिन भर अपने काम से घर के बाहर रहते और दिन भर के बाद शाम को अवकाश मिलने पर ठाकुरदास को पढ़ाते थे।

ठाकुरदास उन्हीं भद्रपुरुष के घर जाकर बहुत रात तक परिश्रम करके अँगरेज़ी सीखने लगे। कुछ दिन बीतने पर एक बार सन्ध्या के समय उन भद्र पुरुष ने ठाकुरदास का चेहरा सूखा और उदास देखकर उनसे पूछा—"ठाकुरदास, तुम रोगियों की तरह दिन-दिन दुबले क्यों होते जाते हो?" ठाकुरदास कुछ भी उत्तर न दे सके; चुपचाप आँसू बहाने लगे। उन सहृदय सज्जन के बहुत कुछ कहने-सुनने पर ठाकुरदास ने कहा—"महाशय, जब से अँगरेज़ी पढ़ने लगा हूँ तब से एक ही बार भोजन करता हूँ। न्यायालङ्कार महाशय के यहाँ सन्ध्या के बाद ही सब लोग भोजन कर लेते हैं। मैं जब पढ़कर घर जाता हूँ तब सब लोग भोजन करके सो जाते हैं। लाचार रात को मैं वैसे ही सो रहता हूँ। इसी से दुबला होता जाता हूँ।" उक्त शिक्षक महाशय के एक दयालु सम्बन्धी भी वहाँ पर उपस्थित थे। उन्होंने इस विद्या-प्रेमी बालक के क्लेश की बात सुनकर अत्यन्त दुःखित होकर कहा—"देखो ठाकुरदास, तुम्हारा वहाँ रहना ठीक नहीं। अगर तुम अपने हाथ बनाकर खा सको तो मैं तुमको अपने यहाँ रख सकता हूँ।" इस प्रस्ताव पर ठाकुरदास चट राज़ी हो गये। वे दूसरे ही दिन उन भद्रपुरुष के घर चले गये और दोनों वक्त भोजन करने का ठिकाना हो जाने से कुछ निश्चिन्त

होकर लिखने-पढ़ने लगे। किन्तु ठाकुरदास को आश्रय देनेवाले वे भद्रपुरुष जैसे सदाशय और सज्जन थे वैसे धनी नहीं थे। उनकी भी आर्थिक दशा अच्छी न होने के कारण कभी-कभी ठाकुरदास को निराहार ही रह जाना पड़ता था। किन्तु उनके स्नेह, ममता और मीठी बातों के आगे ठाकुरदास उस कष्ट को कुछ नहीं समझते थे। ये भद्रपुरुष दलाली का काम करते थे। दलाली की आय का कुछ ठीक नहीं होता। एकाएक उनकी आमदनी इतनी कम हो गई कि निर्वाह होना कठिन हो गया। वे साधारण धनोपार्जन के लिए दिन भर बाज़ार घूमते थे। फिर भी सन्ध्या के समय कभी कुछ लेकर और कभी ख़ाली हाथ घर आते थे। जिस दिन कुछ लाते थे उस दिन दोनों आदमी दिन भर के बाद रात को भोजन करते थे और जिस दिन कुछ नहीं मिलता था उस दिन निराहार रह जाते थे। सच है, जहाँ जाय भूखा वहाँ पड़े सूखा। ठाकुरदास के पास एक छोटी सी पीतल की थाली और एक लोटा था। एक दिन इन्होंने सोचा कि इन दोनों बर्तनों को बेच डालना चाहिए। जो इनके दाम मिलेंगे उनसे जिस दिन कुछ खाने को नहीं मिलेगा उस दिन कुछ चबेना चबाकर ही गुज़र करूँगा। यह सोचकर ठाकुरदास ठठेरे के यहाँ उन दोनों बर्तनों को लेकर गये। ठठेरों ने इनके हाथ से बर्तन लेना मंजूर नहीं किया। उन्होंने कहा—"हम अनजान आदमी के हाथ से पुराने बर्तन नहीं ले सकते। क्या जानें ये बर्तन कैसे हों।" जब किसी दूकानदार ने बर्तन नहीं ख़रीदे तब ठाकुरदास लाचार होकर अपने डेरे पर लौट आये। उस दिन भी कुछ भोजन नहीं हुआ।

और एक दिन दोपहर को भूख के मारे बालक ठाकुरदास से रहा नहीं गया। किस तरह भूख की ज्वाला मिटे, इसी चिन्ता से

व्याकुल होकर वे घर के बाहर निकलकर घूमने लगे। घूमते-घूमते वे बड़बाज़ार से ठनठनिया तक चले गये। पर खाने का कुछ ठीक नहीं लगा। भूख के मारे ठाकुरदास को चक्कर सा आ गया। इसी समय वे एक दूकान के सामने आकर खड़े हो गये। उस दूकान पर एक अधेड़ विधवा लैया बेच रही थी। उस विधवा ने ठाकुरदास को यों खड़े देखकर पूछा—"भैया, खड़े क्यों हो?" ठाकुरदास ने पीने के लिए थोड़ा सा पानी माँगा। वह विधवा ठाकुरदास को आदर और स्नेह के साथ बिठलाकर पानी ले आई। ब्राह्मण के लड़के को केवल जल देना उचित न समझकर उसने थोड़ी सी लैया भी दी। ठाकुरदास ने जिस ढँग से लैया चबाई उसे देखकर वह विधवा समझ गई कि आज इस बालक ने कुछ भी भोजन नहीं किया। तब उस स्त्री ने कहा—"भैया, जान पड़ता है, आज तुमने कुछ भोजन नहीं किया।" ठाकुरदास ने कहा—"मैया, आज मैंने अभी तक कुछ भी नहीं खाया।" तब उस स्त्री ने पास की अहीर की दूकान से थोड़ा सा दही लाकर दिया। भोजन के उपरान्त ठाकुरदास के मुँह से उनका सारा हाल सुनकर उस दयामयी स्त्री ने विशेष आग्रह करके कहा कि "जिस दिन तुम्हारे भोजन का सुभीता न हो उस दिन तुम मेरे यहाँ आकर भोजन कर जाना।" इस विधवा ने केवल अनुरोध ही नहीं किया बल्कि बालक ठाकुरदास से इस बात की प्रतिज्ञा भी करा ली। इस सम्बन्ध में विद्यासागर महाशय ने निजरचित असम्पूर्ण बाल्य-चरित्र में एक जगह लिखा है "पिताजी के मुँह से इस हृदयविदारक घटना का हाल सुनकर मेरे हृदय में दुःसह दुःख की आग सी जल उठी। स्त्री-जाति के ऊपर मुझे बड़ी ही भक्ति हो आई। इस दूकान का मालिक अगर कोई मर्द होता तो वह भूखे बालक ठाकुरदास पर कभी ऐसी दया नहीं

दिखा सकता। जिस दिन ठाकुरदास को भोजन नहीं मिलता था उस दिन वे इसी दयामयी विधवा की दूकान पर आकर भोजन कर जाते थे।" जिसके जीवित रहने की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा संसार का कल्याण होनेवाला होता है उसकी विधाता ऐसे दुःख और कष्ट में भी रक्षा करते हैं। जो व्यक्ति ऐसे दुःख-दारिद्रय में पड़कर भी सत्पथ में चलने की चेष्टा करता है उसे विधाता सब सुखों का अधिकारी बनाकर अपनी महिमा प्रकट करते हैं। यह विधाता का ही विधान है कि ठाकुरदास विद्यासागर ऐसा सुपुत्र पाकर संसार में अमर हो गये।

इस प्रकार के असीम कष्ट में जब ठाकुरदास के दिन बीतने लगे तब वे अक्सर अपने आश्रयदाता से कहने लगे "कोई सुयोग हो तो आप मुझे कहीं नौकर रखा दीजिए। मैं धर्म को साक्षी करके कहता हूँ कि जी-तोड़ परिश्रम करके अपने मालिक का काम करूँगा। जान जाने पर भी कभी मुझसे अधर्म न होगा। मेरे लिए आपको कभी कोई बात सुननी नहीं पड़ेगी।" जिस समय ठाकुरदास आर्त्त-भाव से ये बातें कहते थे उस समय आँसुओं से उनका वक्षःस्थल भीग जाता था। उनका यह कातरभाव देखकर आश्रयदाता को विशेष दया हो आई। उन्होंने ठाकुरदास को दो रुपये महीने की एक नौकरी खोजकर दिला दी। दो रुपये महीने की नौकरी पाने से ठाकुरदास को असीम आनन्द हुआ। वे पहले की तरह उन्हीं आश्रयदाता के घर में रहकर अनेकानेक कष्ट उठाकर गुज़र करते हुए दो रुपये महीने की सहायता अपनी माता को देने लगे। ठाकुरदास बुद्धिमान्, दृढ़चित्त और कार्य-कुशल आदमी थे। जहाँ जब उन्होंने नौकरी की वहाँ उनका मालिक उनके काम और चाल-चलन से ख़ुश ही रहा।

मैंने स्वयं विद्यासागर महाशय के मुँह से सुना है कि जब उनके पिताजी को दो रुपये महीने की नौकरी मिली थी तब घर में आनन्दोत्सव मनाया गया था। दो रुपये महीने की नौकरी होने की ख़बर पाकर घर के सब लोग मारे ख़ुशी के फूले नहीं समाते थे। दो-तीन वर्ष में ही ठाकुरदास, परिश्रमी होने के कारण, दो रुपये की जगह पाँच रुपये का महीना पाने लगे। अब उनकी माता और भाई-बहनों का अन्न-कष्ट और भी कम हो जाने के कारण वे और भी अधिक मन लगाकर काम करने लगे।

उस समय दो रुपये महीने की नौकरी पर ख़ुशी मनाना कुछ विचित्र नहीं। उस समय चावल का भाव आठ-दस आने मन था। एक रुपये का एक मन दूध मिलता था। साग-सब्ज़ी तरकारी ख़रीदनी नहीं पड़ती थी। ग़रीब आदमियों को रुपया देखने को नहीं मिलता था और उसकी उन्हें कुछ विशेष आवश्यकता भी न थी! विना रुपये के ही उनका गुज़र होता था। भारत का अभाग्य और हमारी बदनसीबी कि ऐसे सुख के दिन सदा के लिए हमसे विदा हो गये।

इसी समय विद्यासागर महाशय के बाबा रामजय तर्कभूषण घर लौट आये। वे पहले बनमालीपुर में आये। वहाँ स्त्री और पुत्र-कन्याओं को न देखकर वीरसिंह गाँव पहुँचे। यहाँ आकर पहले उन्होंने किसी को अपना परिचय नहीं दिया। छिपे तौर से भेस बदले हुए वे अपने परिवार की अवस्था देखने लगे। सबसे पहले उनकी छोटी कन्या अन्नपूर्णा ने अपने पिता को पहचाना और "बप्पा बप्पा" कहकर चिल्लाने लगी। अब घर के सब लोगों ने उनको पहचान लिया। उन्होंने भी अपना परिचय दिया और घर में गये। कई दिन वीरसिंह में रहकर उन्होंने स्त्री-पुत्र-कन्या-सहित बनमालीपुर

जाने का विचार किया। किन्तु स्त्री से अपने भाइयों के कुव्यवहार की बात सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और अपना विचार बदलकर उन्होंने वीरसिंह में ही रहना निश्चित कर लिया। इस तरह वनमालीपुर से वीरसिंह में विद्यासागर के पूर्व-पुरुष का निवास हुआ।

तर्कभूषण महाशय कई दिन घर में रहकर ठाकुरदास को देखने के लिए कलकत्ते को गये। ठाकुरदास के आश्रयदाता के मुँह से ठाकुरदास के कष्ट-सहिष्णुता और न्यायपरता आदि गुणों की प्रशंसा सुनकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। बड़ेबाज़ार में भागवतचरणसिंह नामक एक धनी आदमी रहते थे। इनसे और ठाकुरदास के पिता से अच्छी तरह जान-पहचान थी। सिंहजी अत्यन्त दयालु, धार्मिक पुरुष थे। तर्कभूषणजी के मुँह से उनके देश-त्याग और अनेक देश घूमने तथा अनेक तीर्थ कर आने का वृत्तान्त सुनकर वे बहुत ही ख़ुश हुए। उन्होंने ठाकुरदास को अपने यहाँ रखने के लिए तर्कभूषणजी से बहुत कुछ अनुरोध किया। पिता की आज्ञा से ठाकुरदास सिंहजी के यहाँ रहने लगे। यहाँ दोनों वक़्त पेट भरकर भोजन मिलने लगा। यहीं से विद्यासागरजी के पिता के सुख और सुविधा का सूत्रपात समझना चाहिए। सिंहजी के यहाँ केवल भोजन का ही सुभीता नहीं हुआ; प्रत्युत उनकी सिफ़ारिस से ठाकुरदास को आठ रुपये महीने की एक नौकरी भी मिल गई। ठाकुरदास का वेतन बढ़ने की ख़बर पाकर उनकी माता दुर्गादेवी को असीम आनन्द हुआ।

इस समय ठाकुरदास की अवस्था तेईस-चौबीस वर्ष की होगी। अब तर्कभूषणजी ने पुत्र का ब्याह करना चाहा। गोघाटनिवासी रामकान्त तर्कवागीश की तीसरी कन्या भगवती देवी के साथ उनका ब्याह हो गया। साक्षात् अन्नपूर्णा भगवती देवी के गर्भ से ही

विद्यासागरजी का जन्म हुआ। भगवती देवी के पिता तर्कवागीश-जी सात्त्विक प्रकृति के आदमी थे। धर्मचिन्ता, धर्म की आलोचना और साधन-भजन में ही वे सदा लगे रहते थे। धनोपार्जन के कामों में मन लगाना और संसार-सुख भोग करना तुच्छ समझकर वे कभी इधर ध्यान ही नहीं देते थे। वे बहुत दिनों तक शव-साधना करते-करते अन्त को पागल हो गये। तब उनकी स्त्री गङ्गा-देवी लक्ष्मी और भगवती नाम की दोनों कन्याओं को साथ लेकर पागल स्वामी-सहित पिता के घर जाकर रहने लगीं। भगवती देवी लड़कपन से ही मामा के घर रहीं और पलीं। भगवती के मामा आदर्श हिन्दू-गृहस्थ थे। भगवती देवी का चरित्र भी वैसा ही था। भगवती के नाना पञ्चानन विद्यावागीशजी के न रहने पर उनके बड़े पुत्र राधामोहन विद्याभूषण ने अन्यान्य भाइयों और बहनों के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेकर अपने सुपुत्र होने का परिचय दिया। यह परिवार इस बात का आदर्श माना जा सकता है कि हिन्दुओं का भरापुरा परिवार किस तरह एक ही में सुख से रह सकता है। विद्यासागरजी ने निजरचित छोटे से जीवनचरित के शेष अंश में लिखा है—"साधारणतः देखा जाता है कि हिन्दुओं के यहां एकान्नवर्त्ती परिवारों में बहुत दिन तक हेल-मेल नहीं रहता। जो उस परिवार का सिर-धरा होता है उसके बाल-बच्चे जैसे सुख से रहते हैं वैसा सुख अन्य भाइयों के बाल-बच्चों को नसीब नहीं होता। इस कारण थोड़े ही दिनों में भाई-भाई में मनमुटाव हो जाता है। अन्त को एक दूसरे का मुँह देखना भी नहीं चाहता और वे जुदे हो जाते हैं। किन्तु यहाँ वह बात न थी। सौजन्य और मनुष्यत्व में चारों भाई समान थे। इस कारण कभी किसी से किसी की कहा-सुनी नहीं हुई। अपने परिवार की कौन कहे, बहनों और बहनों

के लड़के-लड़कियों तक से वे दूसरा बर्ताव नहीं रखते थे। उनकी बहनों की लड़कियाँ लड़की-लड़कों सहित मामा के घर जाकर जैसे सुख और आदर से रहती थीं वैसा सुख और आदर अपने बाप के भी घर लड़कियों को नहीं मिलता।

"इस घर में अतिथि-सेवा और अभ्यागत का आदर जैसे यत्न और श्रद्धा के साथ होता था वैसा अन्यत्र नहीं हो सकता। बात यह थी कि इस तरफ़ इस परिवार की जैसी प्रतिपत्ति और प्रतिष्ठा थी वैसी और किसी की न थी। कभी किसी ने यह देखा या सुना नहीं कि भोजन के लिए जाकर कोई आदमी राधामोहन विद्याभूषणजी के घर से विमुख लौटा हो। मैंने अपनी आँखों देखा है कि चाहे जिस अवस्था के और चाहे जितने आदमी हों, विद्याभूषणजी के घर पर जाने से सभी का आदर-सत्कार हुआ है; अतिथिसेवा में कुछ भी त्रुटि नहीं हुई।

"विद्याभूषणजी जिस समय जीवित थे उस समय अपने गाँव में और आसपास के गाँवों में इस मुखोपाध्याय-परिवार का असीम आधिपत्य था। इन सब गाँवों के आदमी विद्याभूषणजी की आज्ञा को शिरोधार्य समझते थे। विद्याभूषणजी इन गाँवों के लोगों के आपस के झगड़ों का निपटारा करना, उनको विपत्ति से छुड़ाना और सब तरह की सहायता पहुँचाना ही अपने जीवन का प्रधान उद्देश्य समझते थे। उनके पास बहुत सा धन आया; पर उन्होंने न उस धन को जमा किया और न केवल अपने परिवार को सुख पहुँचाने में लगाया। उन्होंने सारा धन अन्न बाँटने और लोगों को सहायता पहुँचाने में ही ख़र्च किया। सच तो यह है कि प्रातःस्मरणीय विद्याभूषणजी के समान निष्कपट, परोपकारी और क्षमताशाली पुरुष प्रायः नहीं देख पड़ते।

"राधामोहन विद्याभूषण और उनके परिवार ने हम लोगों का जैसा उपकार किया है उसका बदला चुकाना सर्वथा असम्भव है। मुझे जब ज्ञान हो आया था तब की बात है कि मेरी माताजी जब मामा के घर जाती थीं तब पांच-पाँच छः-छः महीने वहाँ रहती थीं और एक दिन के लिए भी हम लोगों के स्नेह, यत्न और आदर में त्रुटि नहीं होती थी। भांजियों और उनके लड़की-लड़कों का इतना आदर और स्नेह सब जगह नहीं देखने को मिल सकता। बड़ी भांजी के मर जाने पर उनका एक वर्ष का बालक बीस वर्ष की अवस्था तक इस परिवार में बड़े स्नेह और आदर से पाला गया।"

आत्मीय स्वजनों की सेवा, असमर्थ जातिवालों का भरण-पोषण, मृत आत्मीय स्वजनों के अनाथ और निराश्रय लड़की-लड़कों का लालन-पालन ही इस पराधीन प्राणहीन वंग-समाज की परमसम्पत्ति और अमूल्य धन है। विद्यासागरजी की लेखनी से निकले हुए ऊपर के कई अवतरण वैसे ही आदर्श-हिन्दू-गृह का सच्चा चित्र अङ्कित करनेवाले हैं। ऐसा भी एक समय था जब लोग केवल अपने या अपने परिवार की सुख-समृद्धि-वृद्धि के लिए विषय-सम्पत्ति का सञ्चय और धनोपार्जन नहीं करते थे। उससे स्वजनों और अन्य दस आदमियों को सुख पहुँचाना ही वे अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। उस समय के लोग दस आदमियों का सुख बढ़ाकर अपने को कृतार्थ मानते थे। इसका कारण यह था कि वे लोग अपने को सुखी बनाने के बदले अन्य दस आदमियों की सेवा करना ही अपना धर्म समझते थे। धर्म समझकर धार्मिक लोग ऐसे सत्कार्य किया करते थे। इस समय वह धर्मबुद्धि बदल गई है। आजकल के लोग ऐसे धर्म-कर्मों के बदले अपने को सुख पहुँचाना ही परम पुरुषार्थ समझते हैं। यही कारण है कि इस समय ऐसा आदर्श हिन्दू-परिवार और

राधामोहन के समान सहृदय परोपकारी लोग बहुत कम देख पड़ते हैं।

उस समय एक ओर जैसे थोड़ी आमदनी में गुज़र होता था और थोड़े ख़र्च में लोगों का प्रतिपालन किया जा सकता था वैसे ही दूसरी ओर सम्पत्तिशाली लोगों को और उनके परिवार के आदमियों को आजकल की ऐसी सभ्यतासङ्गत प्रबल भोगवासना भी नहीं थी। उस समय के धनी लोगों के यहाँ भी आजकल के मध्यवित्त परिवारों की अपेक्षा अधिक ऐश-आराम का सामान या भड़कीले कपड़े और गहने नहीं रहते थे। अनेक स्त्रियाँ दो-चार चाँदी के गहने पाकर ही अपने को परम भाग्यशालिनी समझती थीं। उस समय के मर्द लोग जैसे दस आदमियों को रोटी देने में सुखी होते थे वैसे ही स्त्रियाँ भी सावित्री ऐसी पतिव्रता और सीता ऐसी पति के साथ कष्ट सहने-वाली बन सकने में ही अपने को धन्य समझती थीं। उस समय की कुलकामिनियाँ थोड़े में ही सन्तुष्ट रहती थीं, इसी से बङ्गाल में घर-घर सुख और शान्ति विराजमान थी। विपत्तिग्रस्त आत्मीय स्वजन लोग सम्पन्न आत्मीय के घर में आश्रय पाकर किसी प्रकार कुण्ठित नहीं होते थे। विद्यासागरजी अपनी माता के मामा के घर में हिन्दू-परिवार का ऐसा उच्च आदर्श देखकर भी एकान्नवर्त्ती परिवार की प्रथा के घोर विरोधी थे। वे कहते थे कि जहाँ पुरुष स्त्री के सम्पूर्ण अधीन हैं वहाँ भाई-भाई में मेल रह ही नहीं सकता। ऐसी अवस्था में एकान्नवर्त्ती परिवार की प्रथा को सुरक्षित रखने की चेष्टा बिल्कुल वृथा है। जो लोग दूर हैं उन्हें एकत्र करके अशान्ति की आग में जलाना किसी तरह उचित नहीं। उसकी अपेक्षा, जो लोग एकत्र हैं उनमें किसी तरह का मनोमालिन्य पैदा होने के पहले ही उनका अलग-अलग हो जाना अच्छा है। ऐसा होने से सगा भाई सगे भाई का

शत्रु न होगा। चिरकाल तक सद्भाव और शान्ति सुरक्षित रहेगी। सुखमय समय में धन-लाभ होने से उसके द्वारा अपने सगे भाई, उसके लड़की-लड़के और अन्यान्य स्वजनों का हित किया जा सकता है। किन्तु अशान्तिपूर्ण गृहस्थी में लाख रुपये ख़र्च कर भी किसी की भलाई या उपकार नहीं किया जा सकता। इसी कारण विद्यासागरजी हमेशा इस प्रथा के विरोधी रहे।

विद्यासागर के बाबा रामजय तर्कभूषण बड़े तेजस्वी और स्वाधीनचेता पुरुष थे। वे किसी से दबना या किसी के किये अपमान को चुपचाप सह लेना जानते ही न थे। वे सदा अपनी इच्छा के अनुसार चलते रहे। उन्होंने कभी किसी का बेजा दबाव नहीं माना। ऐसी नीच वृत्ति से मरने को वे अच्छा समझते थे। परन्तु इसके साथ ही वे निष्कपट और दयालु थे। छोटे-बड़े सब से समान स्नेह से मिलते और बातचीत करते थे। जो लोग कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं उनसे उन्हें हार्दिक घृणा थी। वे बड़े मुँहफट थे। किसी के ख़ुश या नाराज़ होने की पर्वा न करके वे अपनी राय ज़ाहिर कर देते थे। वे अच्छे आचरणवाले नीचों को उच्च और बुरे आचरणवाले उच्चों को नीच मानते थे। क्रोध की बात पर उन्हें क्रोध भी आ जाता था। पर क्रोध में कभी किसी का कुछ अनिष्ट उन्होंने नहीं किया।

उनके शरीर में बल भी बहुत था। एक बार मेदिनीपुर जाने के रास्ते में एक भालू ने इन पर चोट की। उसकी चोट से ज़ख़्मी होकर भी उन्होंने उसे मार डाला और वैसे ही ख़ून से तर मेदिनीपुर पहुँचे। वहाँ कुछ दिन माँदे पड़े रहे। फिर आरोग्य होकर घर आये। उस समय प्रायः सभी जगह चोरों और डाकुओं का डर रहता था। बहुत से लोग अकेले घर से निकलकर राह में डाकुओं के हाथों मारे

जाते थे। इस कारण सब लोग रामजय को मना किया करते थे कि अकेले कहीं जाया न करो। लेकिन वे किसी का कहना न मानते थे। एक लोहे की छड़ हाथ में लेकर अकेले ही सर्वत्र आया-जाया करते थे। वे जैसे बली थे वैसे ही साहसी थे। वे एक बार भोजन करते थे, मांस नहीं खाते थे। वे निष्ठावान कर्मकाण्डी निरीह ब्राह्मण थे। इसी से सब लोग ऋषियों श्रौर योगियों के समान उनका आदर श्रौर भक्ति करते थे। जब वे वनमालीपुर से छिपकर चल दिये थे तब उस यात्रा में, आठ वर्ष तक द्वारका, ज्वालामुखी, बदरिकाश्रम श्रौर अन्यान्य तीर्थों में घूमते रहे। अन्त को स्वप्न देखकर घर आये श्रौर मरते दम तक पारिवारिक सुख भोगते हुए घर में ही रहे।

जिन घटनाश्रों के समावेश से या जिन कारणों के मौजूद रहने से मानवजीवन की सच्ची स्फूर्ति होती है, जिन अवस्थाश्रों के भीतर पड़ने से या जिन सीखने लायक दृष्टान्तों के सामने रहने से मनुष्य आगे चलकर उन्नति के सोपान पर पैर रख सकता है वे कारण श्रौर दृष्टान्त ईश्वरचन्द्र को सहज ही प्राप्त थे। उन्होंने अपने पिता श्रौर पितामह से दृढ़ता, न्यायपरायणता, अध्यवसाय, श्रमशीलता, आत्मनिर्भर श्रौर निर्भीकता आदि गुण प्राप्त किये थे। यह सच है कि उनके पिता श्रौर पितामह उन्हें कोई सांसारिक सम्पत्ति नहीं दे गये; किन्तु वे जो कुछ दे गये उसी ने ईश्वरचन्द्र को विद्यासागर श्रौर दयासागर बना दिया। विद्यासागर ने दया-दाक्षिण्य, पर-दुःखकातरता श्रौर परोपकार का भाव अपनी माता के ननिहाल से पाया था। अपनी माता के ननिहाल में जिस दया का चित्र देखकर वे श्रौर उनकी माता मुग्ध थीं श्रौर वे स्वयं जिसका वर्णन कर गये हैं वही उनके मनुष्यत्व पाने का मूलमन्त्र है। उसी मन्त्र से सिद्ध होकर वे

दया के सागर बने। पिता और माता के वंश के इन उभयविध भावों ने मिलकर उन्हें एक विचित्र पुरुष बना दिया था। एक ओर अन्याय के ऊपर घोर घृणा और दूसरी ओर दीनदुखियों पर पूर्ण दया, ये दोनों भाव उन्हें पिता और माता के घराने से ही मिले थे। पिता की ओर से पुरुष-भाव की तीक्ष्ण रेखा और माता की ओर से दुखियों का दुख मिटाने के लिए कोमलता की सुमिष्ट धारा ने परस्पर मिलकर विद्यासागर दयासागर का चित्र अङ्कित किया है। उनके जीवनचरित की सुदृढ़ नीव इसी कोमलतामय पौरुष-भूमि के ऊपर स्थापित है। जैसे सुकठिन पथरीले पहाड़ से मीठे जल की धारा निकलकर समतल खेतों को सींचती है—उपजाऊ बनाती है, वैसे ही विद्यासागर के पितृकुल की न्यायनिष्ठा और दृढ़ता के पहाड़ पर से उनके मातृकुल की देवदुर्लभ लोकसेवामयी मन्दाकिनी ने बहकर वङ्ग-समाज को जानदार और हरा-भरा बनाया है। आप जितना ही विद्यासागरजी का चरित्र पढ़ते चलेंगे उतना ही उसमें आपको उनके पिता, पितामह और माता, और मामा के चरित्र का आभास देखने को मिलेगा।

बचपन

जब से ईश्वरचन्द्र का जन्म हुआ तब से ठाकुरदास के परिवार को सब तरह के सुयोग और सुख प्राप्त होने लगे। इस कारण सब लोग बालक को स्नेह की दृष्टि से देखते थे। बहुत दुलारे होने के कारण ईश्वरचन्द्र की अदम्य प्रकृति और भी स्फूर्ति को प्राप्त हुई। इनके उत्पात से घरवालों और परोसियों के नाक में दम होने लगा। यह देखकर बालक ईश्वरचन्द्र को गाँव की पाठशाला में पढ़ने के लिए बिठलाने की सलाह ठहरी। उस समय वीरसिंह गाँव में कालीकान्त चट्टोपाध्याय नामक एक गुरुजी ने पाठशाला खोली थी। ये गुरुजी स्नेह-पूर्वक बालकों को लिखाते-पढ़ाते थे और विशेष गुण यह था कि थोड़े समय में अधिक शिक्षा देते थे। इस कारण गाँव के अनेक गुरुओं में इन्हीं की प्रतिष्ठा और प्रतिपत्ति अधिक थी। शिक्षक-शिरोमणि पण्डितवर विद्यासागरजी ने लिखा है कि "वास्तव में पूज्यपाद कालीकान्त चट्टोपाध्याय महाशय गुरुओं के आदर्श थे।" बालकों को अपने पुत्र की तरह स्नेह की दृष्टि से देखकर थोड़े समय में बहुत शिक्षा दे सकना ही सच्चे शिक्षक का लक्षण है। कालीकान्तजी में यह विलक्षण शक्ति यथेष्ट थी और इसी कारण विद्यासागर ऐसे शिष्य ने उनकी ऐसी प्रशंसा की। पाँच वर्ष की अवस्था में ईश्वरचन्द्र इस पाठशाला में पढ़ने बैठे थे।

पाठशाला में एक वर्ष पढ़ने के बाद ईश्वरचन्द्र बीमार हो गये। पहले कुछ दिन बुखार आया, फिर पेट की बीमारी हुई, उसके बाद ताप-तिल्ली हो गई। इस रोग में वे बहुत ही जीर्णशीर्ण हो चले। बीमारी इतनी बढ़ी कि ईश्वरचन्द्र के बचने की आशा जाती रही। छः महीने तक बीमार रहने के बाद जब आरोग्य होने की कोई सम्भावना नहीं रही तब राधामोहन विद्याभूषणजी ईश्वरचन्द्र को उनकी माता-सहित अपने घर ले गये। उनके गाँव के पास कोटारी गाँव में बहुत से विज्ञ वैद्यराज रहते थे। रामगोपाल नामक एक वृद्ध अनुभवी वैद्य की चिकित्सा से छः महीने में ईश्वरचन्द्र बिलकुल आरोग्य हो गये। उसके बाद पढ़ने के लिए फिर बीरसिंह में आये। विद्यासागर ने लिखा है कि इस बीमारी की हालत में वहाँ उनकी बहुत ही सेवा हुई।

आरोग्य होने के बाद विद्यासागर फिर आठ वर्ष की अवस्था तक कालीकान्त की पाठशाला में ही विद्याभ्यास करते रहे। इनकी मेधाशक्ति, तीक्ष्ण-बुद्धि और पढ़ने में परिश्रम देखकर इनके गुरु इन पर बड़ा स्नेह रखते थे। ईश्वरचन्द्र अपने गुरु के प्रिय विद्यार्थी थे। गुरुजी सबसे बढ़कर इनका आदर करते थे। इन तीन वर्षों में ईश्वरचन्द्र ने पाठशाला की शिक्षा एक प्रकार से समाप्त कर दी।

इस आठ वर्ष की अवस्था तक ईश्वरचन्द्र की बाल-सुलभ चपलता कुछ भी कम नहीं हुई। किसी के द्वार पर झाड़े फिर आना या पेशाब कर आना तो मामूली बात थी। जिसके द्वार पर ईश्वरचन्द्र ऐसा उपद्रव कर आते थे उसके घर की बहुएँ बालक की इस प्रकार की दुष्टता से खीझकर अगर पकड़ने या मारने चलतीं तो घर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ ईश्वरचन्द्र के महापुरुष होने की बात, जिसे उन्होंने भवानन्द ज्योतिषी से सुना था, कहकर उन्हें बरजती थीं।

मैंने विद्यासागरजी के मुँह से सुना है कि वे बचपन में बड़े ही उपद्रवी थे। लोग कपड़े धोकर फैलाते थे तो वे किसी तरह उन्हें अशुद्ध कर डालते थे। धान के खेत के पास चलते-चलते कुछ कच्चे धान उखाड़ लेते और उसमें से कुछ खाकर सब इधर-उधर फेंक देते थे। एक बार जौ की बाली उनके गले में अटक गई थी, जिससे वे बिलकुल मृतप्राय हो गये थे। उनकी दादी ने उँगली डालकर गले से बाली निकाली तब जान बची। इसी तरह और भी अनेक बार उपद्रव करने में उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े थे।

बहुत उपद्रवी होने पर भी लिखने-पढ़ने में ईश्वरचन्द्र ख़ूब मन लगाते थे। गुरुजी जो कुछ सिखलाते थे उसे बड़े आग्रह से थोड़े ही समय में सीख लेते थे। गुरुजी अक्सर तीसरे पहर और लड़कों को बिदा करके केवल ईश्वरचन्द्र को अपने पास रखते और बहुत सी बातें ज़बानी कण्ठस्थ कराते थे। अधिक रात हो जाती थी तो वे आप ईश्वरचन्द्र को गोद में लेकर उनकी दादी के पास पहुँचा जाते थे। इसी समय गुरुजी ने एक दिन ईश्वरचन्द्र के पिता से कहा—यहाँ की पाठशाला में जो कुछ पढ़ाया जाता है सो सब ईश्वर ने पढ़ लिया। यह बहुत अच्छे अक्षर लिखता है। इसको कलकत्ते ले जाकर अँगरेज़ी की शिक्षा दिलाना अच्छा होगा। यह बालक जैसा मेधावी है, इसकी स्मृति-शक्ति जैसी प्रबल है, उस लिहाज़ से यह जो कुछ सीखेगा उसी में यथेष्ट पारदर्शी हो सकता है।"

इसके कुछ दिन बाद ईश्वरचन्द्र के बाबा रामजय तर्कभूषण का स्वर्गवास हो गया। छियत्तर वर्ष की अवस्था में अतीसार रोग से उनकी मृत्यु हुई। इसी अवसर पर ठाकुरदास को घर आना पड़ा। पिता का कृत्य समाप्त करके ठाकुरदास कलकत्ते आये और अपने साथ ईश्वरचन्द्र को लेते आये। इनको साथ लाने का मुख्य उद्देश्य

यह था कि पास रखकर अच्छी तरह लिखावें-पढ़ावें। कलकत्ते आते समय इनके साथ गुरु कालीकान्त भी थे।

बालक ईश्वरचन्द्र ने वीरसिंह से कलकत्ते आते समय एक घटना-द्वारा इस बात का परिचय दिया कि वे किसी समय तीक्ष्ण-बुद्धि-सम्पन्न और पण्डितशिरोमणि होंगे। सियाखाला के निकट सालिखा की पक्की सड़क पर पहुँचकर ईश्वरचन्द्र ने देखा कि सिल ऐसे एक-एक पत्थर सड़क में कुछ-कुछ फ़ासले पर गड़े हुए हैं। कौतूहल से बालक ने पिता से इसका मतलब पूछा। ठाकुरदास ने पुत्र की बात पर हँसकर कहा—"ये सिलें नहीं हैं। इनको माइल-स्टोन कहते हैं।" तब ईश्वरचन्द्र ने कहा—"पिताजी, माइल-स्टोन किसे कहते हैं?" पिताजी ने कहा—"यह अँगरेज़ी का शब्द है। आधे कोस का एक मील होता है और स्टोन कहते हैं पत्थर को। मील-मील के फ़ासले पर इसी तरह का एक-एक पत्थर गड़ा हुआ है। कलकत्ते से एक मील के फ़ासले पर जो पत्थर है उसमें एक का अङ्क खुदा हुआ है और इस पत्थर में उन्नीस का अङ्क खुदा हुआ है। इसका मतलब यह हुआ कि कलकत्ता यहाँ से उन्नीस मील अर्थात् ९½ कोस है।" उन्होंने बालक ईश्वरचन्द्र को वह पत्थर अच्छी तरह दिखला दिया। ईश्वरचन्द्र ने अङ्कगणना के अनुसार अच्छी तरह देखकर पिता से कहा—"तो क्या यह अँगरेज़ी का एक और यह नव है?" पिता ने कहा—"हाँ।" तब बालक ने मन ही मन यह संकल्प किया कि यहाँ से कलकत्ते तक पहुँचते-पहुँचते अँगरेज़ी के अङ्क पहचान लूँगा। उन्नीस से दस तक पहुँचकर ईश्वरचन्द्र ने कहा—"पिताजी, मैंने अँगरेज़ी के अङ्क सीख लिये।" तब पिता ने परीक्षा के तौर पर क्रमशः नव, आठ और सात के अङ्क पूछे। ईश्वरचन्द्र इस परीक्षा में पास हो गये। मगर फिर भी ठाकुरदास को सन्देह बना

रहा। उन्होंने सोचा कि नव के आगे आठ और आठ के आगे सात होते ही हैं। इसलिए अङ्कों को बिना पहचाने भी चालाक आदमी इस परीक्षा में पास हो सकता है। यह सन्देह दूर करने के लिए ठाकुरदास ने छः का अङ्क न दिखाकर पाँच के अङ्क पर आकर पुत्र से पूछा—"तुम्हारे हिसाब से यह कै का अङ्क है?" ईश्वरचन्द्र ने कहा—"पिताजी, यह तो छः का अङ्क होना चाहिए; लेकिन भूल से पाँच का अङ्क लिख दिया गया है।" ठाकुरदास ने पुलकित होकर पुत्र से कहा—"तुमने अँगरेज़ी के अङ्क सीख लिये। मैंने जानबूझकर छः का पत्थर तुमको नहीं दिखलाया था।" बालक की ऐसी धारणा-शक्ति और बुद्धि-कौशल देखकर गुरु कालीकान्त बहुत ही सन्तुष्ट हुए। ईश्वरचन्द्र की ठोड़ी पकड़कर आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा—"शाबाश बेटा शाबाश!" इसके बाद उन्होंने ठाकुरदास से कहा—"ईश्वर के लिखने-पढ़ने का अच्छा प्रबन्ध करना। अगर यह बालक जीता-जागता रहेगा तो निस्सन्देह एक उद्भट विद्वान् और बुद्धिमान् होगा।" बालक ईश्वरचन्द्र पिता और गुरु के आनन्द को देखकर मन ही मन बहुत ही प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन सवेरे कलकत्ते में ठाकुरदास जगद्दुर्लभ बाबू के कुछ अँगरेज़ी के "बिल" ठीक कर रहे थे। ईश्वरचन्द्र ने दम भर पास बैठकर उस काम को देखा। उसके बाद अत्यन्त उतावली और उत्साह के साथ पिता की ओर देखकर कहा—"पिताजी, यह काम तो मैं भी कर सकता हूँ।" तब जगद्दुर्लभ बाबू ने विस्मित होकर पूछा—"ईश्वर, तुम क्या अँगरेज़ी जानते हो?" ईश्वरचन्द्र ने पहले दिन की माइल-स्टोनवाली घटना का उल्लेख करके कहा—"मैं अँगरेज़ी के अङ्क सीख चुका हूँ। इसलिए बिल मिलाकर ठीक करने का काम आसानी से कर सकता हूँ।" तब जगद्दुर्लभ बाबू और ठाकुर-

दास ने कौतूहलवश होकर कई एक बिल मिलाने के लिए ईश्वरचन्द्र को दिये। बालक ईश्वरचन्द्र इस परीक्षा में भी पास हो गये। यह देखकर सबको बड़ा आनन्द हुआ। सब लोग इस बात पर ज़ोर देने लगे कि ईश्वरचन्द्र के लिखने-पढ़ने का विशेष प्रबन्ध होना चाहिए। ठाकुरदास ने कहा—"मैं ईश्वर को हिन्दूकालेज में भर्ती कराना चाहता हूँ।" इस पर किसी-किसी ने कहा—"आपकी आमदनी तो केवल दस रुपये महीना है। ऐसी दशा में हिन्दूकालेज में आप इसे कैसे पढ़ा सकते हैं ?" इस पर ठाकुरदास ने दृढ़-प्रतिज्ञा-व्यञ्जक स्वर से कहा—ईश्वर की पढ़ाई में पाँच रुपये महीना ख़र्च करूँगा और पाँच रुपये घर को भेजूँगा।

इच्छा रहने पर भी धन न होने के कारण ठाकुरदास स्वयं उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके, इसका उन्हें जन्म भर खेद रहा। ऐसी दशा में अनेक कष्ट सहकर भी ईश्वरचन्द्र को अच्छी शिक्षा दिलाने का संकल्प करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। ठाकुरदास ने ईश्वरचन्द्र को शिक्षा दिलाने में कुछ भी कसर नहीं रक्खी। बँगला सन् १२३५ के कार्त्तिक मास के अन्त में ईश्वरचन्द्र पिता के साथ कलकत्ते आकर सिंह महाशय के घर रहने लगे। भागवतचरणसिंह इस समय मर चुके थे। उनके पुत्र जगद्दुर्लभसिंह घर के मालिक थे। उनकी अवस्था इस समय केवल पचीस वर्ष की थी। वे ठाकुरदास को चाचा कहते थे। इसी के अनुसार ईश्वरचन्द्र उन्हें दादा और उनकी बहनों को बड़ी दीदी और छोटी दीदी कहते थे।

बालक ईश्वरचन्द्र माता और दादी को छोड़कर आये थे; इससे कभी-कभी वे बहुत उद्विग्न हो उठते थे। किन्तु इस सिंह-परिवार के स्नेह और आदर के आगे उनको वह कष्ट और खेद भूल जाता था। विद्यासागर ने अपने लिखे जीवनचरित में एक जगह लिखा है कि

"मैं जब तक इस परिवार में रहा तब तक एक दिन मुझे यह ख़याल नहीं हुआ कि मैं किसी ग़ैर के घर में हूँ। सभी मुझ पर स्नेह रखते थे। किन्तु छोटी दीदी राईमणि के अद्भुत स्नेह और सेवा को मैं कभी नहीं भूल सकता। उनके एकमात्र पुत्र गोपालचन्द्र घोष की और मेरी अवस्था बराबर ही होगी। पुत्र पर साधारणतः माता का जितना स्नेह होता है उससे कहीं अधिक स्नेह गोपालचन्द्र पर उनकी माता का था। किन्तु मेरा यह हार्दिक दृढ़ विश्वास है कि वे पुत्र को जितना चाहती थीं उतना ही मुझे भी चाहती थीं। तात्पर्य यह कि स्नेह, दया, सौजन्य, निष्कपटता, सद्‌बुद्धि आदि सद्‌गुणों में राईमणि के बराबर स्त्री आज तक मैंने नहीं देखी। इस दयामयी स्त्री की सौम्य मूर्त्ति देवीमूर्त्ति की तरह मेरे हृदय-मन्दिर में सदा विराजमान रहेगी। प्रसङ्ग आ पड़ने पर इस स्त्री-रत्न की चर्चा चलने पर उनके अप्रतिम गुणों का वर्णन करते-करते मेरी आँखों से आँसू बहने लगते हैं। बहुत लोग कहते हैं कि मैं स्त्री-जाति का पक्षपाती हूँ। मैं भी उनके इस कथन से सहमत हूँ। जिस व्यक्ति ने राई-मणि की उस दया और स्नेह को देखा है और स्वयं उस दया और स्नेह से लाभ उठाया है वह अगर स्त्री-जाति का पक्षपाती न हो तो मेरी समझ में उसके समान कृतघ्न और नीच इस पृथ्वी-मण्डल पर न होगा। मैं अपनी दादी को बहुत प्यारा और हिला हुआ था। कलकत्ते आने पर कुछ दिनों तक तो मैं उनके लिए बहुत ही व्यग्र रहा। कभी-कभी उनकी याद आ जाने पर रोने लगता था। किन्तु दयामयी राईमणि के स्नेह और आदर से मेरा यह कष्ट बहुत कुछ कम हो गया था।"

स्त्री-जाति का सम्मान करना और उनके कल्याण के लिए मन-वाणी-काया से लगे रहना महात्माओं का एक विशेष लक्षण है।

धर्मात्मा खीष्ट पतिता स्त्रियों पर दया करते थे और उन्हें अपने साथ रहने देते थे। इसके लिए अनेक लोग उनकी निन्दा भी करते थे; पर वे उससे कभी कुण्ठित न होते थे। सदा स्नेह-पूर्वक उनकी भलाई ही सोचा करते थे। धर्मवीर मुहम्मद ने मुसल्मानों में बहु-विवाह की प्रथा के बहुल प्रचार को रोकने के लिए यथेष्ट चेष्टा की और इस प्रकार वे स्त्री-जाति के पक्ष का समर्थन कर गये हैं। महात्मा मनु अपने धर्म-शास्त्र में स्त्री-जाति के प्रति विशेष आदर दिखाकर कुलाङ्गनाओं के पक्ष का समर्थन कर गये हैं। वे कहते हैं—"यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।" जहाँ स्त्रियों का आदर, सम्मान और पूजन होता है वहाँ देवता रमते हैं। ऐसी शास्त्र-पूजित स्त्री-जाति के पक्ष-समर्थन में महात्मा राममोहन ने अपना जीवन ही अर्पण कर दिया। उनके जीवन-चरित में एक जगह पर लिखा है कि "वे उस बन्धु-विहीन (तिब्बत) देश में कभी-कभी बिल्कुल निडर होकर इस भयानक कुसंस्कार का प्रतिवाद करते थे। उस देश के मर्द इस धर्म-विरुद्ध कार्य के लिए उन पर अत्यन्त क्रोध करते और उन्हें दण्ड देने के लिए अग्रसर होते थे। किन्तु वे दयामयी स्त्रियों के विशेष स्नेह-पात्र थे। वे ही इन विपत्तियों से उनकी रक्षा करती थीं। राजा राममोहन राय सदा से स्त्री-जाति के पक्षपाती थे। अपनी प्रकाशित पुस्तकों में, बन्धु-बान्धवों के निकट, स्वदेश या विदेश में, सर्वत्र उन्होंने नारी-जाति की महिमा गाई है। तिब्बत की स्त्रियों के सद्व्यवहार ने उनके तरुण-हृदय में यह नारीभक्ति का बीज बो दिया था। ❀ ❀ उन्होंने स्वयं कहा था कि तिब्बत की स्त्रियों के सस्नेह व्यवहार के कारण स्त्री-जाति के प्रति सदा उनकी श्रद्धा और कृतज्ञता बनी रहेगी।"

विद्यासागर भी बचपन में विदेश में राईमणि सी स्त्री के मातृ-स्नेह का आश्रय पाकर स्त्री-जाति के चिरसुहृद् बन गये थे। उनके जीवन की आगे की घटनाओं की आलोचना करने से देख पड़ता है कि स्त्री-जाति का विशेष कल्याण करने के लिए ही उन्होंने जन्म लिया था। उन्होंने जीवन का अधिकांश समय, आमदनी का अधिकांश धन और विद्या, बुद्धि और शास्त्र की आलोचना का सारा फल स्त्रियों के कल्याण में लगा दिया है। बंगाल के सामाजिक इतिहास में इन अबला-हितैषी महात्मा का नाम सोने के अक्षरों से लिखा रहेगा।

ईश्वरचन्द्र को कलकत्ते लाने के साथ ही साथ ठाकुरदास की दो रुपये महीने की तरक्की हो गई। पहले आठ पाते थे, अब दस पाने लगे। ये जिस घर में रहते थे उसके पास ही एक धनी सुनार शिवचरण मल्लिक रहते थे। उनकी सदर बैठक में एक पाठशाला थी। उसी में महल्ले के लड़के पढ़ते-लिखते थे। ईश्वरचन्द्र उसी पाठशाला में बिठलाये गये। अगहन से माघ तक ईश्वरचन्द्र ने उस पाठशाला में पढ़ा। यहाँ पढ़ानेवाले गुरु का नाम स्वरूपचन्द्र दास था। वे भी पढ़ाने के काम में बड़े निपुण थे। वीरसिंह में और उसके बाद कलकत्ते में तीन महीने पाठशाला में पढ़कर ईश्वरचन्द्र ने पाठ-शाला की पढ़ाई समाप्त कर दी। इसके बाद ईश्वरचन्द्र को कहाँ पढ़ाना चाहिए, इस पर विचार हो ही रहा था कि फागुन में ईश्वरचन्द्र के ख़ूनी बवासीर उभर आया। उससे उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। इसी महल्ले के चिकित्सक दुर्गादास की चिकित्सा होने लगी। किन्तु रोग शान्त नहीं हुआ, बल्कि उलटा बढ़ने लगा। कलकत्ते में आरोग्य होने की कम सम्भावना देखकर ठाकुरदास ने घर को ख़बर भेजी। ईश्वरचन्द्र की बीमारी की ख़बर पाते ही उनकी दादी ऐसी व्याकुल हुईं कि दम भर की भी देर न करके फ़ौरन् कलकत्ते को चल पड़ीं।

वे यथासमय कलकत्ते में आकर कई दिन रहीं और फिर बालक को साथ लेकर वीरसिंह चली आईं। देहात में आने से जल-वायु और स्थान बदल गया, माता और दादी के पास रहने को मिला, लड़कपन के साथी मिल गये। इन सब कारणों से एक ही सप्ताह में ईश्वरचन्द्र आरोग्य हो गये। शची नाम की एक ब्राह्मण-कन्या ने अपने ख़र्च से वीरसिंह के उत्तर भाग में एक भारी तालाब खुदवाया था। उस तालाब को लोग "शचीवामनी" कहते थे। इसी शचीवामनी के किनारे गाँव के लड़के खेलते थे। घर में रहने के समय ईश्वरचन्द्र साथी लड़कों के साथ वहीं खेलने जाया करते थे। उनके देहाती साथियों में दो-एक बलशाली और लम्बे-चौड़े हाथ-पैर के थे। इन सबमें गदाधर पाल का नाम विशेष-रूप से उल्लेख-योग्य है। ईश्वरचन्द्र के सिवा और कोई साथी उसे परास्त नहीं कर सकता था। खेलते समय ईश्वरचन्द्र जब उसे पछाड़ते थे तब सब लड़के प्रसन्न होकर तालियाँ बजाते थे।

ठाकुरदास जेठ में फिर पुत्र को कलकत्ते ले आये। पहली बार जब कलकत्ते आये थे तब ईश्वरचन्द्र के लिए एक नौकर भी साथ लाये थे। कुछ दूर चलने पर जब ईश्वरचन्द्र थक जाते थे तब वह नौकर उन्हें कन्धे पर ले चलता था। अबकी बार आते समय ठाकुरदास ने पुत्र से पूछा कि "देखो, अगर चल न सको तो एक आदमी साथ ले चलें।" ईश्वरचन्द्र ने लड़कपन के उत्साह में आकर कह दिया—"आदमी साथ लेने की कोई ज़रूरत नहीं। मैं चला चलूँगा।" ईश्वरचन्द्र की बात पर विश्वास करके अबकी ठाकुरदास ने कोई आदमी साथ नहीं लिया। पिता-पुत्र दोनों कलकत्ते चले। माता के ननिहाल पातुल गाँव तक (छः कोस का रास्ता) ईश्वरचन्द्र मज़े में चले गये। उस दिन वहीं विश्राम हुआ।

सवेरे पातुल से चलकर तारकेश्वर के निकट रामनगर में पहुँचकर विश्राम करना था। आधे रास्ते में पहुँचकर पिता और पुत्र ने कुछ जलपान किया। वहाँ से चलने के समय ईश्वरचन्द्र ने पिता से कहा—"पिताजी, अब आगे मैं चल नहीं सकता। यह देखिए, मेरे पैर फूल गये हैं।" ठाकुरदास समझाने, फुसलाने और डाँटने पर भी बालक को आगे चला न सके। तरबूज़ ले देने का लोभ दिखाया, उससे भी कुछ फल न हुआ। डराने के लिए आप कुछ दूर अकेले ही आगे चले गये, पर इससे भी कुछ नहीं हुआ। लाचार लौटकर उन्होंने ईश्वरचन्द्र को कन्धे पर चढ़ाया और चले। कुछ दूर चलने पर वे भी थक गये। ठाकुरदास वैसे बली आदमी नहीं थे। थोड़ी देर में बोझा लेकर चलने की शक्ति नहीं रही। पर चलना ज़रूर था। कभी कन्धे पर और कभी गोद में लेकर चलते थे। बीच-बीच में विश्राम भी करते जाते थे। इस तरह बड़े कष्ट से सन्ध्या के बाद मञ्ज़िल पर जाकर पहुँचे। ठाकुरदास पुत्र-सहित रामनगर में बहन के यहाँ एक दिन रहे और दूसरे दिन फि कलकत्ते को रवाना हुए। वैद्यवाटी से नाव पर सवा होक कलकत्ते पहुँचे।

अबकी बार कलकत्ते आकर ठाकुरदास पुत्र को पढ़ाने-लिखाने की नई व्यवस्था करने के लिए उत्सुक हो पड़े। सब ईश्वरचन्द्र को अँगरेज़ी स्कूल में भर्ती करा देने की सलाह देने लगे। किन्तु ठाकुरदास की इच्छा और ही कुछ थी। इस वंश के सभी पूर्व-पुरुष संस्कृत के प्रसिद्ध अध्यापक होते आये थे। ग़रीबी के कारण वे स्वयं इस सम्मान के सुख से वञ्चित थे। इसी से पुत्र को वे संस्कृत की शिक्षा देना चाहते थे। उन्होंने मन में यह विचार कर रक्खा था कि ईश्वरचन्द्र को संस्कृत पढ़ाकर घर में एक पाठशाला खोल देंगे। उसमें गाँव के और आसपास के लड़के संस्कृत-शिक्षा प्राप्त करेंगे।

यही कारण था कि इष्ट-मित्रों की कोई सलाह उन्हें पसन्द न आती थी। उस समय ईश्वरचन्द्र की माता के मामा राधामोहन विद्या-भूषण के चाचा के लड़के मधुसूदन वाचस्पतिजी कलकत्ते के संस्कृत-कालेज में पढ़ रहे थे। उन्हीं के उत्साह देने और सलाह से ठाकुर-दास ने पुत्र को संस्कृत-कालेज में भर्ती करा दिया।

विद्यालय में विद्यासागर

सन् १८२९ की पहली जून को, नव वर्ष की अवस्था में, ईश्वर-चन्द्र का नाम संस्कृत कालेज में लिखा दिया गया। ईश्वर-चन्द्र कालेज में जाकर व्याकरण की तीसरी श्रेणी में पढ़ने लगे। इसके पहले उन्होंने कुछ भी संस्कृत नहीं पढ़ी थी। किन्तु वे भर्ती होने के दिन से ही अपनी श्रेणी में सबसे श्रेष्ठ बालक समझे जाने लगे। हाली शहर के निकटवर्त्ती कुमारहट्ट नामक गाँव के रहनेवाले गङ्गाधर तर्कवागीश तीसरी श्रेणी को पढ़ाते थे। वे विशेष आग्रह के साथ बालकों को शिक्षा देते थे। अपने काम में वे बड़े निपुण थे। छात्रों को पुत्र की तरह स्नेह से पढ़ाने के कारण उनकी ख़ूब प्रसिद्धि थी। तर्कवागीश महाशय ईश्वरचन्द्र की स्मरण-शक्ति, अध्यवसाय और विद्या पढ़ने का अनुराग देखकर इन पर विशेष दृष्टि रखते थे। इनको वे बहुत चाहते भी थे। कालेज में भर्ती होने के छः महीने बाद जो परीक्षा होती है उसमें पास होकर ईश्वरचन्द्र ने पाँच रुपये महीने की वृत्ति पाई। मधुसूदन वाचस्पति भी सदा ईश्वरचन्द्र की देखरेख करते थे। इनके पिता नित्य नव बजे बड़े बाज़ार के डेरे से ईश्वरचन्द्र को साथ लेकर पटलडाँगा में कालेज के भीतर तक पहुँचा जाते थे और चार बजे वहाँ आकर उन्हें अपने साथ ले जाते थे। विद्यालय में उनकी देखरेख करनेवाले आदमी थे और उनके पिता ख़ुद पहुँचा जाते और ले आते थे, इस कारण कभी

उम्र में ईश्वरचन्द्र बुरी सङ्गति में नहीं पड़े। अनेक कोमलमति, सरल-चित्त, और बुद्धिमान् बालक बुरे सङ्ग में पड़कर अक्सर बिगड़ जाते हैं और आगे चलकर सुशिक्षा और सच्चरित्र से हीन होने के कारण अपना और अपने वंश का नाश कर डालते हैं। ख़ास कर ठाकुरदास ऐसे धर्मशील, कर्त्तव्यपरायण और पुत्रवत्सल पिताओं के न होने से ही इस समय की भारतसन्तान दुर्नीति, दुराचार और कुशिक्षा के घृणित मार्ग में चलकर अपने परिवारों का और उसके साथ ही सारे देश का अमङ्गल कर रही है। ठाकुरदास ऐसे श्रमशील, कष्ट सहनेवाले, न्यायनिष्ट और सन्तानवत्सल पिताओं की संख्या बढ़ाने की ओर सबसे पहले हमारा ध्यान होना चाहिए।

क्रमशः ठाकुरदास ने जब समझ लिया कि ईश्वरचन्द्र अकेले जा-आ सकते हैं, समझदार हो गये हैं, तब उन्होंने उनको अकेले जाने-आने के लिए स्वतन्त्र कर दिया। जब से ईश्वरचन्द्र कालेज में पढ़ने लगे तब से उन्होंने यह नियम कर लिया था कि घर आकर पिता के सामने अपने पाठ को दुहराते थे। ज़रा भी भूल होती थी तो पीछा नहीं छूटता था। जितना जो कुछ पढ़ते थे वह सब अविकल सुनाना पड़ता था। ठाकुरदास इस तरह पाठ सुनते थे कि उसे देखकर ईश्वरचन्द्र को दृढ़ विश्वास हो गया था कि पिताजी व्याकरण में तर्कवागीश महाशय से कम पण्डित नहीं हैं। बात यह थी कि पुत्र का पाठ सुनते-सुनते ठाकुरदास को भी व्याकरण में विशेष व्युत्पत्ति हो गई थी। ईश्वरचन्द्र की जितनी अवस्था थी उसके देखते वे पढ़ने में अधिक परिश्रम करते थे। उस परिश्रम में अगर कुछ कमी होती थी तो पिता कड़ा दण्ड देते थे। सारे दिन की मेहनत से थककर कभी-कभी ईश्वरचन्द्र पढ़ते-पढ़ते सो जाते थे। रात को नौकरी से लौटकर ठाकुरदास अगर देखते थे कि दीपक जल रहा है और ईश्वरचन्द्र सो

रहे हैं तो बहुत डाँटते और ठोंकते भी थे। किसी-किसी दिन इतना मारते थे कि घर की स्त्रियाँ—ख़ास कर राईमणि—आकर बचाती थीं। ईश्वरचन्द्र ऐसी मार के ख़ौफ़ से, नींद से बचने के लिए, कभी-कभी आँखों में दीपक का तेल डाल लेते थे। इस तरह रात को जागकर पाठ याद करना पड़ता था। इतने पर भी छुट्टी नहीं थी। पिछले पहर रात को जगाकर ठाकुरदास बहुत सी जानने योग्य बातें बताते और अनेक श्लोक कण्ठस्थ कराते थे। ईश्वरचन्द्र ने इस तरह दो-तीन सौ श्लोक याद कर लिये थे। उधर कालेज के शिक्षक तर्कवागीश भी बालक की विचित्र धारणाशक्ति और समझदारी पर सन्तुष्ट थे, इसलिए वे भी ईश्वरचन्द्र को तरह-तरह के संस्कृत-श्लोक याद कराते और साथ ही उनका अन्वय और अर्थ भी बतला देते थे। ईश्वरचन्द्र ने तीन वर्ष तक इस व्याकरण की श्रेणी में पढ़ा। दो साल परीक्षा में सबसे श्रेष्ठ रहे। एक बार अच्छी तरह मेहनत करके परीक्षा देने पर भी उत्कृष्ट श्रेणी में पास न होने के कारण इनका उत्साह टूट गया। कालेज से श्रद्धा हट जाने के कारण ईश्वरचन्द्र ने घर जाने का संकल्प कर लिया। ईश्वरचन्द्र को जब जिस बात की ज़िद होती थी तब वे उसे पूरा करके छोड़ते थे। यही उनका स्वभाव था। उन्होंने ज़िद के मारे कालेज छोड़कर देश में सार्वभौम की पाठशाला में संस्कृत पढ़ने का विचार कर लिया। सहज में कोई उन्हें उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा से विचलित नहीं कर सकता था। अन्त को तर्कवागीशजी के स्नेह और वाचस्पति के अनुरोध से ईश्वरचन्द्र ने पिता की इच्छा के अनुसार कालेज में पढ़ना स्वीकार कर लिया। उस बार परीक्षा का फल ख़राब होने का कारण यह बतलाया जाता है कि उस साल एक साहब परीक्षक थे। ईश्वरचन्द्र बचपन में कुछ हकलाकर बोलते

थे। इसी दोष से शायद साहब प्रश्नों के उत्तरों को अच्छी तरह समझ न सके होंगे। इसी से उस बार ईश्वरचन्द्र का पहला नम्बर नहीं आया था। ईश्वरचन्द्र शुरू से ही कालेज के सर्वश्रेष्ठ छात्र होने की, प्राणपण से, चेष्टा करते आये थे। वे यह कभी न सह सकते थे कि कोई बालक श्रमशीलता, दृढ़ता या बुद्धिमत्ता में उन्हें परास्त कर दे। जहाँ पराजय की सम्भावना अधिक होती थी वहाँ ईश्वरचन्द्र जयलाभ के लिए उत्तेजित होकर उससे कई गुना अधिक आयोजन करते थे। उन्होंने क्या बचपन में, क्या पढ़ते समय, क्या कर्मक्षेत्र में और क्या अन्य किसी विशेष घटना के अवसर पर कभी किसी के पीछे रहना पसन्द नहीं किया। वे सदा समान भाव से अपनी स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा प्राणपण से करते रहे। उनकी वह चेष्टा सब जगह सफल भी हुई। यह भी उनकी स्वतन्त्रता और प्रतिभा की पराकाष्ठा कही जा सकती है। कभी किसी ने ईश्वरचन्द्र को किसी के अनुग्रह का भिखारी न देखा होगा। स्वावलम्ब के गुण से ही ईश्वरचन्द्र की सर्वत्र जय हुई है। उनका यह गुण पढ़ने की अवस्था में ही पुष्ट हो चुका था।

संसार में और दस आदमियों के अनुग्रहपात्र न होकर, औरों की सहायता न लेकर, जीवनमार्ग में अग्रसर होना बड़ा ही कठिन काम है। ख़ास कर जिसे पेट भर खाने का ठिकाना न हो उस ग़रीब बालक का ऐसा स्वावलम्ब और भी विचित्र जान पड़ता है। आगे चलकर बहुत से बन्धु-बान्धव और इष्ट-मित्र हो गये थे, किन्तु जीवन-संग्राम में वे अकेले ही प्रवृत्त हुए थे। उन्होंने आप ही कहा है कि मुझ ऐसे ग़रीब बहुत कम होते हैं। ईश्वरचन्द्र के पिता जिस तरह दुःख-कष्ट का सामना करके जीवन के मार्ग में धीरे-धीरे आगे बढ़े, सो पहले ही कहा जा चुका है। ईश्वरचन्द्र को

लड़कपन में घोर कष्ट और पेट की ज्वाला का सामना करना पड़ा था। परिवार बड़ा था, आमदनी कम थी। कभी अन्न जुरता था, कभी नहीं जुरता था। जब अन्न जुरता था तब भी हमेशा पेट भर खाने को न मिलता था। ऐसे क्लेश में पड़कर दिन-रात परिश्रम करके जो बालक जीवनपथ में अग्रसर होने के लिए प्राणपण से यत्न करता है उसे विधाता अवश्य ही उपयुक्त पुरस्कार देकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं। विद्यासागर आगे चलकर जो दयासागर के रूप में दिखाई दिये सो उस असाध्य-साधन का पहला अङ्कुर विद्यालय में साथियों की सेवा में ही अङ्कुरित हो आया था। पिता ग़रीब थे, आप हमेशा पेट भरकर भोजन नहीं पाते थे, तथापि समय-समय पर विद्यालय से जो वृत्ति पाते थे उसका भी कुछ हिस्सा अन्यान्य सहपाठियों की सहायता में ख़र्च करते थे। अगर कोई सहपाठी बीमार होता था तो ईश्वरचन्द्र चट उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध करते थे। आप अपने घर के चर्खे में कते हुए मोटे सूत के कपड़े पहनकर अन्य ग़रीब बालकों को अपने पैसों से अपेक्षाकृत अच्छे कपड़े ख़रीद देते थे। लड़कों की कौन कहे, सयानों और बुड्ढों में भी ऐसा स्वार्थत्याग कम देखा जाता है। इस तरह ईश्वरचन्द्र लड़कपन से ही अपने कष्ट को भूलकर दूसरों को सुखी बनाने की चेष्टा किया करते थे। एक ओर अनाहार और अनिद्रा का कष्ट था और दूसरी ओर घर में पिता के लिए और अपने लिए रोटी भी ईश्वरचन्द्र ही को बनानी पड़ती थी। इस पर भी अन्य दस आदमियों की ख़बर लेकर उनकी सेवा करते हुए परीक्षा में प्रथम होना कैसी प्रखर प्रतिभा का काम था, सो पाठक आप ही समझ सकते हैं। सारे सभ्य जगत् के इतिहास को खोज डालिए, किन्तु ऐसे ग़रीब बालक के इस तरह क्लेश और असुविधा में यों

पर-सेवा और स्वार्थत्याग का व्रत पालते हुए अपनी उन्नति करने का ऐसा उत्कृष्ट दृष्टान्त बहुत कम देखने को मिलेगा।

साधारण लोगों के लिए जो प्रधान दोष होता है वही प्रतिभा-शाली और क्षमताशाली पुरुष के लिए प्रधान गुण बन जाता है। साधारण लोग अगर अपनी विद्या-बुद्धि के ऊपर निर्भर करके चलते हैं, अपनी ज़िद के वशवर्त्ती होकर कार्य करते हैं, अन्य दस आद-मियों के अनुरोध को नहीं मानते तो लोग उनकी निन्दा करते हैं। परन्तु ऐसे दस या सौ आदमियों की विद्या-बुद्धि और सूक्ष्मदृष्टि को एकत्र करने पर भी वह प्रतिभाशाली महात्माओं की विद्या-बुद्धि और सूक्ष्मदृष्टि के एक कण के भी बराबर नहीं होती। यही कारण है कि प्रतिभाशाली लोग अधिकतर अपनी समझ पर ही निर्भर रहना सीखते हैं। बचपन से ही ईश्वरचन्द्र में यह स्वावलम्ब का भाव प्रबल था। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि किसी की सहायता लिये बिना ही मैं विद्यालय का सर्वश्रेष्ठ छात्र बनूँगा। सर्वोत्कृष्ट छात्र होने के लिए जितना परिश्रम करने अथवा कष्ट सहने की ज़रू-रत होती है उसके लिए वे सर्वदा प्रस्तुत रहते थे। इस बारे में वे कोई रुकावट नहीं मानते थे। कभी आधी रात तक और कभी रात भर जागकर लिखते-पढ़ते थे। ऐसा कठिन परिश्रम करने से अक्सर बीमार होकर कष्ट भोगते थे, फिर भी लिखने-पढ़ने की मेहनत कम नहीं करते थे। अधिक अवस्था में जब ईश्वरचन्द्र सम्मान और सम्पत्ति के उच्चपद को प्राप्त हुए, जब उनका शरीर अस्वस्थ और निर्बल रहता था और इसी कारण वे समाज के नित्य-नैमित्तिक कामों से अधिक सम्बन्ध नहीं रखते थे, तब भी देखा गया है कि चाहे एक ही बार भोजन किया हो, चाहे भोजन किया ही न हो, अथवा रोगशय्या में पड़े हों, सब समय वे शास्त्रों का अध्ययन और अनु-

में प्रथम रहे। शिक्षक और छात्र सभी ईश्वरचन्द्र की परीक्षा का फल देखकर चकित हो गये।

उस समय आजकल की तरह रविवार को संस्कृत कालेज नहीं बन्द होता था। प्रतिपदा और अष्टमी को संस्कृत-चर्चा निषिद्ध थी। इस कारण प्रतिपदा और अष्टमी को अनध्याय रहता था। द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को नया पाठ न होता था। इन दिनों में संस्कृत-गद्य-पद्य-रचना सीखने की व्यवस्था थी। किसी दिन संस्कृत से बँगला और बँगला से संस्कृत अनुवाद करना सिखलाया जाता था। ईश्वरचन्द्र इन बातों में अव्वल रहते थे। इससे गुरुजी इन्हें पुत्र के समान स्नेह से पढ़ाते और इनकी शुभकामना करते थे। ईश्वरचन्द्र की रचना और अनुवाद में किसी तरह की वर्णाशुद्धि (हिज्जे की ग़लती) या व्याकरण की भूल न होती थी। उनके लिखे अक्षर सुन्दर होते थे। वे जो कुछ पढ़ते थे उसे ख़ूब याद रखते थे। इस कारण कभी किसी विषय में किसी से वे हारे या दबे नहीं। उनकी स्मरणशक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण थी। वे लड़कपन से लेकर सारे जीवन की अधिकांश घटनाओं का पूरा-पूरा वर्णन कर सकते थे।

उन्हें संस्कृत के काव्य-ग्रन्थ आदि से अन्त तक कण्ठ थे। अनेक संस्कृत-श्लोक उन्हें याद थे। वे संस्कृत-भाषा में लोगों से बातचीत करते थे। उस समय के पण्डित लोग उनकी इस असाधारण शक्ति को देखकर कहते थे—ईश्वरचन्द्र श्रुतिधर है। यह बालक जियेगा तो अद्वितीय पुरुष होगा।

इसी समय ठाकुरदास अपने मँझले लड़के दीनबन्धु को संस्कृत कालेज में भर्ती कराने की इच्छा से कलकत्ते लाये। कलकत्ते के डेरे में धीरे-धीरे परिवार की संख्या बढ़ने लगी। और ईश्वरचन्द्र

की विद्या-शिक्षा की क्रमोन्नति के साथ-साथ घर के कामकाज की मात्रा भी बढ़ने लगी। उन्हें रोज़ सबेरे-शाम रसोई बनानी पड़ती थी। डेरे पर कोई कहार या कहारिन न थी। सबेरे गङ्गा-स्नान करके आते समय बाज़ार से तरकारी वगैरह ख़रीद लाते थे। आकर मसाला आप ही बाँटते थे। तरकारी भी उन्हें ही साफ़ करनी और काटनी पड़ती थी। अकेले ही सब सामान करके रसोई बनानी पड़ती थी। चार-पाँच आदमियों का भोजन बनाकर पहले उन्हें खिलाते और पीछे आप खाते थे। उसके बाद सब बर्तन धोते और चौका देते थे। फिर कालेज जाते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार कठोर ब्रह्मचर्य से ईश्वरचन्द्र ने लड़कपन बिताया था, इसी से आगे चलकर वे निर्भय और शान्त-चित्त रहकर सब विपत्तियों का सामना कर सके। कभी किसी ने विपत्ति या रोग में उन्हें अधीर होते नहीं देखा।

लड़कपन में ईश्वरचन्द्र भोजन करते समय थाली के आसपास अन्न छिटकाने नहीं पाते थे। ठाकुरदास की इस बात पर विशेष दृष्टि रहती थी। बुढ़ापे तक विद्यासागर कभी थाली के बाहर अन्न गिरने नहीं देते थे और अगर कोई लड़का या सयाना अन्न फेंकता था तो उसे, फिर वैसा न होने देने के लिए, समझा देते थे। किसी का कभी निमन्त्रण करते थे तो पचासों तरह की सामग्री बनवाते और पास बैठकर भोजन कराते थे। अगर कोई थाली में कुछ डालकर उठना चाहता तो विद्यासागरजी अपने पूज्यपाद पिता का उल्लेख करके कहते कि अगर थाली के पास एक चावल पड़ा रह जाता था तो वे मुझे मारते थे। और तुम इतनी सामग्री ख़राब करोगे? नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम्हें सब खाना पड़ेगा।

ईश्वरचन्द्र के मँझले भाई दीनबन्धु संस्कृत-कालेज में व्याकरण की दूसरी श्रेणी में भर्ती हुए। वे ईश्वरचन्द्र के समान परिश्रमी न होने पर भी अत्यन्त बुद्धिमान् थे। वे कुशाग्रबुद्धि बालक थे। जो एक बार सुन लेते थे, उन्हें याद हो जाता था। ठाकुरदास रात को नव बजे नौकरी से घर आते थे। डेरे पर आकर अगर देखते कि दीपक जल रहा है और दोनों भाई सो रहे हैं तो कड़ी मार मारते थे। बालकों का रोना सुनकर सिंह-परिवार के आदमी दौड़ आते और कभी-कभी ठाकुरदास से बिगड़कर कहते—"अगर आप बालकों को मार डालना चाहते हैं तो और कहीं जाकर रहिए। हमसे यह नहीं देखा जायगा।" इसी समय ईश्वरचन्द्र को सन्ध्या आह्निक के मन्त्र भूल गये थे, किन्तु वे इस तरह सन्ध्या के कृत्य कर दिखाते थे कि मानो सन्ध्या कर रहे हैं। एक दिन ईश्वरचन्द्र के छोटे चाचा कालिदास को सन्देह हुआ। उन्होंने बालक ईश्वरचन्द्र से कहा कि सब सन्ध्या के विनियोग और मन्त्र सुनाओ। ईश्वरचन्द्र बड़ी मुश्किल में पड़े। कलई खुल जाने पर पिता ने बहुत डाँटा-डपटा। उन्होंने कहा—"आज भोजन के पहले ही सन्ध्या याद कर सुनानी पड़ेगी।" बालक की ऐसी अच्छी धारणाशक्ति थी कि उसने घण्टे भर में ही सारी सन्ध्या याद करके सुना दी और फिर भोजन किया।

बहुत दिनों से ठाकुरदास की यह इच्छा थी कि ईश्वरचन्द्र की कालेज की पढ़ाई समाप्त होने पर उन्हें वीरसिंह ले जाकर पाठशाला खोलेंगे और उसमें गाँव के तथा अन्यान्य स्थानों के निराश्रय बालक आकर पढ़ेंगे। इसी कामना को पूर्ण करने के इरादे से ठाकुरदास ने ईश्वरचन्द्र से कहा कि कालेज में तुम जो वृत्ति पाते हो उसके रुपये से देश में कुछ ज़मीन ख़रीद लो। उसी की आमदनी से दूर से आये हुए विद्यार्थियों को खाने और पहनने की सहायता दी

जायगी। ईश्वरचन्द्र की वृत्ति के रुपये से कुछ ज़मीन ख़रीद भी ली गई। ज़मीन ख़रीदने के कुछ दिन बाद पिता ने पुत्र से कहा कि अब वृत्ति के रुपये से कुछ उत्तम ग्रन्थ ख़रीदो। पिता की आज्ञा के अनुसार ईश्वरचन्द्र ने अनेक हस्तलिखित संस्कृत-ग्रन्थ भी ख़रीदे। आज तक विद्यासागर महाशय की लाइब्रेरी में वे पुस्तकें रक्खी हुई हैं। शिक्षा समाप्त होने पर गांव में पाठशाला खोलने की इच्छा पिता और पुत्र दोनों को थी।

ईश्वरचन्द्र ने इधर, थोड़े ही दिनों में, व्याकरण और साहित्य में विशेष रूप से विज्ञता प्राप्त कर ली। इस बीच में जब कभी ईश्वर-चन्द्र वीरसिंह जाते थे तब श्राद्ध आदि के अवसर पर निमन्त्रण आदि के लिए अगर किसी को श्लोक या छन्द बनवाने की ज़रूरत होती थी तो वे बना देते थे। एक बार वीरसिंह-निवासी एक सम्पन्न गृहस्थ के यहां श्राद्ध था। उन्होंने ईश्वरचन्द्र से निमन्त्रण के श्लोक बनवाये। आये हुए पण्डित लोग उन श्लोकों की रचना-परिपाटी, शब्दविन्यास और पदलालित्य देखकर ऐसे चकित हुए कि श्लोक बनानेवाले की खोज करने लगे। तब घर के मालिक ने बालक ईश्वरचन्द्र को दिखा दिया। बालक की ऐसी क्षमता देख-कर पण्डित लोग और भी विस्मित हुए। कोई-कोई ईश्वरचन्द्र से व्याकरण-विचार करने लगे तो उन्होंने देखा कि वे संस्कृत में वार्ता-लाप और विचार करने में भी अद्वितीय हैं। यह देखकर सब पण्डितों ने विद्यासागर को आशीर्वाद दिये। इसी समय से वीर-सिंह और उसके निकटवर्ती अनेक स्थानों में यह बात फैल गई कि ठाकुरदास के पुत्र ईश्वरचन्द्र असाधारण पण्डित हो गये हैं। कुछ दिनों में इस देश में कोई उनकी बराबरी करनेवाला पण्डित नहीं रहेगा। उस समय ईश्वरचन्द्र की इतनी प्रशंसा होने का एक

कारण यह भी था कि जैसे मातृभाषा के समान संस्कृत में वे वार्तालाप और विचार कर सकते थे वैसे उस समय के वृद्ध पण्डित भी संस्कृत में वार्तालाप या विचार नहीं कर सकते थे।

मेदिनीपुर, वर्दवान और हुगली ज़िले के अनेक स्थानों में यह बात फैलते ही अनेक लोग ईश्वरचन्द्र के विवाह का प्रस्ताव लेकर आने लगे। अनेक स्थानों से व्याह की बातचीत आई, पर अन्त को क्षीरपाई-निवासी शत्रुघ्न भट्टाचार्य्य की कन्या के साथ ही व्याह की बात पक्की हुई। क्षीरपाई एक बड़ा गाँव था। उस समय मेशीन का बना विदेशी कपड़ा इतना आता न था। इस तरफ़ के जुलाहे जो कपड़ा बनाते थे उसकी बिक्री की मण्डी क्षीरपाई गाँव ही था। पश्चिमोत्तर प्रान्त के रोज़गारी भी क्षीरपाई आकर कपड़े ख़रीदते थे। अन्यान्य स्थानों की बनी और-और चीज़ें भी क्षीरपाई के गञ्ज में बिकने को आती थीं। ऐसे सम्पन्न गाँव में शत्रुघ्न भट्टाचार्य्य रहते थे। उनके पास धन भी था और गाँव के लोग उनको मानते भी थे। उनकी कन्या दीनमयी गुणवती और रूपवती थी। इस सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्या के शरीर में सब प्रकार के सुलक्षण मौजूद थे। भट्टाचार्य्यजी ने ठाकुरदास से कहा था "वन्द्योपाध्याय महाशय, आपके धन नहीं है, परन्तु आपका पुत्र बड़ा भारी विद्वान् है। केवल इसी कारण मैं अपनी प्राणप्यारी कन्या का हाथ आपके पुत्र को पकड़ाता हूँ।" ईश्वरचन्द्र की उस समय व्याह करने की बिलकुल इच्छा न थी। उस समय इस प्रकार की शुभ कामनाएँ उनके हृदय में उठ रही थीं कि यावज्जीवन लिखें-पढ़ेंगे, देश के लोगों की भलाई सोचें और करेंगे, दुखियों का दुःख दूर करेंगे और रोगियों की सेवा करेंगे। किन्तु पिता के खिन्न होने के ख़याल से थोड़ी ही अवस्था में विवाह-बन्धन में बँधना उन्होंने स्वीकार कर लिया।

विवाह के समय ईश्वरचन्द्र चौदह वर्ष के और उनकी स्त्री आठ वर्ष की थीं।

ईश्वरचन्द्र ने साहित्य-पाठ समाप्त कर पन्द्रह वर्ष की अवस्था में अलङ्कार की श्रेणी में अपना नाम लिखाया। उस श्रेणी के अध्यापक प्रेमचन्द्र तर्कवागीश थे। व्याकरण, साहित्य और अलङ्कार में तर्कवागीशजी की पूर्ण गति थी। उनके पास पढ़नेवाले बालकों को संस्कृत-भाषा में विशेष व्युत्पत्ति हो जाती थी। अलङ्कार-श्रेणी के छात्रों में भी सबकी अवस्था ईश्वरचन्द्र से अधिक थी, किन्तु परीक्षा में ईश्वरचन्द्र ही बाज़ी मार ले जाते थे। बालक की इस विचित्र प्रतिभा पर गुरु और अन्यान्य सब लोग मुग्ध थे और सब उन्हें अद्भुतकर्मा असाधारण पुरुष समझते थे। विद्यासागर ने एक साल में साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश और रसगङ्गाधर आदि अलङ्कार-ग्रन्थ पढ़े और सालाना परीक्षा में प्रथम रहे। इस समय परीक्षा के लिए ईश्वरचन्द्र को कठिन परिश्रम करना पड़ता था और साथ ही डेरे पर के सब काम-काज का भार भी इन्हीं के सिर था। इस कारण परीक्षा देने के बाद वे बहुत बीमार हो गये। फिर ख़ूनी बवासीर की शिकायत बढ़ गई। कलकत्ते में अनेक प्रकार की दवाओं से बीमारी का ज़ोर न घटने पर लाचार कुछ दिनों के लिए उन्हें वीरसिंह जाना पड़ा। वहाँ भी पहले पीड़ा नहीं घटी। अन्त को एक ब्राह्मण ने मट्ठे के साथ पका हुआ ज़मींकन्द खिलाकर रोग शान्त किया। रोग आराम होते ही ईश्वरचन्द्र फिर कलकत्ते चले आये और पहले की तरह काम-काज और पढ़ने-लिखने में परिश्रम करने लगे। इसी अवसर में एक दिन ईश्वरचन्द्र ने शाम को अपने भाई दीनबन्धु को बाज़ार भेजा। किन्तु ग्यारह बजे तक वे लौटकर न आये। इससे ईश्वरचन्द्र को बड़ा भय और चिन्ता हुई। वे भाई के लिए

ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे। अन्त को सब लोगों की सलाह से वाज़ार में जाकर भाई की खोज करने लगे। वहाँ कुछ पता न लगने से उनको और भी चिन्ता हुई। ईश्वरचन्द्र घवराये हुए उस वाज़ार से वड़े वाज़ार गये। वहाँ खोजते-खोजते देखा कि दीनवन्धु एक दीवार के सहारे सो रहे हैं। भाई को जगाकर डेरे पर लाये। ईश्वरचन्द्र लड़कपन से ही भाई-वहनों को वहुत प्यार करते थे। ईश्वरचन्द्र को वचपन से ही प्रतिमा-पूजा पर वैसी श्रद्धा न थी। किन्तु निष्ठावान् हिन्दू जिस तरह भक्तिपूर्वक देवपूजा करते हैं उसी तरह वे मन ही मन अपने माता-पिता की पूजा करते थे। वे कहते थे के संसार में माता-पिता सजीव देवता हैं। माता-पिता की पूजा छोड़कर या माता-पिता के प्रति उदासीन रहकर—उनके दुःख-कष्ट पर ध्यान न देकर—देवपूजा करने से धर्म नहीं होता। जिन्होंने स्वयं दुःख-कष्ट सहकर हमारा लालन-पालन किया, जिन्होंने स्नेह और ममता के साथ हमारी रक्षा की वे माता-पिता ही परम देवता हैं। उनको छोड़कर अन्य देवता की पूजा करने से धर्म नहीं होता। वास्तव में असल वात तो यह है कि विद्यासागर ऐसा माता-पिता का भक्त वालक इस समय मिलना कठिन है। वे जव किसी काम से वीरसिंह जाते थे तव सवसे पहले पूर्वगुरु कालीकान्त चट्टोपाध्याय के चरण छूने जाते थे। शिष्य की ऐसी भक्ति देखकर गुरुजी परम सन्तुष्ट होते और आशीर्वाद देते थे। देश के उच्च-नीच सव लोग विद्यासागर के सप्रेम व्यवहार और सहानुभूतिभरी मीठी वातों से सन्तुष्ट होकर उनका गुणकीर्त्तन किया करते थे। वे जव घर में रहते थे तव छोटे लड़कों से छोटे-छोटे खेल खेलते थे, समान अवस्थावालों के साथ कुश्ती और लकड़ी के खेल खेलते थे और अपने से वड़ों के साथ विनीत

व्यवहार करते थे। ऐसी अच्छी प्रकृति के युवक को सबका स्नेह की दृष्टि से देखना स्वाभाविक ही था। ईश्वरचन्द्र ताश, चौंसर आदि खेल नहीं खेलते थे। उनके चरित्र में पाठकों को चञ्चल बालक की प्रकृति, उद्यमशील युवक का भाव और कर्तव्य-परायण तेजस्वी पुरुष के लक्षण देखने को मिलेंगे।

ठनठनिया के चौराहे के पास ही पूर्व ओर एक 'मेस' में संस्कृत कालेज की परीक्षा पास किये हुए कई एक विद्यार्थी रहते थे। वे ईश्वरचन्द्र से बड़ा स्नेह रखते थे। इस कारण प्रायः हर रोज़ विद्यालय से छुट्टी पाने के बाद वे इस मेस के छात्रों के पास टहलने आते थे। सन्ध्या तक वहाँ रहकर साहित्यदर्पण देखते थे। एक दिन सुप्रसिद्ध दर्शनशास्त्र के पण्डित जयनारायण तर्कपञ्चानन महाशय ला-कमेटी की परीक्षा देकर जज-पण्डित का पद पाने की इच्छा से तारानाथ तर्क-वाचस्पति के साथ सलाह करने आये थे। उन्होंने वहाँ ईश्वरचन्द्र को साहित्यदर्पण का पाठ करते देखकर चकित होकर तर्क-वाचस्पतिजी से पूछा कि "इतनी थोड़ी अवस्था का बालक साहित्यदर्पण क्या समझेगा?" तर्क-वाचस्पतिजी ने इसके उत्तर में कहा—"बालक कितना समझता है सो आप प्रश्न करके देख लीजिए।" बालक से प्रश्नोत्तर करके तर्कपञ्चाननजी को मालूम हुआ कि बालक तो असाधारण पण्डित है। देखने में छोटा, पर ज्ञान में बड़ों से भी बड़ा है। तब प्रसन्न होकर तर्क-पञ्चाननजी ने तर्कवाचस्पतिजी से कहा कि "यह बालक किसी समय सारे बङ्गाल में अद्वितीय पण्डित समझा जायगा। इतनी थोड़ी उम्र में इतना बड़ा संस्कृत में व्युत्पन्न पुरुष मैंने तो आज तक नहीं देखा।" यह सुनकर तर्कवाचस्पतिजी ने कहा—"हम इस बालक को कालेज का एक महामूल्य अलङ्कार समझते हैं।"

तब से जयनारायण तर्कपञ्चानन जहाँ जाते थे वहाँ बालक ईश्वरचन्द्र की प्रतिभा की विशेष प्रशंसा करते थे।

इस समय के नियमानुसार छात्रों को पहले अलङ्कार, न्याय और वेदान्त और फिर स्मृतिशास्त्र पढ़ना पड़ता था। स्मृतिशास्त्र की परीक्षा में पास होने पर जज-पण्डित का पद मिल सकता था। ईश्वरचन्द्र ने इस नियम के विरुद्ध अलङ्कार की श्रेणी में पढ़ते-पढ़ते कालेज के अध्यक्ष के निकट आवेदन करके स्मृतिशास्त्र पढ़ने की अनुमति प्राप्त कर ली। विद्यालय के सब पाठ्य विषयों को समाप्त करने के बाद छात्र लोग ला-कमेटी की परीक्षा देने के लिए स्मृति-शास्त्र की श्रेणी में भर्ती होते थे और सभी छात्रों को दो-तीन साल तक कठोर परिश्रम करके मनुसंहिता, मिताक्षरा, दायभाग आदि ग्रन्थ पढ़ने पड़ते थे। उसके बाद परीक्षा देने पर कोई पास होता था और कोई विफल-मनोरथ होकर कालेज छोड़ देता था। किन्तु बालक ईश्वरचन्द्र ने सब काम छोड़कर, दिन-रात परिश्रम करके, छः महीने में ही इन कठिन और दुर्बोध्य ग्रन्थों को पढ़ लिया। ईश्वरचन्द्र ला-कमेटी की परीक्षा में भी विशेष प्रशंसा के साथ पास हुए। उन्होंने इस काम में एक ओर जैसे अपनी धारणाशक्ति और बुद्धिमत्ता का विचित्र परिचय दिया वैसे ही दूसरी ओर बङ्गाली विद्यार्थियों के आगे श्रमशीलता, एकाग्रता और विद्याशिक्षा में अनुराग दिखाने का एक उज्ज्वल आदर्श भी स्थापित कर दिया।

जिस समय ईश्वरचन्द्र ला-कमेटी की परीक्षा में प्रशंसा के साथ पास हुए उस समय उनकी मसें भीग रही थीं। छः महीने में स्मृतिशास्त्र भर पढ़ डालने की बात सुनकर सभी को बड़ा विस्मय हुआ। यह बात ऐसी अद्भुत समझी गई कि इस पर कोई सहज में विश्वास नहीं करता था। जब ईश्वरचन्द्र ने सार्टीफ़िकेट पाया

तब सबका सन्देह दूर हुआ। ईश्वरचन्द्र के ला-कमेटी की परीक्षा में पास होने के कुछ दिन बाद ही त्रिपुरा-राज्य के जज-पण्डित का पद ख़ाली हुआ। सत्रह वर्ष की अवस्था के बालक ईश्वरचन्द्र ने यह पद पाने के लिए अर्ज़ी दी। इनकी अर्ज़ी मञ्जूर हो गई। किन्तु पिता की सलाह न होने से ईश्वरचन्द्र ने वह नौकरी नहीं की।

अन्यान्य परीक्षाएँ पास करके उन्नीस वर्ष की अवस्था में ईश्वरचन्द्र ने वेदान्त की श्रेणी में नाम लिखाया। इस श्रेणी के अध्यापक शम्भुचन्द्र वाचस्पति भी ईश्वरचन्द्र की प्रतिभा पर मुग्ध थे। जिन विषयों या स्थलों पर अध्यापक महाशय को कुछ सन्देह होता था या जहाँ का पाठ असंलग्न जान पड़ता था वहाँ पर अध्यापक महाशय ईश्वरचन्द्र से तर्क-वितर्क करते थे और अक्सर इस प्रकार की आलोचना में गुत्थी सुलझ जाने पर वाचस्पति महाशय सन्तुष्ट होकर कहते थे कि तुम सचमुच ईश्वर हो।

इस समय के नियमानुसार स्मृति, न्याय और वेदान्त की वार्षिक परीक्षा के अवसर पर संस्कृत में गद्य और पद्य की रचना भी करनी पड़ती थी। सबसे अच्छा गद्य या पद्य लिखने के लिए अलग-अलग सौ-सौ रुपये का पुरस्कार नियत था। एक ही दिन दोनों परीक्षाएँ होती थीं। दस से एक बजे तक गद्य-रचना और एक से चार बजे तक पद्य-रचना का समय नियत था। उस साल परीक्षा देनेवाले सब बालक आ गये थे। परीक्षा शुरू होनेवाली ही थी कि अलङ्कारश्रेणी के अध्यापक प्रेमचन्द्र तर्कवागीश महाशय ईश्वरचन्द्र को अनुपस्थित देखकर उनकी खोज करने लगे। ईश्वरचन्द्र को अन्यत्र बैठे देखकर वे उन्हें वहाँ पकड़ लाये। अध्यक्ष मार्शेल साहब से कहकर उन्होंने ईश्वरचन्द्र को बलपूर्वक परीक्षा देने के लिए बिठलाया। ईश्वरचन्द्र ने अपने को इस परीक्षा के अयोग्य

बताकर बहुत कुछ टालमटोल की, पर पीछा नहीं छूटा। गद्य में उन्हीं का लेख सर्वश्रेष्ठ समझा गया श्रौर पुरस्कार के सौ रुपये उन्हीं को मिले। इसके बाद पद्य-रचना की परीक्षा हुई। उसमें भी विद्यासागर ही प्रथम रहे श्रौर उन्होंने फिर सौ रुपये का पुरस्कार पाया।

अब ईश्वरचन्द्र ने वेदान्त की परीक्षा पास करके न्याय श्रौर दर्शनशास्त्र पढ़ना शुरू किया। इस श्रेणी में एक साल पढ़ने के बाद परीक्षा में प्रथम होने पर ईश्वरचन्द्र को सौ रुपये श्रौर मिले। इस बार की पद्य-रचना में भी प्रथम होने से सौ रुपये का वह भी पुरस्कार ईश्वरचन्द्र ने पाया।

इसी समय ठाकुरदास ने मँझले लड़के दीनवन्धु का व्याह किया। इस काम में ख़र्च अधिक होने से कुछ ऋण हो गया। वीरसिंह में घर पर ख़र्च कम करने से भी कुछ फल न देख पड़ा। तब वे कलकत्ते का ख़र्च कम करके बचे हुए धन से ऋण चुकाने की चेष्टा करने लगे। ईश्वरचन्द्र को परीक्षा में प्रथम होने से जो दो सौ रुपये पुरस्कार में मिले थे उनसे ऋण चुकाने में वड़ी भारी सहायता मिली।

ईश्वरचन्द्र में एक वड़ी विशेषता यह थी कि वे अपने कष्ट को कुछ भी नहीं समझते थे। ऊपर जिस समय का हाल लिखा गया है उस समय सब परिवार को पेट काटना पड़ता था! अच्छा भोजन कोई नहीं करता था; क्योंकि ऋण चुकाना था। इस प्रकार आधे पेट रूखा-सूखा खाकर घर का रसोई बनाना, वर्तन माँजना आदि सब काम अकेले करके विद्यालय का पाठ अच्छी तरह याद करना ईश्वरचन्द्र ही ऐसे अध्यवसायी श्रौर कष्ट-सहिष्णु बालक का काम था। इस पर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि दिन-रात इस प्रकार का शारीरिक श्रौर मानसिक परिश्रम करने पर भी घड़ी भर

के लिए कभी वे उदास नहीं हुए। उनका मुख-मण्डल सदा प्रसन्न रहता था। कभी किसी ने उन्हें इस कष्ट के लिए दुखी होते या काम करने के लिए अनिच्छा प्रकट करते नहीं देखा-सुना। वे सर्वदा हँसते हुए सबसे बातचीत करते थे। उस साल दुर्गापूजा के अवसर पर गाँव जाकर भी ईश्वरचन्द्र ने प्रसन्नता का ही परिचय दिया। छोटे भाइयों और परोसी बालकों के साथ वे पहले की तरह खेलने लगे। गाँव के रोगियों और भूखों का दुःख दूर करने के लिए उन्होंने यथा-शक्ति धन भी ख़र्च किया। परोसियों में जो खाने-पीने से तङ्ग थे, जो लोग फटे कपड़े पहने कष्ट से गुज़र कर रहे थे उन्हें देखकर ईश्वरचन्द्र को ऐसी दया आई कि उन्होंने केवल अँगोछा पहने रह-कर अपने सब कपड़े बाँट दिये। इसी एक उदाहरण से जान पड़ता है कि वे आप तो भारी से भारी कष्ट सह सकते थे, किन्तु दूसरे का कष्ट उनसे बिल्कुल नहीं देखा जाता था। इस सम्बन्ध में और एक बात का उल्लेख करना यहाँ असङ्गत न होगा। जिस समय की बात लिखी जा रही है उस समय कलकत्ता-म्यूनिसिप-लिटी की इतनी श्रीवृद्धि नहीं हुई थी। उस समय शहर की चारों ओर दुर्गन्ध का राज्य था। तालाबों और कुण्डों में सड़ा-गन्दा पानी भरा रहता था। एक-एक तालाब और कुण्ड एक-एक नरक के समान था। सड़क की दोनों ओर खुली नालियाँ नरक-कुण्ड सी बहा करती थीं। फ़ी सदी निन्नानवे गृहस्थों के घरों में मल-मूत्र और कीड़ों से भरे बदबूदार नरक-कुण्ड के दर्शन होते थे। उस समय के कलकत्ते और इस समय के कलकत्ते के अन्तर को जिन्होंने अपनी आँखों नहीं देखा वे लाख वर्णन करने पर भी समझ नहीं सकते। ईश्वरचन्द्र के पिता जिस घर में रहते थे उसमें भी एक ऐसा ही नरक-कुण्ड था। पाख़ाना, कुआ और उसके आस-

पास की जगह ऐसी ही गन्दी बनी रहती थी। जिस छोटे से स्थान में ईश्वरचन्द्र रसोई बनाते थे उसके पास ही नरक-कुण्ड था। विद्यासागर के मुँह से ही मैंने सुना है कि वे जब भोजन करने वैठते थे तब उस गन्दे स्थान से सैकड़ों कीड़े उनकी थाली की श्रोर चलते थे। उनसे बचने के लिए ईश्वरचन्द्र एक कलसी जल अपने पास रख लेते थे। कीड़ों के पास पहुँचने पर वे थोड़ा सा पानी बहा देते थे; पानी के साथ कीड़े भी बह जाते थे। दुर्गन्ध का तो कहना ही क्या है। जिस बदबू से आदमी का मग़ज़ भिन्ना उठता है उसी बदबू के पास बैठकर उन्हें रसोई बनाना श्रौर भोजन करना पड़ता था। जिस घर में ईश्वरचन्द्र भोजन बनाते थे उसमें सूर्य की एक किरण भी नहीं पहुँचती थी। वहाँ हर समय घोर अन्धकार का अखण्ड राज्य रहता था। कभी-कभी उन्हें दिन में दीपक जलाकर अपना काम करना पड़ता था।

देखने में ईश्वरचन्द्र का रङ्ग गोरा न था। किन्तु उनमें न जाने कैसी विचित्र मोहिनी शक्ति थी कि जो एक बार उन्हें देखता था, एक बार उनके साथ बातचीत करता था, या एक-दो दिन उनके साथ रहता था, वही उनसे स्नेह किये बिना नहीं रह सकता था। उस समय संस्कृत-कालेज में जो लोग अध्यापक थे वे ईश्वरचन्द्र को पुत्र के समान मानते थे। गङ्गाधर तर्कवागीश, जयगोपाल तर्का-लङ्कार, प्रेमचन्द्र तर्कवागीश, सुप्रसिद्ध रामचन्द्र विद्यावागीश, हरनाथ तर्कभूषण, शम्भुचन्द्र वाचस्पति, सुप्रसिद्ध जयनारायण तर्कपञ्चानन आदि अध्यापकों ने एक स्वर से ईश्वरचन्द्र की श्रेष्ठता स्वीकार की है। इनके सिवा उनके समसामयिक श्रौर उनके पहले के छात्रगण उन्हें एक असाधारण शक्तिशाली छात्र समझकर सम्मान दिखाते श्रौर उन पर श्रद्धा रखते थे। इसके सिवा जो कोई प्रतिष्ठित आदमी या

कोई अध्यापक पण्डित विद्यासागर से परिचित होता था वही उनसे गाढ़ी मित्रता कर लेता था। वेदान्त-श्रेणी में पढ़ने के समय अध्यापक शम्भुचन्द्र वाचस्पतिजी अवस्था में बहुत बड़े होने पर भी ईश्वरचन्द्र के गुणों पर मुग्ध होकर स्नेहवश उनसे मित्र का सा व्यवहार करते थे। वाचस्पतिजी की अवस्था बहुत अधिक थी। वे ऐसे वृद्ध थे कि उन्हें नहाने, खाने और मल-मूत्र त्यागने के लिए जाने में भी दूसरे की सहायता की ज़रूरत पड़ती थी। स्नेह-वश योग्य विद्यार्थी ईश्वरचन्द्र अक्सर गुरुजी की सेवा करते थे। इसी लिए गुरुजी उन्हें पुत्र से बढ़कर प्यार करते थे। हर एक ज़रूरी काम में लायक़ लड़के से पिता जिस तरह सलाह लेता है उस तरह गुरुजी ईश्वरचन्द्र से सलाह लेते थे। ईश्वरचन्द्र से सलाह लिये बिना वे प्रायः कोई काम न करते थे। जिस समय विद्यार्थी और गुरु में स्नेह का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था उसी समय वाचस्पतिजी ने फिर विवाह करने की इच्छा प्रकट करके ईश्वरचन्द्र से कहा—"देखो, संसार में मेरे और कोई नहीं है। मुझे बड़ा कष्ट मिलता है। लोग कहते हैं कि फिर विवाह कर लेने से सब प्रकार का सुभीता हो जायगा। ख़ास कर इस कार्य के उद्योगी कई बड़े आदमी हैं और उनके उद्योग से एक अच्छे स्वभाव की सयानी लड़की भी ठीक हो गई है। अब बेटा, तुम्हारी क्या राय है?" ईश्वरचन्द्र ने ध्यान देकर सब बातें सुनीं। वे सोचने लगे कि वृद्ध गुरु के इस बुद्धि-विकार को शान्त करने का क्या उपाय है। बहुत सोचने पर भी ईश्वरचन्द्र को गुरु के इस असङ्गत निर्मम स्वार्थपूर्ण प्रस्ताव की प्रयोजनीयता न देख पड़ी। तब उन्होंने अपनी स्वाभाविक स्वाधीन प्रकृति के अनुरूप ही अपनी राय प्रकट की। ईश्वरचन्द्र ने कहा—"इस बुढ़ापे में फिर व्याह करना कभी उचित नहीं।

आपके अब अधिक दिन जीने की कोई सम्भावना नहीं है। व्याह करके क्या आप एक निरपराध बालिका को सदा के लिए दुखिया बनाना चाहते हैं ? व्याह कैसा, व्याह का ख़याल भी आपके लिए महापाप है।" साँप को देखकर प्राण बचाने के लिए जैसे कोई पीछे हट जाता है वही हाल ईश्वरचन्द्र की इस उक्ति को सुनकर वाचस्पतिजी का हुआ। वाचस्पतिजी ने कहा—"लाटू बाबू से भी बढ़कर तुम समझदार हो!" ईश्वरचन्द्र चुपचाप खड़े रहे। गुरुदेव ने फिर आगे बढ़कर, शिष्य के दोनों हाथ पकड़कर, बहुत अनुनय-विनय करते हुए बारम्बार अपने कष्ट का उल्लेख किया; पर विद्यासागर स्थिर शान्त-भाव से अपनी बात पर अटल बने रहे। इसके बाद ईश्वरचन्द्र ने ख़ुद वाचस्पतिजी को बहुत कुछ समझाया, अनुरोध किया। परन्तु वाचस्पतिजी ने नहीं माना। वाचस्पतिजी परलोकगत रामदुलाल सरकार के वंशधर छातू बाबू और लाटू बाबू के सभा-पण्डित थे। उक्त दोनों बाबू और नड़ाइल के प्रसिद्ध ज़मींदार बाबू रामरत्न राय इस बारे में प्रधान उद्योगी थे। इन्हीं के उद्योग से बारासात-निवासी एक ग़रीब ब्राह्मण की परमसुन्दरी बालिका के साथ वृद्ध वाचस्पतिजी का विवाह हो गया। ईश्वरचन्द्र को इस घटना से दारुण दुःख हुआ। उन्हें उसी दिन से वाचस्पतिजी पर कुछ खीझ भी पैदा हो गई थी, परन्तु गुरु-शिष्य का सम्बन्ध नहीं टूटा। एक दिन वाचस्पतिजी ने ईश्वरचन्द्र से कहा—"ईश्वर, तुम अपनी मा को देखने नहीं आये ?" यह सुनकर ईश्वरचन्द्र रोने लगे। फिर एक दिन वाचस्पतिजी ज़बरदस्ती ईश्वरचन्द्र को अपने घर ले गये। जाते समय ईश्वरचन्द्र कालेज के चपरासी से दो रुपये माँगकर लेते गये थे। दूर से बालिका गुरुवधू को प्रणाम करके उसके चरणों के पास दोनों रुपये रखकर ईश्वरचन्द्र

बाहर निकल गये। उधर से वाचस्पतिजी आ रहे थे। वे फिर ईश्वरचन्द्र को हाथ पकड़कर भीतर ले आये और दासी के द्वारा नववधू का घूँघट खुलवाकर उन्हें उनकी माता (गुरु-पत्नी) के दर्शन कराये। बालिका को देखकर और उसके परिणाम को सोचकर ईश्वरचन्द्र की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसके उपरान्त गुरुजी ने शिष्य से कुछ जलपान करने के लिए अनुरोध किया। किन्तु प्रतिज्ञा में हिमवान् के समान अटल ईश्वरचन्द्र किसी तरह जलपान करने के लिए राज़ी नहीं हुए। उन्होंने कहा—"मैं इस घर में कभी जल ग्रहण नहीं कर सकता।" इसके कुछ दिनों बाद ही बालिका को जन्म भर के लिए दुखिया बनाकर वृद्ध वाचस्पतिजी वैकुण्ठवास कर गये।

ईश्वरचन्द्र का हृदय कैसा कोमल और पर-दुःखकातर था, सो केवल इसी एक घटना से जाना जा सकता है। विद्यासागर बालिका विधवा के विवाह के पक्षपाती थे। बहुत सम्भव है, इसी एक घटना से उनका हृदय विधवा बालिकाओं की दुर्दशा दूर करने के लिए दृढ़ हो गया हो।

परलोकवास के कुछ दिन पहले विद्यासागरजी के मुँह से मैंने यह बात सुनी थी कि वे जिस समय पढ़ते थे उस समय, जब घर जाते थे तब, विधवा-जीवन की शोक-पूर्ण हृदय-विदारक घटनाएँ सुनकर बहुत ही कुढ़ते और कष्ट पाते थे। एक बार घर जाने पर उन्होंने सुना कि उनके परिचित एक प्रतिष्ठित गृहस्थ की विधवा कन्या कुपथगामिनी हो गई थी। जब उसके गर्भ रह गया और सन्तान की सम्भावना हुई तब पिता, माता, भाई आदि घर के लोग मान-प्रतिष्ठा और जाति-रक्षा के लिए बहुत घबराये। ऐसी दशा में साधारणतः जो उपाय किये जाते हैं वही उपाय यहाँ भी किये गये।

परन्तु भावी को कौन टाल सकता है? उस विधवा के यथासमय एक पुत्र उत्पन्न हुआ और वह उत्पन्न होते ही सौर में गला-दबाकर मार डाला गया। इस घटना का वर्णन करते-करते विद्यासागर की मुँह की बात मुँह में ही रह गई। मानसिक ग्लानि और यन्त्रणा से भरी हुई उत्तेजना उनके सब अङ्गों में झलकने लगी।

इन बातों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि छात्रावस्था से ही इन सब कठिन सामाजिक समस्याओं को हल करने—अनेक प्रकार के देश-हितकर कामों को सम्पन्न करने—का सङ्कल्प वे कर रहे थे। इसी से वे अपना व्याह नहीं करना चाहते थे। किन्तु पिता के रुष्ट हो जाने के डर से उन्होंने विवाह कर लिया। इस बात से स्पष्ट जान पड़ता है कि पढ़ने की अवस्था से ही इन सामाजिक विशृंखलाओं और अत्याचारों के दृश्य उनके कोमल हृदय में चोट पहुँचा रहे थे और वे इन सब अनिष्टों को मिटाने के लिए प्रस्तुत हो रहे थे।

जो लोग समाज के बह रहे प्रवाह की गति फिराने या समाज की धीमी गति तेज़ करने अथवा समाज-स्रोत का कूड़ा हटाकर दूर फेंकने पर कमर कसते हैं उनके वैसे विचार को दृढ़ करनेवाली दो-एक घटनाएँ अवश्य उनको पहले देख पड़ती और उनके कोमल, किन्तु दृढ़, हृदय पर अपना प्रभाव डाल जाती हैं।

संसार-जीवन की असारता, मनुष्य-शरीर की क्षणभङ्गुरता और दुस्सह दारिद्र्य को देखकर महायोगी शाक्यसिंह को वैराग्य हो आया था। इसी तरह हर एक समाज-संस्कारक के जीवन-चरित को पढ़कर देख लीजिए, यही बात पाइएगा। राममोहन राय ने सतीदाह रोकने के लिए प्राणपण से चेष्टा की, इँगलेंड गये। उनके सङ्कल्प का सूत्रपात उन्हीं के घर की एक घटना से सम्बन्ध रखता है। राममोहन के बड़े भाई की अकाल-मृत्यु होने पर उनकी

थोड़ी अवस्था की विधवा भौजाई को, कुल-प्रथा से लाचार होकर, सती होना पड़ा था। उस समय का भयानक दृश्य (उस बालिका का चिल्लाना और प्राणरक्षा के लिए छटपटाना) देखकर राममोहन ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक जिऊँगा इस प्रथा का प्रतिवाद करूँगा और हो सका तो इसे क़ानून की सहायता से उठवा दूँगा।

अभी ईश्वरचन्द्र जवान भी नहीं हुए थे, उनकी विद्या-शिक्षा समाप्त भी नहीं हुई थी, कि उनके हृदय में बाल-वैधव्य का भयानक चित्र अङ्कित हो चुका था। उन्होंने जो पिछले समय में इस कुप्रथा के विरुद्ध घोर आन्दोलन उपस्थित करके सारे समाज को हिला डाला, उसका प्रथम आरम्भ वृद्ध वाचस्पति की बालिका पत्नी का वैधव्य और दुःख देखकर ही हुआ था। पीछे की और सब घटनाएँ गौणरूप से सहायक मानी जा सकती हैं। मेरी समझ में तो ऐसा ही होना सम्भव और सङ्गत है। बहुत लोगों की धारणा यह है कि अपनी माता के अनुरोध से उन्होंने इस बारे में विचार किया था। किन्तु यह ठीक नहीं। मेरी लिखी "माता और लड़के" नाम की पुस्तक में विद्यासागर की माता भगवती देवी के चरित्र की कई घटनाओं का उल्लेख है। विद्यासागरजी ने ख़ुद छपते समय उस पुस्तक के प्रूफ़ देखे थे। उस पुस्तक में, प्रसङ्ग पाकर, इस बात का भी उल्लेख हुआ है कि विधवाविवाह के बारे में उनकी माता का कितना सम्बन्ध था। उसमें इस बात की चर्चा भी नहीं है कि विधवा-विवाह प्रचलित कराने के लिए विद्यासागर से उनकी माता ने अनुरोध किया था। अपने हृदय की उत्तेजना से ही विद्यासागर इस बात पर उद्यत हुए थे। हाँ, यह बात ज़रूर है कि इस काम में उन्हें माता-पिता से उत्साह और सहानुभूति प्राप्त हुई थी। अस्तु।

न्याय और दर्शन-शास्त्र की श्रेणी में जिस समय विद्यासागर पढ़ते थे उस समय, दो महीने के लिए, व्याकरण की द्वितीय श्रेणी के अध्यापक का पद ख़ाली हुआ था। ईश्वरचन्द्र की योग्यता का स्मरण करके कालेज के प्रिन्सिपल ने उन्हीं को दो महीने के लिए यह पद दिया। ईश्वरचन्द्र को चालीस रुपये माहवारी के हिसाब से अस्सी रुपये मिले। ईश्वरचन्द्र ने वे रुपये पिता के हाथ में रखकर कहा—"इन रुपयों से आप तीर्थयात्रा कर आइए।" पुत्र की ऐसी पितृ-भक्ति और तीर्थयात्रा का अनुराग देखकर ठाकुरदास और अन्यान्य लोग बहुत प्रसन्न हुए। पिता ने पुत्र की इच्छा के अनुसार उन रुपयों से अपने पिता की गया कर डाली।

पिता ने तीर्थयात्रा से लौटकर देखा कि ईश्वरचन्द्र ने दर्शन-शास्त्र की परीक्षा में प्रथम होकर सौ रुपये, सर्वोत्कृष्ट रचना करके सौ रुपये, क़ानून की परीक्षा के पुरस्कार में पचीस रुपये और उत्तम हस्ताक्षरों के पुरस्कार में आठ रुपये, सब मिलाकर २३३) रुपये पाये हैं। ईश्वरचन्द्र ने सब रुपये पिता के हाथ में रखकर कहा—"इन रुपयों से ऋण चुका डालिए।" चार साल तक दर्शन-शास्त्र पढ़कर अन्त को षट्-दर्शन की परीक्षा भी ईश्वरचन्द्र ने विशेष योग्यता के साथ पास कर ली। दर्शन-शास्त्र के अध्यापक जयनारायण तर्कपञ्चानन का कथन था—"ऐसा मेधावी और अद्भुतकर्मा छात्र कभी मैंने नहीं देखा। इसे पढ़ाते समय मुझे बहुत ग़ौर करना पड़ता था। पढ़ाते समय जान पड़ता था कि ईश्वरचन्द्र मानों बहुत दिन पहले इन शास्त्रों को पढ़ चुका है।" ईश्वरचन्द्र की प्रतिभा की प्रशंसा इससे अधिक और क्या हो सकती है! बहुत लोगों की धारणा है कि विद्यासागर के सम-सामयिक लोगों में कई आदमी पाण्डित्य में उनसे श्रेष्ठ थे। एक-एक विषय के पाण्डित्य में ऐसा

होना सम्भव है। किन्तु हर एक श्रेणी में प्रथम से शेष परीक्षा तक अव्वल नम्बर रहकर सर्वविद्या-विशारद होना सचमुच एक कठिन काम है। विद्यासागर ने जिन-जिन विषयों को पढ़ा उन सब में वे पारदर्शी हुए। उनके छात्र-जीवन की कीर्त्ति को न जानने के कारण ही शायद ऊपर लिखी हुई धारणा उत्पन्न हुई होगी। विघ्न-बाधा के पहाड़ों की परवा न करके, अनिर्वचनीय दुःख-कष्ट सहकर, सब विषयों के पढ़ने में समान-भाव से मन लगाकर सफलता प्राप्त करना अलौकिक गुण-सम्पन्न प्रतिभा-शाली पुरुष का ही काम है। कोई व्याकरण में, कोई साहित्य में, कोई न्याय में, कोई दर्शन-शास्त्र में और कोई धर्मशास्त्र में विशेष प्रतिष्ठा के साथ श्रेष्ठ पण्डित हो तो कोई उतने आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु जो पुरुष-रत्न हर एक विद्या में सर्वोच्च पद प्राप्त कर सका हो उसकी योग्यता के सम्बन्ध में मतामत प्रकट करने के लिए विशेषरूप से विचार करने की आवश्यकता है। किन्तु खेद की बात तो यह है कि हम लोगों को इस प्रकार विचार करके अपनी राय देने का अभ्यास नहीं। समझें या न समझें, थोड़े समय में बहुत सी बातें बक-कर बहुदर्शी बनने की आकांक्षा हमारे स्वभाव में दाख़िल हो गई है। यही कारण है कि अनेक अनभिज्ञ लोगों के मुँह से विद्यासागर के सम्बन्ध में ऐसी बातें सुन पड़ती थीं। ऊपर जो विद्यासागर के सम्बन्ध में राय ज़ाहिर की जा चुकी है उसके प्रमाण में यहाँ पर संस्कृत-कालेज के अध्यक्ष और अध्यापकों की सम्मति नीचे लिखी जाती है। ईश्वरचन्द्र को हिन्दू-कालेज से विद्यासागर की उपाधि के साथ जो प्रशंसापत्र मिला था उसकी नक़ल यह है—

अस्माभिः श्रीईश्वरचन्द्रविद्यासागराय प्रशंसापत्रं दीयते। असौ कलिकातायां श्रीयुतकम्पनीसंस्थापितविद्यामन्दिरे १२ द्वादश वत्सरान् ५ पञ्च मासांश्चोपस्थायाधोलिखितशास्त्राण्यधीतवान्।

Government Sanscrit College

CALCUTTA

We hereby Certify that Ishwarchandar Bidiyasagur has attended at the Government Sanscrit College for 12 Years 5 Months and studied the following branches of Hindoo Literature, Grammar, Belles lettres, Rhetoric, Arithmetic, Logic, Theology and Law

that he has attained very Good proficiency in the subject of these Studies and that he conducted himself well.

General Committee of Public Instruction.

Fort William the 4th December 1841

व्याकरणम्...	...	श्रीगङ्गाधरशर्म्मभिः
काव्यशास्त्रम्...	...	श्रीजयगोपालशर्म्मभिः
अलङ्कारशास्त्रम्...	...	श्रीप्रेमचन्द्रशर्म्मभिः
वेदान्तशास्त्रम्...	...	श्रीशम्भुचन्द्रशर्म्मभिः
न्यायशास्त्रम्...	...	श्रीजयनारायणशर्म्मभिः
ज्योतिःशास्त्रम्...	...	श्रीयोगध्यानशर्म्मभिः
धर्म्मशास्त्रञ्च...	...	श्रीशम्भुचन्द्रशर्म्मभिः

सुशीलतयोपस्थितस्यैतस्यैतेषु शास्त्रेषु समीचीना व्युत्पत्तिरजनिष्ट ।
१७६३ एतच्छकाब्दस्य सौरमार्गशीर्षस्य विंशतिदिवसीयम् ।

(Sd.) Rasomay Dutta,

10th December, 1841. *Secretary.*

ईश्वरचन्द्र ऐसे असाधारण धीशक्तिसम्पन्न वालक के शिक्षक बनकर सब श्रेणियों के अध्यापकों ने अपने को धन्य समझा। ऊपर प्रशंसा-पत्र में जिन अध्यापकों के नाम लिखे हैं वे अपनी-अपनी विद्या में उस समय श्रेष्ठ पण्डित माने जाते थे। उन सबने मिलकर इक्कीस वर्ष की अवस्था के नवयुवक ईश्वरचन्द्र को विद्यासागर की उपाधि दी थी। इससे यही जान पड़ता है कि वे हर एक विषय में विशेषता रखते थे। सभी विद्याओं की तह में उनकी बुद्धि पहुँच जाती। अनेक वाधा-विघ्नों की उपेक्षा करके और कष्ट सहकर पढ़ने में ऐसा चाव दिखाना और उसमें सफलता प्राप्त करना दरिद्र दीन भारत के हर एक छात्र के लिए अनुकरणीय है। विद्यासागरजी ने निष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन करते हुए छात्रजीवन विताया। उनका छात्रजीवन दृढ़ता, सहन-शीलता, अध्यवसाय और स्वार्थत्याग का अत्यन्त उज्ज्वल आदर्श है। ऐसा गुणी वालक जिस घर में उत्पन्न हो उस घर के हर एक आदमी का सिर ऊँचा होता है। जिस देश के वालक और नौजवान

विद्यासागर के आचरण का अनुसरण करेंगे वह देश विशेष गौरव-शाली होगा। जिस विद्यालय में विद्यासागर ने शिक्षा पाई उसका स्थापित होना सफल हो गया।

सन् १८२६ में ईश्वरचन्द्र संस्कृत-कालेज में भर्ती हुए थे। उस समय तक अँगरेज़ी शिक्षा का बहुत प्रचार नहीं हुआ था। कलकत्ते के और उसके आसपास के बहुत से प्रतिष्ठित धनी-मानी लोग मिलकर पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली के अनुकरण पर इस देश के बालकों को शिक्षा दिलाने का उद्योग कर रहे थे। सन् १८१७ की २० वीं जनवरी को, सोमवार के दिन, गरानहट्टा में गोराचाँद बसाक के घर पर, प्रातःस्मरणीय हेयर, हेरिंगटन और सर हाइड ईस्ट आदि सहृदय अँगरेज़ों और बहुत से एतद्देशीय भद्र पुरुषों के उत्साह और आग्रह से हिन्दूकालेज का सूत्रपात हुआ था। किन्तु उसके चिरस्थायी और उन्नत होने के सम्बन्ध में बहुत कुछ सन्देह बना ही रहा। क्योंकि उस समय तक उसकी उन्नति के लिए गवर्नमेन्ट का उतना आग्रह नहीं देख पड़ता था और इधर उद्योगी पुरुषों ने उसके लिए कोई चेष्टा भी नहीं की थी। एक समय धन न होने के कारण जब हिन्दूकालेज का अस्तित्व मिटने चाहता था, और उधर गवर्नमेन्ट ने केवल संस्कृत-कालेज स्थापित कर शिक्षा के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर देनी चाही थी, तब महात्मा राममोहन राय के आवेदन और डाकृर विल्सन की चेष्टा से गवर्नमेन्ट ने यहाँ की शिक्षा के सम्बन्ध में फिर से ध्यान दिया। इस समय इस कार्य में हेयर साहब ने बड़ी सहायता की थी। अगर वे प्राणपण से चेष्टा और उद्योग न करते तो वर्त्तमान ज़ोरदार पाश्चात्य शिक्षा का प्रवाह बहुत पीछे पड़ा हुआ होता। सन् १८२४ में १२४०००) की लागत से हेयर साहब की दी

हुई ज़मीन के ऊपर संस्कृतकालेज और हिन्दूकालेज की सम्मिलित इमारत बननी शुरू हुई। भवन तैयार होने पर उसमें संस्कृत-कालेज सहित हिन्दू-कालेज स्थापित हुआ। किन्तु उस समय भी धन की कमी से कभी-कभी हिन्दू-कालेज के बन्द होने की सम्भावना प्रतीत होने लगती थी। अन्त को निरुपाय होकर कालेज के सञ्चालकों ने गवर्नमेन्ट से सहायता माँगी। शिक्षा-सम्बन्धिनी नीति में हस्तक्षेप न करके, केवल अपने दिये धन के सद्व्यय के सम्बन्ध में गवर्नमेन्ट को दृष्टि रखने का अधिकार देने की शर्त पर सरकारी सहायता लेना स्वीकार किया गया। इस कारण इसी समय से बङ्गाल में अँगरेज़ी-शिक्षा के बहुल प्रचार का आरम्भ हुआ, यह कहना ही सङ्गत होगा। *

घनघटा से घिरी हुई अमावस की आधी रात के घोर अन्धकार में नींद का मज़ा ले रहे लोग सहसा बढ़िया के जल में बहकर जिस अवस्था को प्राप्त होते हैं, ठीक वही हालत यहाँ अँगरेज़ी-शिक्षा का पहला प्रवाह आने पर हुई थी। नये भावों और नये विचारों का स्रोत बिजली की तरह तीव्र-तेज से चारों ओर चकाचौंध पैदा करता हुआ फैलने लगा। नये प्रकाश में नौजवान लोग राह भूलकर इधर-उधर भटकने लगे। युवक फिरङ्गी प्रोफ़ेसर डिरोजिओ इस नव्य सम्प्रदाय के दीक्षागुरु थे। कृष्णमोहन बनर्जी, हरचन्द्र घोष, रसिककृष्ण मल्लिक, दक्षिणारञ्जन मुकर्जी, रामगोपाल घोष, रामतनु लाहिड़ी, राधानाथ सिकदार, माधवचन्द्र मल्लिक, गोविन्द बसाक आदि उस समय के नवयुवक, विचारों और भावों के उच्च उदार बनाने में, वर्तमान सम्प्रदाय के पिता कहे जा सकते

* Account taken from the Biography of David Hare by Pyari Chandra Mittra.

हैं। मि० डिरोजिओ की सहृदयता, विद्या, बुद्धि और पाण्डित्य के मधुर आकर्षण से बहुत से युवक मिलकर एकाडेमी नाम की सभा में धर्म्म, समाज-तत्त्व और अन्यान्य आवश्यकीय विषयों की आलोचना करने लगे। डेविड हेयर हर अधिवेशन में उपस्थित होते थे। गवर्नर-जेनरल वेन्टिंक महोदय के प्राइवेट सेक्रेटरी कर्नल वेन्सन भी उस सभा में समय-समय पर उपस्थित हो, उपदेश और उत्साह देकर सभासदों को अनुगृहीत करते थे। उस समय के प्राचीन समाज-सञ्चालकों को, यह नया उद्योग देखकर, भय के साथ चिन्ता भी हुई। उन्होंने दवाव डालकर नये विचारों और भावों को दवाना चाहा। लेकिन वही दशा हुई कि "मरज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की"। नवीन विचारों की लहर चारों ओर फैलने लगी। अनेक लोगों ने उसका विरोध करना चाहा किन्तु विपरीत फल देखकर वे चुप हो गयें। सबसे पहले जिन्होंने नवीन विचारों की जननी नवीन शिक्षा को स्वीकार किया वे प्रायः सभी विद्यासागर महाशय के समसामयिक थे। जिस समय विद्यासागर विद्यालय में थे उसी समय वे लोग भी पढ़ते थे। विद्यासागरजी संस्कृत-कालेज में और वे हिन्दू-कालेज में शिक्षा पाते थे। नित्य हेलमेल के कारण विद्यासागरजी से सबसे विशेष मित्रता थी। रामगोपाल घोष, हरचन्द्र घोष, दक्षिणारञ्जन मुकर्जी, रामतनु लाहिड़ी आदि अनेक तेजस्वी छात्र विद्यासागर के घनिष्ठ मित्र थे। सन् १८४१ के दिसम्बर महीने में विद्यासागरजी की शिक्षा समाप्त हो गई। सन् १८४२ की पहली जून को बङ्गाली छात्रों के परम सुहृद् डेविड हेयर की मृत्यु हुई। उस समय सारे कलकत्ते में शोक छा गया। डेविड हेयर के कई स्मारकों में एक सभा भी हर साल उनकी मृत्यु के दिन होती चली आती है। उस सभा में बन्धु-बान्धवों सहित विद्यासागर महाशय प्रायः उपस्थित होते थे।

विद्यासागरजी जिस समय कालेज से पढ़कर निकले उस समय अच्छी अँगरेज़ी पर यथेष्ट अधिकार न होने पर भी अँगरेज़ी के भावों और विचारों से वे अच्छी तरह परिचित हो चुके थे। अँगरेज़ी सीखने की आवश्यकता का अनुभव करके ईश्वरचन्द्र ने संस्कृत-कालेज छोड़ने पर अँगरेज़ी पढ़ने का प्रबन्ध किया। उस समय एक ओर अन्धविश्वास के अधीन होकर पुराने ख़याल के लोग अपने भाग्य को दोष देते हुए अलस भाव से दिन बिता रहे थे और दूसरी ओर नवीन भाव और नवीन उद्योग का ज़ोरदार प्रवाह तत्कालीन युवक-मण्डली को किसी अज्ञात-मार्ग की तरफ़ बहाये लिये जा रहा था। विद्यालय की शिक्षा समाप्त होने के बाद कर्म्मक्षेत्र के द्वार पर खड़े होकर नवयुवक विद्यासागर ने देखा कि एक तरफ़ कूड़े-करकट से भरी हुई जंगल सी वन-भूमि बहुत से रत्नों की खान होने पर भी अज्ञता और कुसंस्कार की मज़बूत बेड़ियों से जकड़ी हुई है, और दूसरी तरफ़ विचित्र दर्शनीय तारागण के प्रतिबिम्ब से सुशोभित और जल के उच्छ्वास से परिपूर्ण सागर उनके मन और नयनों को अपनी ओर खींच रहा है; किन्तु कितने ही भीषणकाय तिमि और मगर उसके भीतर लुके हुए हैं। विद्यासागर ने इन दोनों दृश्यों के सन्धिस्थल में खड़े होकर दिव्य दृष्टि से अपने भावी सङ्कल्प का मार्ग देख पाया। उनके हृदय के नेत्रों ने यह अङ्गीकार कर लिया कि वे उन्हें इन दोनों तरह की बाधाओं के बीच सदा सुमार्ग दिखाते रहेंगे। ईश्वरचन्द्र ने प्राच्य और पाश्चात्य भावों को मिलाकर अपना नया मार्ग तैयार कर लिया। वे पूर्व के कुसंस्कार और पश्चिम के आडम्बर को छोड़कर निष्ठावान् और कर्त्तव्य-परायण वीर पुरुष के योग्य मार्ग में दिन-दिन अग्रसर होने लगे। अँगरेज़ी और संस्कृत की शिक्षा के मेल से मनुष्य कैसी महामूल्य सम्पत्ति का

अधिकारी हो सकता है, यह जानने के लिए विद्यासागर के जीवन-चरित का अनुशीलन करना चाहिए। वे दोनों शिक्षाओं का बुरा हिस्सा छोड़कर उनके रत्नों के सञ्चय से अपने जीवन की शोभा और सौन्दर्य्य बढ़ाकर हम लोगों के सामने वर्त्तमान समय की जीवन-समस्या की मीमांसा कर गये हैं। वे अनेक गुणों के आधार थे। उनके सम्बन्ध में माननीय रमेशचन्द्र दत्त सी० आई० ई० की राय उद्धृत करके यह अध्याय समाप्त किया जाता है।

"ईश्वरचन्द्र की ऐसी विद्या और बुद्धि सबके नहीं होती। ईश्वरचन्द्र की ऐसी ओजस्विता, मानसिक बल और दृढ़ प्रतिज्ञा सबको नहीं प्राप्त हो सकती। ईश्वरचन्द्र की ऐसी जगत् को वश करनेवाली सहृदयता, उदारता और उपकार करने की प्रवृत्ति सबके नहीं होती। किन्तु तो भी शायद हम ईश्वरचन्द्र की बातें याद करके सीधे रास्ते पर चलना सीख सकते हैं, कर्त्तव्य-पालन के लिए उद्योग कर सकते हैं, ढोंग करना छोड़ सकते हैं। जो समाज का उपकार करनेवाली है, जिसे प्राचीन हिन्दू-धर्म मानता है उसी प्रथा को हम लोग क्रमशः ग्रहण करना सीखें।"

कर्म्मक्षेत्र में विद्यासागर

अब तक जो कुछ लिखा गया उसका सम्बन्ध बालक ईश्वरचन्द्र से था। हमने देखा कि बचपन में वे बड़े उपद्रवी थे। विद्यालय में वे आदर्श छात्र के रूप में भी देख पड़े। उनके अध्ययन और गवेषणा से सन्तुष्ट होकर सभी लोगों ने उनकी प्रशंसा की। किन्तु अब तक उनके जीवन-चरित का पहला ही अङ्क हमारे सामने था। अभी तक उनका सुकुमार सौरभमय जीवन कुसुमकली के रूप में ही हमको देख पड़ता था। उनके जीवन-कुसुम की कीर्त्तिसुवास ने देश को सुगन्धित कर दिया। परन्तु वे इस समय तक बालक ही हैं। विद्यार्थी बालक जो कर सकता है उसके अत्यन्त उज्ज्वल दृष्टान्त को पीछे छोड़कर वे जीवन की भारी ज़िम्मेदारी से परिपूर्ण कर्म्मक्षेत्र-द्वार पर खड़े हुए। उनके जीवन के जिस अंश में घटना-वैचित्र्य, स्वार्थत्याग के अद्भुत दृष्टान्त, लोक-सेवा की अक्षय कीर्त्ति और देवदुर्लभ प्रेम ने सफलता प्राप्त की—सहन-शीलता, क्षमा और निर्भीकता की सजीव प्रति-मूर्त्ति ने पूर्णता प्राप्त की, हम इस समय उनके जीवन-चरित के उसी अंश की ओर धीरे-धीरे अग्रसर होते हैं। इसी अंश में हमारे जातीय-जीवन के सब अमूल्य रत्न छिपे हुए हैं। इसी अंश में वर्त्तमान मोहमुग्ध और मृतप्राय जातीय-जीवन को जिलानेवाली मृतसञ्जीविनी विद्या भरी हुई है। खेद यही है कि मुझ सरीखे थोड़ी बुद्धि के अयोग्य आदमी के द्वारा उन रत्नों का

सुन्दर संग्रह होना सर्वथा असम्भव है। मेरी अपेक्षा अच्छे, सुयोग्य पुरुष के हाथों यह काम होता तो न जाने कैसी सुन्दर माला बनकर मातृ-भाषा के साहित्य का वैभव बढ़ाती। वह माला शिक्षित देशवासियों के गले का हार होकर उन्हें सर्वत्र जयमाला दिलाती।

कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम-कालेज में मार्शेल साहब की मातहती में सबसे पहले विद्यासागर ने नौकरी की। मधुसूदन तर्कालङ्कारजी के मरने पर उक्त कालेज के प्रधान् पण्डित का पद ख़ाली हुआ। उस पद को पाने के लिए कई लोगों ने ज़ोर मारा। इधर विद्यासागरजी कालेज की पढ़ाई समाप्त करके कुछ दिनों के लिए वीरसिंह में जाकर माता के पास सुख से समय बिता रहे थे। पहले जब मार्शेल साहब संस्कृत-कालेज के प्रिन्सपल थे तब से विद्यासागर को बहुत अच्छी तरह जानते थे। ईश्वरचन्द्र की असाधारण श्रमशीलता, अदम्य अध्यवसाय, अद्भुत बुद्धिमानी, सुन्दर हस्ताक्षर, कविता-रचना की निपुणता और सब विषयों पर समान अनुराग देखकर मार्शेल साहब की उन पर विशेष कृपा थी। इस समय ख़ाली जगह पर विद्यासागर को रखने के इरादे से मार्शेल साहब संस्कृत-कालेज में जयनारायण तर्कपञ्चाननजी के पास आये। पूछने पर साहब को मालूम हुआ कि आजकल वे कलकत्ते से बहुत फ़ासले पर अपने गाँव में हैं। मार्शेल साहब ने तर्कपञ्चाननजी से कहा कि आप उन्हें अभी किसी तरह यह ख़बर दीजिए। तर्कपञ्चानन ने बड़े बाज़ार में विद्यासागर के पिता के पास आदमी भेजा। ख़बर पाते ही ठाकुरदास घर गये और अपने साथ विद्यासागर को कलकत्ते ले आये। इसी सन् १८४१ के शेषभाग में विद्यासागरजी पचास रुपये माहवारी पर परलोकगत तर्कालङ्कारजी के पद पर नियुक्त हुए। विलायत से आये हुए सिविलियन लोग यहाँ देशी भाषाएँ सीखकर परीक्षा देने के

बाद नौकरी पाते थे। जो सिविलियन इस परीक्षा में पास न हो सकते थे उन्हें विलायत लौट जाना पड़ता था। विलायत में सिविलियनों के लिए आजकल की तरह उस समय प्रतियोगि-परीक्षा नहीं क़ायम हुई थी। उस समय सिविलियन लोग हालिवरी-कालेज में पढ़कर यहाँ नौकरी करने आते थे। इन लोगों की परीक्षा विद्यासागरजी लेते थे। इस कालेज के काम में विद्यासागर ने जैसी दृढ़ता दिखलाई और आग्रह के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन किया उससे मार्शेल साहब उन पर बहुत प्रसन्न रहने लगे। इस परीक्षा में पास न होकर जिन सिविलियनों को विलायत लौट जाना पड़ता था उनको बेहद रञ्ज होता था। इसी कारण मार्शेल साहब ने विद्यासागर से परीक्षा लेने में कुछ रिआयत करने के लिए कहा। इसके उत्तर में युवक विद्यासागर ने बहुत ही स्पष्ट तौर पर कह दिया—"यह काम मुझसे न होगा, नौकरी छूट जाय तब भी अन्याय न करूँगा।" विद्यासागर महाशय पीछे से एक अद्भुत-कर्म्मा वीर पुरुष हुए और उसकी सूचना ऐसी बातों द्वारा पहले ही हो चुकी थी। ग़रीब के लड़के ने कल्पनातीत कष्ट सहकर जीवन का पहला अंश बिताया और उसके बाद ५०) की नौकरी, जो औरों के लिए उस समय महामूल्य सम्पत्ति थी, पाकर उसे कर्त्तव्य के आगे तुच्छ समझा। यह बात आजकल के बड़े-बड़ों में नहीं पाई जाती। उन्होंने बिना किसी सङ्कोच के साहब से कह दिया कि थोड़े से भी अन्याय को आश्रय देने के पहले ही वे नौकरी छोड़कर चल देंगे। मार्शेल साहब बड़े सज्जन थे। केवल इसी ख़याल से उन्होंने विद्यासागरजी से ऐसा अनुरोध किया था कि विलायत से नौकरी के लिए हिन्दुस्तान में आना और फिर यहाँ से निराश होकर विलायत लौट जाना सिविलियनों के लिए बहुत ही असुविधा और कष्ट की बात

थी। किन्तु विद्यासागर की न्यायनिष्ठा देखकर रुष्ट होने के बदले साहब सन्तुष्ट ही हुए।

नौकरी के साथ ही साथ विद्यासागर को अँगरेज़ी पढ़ना भी शुरू करना पड़ा। वे अँगरेज़ी और हिन्दी साथ ही साथ सीखने लगे। सुविख्यात वक्ता बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के पिता प्रसिद्ध डाक्टर दुर्गाचरण बनर्जी विद्यासागरजी के परम मित्र थे। उक्त डाक्टरसाहब कलकत्ते में, तालतल्ले में, रहते थे। वे प्रायः विद्यासागरजी के घर आया करते थे। विद्यासागरजी ने पहले दुर्गाचरण बाबू से ही अँगरेज़ी सीखना शुरू किया। इसके बाद श्रीयुत राजनारायण बसुजी से कुछ दिन अँगरेज़ी सीखी। बसुजी के साथ विद्यासागरजी की मित्रता हो गई और वह मित्रता जन्म भर बनी रही। इसके बाद कुछ दिन नीलमाधव मुकर्जी ने विद्यासागर को अँगरेज़ी पढ़ाई। फिर उन्होंने राजनारायण गुप्त नामक एक युवक को १५) महीना देकर अपना अँगरेज़ी का शिक्षक बनाया। हिन्दी सीखने के लिए भी उन्होंने १०) महीने का एक हिन्दुस्तानी पण्डित नौकर रक्खा। थोड़े ही दिनों में अँगरेज़ी और हिन्दी में उन्हें ख़ासी योग्यता हो गई।

बाबू सुरेन्द्रनाथजी के पिता दुर्गाचरण बाबू तब तक डाक्टर नहीं हुए थे। वे उस समय हेयर-स्कूल में मास्टरी करते थे। इसी समय फ़ोर्ट विलियम कालेज में हेडराइटर का पद ख़ाली हुआ। विद्यासागर ने मार्शल साहब से अनुरोध करके दुर्गाचरण बाबू को ८०) माहवारी पर, इस पद पर, नियुक्त करा दिया। दुर्गाचरण बाबू इधर यह नौकरी करते रहे और उधर मेडिकल कालेज में अलग से पढ़कर डाक्टरी की योग्यता प्राप्त करके अन्त को डाक्टरी ही करने लगे। विद्यासागरजी के भाई श्रीयुत शम्भुचन्द्र विद्यारत्न का कथन है कि दुर्गाचरण बाबू को कलकत्ते में ही रखने के लिए विद्यासागरजी

ने वहुत कोशिश की थी। डाकृर वावू ने भी लोकसेवा के काम में विद्यासागरजी की यथेष्ट सहायता की। नीलमाधव वावू ने भी डाकृरी पास करके अनेक प्रकार से विद्यासागरजी को सहायता पहुँचाई।

संसार में जन्म लेकर जिन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त की है, जिनके जन्म लेने से जन-समाज का मुख उज्ज्वल हुआ है, जिनके आन्दोलन से संसार हिल उठा है, जिनके आविर्भाव से संसार की शिथिलता और मलिनता दूर हुई है उनमें से अनेक लोगों को अपनी पहली अवस्था ग़रीबी के कष्ट में ही वितानी पड़ी है। उन्होंने साधारण अवस्था और साधारण तैयारी से संसार को जीवन के वड़े कामों की सूचना दी है। अमेरिका के युक्त राज्य के भूतपूर्व प्रेसीडेन्ट महाप्राण गारफ़ील्ड एक किसान के लड़के थे। खेती करने, लकड़ी लाने और जहाज़ के मामूली काम करने में ही उनके वचपन का अधिकांश समय वीता था। फ़्रांस के सम्राट् नेपोलियन पहले एक मामूली सिपाही थे। यूरोप के उदाहरणों को जाने दीजिए; अपने यहाँ देखिए। धर्म्म और समाज के संस्कारक प्रसिद्ध वक्ता केशवचन्द्र सेन पहले २०) के क्लर्क थे। निर्भीक और स्वाधीनचेता हिन्दू-पैट्रियट के सम्पादक वावू हरिश्चन्द्र मुकर्जी भी पहले एक मामूली क्लर्क थे। जिन विद्यासागर ने श्रमशीलता, सहिष्णुता, कार्य्य-कुशलता और प्रखर प्रतिभा के पराक्रम से सारे वङ्ग-समाज को विस्मित कर दिया उन्होंने भी पहले ५०) महीने की साधारण नौकरी की। विद्यासागर ग़रीव के लड़के थे और इसी कारण हम उनका इतना आदर करते हैं कि उस ग़रीवी में ही उन्होंने अपनी ऐसी आशातीत उन्नति कर दिखाई। यह वङ्गाली जाति भर के लिए विशेष गौरव की वात है कि उन्होंने वर्णनातीत दुःख, कष्ट की दारुण

यन्त्रणा में पड़कर भी शान्त भाव से जीवन के मार्ग में अग्रसर होकर अपनी अतुल कीर्त्ति का जयस्तम्भ संसार में स्थापित कर दिया। प्रात:स्मरणीय महापुरुषों में उनकी गिनती की जा सकती है।

विद्यासागर ने ख़ुद नौकर होने पर पिता से नौकरी छोड़ देने के लिए अनुरोध किया। पहले वे और लोगों की सलाह से नौकरी छोड़ने में आनाकानी करते रहे। अपने में शक्ति के रहते इस तरह पुत्र के अधीन होने में पहले उन्होंने अनिच्छा प्रकट की। किन्तु पुत्र के अधिक अनुनय-विनय करने पर उन्हें नौकरी छोड़कर घर जाना ही पड़ा। नौकरी छोड़ने के समय वे १०) माहवारी तनख़्वाह पाते थे। विद्यासागरजी ने उन्हें हर महीने २०) की सहायता देने का वादा किया। विद्यासागर ने नौकर होते ही सबसे पहले पिता के बहुत दिन के क्लेश को दूर करना चाहा। इसी से जाना जा सकता है कि वे कितने बड़े पितृभक्त थे। होश सँभालते ही उन्होंने पिता के मुँह से उनकी दु:ख की कहानी सुनी थी और छात्रावस्था में पिता के पास रहकर उनकी तकलीफ़ों और असुविधाओं को अपनी आंखों से देखा था। इसी से अपने हाथ-पैर चलते ही उन्होंने पिता को विश्राम देना चाहा। हर महीने विद्यासागरजी पिता को बीस रुपये भेज देते थे। शेष तीस रुपयों से उन्हें दो सगे भाइयों का, दो चचाज़ात भाइयों का, दो बुआ के बेटों का, एक मौसी के लड़के का, एक पुराने नौकर का और अपना भरण-पोषण करना पड़ता था! सब भाइयों में बड़े और कमाऊ होने पर भी विद्यासागरजी रसोई बनाने आदि के कामों में बराबर सहायता करते रहते थे। बड़े बाज़ार के डेरे में सब आदमियों का गुज़र न होने पर विद्या-सागरजी ने बहूबाज़ार में प्रसिद्ध हृदयराम बनर्जी का सदर मकान किराये पर ले लिया।

विद्यासागरजी सबेरे ६ बजे तक मास्टर से अँगरेज़ी पढ़कर यथा-समय कालेज जाते और फिर तीसरे पहर हिन्दी का अभ्यास करते थे। किन्तु विद्यासागर ऐसे सुतीक्ष्ण बुद्धिवाले अध्यवसाय-शील पण्डित के लिए इतना ही काम यथेष्ट न था। अँगरेज़ी के योग्य विद्वान् बाबू श्यामाचरण सरकार, रामरत्न मुकर्जी आदि अनेक हमजोली के मित्र संस्कृत सीखने के लिए विद्यासागरजी के पास आते थे। बाबू राजकृष्ण बनर्जी भी अपने स्वभाव के कारण इसी समय से विद्यासागरजी के विशेष स्नेह-पात्र बन गये। वे अँगरेज़ी की पढ़ाई एक प्रकार से समाप्त ही कर चुके थे। विद्यासागरजी की ओर उनका अनुराग दिनोदिन बढ़ने लगा। एक दिन विद्यासागर के मँझले भाई दीनबन्धु के मुँह से मेघदूत का मधुर पाठ सुनकर उन्हें संस्कृत पढ़ने की प्रबल इच्छा हुई। उन्होंने विद्यासागर से अपनी इच्छा प्रगट की। विद्यासागरजी उन्हें संस्कृत पढ़ाने के लिए राज़ी हो गये। किन्तु उन्होंने सोचा कि राजकृष्ण बाबू की अवस्था अधिक है, संस्कृत सीखने में अधिक समय लगने से उनका ऊब जाना सर्वथा सम्भव है। इस कारण मुग्धबोध व्याकरण की समय-सापेक्ष शिक्षा देने के बदले व्याकरण पढ़ाने का कोई ऐसा सहल ढँग निकालना चाहिए जिसमें समय थोड़ा लगे और काम उतना ही हो। यह सोच-कर उन्होंने राजकृष्ण बाबू से कहा कि तुमको एक सहज उपाय से व्याकरण पढ़ाऊँगा। दूसरे दिन राजकृष्ण बाबू ने आकर देखा कि उन्हें संस्कृत पढ़ाने के लिए विद्यासागर ने बँगला अक्षरों में वर्णमाला से लेकर शेष तक एक नये ढँग का व्याकरण लिख डाला है। इसी हस्तलिखित व्याकरण से राजकृष्ण बाबू की संस्कृत-शिक्षा का सूत्र-पात हुआ। अन्त को इसी व्याकरण से "उपक्रमणिका" बनी और प्रकाशित हुई। "उपक्रमणिका" विद्यासागर की उद्भावनी शक्ति

का एक विचित्र प्रमाण है। इसका सभी ढँग नया है। इस छोटी सी पुस्तक की सहायता से हर एक आदमी अनायास थोड़े दिनों में संस्कृत सीख सकता है। यह एक ग्रन्थ ही उनकी बुद्धिमत्ता का एक श्रेष्ठ निदर्शन है।

राजकृष्ण बाबू ख़ुद परिश्रमी और पुरुषार्थी पुरुष थे; और उस पर विद्यासागर का पढ़ाने का ढङ्ग भी सहज और मनोरञ्जक था। थोड़े ही दिनों में राजकृष्ण बाबू ने मुग्धबोध व्याकरण पढ़ लिया। छः महीने में मुग्धबोध पढ़ लेने की अद्भुत बात सुनकर सब लोग सन्नाटे में आ गये। छात्र और शिक्षक, दोनों की यह विचित्र सफलता देखकर लोग बहुत विस्मित हुए। इसके पहले ही मार्शल साहब ने संस्कृत-कालेज में जूनियर और सीनियर परीक्षाएँ नियत कर दी थीं। विद्यासागर ने राजकृष्ण बाबू से जूनियर परीक्षा देने के लिए कहा। राजकृष्ण भी इस परीक्षा के लिए तैयारी करने लगे। किन्तु सहसा एक दिन विद्यासागर को मालूम हुआ कि एक असहाय ब्राह्मण जूनियर वृत्ति पाता है और उसी के सहारे संस्कृत पढ़ रहा है। अगर राजकृष्ण बाबू परीक्षा में पास हो जायँगे तो उस ग़रीब ब्राह्मण की वृत्ति बन्द हो जायगी और साथ ही उसका पढ़ना-लिखना भी बन्द हो जायगा। दयालु विद्यासागर ने उसी दिन राजकृष्ण बाबू से जूनियर परीक्षा न देने के लिए कह दिया! उन्होंने भी विद्यासागरजी से सहमत होकर अपना विचार बदल दिया। इस घटना से दोनों मित्रों की सहृदयता का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। इसके बाद विद्यासागर ने राजकृष्ण बाबू को सीनियर परीक्षा देने के लिए उत्साहित किया। राजकृष्ण बाबू ने उसके उत्तर में सङ्कोच के साथ कहा—"मैं सीनियर परीक्षा दे सकूँगा?" विद्यासागर ने कहा—"क्यों न दे सकोगे। हाँ, परि-

श्रम अधिक करना पड़ेगा। तुम नित्य भोजन करने के बाद मेरे साथ फ़ोर्ट विलियमकालेज जा सकते हो?" राजकृष्ण बाबू ने स्वीकार कर लिया। वे रोज़ विद्यासागर के साथ कालेज जाकर दिन भर विद्यासागर की सहायता से लिख-पढ़कर सीनियर परीक्षा देने के लिए तैयार होने लगे। वे रात को भी विद्यासागर के पास आकर पढ़ते थे। उसी समय और भी कई आदमी शाम के बाद विद्यासागरजी के पास संस्कृत पढ़ने आने लगे। किन्तु राजकृष्ण बाबू बहुत रात गये तक रहकर लिखते-पढ़ते थे। इस प्रकार दिन-रात परिश्रम करके ढाई वर्ष में राजकृष्ण बाबू ने सीनियर परीक्षा पास कर ली। पहली बार १५) रु० महीने की और दो वर्ष बाद प्रथम श्रेणी की २०) रु० महीने की वृत्ति उन्हें मिली। पाँच-छः वर्ष कठिन परिश्रम करने पर भी जिस परीक्षा में सफलता प्राप्त करना कठिन हो जाता है उसी परीक्षा को ढाई वर्ष में पास कर लेने की बात सुनकर झुण्ड के झुण्ड मास्टर और विद्यार्थी राजकृष्ण बाबू और उनके गुरु विद्यासागर को देखने आने लगे। इसके बाद अन्तिम परीक्षा देने की इच्छा रहने पर भी घोर परिश्रम करने से शरीर अस्वस्थ हो जाने के कारण राजकृष्ण बाबू वह परीक्षा नहीं दे सके।

ईश्वरचन्द्र के सहपाठियों में मदनमोहन तर्कालङ्कार का नाम विशेष रूप से उल्लेख के योग्य है। संस्कृत कालेज में व्याकरण की श्रेणी में पढ़ते समय ईश्वरचन्द्र और मदनमोहन में मित्रता हो गई। वह मित्रता धीरे-धीरे बहुत बढ़ गई। विद्यासागरजी जिन शुभ कार्यों के लिए उद्योग करते थे उन कार्यों में मदनमोहन आग्रह के साथ सहायता करते थे। अनेक अच्छे कामों में दोनों मित्रों का ऐसा आग्रह देखकर यह समझना कठिन हो जाता था कि कौन परिचालक है और कौन परिचालित। विद्यासागर की प्रकृति थी

कि वे जिसके अनुकूल हो जाते थे उसके प्रतिकूल या उससे उदासीन कभी न होते थे। विद्यासागर की चेष्टा से तर्कालङ्कारजी को पहले कलकत्ते के वंगविद्यालय में प्रधान शिक्षक का पद प्राप्त हुआ। उसके बाद एक साल से अधिक समय के लिए जब विद्यासागरजी बारासात के गवर्नमेण्टस्कूल के प्रधान पण्डित हो गये तब कलकत्ते के फ़ोर्टविलियम कालेज में साहबों को (civil) सम्पत्ति-विषयक आईन पढ़ाने के लिए ४०) रु० माहवारी की एक जगह ख़ाली हुई। विद्यासागर के कहने से वह मदनमोहन तर्कालङ्कार को मिली। अपने सभी सहपाठियों से वे इसी तरह के सलूक किया करते थे। उन्होंने चेष्टा और यत्न करके गिरिशचन्द्र विद्यारत्न, मुक्ताराम विद्यावागीश, द्वारकानाथ विद्याभूषण आदि अनेक सहपाठियों को नौकर रखा दिया था।

तर्कालङ्कार ऐसे बन्धुओं की भलाई सोचते हुए राजकृष्ण बाबू ऐसे प्रिय मित्रों की उन्नति में तन-मन लगाकर पिता को २०) रु० महीने की सहायता देना और बचे हुए तीस रुपयों से कलकत्ते में नव-दस आदमियों का भरण-पोषण करना और फिर रोटी बनाने में भी भाइयों की सहायता करना विद्यासागर ऐसे परिश्रमी और संयमी महापुरुष का ही काम था। वे इतना ही काम न करते थे, प्रत्युत ख़ुद भी शास्त्रों का अनुशीलन किया करते थे। इसके सिवा मार्शल साहब की भी सहायता करनी पड़ती थी। संस्कृत-कालेज की सीनियर और जूनियर परीक्षाओं के प्रश्न तैयार करने का काम मार्शल साहब को सौंपा जाता था। और वे यह काम विद्यासागर से लेते थे। वे प्रश्न ऐसे-वैसे नहीं होते थे। व्याकरण, काव्य, साहित्य, स्मृति, वेदान्त आदि सभी विषयों के प्रश्न तैयार करने पड़ते थे। विद्यासागर के बनाये प्रश्न के पर्चों में बड़े-बड़े पण्डित कोई दोष नहीं निकाल सकते थे। विद्यासागर का हर एक काम

ऐसा सुन्दर होता था कि खोजने पर भी कोई दोष नहीं निकाला जा सकता था। वे राह चलने में बड़े ही साहसी थे। रसोई बनाने में और गृहस्थी के कामों में भी वे होशियार थे। लोक-सेवा करके वे पिता-माता से भी अधिक आत्मीय बन सकते थे। विद्यालय में वे एक सुयोग्य शिक्षक के रूप में देख पड़ते थे। अन्त समय वे सब बातों में सम्पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त कर चुके थे। इसका कारण यही था कि वे जिस काम में हाथ डालते थे उसे जी लगाकर पूरा कर डालते थे। आरम्भ किये काम की उपेक्षा करना या उसमें ढिलाई डालना उनके स्वभाव के बिल्कुल विरुद्ध था। इसके साथ ही यह बात भी थी कि जिस काम को समझते थे कि मैं कर न सकूँगा उस काम में कभी हाथ न लगाते थे।

जिस समय ऐसे आग्रह और निष्ठा के साथ वे फ़ोर्टविलियम कालेज में काम कर रहे थे उस समय एक दिन तत्कालीन गवर्नर जेनरल लार्ड हार्डिंज बहादुर कालेज देखने आये। कुछ देर तक विद्यासागर से लाट साहब बातचीत करते रहे। इसी प्रसङ्ग में विद्यासागर ने कहा—"संस्कृत-कालेज से पास होकर निकले विद्यार्थियों की ओर गवर्नमेंट का ध्यान नहीं है। उन लोगों के लिए केवल जज-पण्डित का पद था, सो वह भी उठा दिया गया है। इस कारण अब संस्कृत सीखने की रुचि लोगों में घटती जाती है। संस्कृत-कालेज के छात्रों की संख्या भी धीरे-धीरे कम होती जाती है। इससे संस्कृत-कालेज से परीक्षा पास कर निकले हुए युवकों की सहायता या जीविका का प्रबन्ध कुछ न कुछ होना चाहिए।" महामति लार्ड हार्डिंज ने विद्यासागर के प्रस्ताव के अनुसार सन् १८४६ के आरम्भ में, सारे बंगाल में, एक सौ एक बँगला-स्कूल स्थापित कर दिये। उन स्कूलों में संस्कृत-कालेज के विद्यार्थी मास्टरी पाने लगे।

इसके साथ ही साथ एक ओर जैसे विद्यासागर के कार्य की ज़िम्मेदारी और परिश्रम बढ़ गया वैसे ही दूसरी ओर संस्कृत-कालेज की प्राचीन शिक्षक-मण्डली उनसे ईर्ष्या करने लगी और अन्यान्य पण्डित लोग उनके विरोधी बन बैठे। इन एक सौ एक स्कूलों के स्थापित होने पर उनमें शिक्षक नियुक्त करने और उनकी परीक्षा लेने का काम मार्शल साहब और विद्यासागर को सौंपा गया। संस्कृत-कालेज के शिक्षक तो इसलिए विद्यासागर से डाह करने लगे कि विद्यासाग की अपेक्षा वृद्ध और अभिज्ञ पण्डितों को छोड़कर वे ही क्यों परीक्षक चुने गये? और अन्यान्य पण्डितों के विरोधी होने का कारण यह था कि विद्यासागरजी अपने-पराये का विचार न करके योग्य पुरुष को ही मास्टरी के लिए चुनते थे। इस व्यवस्था से अनेक उम्मेदवारों को हताश होना पड़ता था। जो लोग सब बातों में सबसे अधिक योग्य होते थे उन्हें ही नौकरी मिलती थी। जो लोग इस तरह हताश होते थे वे विद्यासागरजी की इधर-उधर निन्दा करते फिरते थे। किन्तु जिन दृढ़प्रतिज्ञ न्यायनिष्ठ महापुरुष ने सिविलियनों के साथ रिआयत का बर्ताव करने के लिए प्रस्ताव करने पर प्रिन्सिपल मार्शल साहब से कह दिया कि यह काम मुझसे न होगा, वे किसी के डाह या निन्दा करने से कैसे विचलित हो सकते थे? लोकनिन्दा के भय से कर्तव्यपालन में त्रुटि करना या जान-बूझकर अन्याय करना विद्यासागर की दृष्टि में महापातक था। सन् १८४६ में बड़े लाट हार्डिंज साहब के स्थापित किये बँगला-स्कूल अभी तक कहीं-कहीं मौजूद हैं और वे हार्डिंज-बङ्ग-विद्यालय कहलाते हैं।

इस तरह के ज़िम्मेदारी के कामों को अपने हाथ में लेना और उन्हें अच्छी तरह पूरा करना ही एक आदमी के लिए कठिन बात है। किन्तु अद्भुत शक्तिशाली विद्यासागर के लिए यह कुछ बड़ी बात न

थी। वे नित्य के अनेक प्रकार के आवश्यक काम करके उसके उपरान्त दुखी का दुख दूर करने तथा रोगी की चिकित्सा और सेवा की सुव्यवस्था करने के लिए रणसज्जा से सुसज्जित अश्वारोही नेपोलियन की तरह दिन-रात प्रस्तुत रहते थे। किन्तु विद्यासागर के अस्त्र-शस्त्र और ही तरह के थे। सागूदाना, मिसरी, बेदाना, किशमिश आदि बाहरी और स्नेह, ममता, सेवा-शुश्रूषा, दौड़-धूप, डाक्टर बुलाना आदि मानसिक अस्त्र थे। इन्हीं अस्त्र-शस्त्रों से वे पराये दुःख और रोग आदि से लड़ते थे। इतना ही नहीं, वे फ़ोर्ट विलियम कालेज में साहबों को बँगला, हिन्दी और संस्कृत पढ़ाते थे। संस्कृत का इतना विस्तृत साहित्य है कि उसमें नवीन पुस्तक रचने की उतनी आवश्यकता नहीं। वह अनन्त समुद्र है। अनुसन्धान करने से अनेक अमूल्य रत्न उसमें पाये जा सकते हैं। किन्तु उस समय बँगलासाहित्य का हाल अच्छा न था। उसमें पढ़ने लायक़ पुस्तकें न थीं। दो-चार को छोड़कर सभी पुस्तकें अपाठ्य थीं। वङ्गाल में एक सौ एक हार्डिंज-वंग-विद्यालय स्थापित होने पर विद्यासागर को यह भी चिन्ता हुई कि बँगला में पुस्तकें बननी चाहिएँ। विद्यासागर की पहली पुस्तक वासुदेवचरित है, जिसका पता अब चला है।

इसी समय संस्कृतकालेज में व्याकरण की प्रथम और द्वितीय श्रेणी के अध्यापकों के पद ख़ाली हुए। प्रथम श्रेणी के अध्यापक की तनख़्वाह थी ९०) रु० माहवारी। शिक्षा-कमेटी के अध्यक्ष डाक्टर मैट साहब इस पद पर एक आदमी नियुक्त करने के लिए मार्शल साहब के पास सलाह करने गये। सलाह करके दोनों साहबों ने यह निश्चय किया कि वह पद विद्यासागर को देना चाहिए। विद्यासागरजी से जब यह प्रस्ताव किया गया तब उन्होंने अपनी अनिच्छा प्रकट करके मार्शल साहब से कहा—"महाशय, मुझे

रुपये का लालच नहीं है। आपके पास रहना ही मुझे पसन्द है। यहाँ रहने से मुझे नित्य नये-नये उपदेश मिलेंगे।" नौजवान विद्यासागरजी वृद्ध मार्शल साहब से नित्य नई बातें सीखने के लिए भी प्रस्तुत रहते थे।

विद्यासागर ने यह वादा किया कि इन दोनों पदों के लिए मैं दो योग्य पुरुष खोज दूँगा। आश्चर्य है कि ५०) रु० महीने के नौकर विद्यासागर ने ८०) रु० महीने की नौकरी आप नहीं की और वह पद दूसरे को दिला दिया। स्वार्थ-त्याग का ऐसा कठिन काम देखकर सब लोग दङ्ग रह गये। मार्शल साहब बड़ी कोशिश करके भी विद्यासागर को राज़ी न कर सके। अन्त को साहब ने पूछा—"तुम इस पद के योग्य किसे समझते हो?" विद्यासागरजी ने सर्वशास्त्रविशारद तारानाथ तर्कवाचस्पति का नाम लेकर कहा—"वे अद्वितीय वैयाकरण हैं। मेरी समझ में पहला पद उन्हीं को मिलना चाहिए।" सुना जाता है, विद्यासागरजी ने तर्कवाचस्पतिजी से नौकर करा देने का वादा किया था। सनीचर के दिन यह बातचीत हुई। सोमवार के दिन उस जगह पर आदमी आ जाना चाहिए था। पत्र लिखने से उसका उत्तर विलम्ब में आता। यह भी निश्चय न था कि तर्कवाचस्पतिजी यह नौकरी करेंगे या नहीं। अतएव विद्यासागरजी उसी दिन, रात को एक आत्मीय पुरुष को साथ लेकर, कालना चल दिये। रात भर चलकर दूसरे दिन दोपहर को कालना पहुँचे। वाचस्पतिजी और उनके पिता को जब विद्यासागरजी के इस तरह पैदल चलकर इतनी दूर आने का कारण मालूम हुआ तब वे दोनों कृतज्ञता-पूर्ण विस्मय से विह्वल हो गये। मार्शल साहब की इच्छा जताकर और वाचस्पतिजी के प्रशंसापत्र और अर्ज़ी लेकर उसी दिन विद्यासागरजी कलकत्ते को लौट पड़े। उनका साथी थक

गया था, उसे नाव पर कलकत्ते भेजना पड़ा। विद्यासागरजी चलने में शेर थे। इसके सिवा उनका हृदय दया का स्रोत था। पर-दुःख-कातर ईश्वरचन्द्र को परोपकार के लिए घोर से घोर परिश्रम और कष्ट की परवा नहीं रहती थी। अपने उठाये हुए काम को पूरा कर डालने की हिम्मत और शक्ति उनमें थी। कर्त्तव्य-पालन से कोई उन्हें हटा ही नहीं सकता था। वे अपना सर्वस्व और जीवन तक उस पर से निछावर कर सकते थे। ऐसे परोपकारी दयालु पुरुष बहुत कम होते हैं। दूनी आमदनी का मौक़ा छोड़कर वह फ़ायदा दूसरे को पहुँचाना और दिन-रात राह चलकर तीस कोस पर, ठीक समय पर, मित्र को ख़बर देना! यह क्या साधारण आदमी का काम है? केवल यही घटना विद्यासागर की मानसिक उच्चता और हृदय की उदारता का अनुमान कर लेने के लिए काफ़ी है। विद्यासागर के चरित में ऐसी अनेक घटनाएँ हैं। उन्हें हम 'जाति' का जीव कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। उनके मानसिक भाव और विचार ऊँचे दर्जे के थे। वे सदा पवित्र और अच्छे कामों को सोचा करते थे। वे मनुष्य-लोक में रहकर भी स्वर्गीय-भावों में मग्न रहते थे।

इसके बाद व्याकरण की द्वितीय श्रेणी के शिक्षक का पद और लाइब्रेरियन की जगह ख़ाली हुई। अर्ज़ियों के, सिफ़ारिशी चिट्ठियों के, ढेर लग गये। विद्यासागर ने परीक्षा लेना निश्चित किया। मैट साहब ने भी स्वीकार कर लिया। परीक्षा में पास होकर द्वारकानाथ विद्याभूषण पहले पद पर और गिरिशचन्द्र विद्यारत्न दूसरे पद पर नियत हुए। शिक्षक को ५०) मासिक और लाइब्रेरियन को ३०) रु० मासिक मिलने लगा। इन्हीं दोनों आदमियों को नौकर रखाना विद्यासागर को अभीष्ट भी था। अपने दोनों मित्रों की नौकरी लग जाने से विद्यासागरजी को विशेष आनन्द हुआ।

यह हम पहले ही कह आये हैं कि विद्यासागरजी पिता और माता को ही सच्चा देवता समझते थे। विद्यासागर की पितृ-भक्ति का पहले कुछ वर्णन किया जा चुका है। अब मातृ-भक्ति का कुछ हाल सुनिए। ईश्वरचन्द्र लोक-सेवा में एक थे। मित्रों का भी उन्हें वैसा ही ख़याल रहता था। उनके पिता उनसे सदा सन्तुष्ट रहे। उनकी माता भी सदा उनसे प्रसन्न रहीं। जिन दिनों विद्यासागरजी फ़ोर्ट विलियम कालेज में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ काम कर रहे थे उस समय मँझले भाई शम्भुचन्द्र विद्यारत्न के ब्याह में माता ने ईश्वर-चन्द्र को बुला भेजा। विद्यासागरजी ने मार्शल साहब से छुट्टी माँगी। किन्तु उस समय इतना काम था कि विद्यासागर को छुट्टी दे देने से बड़ी गड़बड़ हो जाने की सम्भावना थी। इसी से साहब ने छुट्टी देने से इनकार कर दिया। कलकत्ते के डेरे में जितने आदमी थे सब चले गये थे। भाई का ब्याह, माता की आज्ञा, मगर छुट्टी नहीं मिली। माता की आज्ञा का ख़याल करके ईश्वर-चन्द्र को रात भर नींद नहीं पड़ी। सवेरा होते ही ईश्वरचन्द्र ने मार्शल साहब से मुलाक़ात करके कहा—"मेरी माता ने मुझे बुलाया है। मुझे घर जाना ही पड़ेगा। अगर आप छुट्टी नहीं दे सकते तो मेरा इस्तीफ़ा मंज़ूर कीजिए।" विद्यासागर की मातृ-भक्ति से सन्तुष्ट होकर साहब ने छुट्टी दे दी। ईश्वरचन्द्र प्रसन्नता के साथ उसी दिन चल दिये। साथ में एक नौकर था। वर्षा की ऋतु थी। रास्ते सब ख़राब हो गये थे। चलना कठिन हो रहा था। इस प्रकार कुछ दूर चलकर उस दिन दामोदर नद के इस पार ही विद्यासागरजी टिक रहे। दूसरे दिन विद्यासागर ने देखा कि नौकर उनके साथ चलने में असमर्थ है। तब उसे लौटा दिया। इच्छा न रहने पर भी उसे लौट जाना पड़ा। उसी दिन ब्याह था।

ईश्वरचन्द्र को उसी दिन घर पहुँचना था। वे जानते थे कि अगर मैं न पहुँचूँगा तो माता को बड़ा कष्ट होगा। वे बड़ी तेज़ी से चलने लगे। दामोदर नद का किनारा आ गया। बरसात में दामोदर नद का बड़ा वेग होता है। पार ले जानेवाली नाव उस किनारे पर थी। उसके इस पार आने और फिर उस पार जाने भर का ही दिन था। ईश्वरचन्द्र ने मातृभक्ति के आवेश में वह काम कर उठाया जिस पर कोई सहज ही विश्वास न करेगा। दानव के समान हाहाकार करके बह रहे वर्षा के नद को उन्होंने तैर जाना चाहा और वही कर दिखाया। रास्ते में माता की ननिहाल पातुल-गाँव में स्नान-पूजन करके, बिना कुछ भोजन किये ही, सनासन चलते हुए ईश्वरचन्द्र को रास्ते में एक और नदी मिली। वे उसे भी तैर गये। चलते-चलते मैदान में शाम हो गई। वहाँ पर लुटेरों का बड़ा खटका रहता था। ईश्वरचन्द्र माता के चरणों का ध्यान करके आगे बढ़े। दो घण्टे रात बीते वे घर पहुँच गये। उस समय बारात चली गई थी। घर में सन्नाटा पड़ा था। ईश्वरचन्द्र की आवाज़ कान में पड़ते ही माता के जैसे जान आ गई। मातृभक्त ईश्वरचन्द्र ने माता की आज्ञा का पालन करके ही जल ग्रहण किया। माता-पिता की ऐसी दृढ़भक्ति और उसके लिए ऐसा साहस बहुत कम देखा जाता है। माता की आज्ञा का पालन करने के लिए जान को जोखिम में डाल देना सहज काम नहीं है। आजकल के सुशिक्षित लोग चाहे ऐसी माता-पिता की भक्ति को पागलपन कहें, मगर विचारकर देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि माता-पिता पर भक्ति-श्रद्धा घटा देने से ही इस जाति का यह अधःपात हुआ है। भाई भारतवासियो, विद्यासागर के चरित्र से माता-पिता की भक्ति करना सीखो। ऐसा उत्तम आदर्श इस युग में मुश्किल से मिलेगा।

फ़ोर्ट विलियम कालेज में जो साहब देशी भाषाएँ सीखते थे उनमें से सीटनकार, कास्ट, चैपमैन, ग्रे, ग्रान्ट, हालिडे, वीडन, लार्ड ब्राउन, ईडेन आदि प्रतिष्ठित सिविलियन विद्यासागर को बहुत मानते और उनकी इज़्ज़त करते थे। रावर्ट कास्ट नामक एक सिविलियन फ़ोर्ट विलियम कालेज में पढ़ते थे। वे मौक़ा पाते ही विद्यासागर-जी से मिलते और बातें करते थे। परिचय और आत्मीयता बढ़ने पर कास्ट साहब ने एक दिन विद्यासागर से कहा कि आप मेरे नाम के दो संस्कृत श्लोक बना दीजिए तो मुझे बड़ी ख़ुशी होगी। विद्यासागर ने दम भर में ये दो श्लोक बना दिये—

श्रीमान् रावर्टकाष्टोऽद्य विद्यालयमुपागतः।
सौजन्यपूर्णरालापैर्नितरां मामतोषयत्॥
स हि सद्गुणसम्पन्नः सदाचाररतः सदा।
प्रसन्नवदनो नित्यं जीवत्वब्दशतं सुखी॥

श्लोक और उनका अर्थ सुनकर साहब बहुत ही ख़ुश हुए। साहब ने दो सौ रुपये पुरस्कार के तौर पर विद्यासागर को दिये। विद्यासागर ने वे रुपये ख़ुद न लेकर उनसे, संस्कृत-कालेज के सर्वोत्कृष्ट पद्य-रचना करनेवाले छात्र को, प्रति वार ५०) रुपये देने की व्यवस्था कर दी। धन-लोभ से संयमी विद्यासागर सदा बचे रहे। वे अनायास प्राप्त धन से इसी प्रकार सत्कार्य कर डाला करते थे। इसी कारण अँगरेज़ों में उनका बड़ा मान था।

ऊपर जिस ५०) रु० की वृत्ति का उल्लेख हो चुका है उसी परीक्षा में दूसरे साल विद्यासागर के मँझले भाई दीनबन्धु न्यायरत्न और श्रीशचन्द्र विद्यारत्न की रचना सर्वोत्कृष्ट समझी गई। दोनों की रचनाएँ सुन्दर थीं। श्रीशचन्द्र की रचना में व्याकरण की भूलें भी थीं, पर दीनबन्धु की रचना बिलकुल निर्दोष थी। किन्तु दीनबन्धु को इनाम नहीं मिला। इसका कारण यह था कि परीक्षक और पुर-

स्कार दिलानेवाले विद्यासागर थे। दीनवन्धु विद्यासागर के भाई थे। उन्हें पुरस्कार मिलने से लोग कहेंगे कि दोनों की रचना अच्छी थी तो दीनवन्धु को ही क्यों पुरस्कार मिला, श्रीशचन्द्र को क्यों नहीं मिला? यही सोचकर विद्यासागर ने ऐसा किया। इसको एक प्रकार का विचार-विभ्राट् कह सकते हैं; किन्तु उसमें निःस्वार्थभाव, न्यायनिष्ठा और मनुष्यत्व का बहुत ही सुन्दर आभास प्राप्त होता है। स्वार्थ और परार्थ के संग्राम में साधु लोग सदा परार्थ के पक्षपाती होकर अपनी हानि करने में नहीं हिचकते। विद्यासागर भी इसी श्रेणी के साधु महात्मा थे।

परीक्षा पास करके कास्ट साहव पञ्जाव के सिविलियन हो गये। वड़ी नामवरी के साथ काम करके स्वदेश को लौटते समय वे विद्यासागरजी से मिलने कलकत्ते आये। उस समय भी वे पाँच श्लोक विद्यासागरजी से वनवा ले गये। विद्यासागरजी अपनी इच्छा से भी कभी-कभी कविता करते थे। गद्य और पद्य, दोनों प्रकार की रचना में वे सिद्धहस्त थे। उन्होंने देशभ्रमण, सन्तोष, क्रोध, मेघ आदि अनेक विषयों के ऊपर समय-समय पर अनेक रचनाएँ की थीं। इसके अलावा उन्होंने शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, शाकद्वीप और अमेरिका, इँगलेंड, फ़्रांस, आफ़्रिका और एशिया के सम्वन्ध में ४०८ श्लोक भी वनाये थे। विद्यासागर के भाई शम्भुचन्द्र विद्यारत्नजी का कहना है कि उन्होंने इन सव कविताओं का संग्रह रख छोड़ा था; पर जिसके पास उन्होंने रक्खा था उसकी असावधानी के कारण वह संग्रह खो गया। जो कुछ वचा था वह वँगला सन् १२९६ में विद्यासागरजी ने ख़ुद प्रकाशित कर दिया था।

विद्यासागर ने एक सिविलियन साहव (जान मियर) के कहने से सूर्यसिद्धान्त और पुराणों के लेखानुसार पाश्चात्य गणित से भूगोल

और खगोल के सम्बन्ध में कुछ श्लोकबद्ध रचना की थी; उसके लिए उन्हें सौ रुपये पुरस्कार के भी मिले थे। इस रचना से भी उनकी विद्या-बुद्धि का विशेष परिचय प्राप्त होता है।

राममाणिक्य विद्यालङ्कार के मरने पर संस्कृत-कालेज के सहकारी-सम्पादक की जगह ख़ाली हुई। शिक्षाकमेटी के अध्यक्ष मेट साहब मार्शल साहब से सलाह करने गये कि इस जगह पर कौन योग्य आदमी रक्खा जाय। मेट साहब ने कहा कि अँगरेज़ी और संस्कृत में विशेष व्युत्पन्न और कालेज की सर्वाङ्गीन उन्नति चाहनेवाला आदमी चाहिए। यही निश्चित हुआ कि यह पद विद्यासागर को दिया जाय। विद्यासागर से बुलाकर कहा गया। विद्यासागर ने स्वीकार तो कर लिया, किन्तु मार्शल साहब से कहा—"यदि वहाँ मेरी न पटेगी या कहा-सुनी की नौबत आवेगी तो मैं अन्याय की बात न मानकर नौकरी छोड़ दूँगा। मुझे अपने लिए कुछ सोच नहीं है। मेरे नौकरी छोड़ देने पर पिताजी को असुविधा होगी। इसी सोच से मैं कुछ आगा-पीछा कर रहा हूँ। मेरा मँझला भाई दीनबन्धु भी अच्छा पण्डित है। उसे अगर आप यहाँ मेरी जगह पर रख सकें तो मैं संस्कृत-कालेज के सहकारीसम्पादक का पद ग्रहण कर सकता हूँ।" मार्शल साहब ने स्वीकार कर लिया। विद्यासागरजी सन् १८४६ के एप्रिल महीने से ५०) रु० माहवारी पर संस्कृत-कालेज के सहकारी सम्पादक हो गये।

आज संस्कृत-कालेज जिस अवस्था में है उसी अवस्था में पहले न था। उस समय वहाँ देहाती पाठशालाओं का ऐसा मनमाना काम होता था। उस समय के अधिकांश अध्यापक कुर्सी पर सुख की नींद सोते थे और विद्यार्थी बेचारे पङ्खा झलकर नींद के मज़े को बढ़ाते थे। ऐसे अध्यापक तीसरे पहर विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाते थे।

शिक्षकों और विद्यार्थियों के आने-जाने का कोई नियम न था। जब जिसकी इच्छा होती थी, आता था; जब जिसकी इच्छा होती थी, चला जाता था। विद्यासागरजी ने कालेज का काम हाथ में लेते ही सबसे पहले अध्यापकों की नींद का प्रबन्ध किया। छात्रों और शिक्षकों के आने-जाने का समय निर्दिष्ट हो गया। पहले यह था कि छात्र जब चाहता था, कालेज के बाहर चला जाता था। विद्यासागरजी ने 'पास' लेकर बाहर जाने का नियम प्रचलित कर दिया। पहले जिसकी जो इच्छा होती थी वह वही करता था। विद्यासागरजी के समय में सबको सेक्रेटरी की अनुमति लेनी पड़ती थी। परीक्षा लेने का भी ढङ्ग बदल देने से उस साल कालेज की परीक्षा का फल और भी अच्छा रहा। इससे सम्पादक बाबू रसमय दत्त और शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मैट साहब भी विद्यासागर पर बहुत ख़ुश हुए। विद्यासागरजी ने पाठ्य-पुस्तकों में जो कविताएँ अश्लील समझीं उन्हें निकाल दिया। व्याकरण का पढ़ना पहले बड़ा कठिन था। उसमें समय अधिक लगता था और परिश्रम भी बहुत करना पड़ता था। उन्होंने व्याकरण पढ़ने का ऐसा ढङ्ग निकाला कि बहुत कुछ सुगमता हो गई। उन्होंने साहित्यश्रेणी के छात्रों के लिए अङ्क-शिक्षा की व्यवस्था कर दी। मतलब यह कि उन्होंने सब प्रकार से संस्कृत-कालेज की उन्नति की।

इसी समय एक दिन विद्यासागरजी किसी विशेष काम के लिए हिन्दू-कालेज के प्रिन्सिपल कार साहब से मिलने गये। साहब शायद बंगाली जाति पर उतने अनुकूल न थे। कार साहब टेबिल के ऊपर पैर फैलाये, आधे लेटे हुए, कुर्सी के ऊपर बैठे रहे और विद्यासागरजी को खड़े रहना पड़ा। विद्यासागरजी ने चुपचाप इस अपमान को सह लिया। वे अपना काम करके चले तो आये

लेकिन उन्हें यह बात भूली नहीं। दस-पाँच दिन के बाद कार साहब को विद्यासागर के पास आना पड़ा। विद्यासागरजी को भी मौक़ा मिल गया। वे भी साहब बहादुर से उसी तरह मिले,—टेबिल पर टाँगें फैलाये कुर्सी पर डटे रहे। साहब को खड़े-खड़े बातचीत करनी पड़ी। इस पर साहब कुपित हुए। उन्होंने यह हाल मैट साहब से कहा।

मैट साहब ने विद्यासागर से जवाब तलब किया। विद्यासागर ने कहा—मैंने सोचा था कि हम काले आदमी हैं, और इसी से, असभ्य हैं। साहब का वर्ताव देखकर मैंने समझा कि किसी के आने पर इसी प्रकार उसकी अभ्यर्थना की जाती है। मैं हिन्दू-कालेज के अध्यक्ष कार साहब से ऐसा ही शिष्टाचार सीख आया था और मौक़ा पड़ने पर साहब को वह सम्मान दिखाने में मैंने कुछ भी कृपणता नहीं की। इसमें अगर मुझसे कुछ दोष हुआ हो तो उसके लिए ऐसे व्यवहार की शिक्षा देनेवाले कार साहब ही ज़िम्मेदार हैं। मुझे इसमें अपना दोष कुछ भी नहीं जान पड़ता।

विद्यासागर का यह स्वाभिमान और तेजस्विता देखकर मैट साहब ख़ुश हुए। उन्होंने कार साहब से अनुरोध किया कि वे विद्यासागर से मिलकर मेल कर लें। कार साहब ने ऐसा ही किया। इस स्वाधीनचित्तता और स्वाभिमान ने ही सर्वत्र विद्यासागर को विजय दिलाई। वे ऐसे निर्भीक थे कि कभी किसी से नहीं दबे।

इसी समय संस्कृत-कालेज में साहित्य-श्रेणी के अध्यापक का पद ख़ाली हुआ। कालेज के सेक्रेटरी बाबू रसमय दत्त और शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मैट साहब ने इस पद पर काम करने के लिए विद्यासागर से बहुत अनुरोध किया। इस पद पर काम करने से अधिक तनख़्वाह मिलती। किन्तु विद्यासागर ने इस ख़याल से इस

पद पर काम करना अस्वीकार कर दिया कि फिर कालेज की आन्तरिक उन्नति में सहायता करने का सुयोग न प्राप्त हो सकेगा। विद्यासागर ने उस पद पर एक सुयोग्य अध्यापक रख देने का वादा कर लिया। उनकी इच्छा थी कि मदनमोहन तर्कालङ्कार उस पद पर नियुक्त किये जायँ। उस समय सर्वानन्द विद्यावागीश अस्थायी रूप से उस पद पर काम कर रहे थे। बहुत लोगों की इच्छा थी कि उक्त वृद्ध ब्राह्मण स्थायी रूप से उस पद पर नियुक्त कर दिये जायँ। किन्तु विद्यासागर इस बात पर किसी तरह राज़ी न हुए। इसका प्रधान कारण यह था कि उक्त पण्डितजी अक्सर कुर्सी पर सुख की नींद सोया करते थे। बारम्बार हुलास सूँघने पर भी उनकी आँखें अच्छी तरह नहीं खुलती थीं। दूसरा कारण यह था कि विद्यासागरजी मदनमोहन तर्कालङ्कार को इस काम में उनसे योग्य समझते थे। अन्त को विद्यासागरजी के विशेष अनुरोध से मदनमोहन तर्कालङ्कार ही उस पद पर नियुक्त हुए। इससे पहले वे कृष्णनगर के कालेज में संस्कृत पढ़ाते थे। वहाँ उन्हें ५०) मासिक मिलता था। उनके आने में जितने दिन की देरी हुई उतने दिन विद्यासागर ने ख़ुद उनका काम किया।

इसी समय विद्यासागर के चौथे भाई हरचन्द्र पढ़ने-लिखने के लिए कलकत्ते आये। सब भाइयों में अधिक बुद्धिमान् होने के कारण हरचन्द्र को विद्यासागरजी बहुत चाहते थे। विद्यासागर का विचार था कि पढ़ा-लिखाकर उस बालक के द्वारा गाँव के ग़रीब बालकों को सुशिक्षा देने का प्रबन्ध कर देंगे। किन्तु कुटिल काल ने उनकी यह इच्छा पूर्ण न होने दी। बारह वर्ष की अवस्था में वह बालक चल बसा। उसकी अकालमृत्यु से विद्यासागर को इतना दुःख हुआ कि कई महीने तक उनका लिखना-

पढ़ना और शास्त्र-चर्चा भी बन्द रही। वे अच्छी तरह खाते न थे, रात को नींद न पड़ती थी और अक्सर अकेले रोया करते थे। शोक का वेग कुछ कम होने पर विद्यासागरजी फिर पहले की तरह शुभ कार्य्यों और शुभ विचारों में लग गये।

इस घटना के कुछ दिन बाद कालेज की कार्य्यप्रणाली के विषय में सेक्रेटरी रसमय दत्त से विद्यासागरजी की कुछ अनबन हो गई। अपनी व्यवस्था में उलट-फेर होते देखकर स्वाधीनचेता और दृढ़-प्रतिज्ञ ईश्वरचन्द्र ने नौकरी छोड़ दी। रसमय दत्त और मैंट साहब ने बहुत अनुरोध किया, समझाया, किन्तु ईश्वरचन्द्र ने नहीं माना। इष्ट-मित्रों और आत्मीय स्वजनों ने भी समझाया। किसी-किसी ने खीझकर कहा—"नौकरी छोड़ देाेगे तो खाओगे क्या ?" निर्भीक वीर पुरुष विद्यासागर ने कहा—"तरकारी बेचूँगा। मोदी की दूकान करूँगा, किन्तु जिस नौकरी में सम्मान नहीं उसे नहीं करूँगा।" स्वाधीनचित्तता का इससे बढ़कर उज्ज्वल आदर्श और क्या हो सकता है। किसी के अधीन होकर चलना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। किसी की तावेदारी करने, किसी का मुँह ताकने, और किसी की कृपादृष्टि पाने की आकांक्षा से वे घृणा करते थे। नौकरी छोड़ने पर वे कुछ भी चिन्तित नहीं हुए। उनका वह प्रसन्न भाव वैसा ही बना रहा। उनके यहाँ जो अनाथ छात्र भोजन पाते थे वे उसी तरह भोजन पाते रहे।

इन दिनों मँझले भाई दीनबन्धु को जो ५०) मिलते थे उनसे कलकत्ते के घर का खर्च चलता था। विद्यासागर को पिता की सहायता के लिए प्रतिमास ५०) ऋण लेना पड़ता था। इसी तरह कुछ समय बीता। इस अवसर में विद्यासागरजी ने कई ग्रन्थ भी लिखे। इन्हीं दिनों मैंट साहब के अनुरोध से कप्तान बैंक को

विद्यासागर ने संस्कृत, बँगला और हिन्दी सिखलाई। शिक्षा समाप्त होने पर साहब ५०) मासिक के हिसाब से विद्यासागर को वेतन देने लगे। किन्तु ऐसे आर्थिक अभाव के समय में भी निर्लोभ ब्राह्मण विद्यासागर ने वेतन नहीं लिया। कारण पूछने पर विद्यासागर ने कहा—"आप मैट साहब के परममित्र हैं और मैं उन्हें अपना परम-हितैषी समझता हूँ। इस कारण मैं आपसे वेतन नहीं ले सकता।" वर्तमान समय में ब्राह्मण-वंश का ऐसा अधःपात हुआ है, और लोगों में अर्थलालसा ऐसी प्रबल हो गई है कि इस बात पर बहुत लोगों को विश्वास ही न होगा। विद्यासागरजी ने नौकरी छोड़ दी थी, कलकत्ते के घर में साठ-सत्तर आदमी भोजन करते थे, हर महीने ऋण लेकर पिता को ५०) भेजने पड़ते थे। आश्चर्य्य है कि ऐसी अवस्था में भी विद्यासागर ने साहब के दिये रुपये नहीं लिये। उस समय तीन-चार सौ रुपये ले लेने से उन्हें बहुत कुछ सुभीता होता, किन्तु साधारण शिष्टाचार के ख़याल से विद्यासागर ने रुपये नहीं लिये। यह घटना उनके हृदय की उच्चता और मन की दृढ़ता का एक उज्ज्वल उदाहरण है।

नौकरी छोड़ने के बाद सन् १८४९ तक विद्यासागर ने कहीं कोई नौकरी नहीं की। इन्हीं दिनों विद्यासागरजी के परममित्र दुर्गाचरण बनर्जी फ़ोर्ट विलियम कालेज में हेडराइटर के पद पर काम करते हुए मेडिकल कालेज में चिकित्सा-शास्त्र पढ़ते थे। इस साल परीक्षा पास करके उन्होंने डाक्टरी शुरू कर दी। कालेज के हेड-राइटर का पद ख़ाली हुआ। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि विद्यासागरजी की चेष्टा से ही दुर्गाचरण बाबू को यह पद मिला था। इस समय मार्शल साहब के विशेष अनुरोध करने पर विद्या-सागरजी को यह पद स्वीकार करना पड़ा। किन्तु बहुत दिनों तक

वे इस पद पर नहीं रहे। संस्कृत-कालेज के साहित्य-श्रेणी के अध्यापक मदनमोहन तर्कालङ्कार के उदर-रोग हो गया। उन्हें कलकत्ता छोड़ने के लिए चिकित्सकों ने सलाह दी। इसी समय मुर्शिदाबाद में जज-पण्डित की जगह ख़ाली हुई। बेथून साहब तर्कालङ्कारजी को बहुत चाहते थे। उन्होंने उस पद पर तर्कालङ्कारजी को बुला लिया। उनके चले जाने पर वह जगह ख़ाली हुई। उस जगह पर काम करने के लिए विद्यासागरजी से फिर कहा गया। पहले तो वे राज़ी नहीं हुए, लेकिन अन्त को उन्होंने स्वीकार कर लिया।

सन् १८५१ के प्रारम्भ में संस्कृत कालेज के मन्त्री और सहकारी मन्त्री का पद तोड़कर डेढ़ सौ रुपये वेतन का एक ही पद कर दिया गया। इस पद पर विद्यासागर नियुक्त हुए। इस पद पर नियुक्त होने के साथ ही साथ विद्यासागर को अपनी भारी ज़िम्मेदारी का ख़याल हुआ। उन्होंने इसी विचार में अपनी सारी विद्या-बुद्धि लगा दी कि किस उपाय से संस्कृत-कालेज और सम्पूर्ण शिक्षा-विभाग की सर्वाङ्गीन उन्नति हो सकती है। सोते और जागते में हर घड़ी उन्हें यही फ़िक्र रहती थी। उन्होंने सबसे पहले प्रयोजनीय और दुष्प्राप्य संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों का जीर्णोद्धार करना विचारा। बहुत पुरानी सड़ी-गली हस्त-लिखित पोथियाँ छपाईं। शिक्षक और विद्यार्थी उनके इस शुभ कार्य्य की प्रशंसा करने लगे। विद्यासागर ने दर्शन-शास्त्रों को भी छपाया था।

कालेज के शिक्षकों में से अधिकांश शिक्षक विद्यासागर के गुरु थे। इस कारण वे उनसे अव्यवस्था के लिए कुछ कह नहीं सकते थे। कालेज के शिक्षक लोग ठीक समय पर उपस्थित होकर ठीक तौर से अपना काम करें, इसके लिए बहुत चेष्टा करने पर भी जब कुछ सफलता नहीं हुई तब विद्यासागर ने एक नया उपाय निकाला।

विद्यासागरजी उस समय संस्कृत-कालेज के ऊपर के खण्ड पर रहते थे। वे साढ़े दस बजे के बाद से लोगों की हाज़िरी पर नज़र रखने लगे। जैसे देखते थे कि कोई देर से आ रहा है वैसे ही दर्वाज़े पर पहुँचकर उस अध्यापक से कहते थे—"क्या आप अभी आ रहे हैं?" एक सप्ताह तक इस तरह करने से सबकी हाज़िरी ठीक हो गई। केवल जयनारायण तर्कपञ्चाननजी की हाज़िरी ठीक नहीं हुई और वही सबसे देर करके आते थे। विद्यासागरजी इन गुरुवर से कुछ भी नहीं कह सकते थे। दर्वाज़े पर चुपचाप खड़े हुए उनके आने की राह देखा करते थे। एक दिन वृद्ध तर्कपञ्चानन ने अपने छात्रअध्यक्ष विद्यासागर से कहा—तुम कुछ कहते नहीं इसी से मैं हार गया। अगर तुम कुछ कहते तो मैं उसका जवाब देता, क्यों देर होती है इसका कारण भी बतलाता। अच्छा, जिस तरह होगा कल से ठीक समय पर आऊँगा।

✓विद्यासागरजी ने सहसा एक बड़े भारी आन्दोलन के काम में हाथ डाला। संस्कृत-कालेज जब से स्थापित हुआ था तब से उस समय तक उसमें केवल ब्राह्मणों और वैद्यों के लड़के ही शिक्षा पाते थे। वैद्य-जाति के लड़कों को धर्म्म-शास्त्र नहीं पढ़ाया जाता था। विद्यासागरजी ने प्रस्ताव किया कि धर्म्म-शास्त्र के सिवा अन्य सब संस्कृत-ग्रन्थ हिन्दू-मात्र के लड़कों को पढ़ाये जायँ। कलकत्ते और अन्यान्य स्थानों के अध्यापक लोग, धर्म्मनाश की आशङ्का करके, इस प्रस्ताव पर राज़ी नहीं हुए। इतना ही नहीं बल्कि ज़ोर-शोर से विद्यासागर का विरोध करने लगे। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि विद्यासागर जो काम उठाते थे उसे पूरा करके ही छोड़ते थे और अगर कोई उसमें रोक-टोक करता था तो उसे पूरा करने के लिए उनके हृदय का आवेग और मन का उत्साह बढ़िया के पानी या

तूफ़ान के समुद्र की तरह सौगुना हो जाता था। अपने विरोधी पण्डितों से उन्होंने यह भी पूछा—"यदि शूद्र को संस्कृत-चर्चा का अधिकार नहीं है तो राजा राधाकान्त देव बहादुर संस्कृत पढ़ने के अधिकारी कैसे समझे गये? और पण्डितों ने भी उनके संस्कृत पढ़ने का विरोध क्यों न किया?" विद्यासागर ने बहुत-से शास्त्रों से प्रमाण उद्धृत करके अपने प्रस्ताव का समर्थन किया। उन्होंने अपने विरोधी पण्डितों से यह भी प्रश्न किया—"अगर शूद्रादि नीच जाति के लड़कों को आप संस्कृत पढ़ाना नहीं चाहते तो साहब लोगों को वेतन लेकर संस्कृत पढ़ाना कौन सा धर्म्म है?" इस प्रकार अनेक प्रबल युक्तियों के द्वारा अकेले विद्यासागर ने अनेक पण्डितों को परास्त किया। उसी समय से संस्कृत-कालेज में सब जातियों के लड़के लिये जाने लगे।

बँगला सन् १२५६ के कार्त्तिक महीने की ३० तारीख़ को विद्यासागर के पहले लड़के नारायणचन्द्र का जन्म हुआ। उसके बाद लगातार चार कन्याएँ हुईं।

विद्यासागर के भाई हरचन्द्र के मरने का हाल पहले लिखा जा चुका है। उसके मरने के बाद विद्यासागरजी ने अपने दूसरे भाई हरिश्चन्द्र को पढ़ाने-लिखाने के लिए कलकत्ते बुला भेजा। आठ वर्ष की अवस्था में वह बालक भी हैज़े की बीमारी से मर गया। विद्यासागर के हृदय को बड़ी चोट पहुँची। एक ओर ऐसा कठिन शोक और दूसरी ओर कालेज की सारी ज़िम्मेदारी। कितना ही शोक हो, ईश्वरचन्द्र अपने कर्त्तव्य से हटनेवाले पुरुष न थे। काम-काज में लगे रहने और शोक के सहने से उनकी मानसिक अशान्ति बढ़ गई; स्वास्थ्य ख़राब हो गया। उनके सिर में पीड़ा का सूत्र-पात हुआ। उसमें उन्हें बड़ा क्लेश मिलने लगा। बहुत दिनों तक अच्छे

डाक्टरों की दवा करने पर भी रोग बिलकुल अच्छा नहीं हुआ। जब वे कोई मस्तिष्क का काम लगातार करते थे तब दर्द शुरू हो जाता था। अबकी बार पुत्र-शोक से पीड़ित माता को विद्यासागर ने अपने पास ही बुला लिया और उनका शोक शान्त करने के लिए अनेक प्रकार के यत्न करते रहे। इस प्रकार कुछ दिनों के बाद शोक कम होने पर विद्यासागर ने माता को फिर घर पर भेज दिया। माता-पिता, भाई-बहन, इष्ट-मित्र सबसे विद्यासागरजी अकृत्रिम स्नेह करते थे। उनकी सेवा में उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था और उनके दुःख में वे अधीर-से हो जाते थे।

अब तक संस्कृत कालेज के छात्रों को फ़ीस नहीं देनी पड़ती थी। विद्यासागर ने अबसे नाम लिखानेवाले विद्यार्थियों से फ़ीस लेने का नियम प्रचलित करने का प्रस्ताव किया। प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। कोई-कोई महाशय इस कार्य्य के लिए विद्यासागर पर कटाक्ष करते हैं। उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि फ़ीस का नियम समर्थ छात्रों के लिए ही है। एक निर्दिष्ट संख्या तक ग़रीब लड़के बिना फ़ीस के कालेज में पढ़ सकते हैं। विद्यासागर की कार्य्यावली को सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवाला मनुष्य कभी यह बात स्वीकार करने के लिए तैयार न होगा कि कटाक्ष करनेवाले मनुष्यों की अपेक्षा विद्यासागरजी में उदारता और परोपकार की प्रवृत्ति की मात्रा कम थी। विद्यासागरजी दूरदर्शी थे। वे जानते थे कि बेंटिङ्क, मेटकाफ़, कैनिङ्ग, सर हाइड, हेयर, बेथून ऐसे प्रातःस्मरणीय लोग विदेशियों में कम पाये जाते हैं; वे ख़ूब जानते थे कि ख़र्च कम करने की ओर राजकर्म्मचारियों की जब नज़र फिरेगी तब यह बिना फ़ीस के शिक्षा देना बिलकुल बन्द हो जायगा। केवल यही नहीं, रुपये की कमी होने पर सूद समेत

दूनी-तिगुनी फ़ीस ली जायगी। इसी की बचत के लिए दूरदर्शी विद्यासागर ने पहले ही थोड़ी-बहुत फ़ीस क़ायम करा दी।

विद्यासागरजी ने संस्कृत-कालेज की सर्वाङ्गीन उन्नति के लिए बड़ी भारी चेष्टा की। कालेज की व्यवस्था के अतिरिक्त शिक्षा-प्रणाली को सहज-साध्य बनाने पर भी उनका पूरा ध्यान था। देव-भाषा संस्कृत के भीतर प्रवेश करनेवाले को व्याकरण का सुदृढ़ द्वार नाँघना पड़ता है। इस द्वार को नाँघकर संस्कृत-साहित्य के सुरम्य नन्दन-कानन में विचरने और काव्य के सुन्दर सुवास को सूँघने का सौभाग्य विरले ही लोगों को प्राप्त होता है। विद्यासागरजी यही सोचते थे कि यह लोहे का फाटक सहज में किस तरह खोला जा सकता है। अन्त को उन्हें इसमें सफलता भी प्राप्त हुई। पाणिनि और बोपदेव आदि वैय्याकरण व्याकरण बनाकर अमर हो गये हैं। विद्यासागर महाशय नये ढँग का व्याकरण रचकर केवल अमर ही नहीं हुए, बल्कि उन्होंने दुरूह और कठिन विषय को सहज और सरल बनाकर अपने को आविष्कारक भी सिद्ध कर दिखाया। वे अपने मस्तिष्क-सञ्चालन-द्वारा अपनी उद्भावनी शक्ति की सहायता से कुछ 'नई' बात कर सकते थे, इसका प्रथम और प्रधान प्रमाण उनकी बनाई हुई "उपक्रमणिका" है। बङ्गाल में आज जो संस्कृत सीखने के साथ शास्त्रों की आलोचना का प्रबल प्रवाह देख पड़ता है उसके लिए हम विद्यासागर की उपक्रमणिका और परवर्त्ती अन्यान्य व्याकरणों के ऋणी हैं। किन्तु जब यह देखा जाता है कि उस उपक्रमणिका की पहली कापी एक रात में लिखी गई थी तब विस्मय से विह्वल होकर विद्यासागर की विचित्र शक्ति की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। कुछ लोग विद्यासागर को केवल सङ्कलनकर्त्ता और अनुवादकर्त्ता कहना चाहते हैं।

वे अगर स्थिर होकर विचार करें तो उन्हें स्पष्ट देख पड़ेगा कि स्वाधीन-चिन्ता के साथ कुछ नवीन सृष्टि करने की शक्ति उनमें यथेष्ट थी। संस्कृत के धुरन्धर पण्डित रामगति न्यायरत्न लिखते हैं—विद्यासागर ने बँगला भाषा में संस्कृत-व्याकरण की जो उपक्रमणिका लिखी है उससे देश में संस्कृत-शिक्षा बहुत ही सहज-साध्य हो गई है। पहले अँगरेज़ी के विद्वानों को संस्कृत पढ़ने की इच्छा होती भी थी तो व्याकरण का दुर्भेद्य दुर्ग देखकर वे घबरा जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि विद्यासागर ने इस मुश्किल को बहुत कुछ आसान बना दिया। इस समय देहातों और शहरों में बालक, ज़वान, बूढ़े सब कुछ न कुछ संस्कृत का ज्ञान अवश्य रखते हैं। अगर उपक्रमणिका बनाकर विद्यासागर इस मार्ग को साफ़ और सीधा न बना देते तो इस पथ के पथिक बहुत कम देख पड़ते। तात्पर्य यह कि विद्यासागर अगर कोई और काम न कर जाते तो भी देश के लोग केवल इसी एक काम के लिए उनके चिरकृतज्ञ बने रहते।

विद्यासागर ने देखा कि व्याकरण समाप्त करके थोड़ी अवस्था के बालक रघुवंश आदि कठिन ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं और उसमें उनका बहुत सा समय वृथा नष्ट हो जाता है। कोमल बुद्धि के बालक सहज में इन ग्रन्थों के असली तात्पर्य को नहीं समझ सकते। यह सोचकर विद्यासागर ने पञ्चतन्त्र, रामायण, हितोपदेश और महाभारत आदि ग्रन्थों से सङ्ग्रह करके ऋजुपाठ के तीन भाग बनाये। इस कार्य से भी संस्कृत सीखनेवालों को बहुत कुछ सुगमता हो गई। ऋजुपाठ के अनुकरण पर कई संस्कृत-पुस्तकें बनी हैं; पर प्रचार ऋजुपाठ ही का सबसे अधिक है।

बंगाल में सर्वत्र स्कूलों में जो गर्मियों की छुट्टियाँ होती हैं उनके लिए प्रयत्न करनेवाले विद्यासागर ही हैं। कलकत्ते में वैशाख-जेठ

में असह्य गरमी पड़ती है। ऐसे दिनों में मेहनत करने से लड़के बीमार पड़ जाते हैं। विद्यासागर ने शिक्षा-विभाग से दो महीने की छुट्टी मंजूर कराई। धीरे-धीरे सर्वत्र गर्मियों की छुट्टियाँ होने लगीं।

संस्कृत कालेज के अध्यक्ष होकर जब विद्यासागरजी इन सब नवीन परिवर्त्तनों से कालेज की ही नहीं, बल्कि सारे शिक्षाविभाग की उन्नति करने लगे तब उनके कामों की कीर्त्ति चारों ओर फैलने लगी। कालेज के अध्यापक और शहर के अन्यान्य प्रतिष्ठित लोग विद्यासागर की कार्यकुशलता से सन्तुष्ट होकर उनकी प्रशंसा और प्रतिष्ठा करने लगे। अँगरेज़ राजपुरुषों में से अनेक लोग उनसे बातचीत करके—उनकी विद्या, बुद्धि और अभिज्ञता का परिचय पाकर—उन्हें एक असाधारण पुरुष समझने लगे। मार्शल और मैट साहब तो बहुत दिन पहले से ही विद्यासागर के पक्षपाती थे। इधर शिक्षाकमेटी के प्रेसीडेण्ट सहृदय बेथून साहब से भी उनका परिचय हो गया। विद्यासागर में एक ऐसी आकर्षणी शक्ति थी कि कोई भी उनसे मिलकर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता था। उनके कोमलतामय वीरत्व-व्यञ्जक मुखमण्डल पर प्रतिभा का पराक्रम पूर्णरूप से प्रकट होता था। उनकी वह मधुर मूर्त्ति देखकर एक ओर जैसे हार्डिञ्ज, डलहौसी, कैनिङ्ग और अन्यान्य प्रतिष्ठित अँगरेज़ लोग सम्मान के साथ सिर झुकाते थे, वैसे ही दूसरी ओर देशी रजवाड़े और बङ्गाली लखपती लोग उनसे मिलने और परिचित होने में अपने अहोभाग्य समझते थे। एक ओर बेथून, बीडन, ग्रे, ग्रान्ट, हालिडे आदि प्रतिष्ठित अँगरेज़ और दूसरी ओर प्रसन्नकुमार ठाकुर, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, महाराज सर यतीन्द्रमोहन ठाकुर, डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, कालीकृष्ण ठाकुर, पाइकपाड़ा के राजा ईश्वर-चन्द्र और प्रतापचन्द्र सिंह आदि उनके हितू और मित्र थे।

किन्तु उन्हें मध्यश्रेणी के शिक्षित लोग ही बहुत प्यारे थे। जज द्वारकानाथ, प्रसिद्ध वक्ता रामगोपाल, हरचन्द्र, रामतनु, कालीकृष्ण, कालीचरण, दुर्गाचरण, शिवचन्द्र, अक्षयकुमार, प्यारीचरण, राजनारायण आदि बन्धुओं पर उन्हें हार्दिक अनुराग था। ग़रीब भूखे और रोगी नर-नारियों को वे और भी अधिक चाहते थे। जो विद्यासागर बड़े लाट और छोटे लाट के यहाँ बड़े आदर से बिठलाये जाते थे, जो विद्यासागर महाराज सर यतीन्द्रमोहन ठाकुर के महल में सम्मान के साथ बुलाये जाते थे, वही विद्यासागर ग़रीबों की झोपड़ी में और रोगियों के पलँग के पास सेवा-शुश्रूषा करते देख पड़ते थे। कैसा अपूर्व दृश्य था! कैसे सुन्दर विचार थे! एक घटना का हाल सुनिए। विद्यासागरजी जब अधिक बीमार हो जाते थे तब कुछ दिन विश्राम करने के लिए खरमाटाड़ में जाते थे। किन्तु स्वभाव तो बदल नहीं सकता। किसी के दुःख-कष्ट की ख़बर पाते ही आप चल देते थे। एक दिन सवेरे एक मेहतर रोता हुआ आकर कहने लगा—"मेरे घर में मेहतरानी को हैज़ा हो गया है। आपकी सहायता न मिलने से वह बच नहीं सकती।" विद्यासागर ने चट नौकर को दवाओं का बक्स और बैठने के लिए मोढ़ा दिया और आप भङ्गी के साथ उसके घर पहुँचे। वहाँ दिन भर रहकर रोगी की चिकित्सा की। शाम के वक़्त रोगी के बचने की आशा होने पर आप घर आये और स्नान-भोजन किया। दयासागर और स्नेह-ममता की मूर्त्ति हुए बिना क्या कभी कोई यह काम कर सकता है? चन्द्रमा और सूर्य सब जगह एक सा प्रकाश करते हैं; ईश्वरचन्द्र भी उसी तरह घर-घर में विराजमान थे। लाट साहब के दरबार में अनेक लोग जाते हैं, बड़े आदमियों के यहाँ भी बहुत लोगों का मान देखा जाता है। किन्तु वे लोग ग़रीबों के घर नहीं जाते,

दुखियों की ख़बर नहीं लेते। विद्यासागर के चरित्र का महत्त्व और सौन्दर्य ग़रीबों और रोगियों का दुख दूर करने में ही है। इसी से वे महापुरुष कहे जाते हैं।

विद्यासागर जब कालेज के अध्यक्ष हुए तब डाइरेक्टर के अनुरोध से उन्होंने कालेज की सर्वाङ्गीन उन्नति के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट लिखी। उसे देखकर मैट साहब ने गवर्नमेंट से अनुरोध करके विद्यासागर की तनख़्वाह १५०) से ३००) करा दी। साथ ही विद्यासागर की सम्मति के अनुसार कालेज की कई तरह की आन्तरिक उन्नति भी उन्होंने की। विद्यासागरजी जैसे कालेज की उन्नति के लिए सोचा करते थे वैसे ही सारे बङ्गाल में शिक्षाप्रचार करने के उपायों पर भी विचार किया करते थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में यह भी प्रस्ताव किया था कि बङ्गाल के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्कूल खोले जायँ और उनमें पढ़ानेवाले मास्टर तैयार करने के लिए नार्मल स्कूल स्थापित हों। इस प्रस्ताव के अनुसार सन् १८५५ में २००) की तनख़्वाह देकर विद्यासागर अतिरिक्त इन्स्पेक्टर बनाये गये और उनको नदिया, हुगली, बर्दवान और मेदिनीपुर ज़िलों के अनेक स्थानों में स्कूल खोलकर उनके निरीक्षण का काम दिया गया। सब मिलाकर विद्यासागर को महीने में ५००) रु० मिलने लगे। उन्हीं के अनुरोध से कलकत्ते में सबसे पहले नार्मल स्कूल खुला और उसकी देखरेख का काम कालेज के अध्यक्ष विद्यासागर को सौंपा गया। स्कूल खुलने के बाद स्वनामधन्य अक्षयकुमार दत्तजी उस स्कूल के हेडमास्टर बनाये गये। बहुत पहले शोभाबाज़ार के राजभवन में राधाकान्तदेव बहादुर के दामाद श्रीनाथ घोष और नाती बाबू आनन्दकृष्ण बसु के पास जाने-आने में पहले-पहल ईश्वरचन्द्र से और अक्षयकुमार बाबू से जान पहचान हुई। तत्त्वबोधिनी सभा

ईश्वरचन्द्र शर्मा ।

स्थापित होने पर विद्यासागर और अक्षयकुमार में गहरी मित्रता हो गई। इनकी यह मित्रता मरते दम तक एक सी बनी रही। बहुत परिश्रम करने से अक्षय बाबू को घोर सिर का दर्द दुख देने लगा। पहले वे छुट्टी लेकर दवा करते रहे, परन्तु अच्छी तरह चिकित्सा होने पर भी किसी तरह सिर का दर्द दूर नहीं हुआ। अन्त को लाचार होकर उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी। उसके बाद विद्यासागर के कृपापात्र रामकमल भट्टाचार्य उस पद पर नियुक्त हुए। विद्यासागर के लड़कपन के साथी मधुसूदन वाचस्पति भी इस स्कूल के एक मास्टर थे। पहले संस्कृत-कालेज में अँगरेज़ी पढ़ने का नियम अवश्य था, पर उसके लिए कोई कड़ाई न थी। जिसकी इच्छा होती थी, पढ़ता था और जिसकी इच्छा न होती थी, नहीं पढ़ता था। विद्यासागर ने नियम कर दिया कि हर एक छात्र को अन्यान्य विषय पढ़कर जैसे परीक्षा देकर नम्बर हासिल करने पड़ते हैं वैसे ही अँगरेज़ी की भी परीक्षा देकर नम्बर हासिल करने पड़ेंगे। ऐसी व्यवस्था होने से सभी लड़के आग्रह के साथ अँगरेज़ी भी पढ़ने लगे। हिन्दूकालेज से पदक और ४०) रु० की वृत्ति प्राप्त करने-वाले बाबू प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी को विद्यासागर ने कालेज के अँगरेज़ी पढ़ानेवाले मास्टरों का अगुआ बनाया। सर्वाधिकारीजी ने नौकरी की तलाश में निकलकर पहले ढाके में छोटी तनख़्वाह की एक जगह पाई। इच्छा न रहने पर भी आगे उन्नति होने की आशा दिलाने पर वे ढाका गये। किन्तु शीघ्र उन्नति होने के लक्षण न देखकर, आज्ञा लिये बिना ही, वे ढाका छोड़कर चले आये। इस अपराध के कारण जल्द उनकी नौकरी नहीं लगी। अन्त को विद्यासागर के यत्न से वे हिन्दूकालेज में शिक्षक हो गये। यहाँ ४०) रु० की तनख़्वाह सुनकर पहले वे किसी तरह राज़ी नहीं

होते थे। पर फिर विद्यासागर के बहुत कहने-सुनने से मान गये। पीछे से वे संस्कृतकालेज में अँगरेज़ी पढ़ाने का काम करने के लिए १००) रु० माहवारी पर प्रधान शिक्षक बना दिये गये। विद्यासागर की कृपा और स्नेह के कारण सर्वाधिकारीजी की शीघ्र उन्नति होने लगी। विद्यासागर के नौकरी छोड़ देने पर सर्वाधिकारीजी कालेज के अध्यक्ष बनाये गये। उन्होंने अपने काम में अपनी शक्ति और कार्यकुशलता का यथेष्ट परिचय दिया।

संस्कृतकालेज के नये बन्दोबस्त में अँगरेज़ी का पढ़ाया जाना गवर्नमेंट के द्वारा सम्पूर्णरूप से अनुमोदित हो गया। इसके बाद क्रमश: सर्वाधिकारीजी, बाबू श्रीनाथ दास, कालीप्रसन्न चट्टोपाध्याय, तारिणीचरण चट्टोपाध्याय और प्रसन्नकुमार राय आदि विद्वान् कालेज के अँगरेज़ी-शिक्षक हुए। इस नियम के जारी होने के कुछ दिनों बाद विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा की व्यवस्था हुई। संस्कृत-कालेज के छात्र अन्यान्य स्कूलों के छात्रों के समान ही अँगरेज़ी की परीक्षा में कृतकार्य होने लगे। यह सफलता देखकर विद्यासागरजी बहुत ही प्रसन्न हुए।

इसी समय विद्यासागरजी को एक दारुण शोक का सामना करना पड़ा। उनके परममित्र और स्त्रियों के परम हितैषी बेथून साहब का देहान्त हो गया। विद्यासागरजी उनको बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और उनको भी विद्यासागर से बड़ा स्नेह था। विद्यासागर को बेथून साहब के द्वारा शिक्षाप्रचार से भारत के कल्याण की बहुत कुछ आशा थी। स्वदेश-हितैषी विद्यासागर का ऐसे भारत-बन्धु के वियोग से व्याकुल होना स्वाभाविक ही था। जब कभी बेथून साहब की बात चलती थी तभी विद्यासागर की आँखों से आँसू बहने लगते थे।

इसी समय एक दिन द्वारकानाथ भट्टाचार्य के साथ द्वारकानाथ मित्र विद्यासागर से मिलने आये और विद्यासागर के परममित्र हो गये। बाबू कालीचरण घोष भी विद्यासागरजी के विशेष स्नेह-पात्र थे। इनकी अवस्था अधिक न थी, पर योग्यता अच्छी थी। और, विद्यासागरजी योग्यता के ही पक्षपाती थे। विद्यासागरजी ने कुछ दिनों के लिए संस्कृत-कालेज की किसी श्रेणी में उन्हें अँगरेज़ी पढ़ाने का काम सौंपा। शिक्षक की अवस्था थोड़ी देखकर, उन्हें अपनी हमजोली का देखकर, लड़के उनके पास पढ़ने के लिए राज़ी नहीं हुए। कोई-कोई दल बांधकर उन्हें भगाने और उनका अपमान करने की चेष्टा करने लगे। यह जानकर विद्यासागर को बड़ा क्रोध आया और वे इस बात की खोज करने लगे कि इस कुचक्र में कौन-कौन विद्यार्थी शामिल हैं। खोज से कोई पकड़ा नहीं जा सका, किसी ने अपना दोष स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार झूठ बोलने के विद्यासागर घोर शत्रु थे। उन्होंने उस क्लास के सब लड़कों को स्कूल से निकाल दिया। लड़कों ने दल बांधकर विद्यासागर के विरुद्ध अभियोग उपस्थित किया। कालेज के सञ्चालकों ने इस बारे में विद्यासागर का वक्तव्य पूछ भेजा। उसके उत्तर में विद्यासागर ने कहला भेजा—"कालेज के इन छोटे-छोटे अन्दरूनी मामलों में अध्यक्ष को पूरे अख़्तियारात रहने चाहिएँ। इस तरह की छोटी-छोटी बातों के लिए अगर लड़के नालिश करने पावेंगे तो फिर उन्हें शासन में रखना कठिन हो जायगा।" सञ्चालकों ने यह बात मानकर विद्यासागर को उस सम्बन्ध के काग़ज़-पत्र वापस कर दिये और लड़कों से कह दिया कि इस मामले में विद्यासागर जो करेंगे वही होगा। अब लड़के बहुत डरे। अन्त को उनके अभिभावकों ने विद्यासागर से मिलकर बालकों का अपराध क्षमा करने के लिए प्रार्थना की।

विद्यासागर ने कहा—"लड़कों को मास्टर कालीचरण के पास भेजो और कहो कि उनसे माफ़ी माँगें।" यही हुआ। लड़के कालीचरण बाबू के पास गये। कालीचरण बाबू लड़कों को साथ लेकर विद्यासागर के मकान पर आये। विद्यासागर ने कालीचरण से पूछा—"बोलो, इन लोगों ने तुमसे माफ़ी माँगी या नहीं?" कालीचरण बाबू ने कहा—"मैं तो आता नहीं था। इन लोगों ने बहुत अनुनय-विनय करके अपना अपराध स्वीकार कर लिया है; इसी से इनके साथ आया हूँ। अब आपकी जैसी इच्छा हो वैसा कीजिए।" विद्यासागर ने कहा—"तुम कहोगे तो माफ़ करूँगा, नहीं तो नहीं।" कालीचरण ने बहुत सोच-विचारकर कहा—"ये लड़के जितना मेरे अपराधी हैं उससे कहीं अधिक आपके अपराधी हैं। आप जो चाहें सो कीजिए।" बालक निरुपाय होकर विद्यासागर के पैर पकड़कर रोने लगे। तब फिर कभी ऐसा काम न करने की प्रतिज्ञा कराकर विद्यासागर ने उन्हें माफ़ कर दिया।

अपराधी के अपराध स्वीकार कर लेने पर उसे क्षमा कर देना सहज काम है। ऐसा बहुत लोग करते हैं। किन्तु बिलकुल क्षमा कर देना—उस बात को बिलकुल भुला देना सबका काम नहीं है। विद्यासागरजी जिसे क्षमा-प्रदान करते थे उससे स्नेह का व्यवहार करने के लिए सदा प्रस्तुत रहते थे। उनके क्षमा करने की अपेक्षा क्षमा-प्रार्थना करना और भी सुन्दर था। प्रतिष्ठित स्वाधीन-प्रकृति तेजस्वी पुरुष के लिए किसी के आगे झुकना बड़ा कठिन काम है। शायद उससे ऐसा हो ही नहीं सकता। ख़ास कर ऊँचे दर्जे का प्रतिष्ठित आदमी छोटे दर्जे के आदमी के आगे कभी झुकता ही नहीं। किन्तु विद्यासागर में यह बात न थी।

इस सम्बन्ध की एक घटना का हाल सुनिए। एक बार किसी विश्वासी आदमी के कहने पर विश्वास करके विद्यासागर ने पण्डित ताराकुमार कविरत्न से कुछ कड़ी बातें कह डालीं। कविरत्नजी ने सब चुपचाप सुन लिया। कुछ दिनों बाद विद्यासागर को मालूम हुआ कि जिसके कहने पर उन्होंने विश्वास कर लिया था वह झूठ बोला था। उसी समय विद्यासागरजी कविरत्न के पास गये और विनीतभाव से क्षमा प्रार्थना करके कहने लगे—"मैंने आपसे जो बुरा व्यवहार किया है उसके लिए जो दण्ड आप दीजिए उसे स्वीकार करने के लिए मैं तैयार हूँ।" जैसे ज़रूरत आ पड़ने पर कठिन पत्थर से मधुर जल-धारा निकलती है वैसे ही विद्यासागर की दृढ़ता भेदकर आँसू और कोमलभाव प्रवाहित होता था। कविरत्नजी से ही मैंने सुना है कि उस समय विद्यासागर की आँखों में आँसू भर आये थे। समय पर विद्यासागरजी बालकों के समान सरल और कोमल बन जाते थे और समय पर हिमालय से भी बढ़कर उन्नत, गम्भीर और दृढ़ बने रहते थे।

विद्यासागरजी जिस समय कालेज में अध्यक्ष के पद पर विराजमान होते थे उस समय उन्हें देखकर छात्रों और अध्यापकों के मस्तक भय और सम्मान के कारण आप ही झुक जाते थे। उनके आगे किसी को सिर उठाकर ज़ोर से बोलने की हिम्मत न होती थी। कालेज में लड़के उन्हें देखकर डरते थे और बाहर उन्हीं को अपने साथी से बढ़कर पाते थे। एक दिन किसी विशेष काम से विद्यासागर को कहीं जाना पड़ा। लौटने में देर अधिक हो गई। घर आकर भोजन करके कालेज जाने में विलम्ब हो जाता। रास्ते में ताराकुमार कविरत्न का छात्रावास पास ही पड़ता था। विद्यासागरजी वहीं गये। चटपट कुएँ के जल से स्नान करके जहाँ पर छात्र

भोजन करने बैठे थे वहाँ विद्यासागरजी पहुँचे। लड़कों के साथ आप भी भोजन करने बैठ गये। एक-एक कौर सबके हिस्से से लेकर विद्यासागर ने भोजन किया और फ़ुर्ती से उठकर कालेज चले गये। कविरत्नजी से मैंने सुना है कि घड़ी भर पहले बालकों के साथ भोजन करते समय विद्यासागर की जिस हँसमुख प्रसन्न मूर्ति को देखकर हम लोग पुलकित हुए थे वह मूर्ति दम भर में अदृश्य हो गई। कालेज में वही शिक्षक-वेष-धारी अध्यक्ष विद्यासागर की मूर्ति विराजमान देख पड़ी। इस प्रकार भाव-परिवर्त्तन में आत्म-शासन और अभ्यास की बड़ी आवश्यकता होती है। साधारण मनुष्य के लिए यह काम बड़ा ही कठिन है।

इसी समय विद्यासागर के परम मित्र और शिक्षा-कमेटी के मन्त्री मैट साहब कुछ समय के लिए छुट्टी लेकर इँगलेंड चले गये। नये-नये क़ायम हुए छोटे लाट के पद पर सुप्रसिद्ध हालिडे साहब की नियुक्ति हुई थी। उन्होंने शिक्षा-विभाग में बहुत से हेर-फेर कर डाले। शिक्षा-कमेटी (Education Council) नाम बदलकर "पब्लिक इन्स्ट्रक्शन" नाम रक्खा गया। हालिडे साहब ने डाक्टर मैट की जगह पर डब्ल्यू० गार्डन यंग नामक एक युवक सिविलियन को रक्खा। उक्त पद पर एक बुद्धिमान् वृद्ध पण्डित को रखने की सलाह विद्यासागर ने छोटे लाट साहब को दी थी। माननीय हालिडे साहब ने इसके उत्तर में कहा—"मैं ख़ुद ही सब काम करूँगा; मिस्टर यङ्ग तो उपलक्ष्य-मात्र हैं। आप उनको शिक्षा-विभाग का काम अच्छी तरह सिखला दीजिएगा।" छोटे लाट की आज्ञा के अनुसार विद्यासागरजी आफ़िस में जाकर यङ्ग साहब को काम समझा आते थे। किन्तु विद्यासागर ने जो आशङ्का करके उक्त पद पर एक वृद्ध पण्डित के रखने की सलाह दी थी वही बात आगे आई।

सन् १८५४ के शिक्षा-विषयक मन्तव्य में इँगलेंड के राज-पुरुषों ने साधारण भारतवासियों की शिक्षा की व्यवस्था के लिए कई लाख रुपये मंजूर किये। वह रुपया ख़र्च करके कैसी शिक्षा देनी चाहिए, इसका भी आभास दे दिया। सन् १८३५ में मेकाले और लार्ड विलियम बेंटिंक ने जो शिक्षा-नीति चलाई थी उसी का अनुसरण कर इस समय की मन्त्रि-सभा ने अपना मन्तव्य प्रकट किया। उसके अनुसार विद्यासागर ने कई ज़िलों में बहुत से स्कूल स्थापित किये और उनके इन्स्पेक्टर भी वही हुए। किन्तु इँगलेंड के सञ्चालकों के मन्तव्य के सम्बन्ध में विद्यासागर के साथ डाइरेक्टर यङ्ग साहब का मत नहीं मिला। डाइरेक्टर ने अन्य दो अँगरेज़ इन्स्पेक्टरों से सलाह करके विद्यासागर के अनुमोदित ढङ्ग पर स्कूल खुलना रोक दिया। किन्तु विद्यासागरजी इससे पहले ही कई स्कूल खोल चुके थे। विद्यासागर ने स्कूल खोलना फिर भी बन्द नहीं किया और छोटे लाट को इस बात की सूचना दी कि डाइरेक्टर साहब स्कूल खोलने की मनाही करते हैं। विद्यासागर और डाइरेक्टर साहब में मत-भेद के बाद मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया। दोनों ने हालिडे साहब को अपना-अपना वक्तव्य कह सुनाया। माननीय छोटे लाट ने कुछ दिनों के लिए स्कूल खोलना रुकवाकर विलायत को यह समाचार भेजा और इस विषय में वहाँ के सञ्चालकों की राय माँगी। इस मामले में विलायत से भी स्वाधीन-चेता विद्यासागर की ही जीत हुई। वे दूने उत्साह से स्कूल खोलने लगे। अँगरेज़ इन्स्पेक्टरों के बहकाये हुए यङ्ग साहब विद्यासागर के घोर विरोधी बन गये। किन्तु विद्यासागरजी ऐसी समझदारी से काम करते थे कि कोई त्रुटि रहना एक प्रकार से असम्भव ही था। तथापि मामूली-मामूली बातों पर विद्यासागर और डाइरेक्टर साहब

में चोट चल जाती थी। दोनों आदमी छोटे लाट की सहायता से अपनी बात वाला बनाने की चेष्टा करते थे। किन्तु छोटे लाट साहब प्रायः विद्यासागर के सुविचार-सङ्गत मत का ही अनुमोदन करते थे। इस प्रकार लाट साहब की पृष्ठ-पोषकता के बल पर यङ्ग साहब के विरोध की पर्वा न कर विद्यासागरजी अपने कर्त्तव्य का पालन करने लगे।

विद्यासागरजी जब स्पेशल इन्स्पेक्टर हो गये तब अनेक स्थानों में माडल स्कूल और बालिका-विद्यालय स्थापित करने लगे। उस समय शिक्षा-प्रचार के काम में इँगलेंड के सञ्चालकों की विशेष सहानुभूति रहने के कारण विद्यासागर की जीत होती थी। इसके कुछ दिन बाद एकाएक इँगलेंड की मन्त्रि-सभा बदलने के साथ ही भारतवर्षीय शिक्षा की नीति भी बदल गई। छोटे लाट के ज़बानी हुक्म से विद्यासागर ने हुगली, नदिया, बर्दवान और मेदिनीपुर ज़िलों में बहुत से बालिका-विद्यालय स्थापित किये थे। इन विद्यालयों में बहुत रुपया ख़र्च होता था। डाइरेक्टर यङ्ग साहब ने इन स्कूलों के ख़र्च का बिल नामञ्जूर कर दिया। उन्होंने यह मन्तव्य भी प्रकाशित किया कि शिक्षा में इस तरह रुपया ख़र्च करना वर्तमान शिक्षा-नीति के बिल्कुल विरुद्ध है। डाइरेक्टर साहब के यही एक ऐसा सुयोग हाथ लगा कि वे विद्यासागर को कष्ट और हानि पहुँचा सके।

विद्यासागर जब इन्स्पेक्टर हुए तब उन्हें उस कार्य में सहायता करने के लिए चारों ज़िलों में चार डिपुटी इन्स्पेक्टर रखने की अनुमति मिली थी। उसके अनुसार उन्होंने ताराशङ्कर भट्टाचार्य, माधवचन्द्र गोस्वामी, दीनबन्धु न्यायरत्न और हरिनाथ बनर्जी को रख लिया था।

संस्कृत कालेज के स्थायी होने के सम्बन्ध में कभी-कभी सञ्चालकों में बहुत कुछ तर्क-वितर्क होते थे और कभी-कभी कालेज उठा देना निश्चित सा हो जाता था। किन्तु विद्यासागरजी के यत्न और आग्रह से तथा बंगालियों के सौभाग्य से यह दुर्घटना नहीं हो पाती थी। किन्तु कालेज के कई अंग छिन्न-विच्छिन्न हो चले थे। शिक्षार्थी बालकों को उत्साहित करने के लिए प्रथम और द्वितीय श्रेणी की कुछ वृत्तियाँ नियत थीं। उन वृत्तियों में गवर्नमेन्ट को अच्छी रक़म ख़र्च करनी पड़ती थी। गुणी ग़रीब बालकों के दुर्भाग्य से वे वृत्तियाँ बन्द हो गईं। किन्तु विद्यासागर के बहुत आग्रह से कालेज का अस्तित्व नष्ट होने से बच गया।

संस्कृत-हिन्दू-कालेज की इमारत इतनी बड़ी थी कि दोनों कालेजों का काम निकलने के अलावा ऊपर के दो कमरे ख़ाली पड़े रहते थे। पहले वे कमरे हिन्दूकालेज के ही थे। पीछे संस्कृत-कालेज में अँगरेज़ी पढ़ाने की व्यवस्था होने पर उन दोनों क़मरों की ज़रूरत पड़ी। विद्यासागर ने आवश्यकता जताकर यङ्ग साहब से वे दोनों कमरे माँगे। इसके उत्तर में यङ्ग साहब ने उनसे हिन्दू-कालेज के अध्यक्ष साट्क्लिफ़ साहब से मिलकर प्रार्थना करने के लिए कहा। विद्यासागर का पहले ही इन दोनों कमरों के लिए साट्क्लिफ़ साहब के साथ मनो-मालिन्य हो चुका था। उन्होंने यङ्ग साहब से कहा कि आप हिन्दूकालेज में साट्क्लिफ़ साहब के पास जाकर मुझे बुलवावें तो मैं उनसे मिलकर आपके आगे अपनी आवश्यकता जता सकता हूँ। यङ्ग साहब इस पर राज़ी हो गये। लेकिन समय पर साहब ने और ही कुछ किया। वे ख़ुद तो साट्क्लिफ़ से मिलने गये, परन्तु विद्यासागर को नहीं बुलाया। बार-बार कहे जाने पर भी विद्यासागरजी

अकेले साटक्लिफ़ साहब से मुलाक़ात करने नहीं गये। इससे यंग साहब और भी उनसे चिढ़ गये।

सर चार्ल्स उड के सन् १८५४ के निर्देश के अनुसार सन् १८५६ में कलकत्ता-यूनिवर्सिटी स्थापित होने का प्रस्ताव हुआ। लार्ड डलहौसी ने इस शुभ कार्य्य की सब तरह की तैयारी करके पेन्शन ले ली। भारतबन्धु लार्ड कैनिंग के समय के आरम्भ में, सन् १८५७ के जनवरी महीने में, कलकत्ता-यूनिवर्सिटी का यथार्थ सूत्रपात हुआ। उस समय उस यूनिवर्सिटी के सदस्य केवल ३६ थे। इनमें केवल ६ देशी सभ्य थे। उनमें दो मुसल्मान सज्जन थे। विद्यासागर, प्रसन्नकुमार ठाकुर, रमाप्रसाद राय और रामगोपाल घोष ये चार हिन्दू सदस्य थे। विश्वविद्यालय की पहली सालाना सभा (कनवोकेशन) में सभापति गवर्नर-जनरल बहादुर के एक ओर लार्ड बिशप और दूसरी ओर विद्यासागर बैठे थे। इस विश्वविद्यालय के संगठन-कार्य्य में विद्यासागरजी की भी राय ली गई थी। इसी वर्ष के २८ नवम्बर को विश्वविद्यालय के सदस्यों की जो सभा हुई थी उसमें एक परीक्षकसमिति (बोर्ड आफ़ एग्ज़ामिनर्स) का संगठन हुआ था। संस्कृत, बँगला, हिन्दी और उड़िया भाषा के प्रश्न बनाने और पास-फ़ेल करने का काम विद्यासागरजी को सौंपा गया था। इंट्रेंस और बी० ए० परीक्षा का सब काम इसी बोर्ड के ऊपर होने के कारण बोर्ड के हर एक मेम्बर को बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता था, इसलिए उनमें से प्रत्येक को साल में छः सौ रुपये के हिसाब से मेहनताना दिया जाता था। आनर्स (Honours) परीक्षा देनेवाले विद्यार्थी जिस साल होते थे उस साल परीक्षकों को और भी एक सौ रुपये दिये जाते थे। इसके बाद परीक्षक-समिति का फिर संगठन

हुआ। किन्तु बहुत चेष्टा करने पर भी विद्यासागर उसमें सम्मिलित नहीं हुए। सन् १८६५ में वे केवल एम० ए० परीक्षा के परीक्षक हुए थे। इसके बाद भी समय-समय पर बी० ए० और एम० ए० के संस्कृत-परीक्षक होने के लिए विद्यासागर से अनुरोध किया गया, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। विश्वविद्यालय संगठित होने के बाद उसके किसी अधिवेशन में शिक्षा-सम्बन्धी अनेक प्रकार की आलोचनाएँ होते-होते संस्कृत-कालेज उठा देने का प्रस्ताव किया गया। बहुत-से अँगरेज़ों और बंगालियों ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया; परन्तु अकेले विद्यासागर ने अनेक युक्तियों और तर्कों के सहारे सबके मुँह बन्द कर दिये। उन्हीं के प्रयत्न से संस्कृत-कालेज इस समय भी मौजूद है और उनके गौरव की घोषणा करता हुआ संस्कृत-शिक्षा का प्रचार कर रहा है।

सिविलियन परीक्षा में पास होकर जो साहब नौकर होते थे उनकी परीक्षा लेने के लिए तत्कालीन गवर्नर-जेनरल ने सेंट्रल कमेटी नाम से एक कमेटी स्थापित की थी। सिविलियन साहबों की परीक्षा लेना ही इस कमेटी का काम था। विद्यासागर इस कमेटी के प्रधान सदस्य थे। परीक्षा का प्रबन्ध उन्हीं के हाथ में था।

इँगलेंड के मन्त्रिमण्डल की आज्ञा के अनुसार बङ्गाल के अनेक स्थानों में जब स्कूल खुलने लगे तब उन स्कूलों में बँगला और संस्कृत पढ़ाने के लिए बहुत-से पण्डितों की ज़रूरत पड़ी। लेकिन तनख्वाह थोड़ी होने के कारण पण्डित कम मिलते थे। इस कारण दक्षिण बङ्गाल के तत्कालीन इन्स्पेक्टर प्राट् साहब ने विद्यासागर से कई पण्डित माँग भेजे। विद्यासागर ने उन्हें लिख दिया कि संस्कृत-कालेज के विद्यार्थी लोग इस काम को बहुत

अच्छी तरह कर सकते हैं, लेकिन तनख़्वाह कम होने के कारण कोई भी जाने को राज़ी नहीं होता। कम से कम ५०) की तनख़्वाह होती तो कुछ लोग जा सकते थे।

छोटे लाट हालिडे साहब के साथ विद्यासागर का बहुत मेल-जोल था। अँगरेज़ और भारतीय में ऐसा मेल-जोल बहुत कम देखा जाता है। ख़ास कर मालिक और नौकर में ऐसा भाव होना तो असम्भव ही जान पड़ता है। इसके प्रमाण में एक-दो घटनाओं का वर्णन करना ही यथेष्ट होगा। एक बार विद्यासागरजी ने छोटे लाट के घर पहुँचकर देखा कि कलकत्ते के और कई प्रतिष्ठित आदमी अपने-अपने नाम के कार्ड भेजकर लाट साहब से मिलने के लिए अपेक्षा कर रहे हैं। विद्यासागरजी के आने की ख़बर सुनते ही लाट साहब फ़ौरन् ऊपर के मकान में आकर विद्यासागरजी से मिले। इस घटना से वे रईस लोग, जो अपेक्षा कर रहे थे, बहुत झेंपे। उनमें से किसी-किसी ने लाट साहब से इसका कारण भी पूछा। छोटे लाट ने उत्तर दिया—आप लोग अपने-अपने काम के लिए बातचीत करने आते हैं और विद्यासागरजी राजकाज में मुझे सुन्दर सलाह देने आया करते हैं। इस प्रकार उद्देश्य-भेद से अधिकार-भेद भी हो जाता है। आप आते हैं अपने लिए और वे आते हैं मेरे लिए। ऐसी अवस्था में सबसे पहले उनसे मिलना कुछ भी अनुचित नहीं जान पड़ता।

दूसरी घटना यों है—हालिडे साहब के अनुरोध के अनुसार विद्यासागरजी हर बृहस्पति को अनेक विषयों पर वार्तालाप करने के लिए लाट साहब के यहाँ जाते थे। लेकिन वे वहाँ भी पैरों में चट्टी पहनकर और चादर ओढ़कर ही जाते थे। छोटे लाट के अनुनय-विनय और अनुरोध करने पर कई बार पतलून-

चोगा-चपकन और पगड़ी, पहनकर भी गये। पर यह फ़ैशन उन्हें पसन्द न था। ऐसे कपड़ों का पहनना भी वे एक प्रकार का अनाचार समझते थे। उनकी समझ में ऐसे कपड़े पहनना एक तरह से स्वाँग बनना था। जितनी बार ऐसे कपड़े पहनकर वे गये, उन्हें बड़ा क्लेश और असुविधा उठानी पड़ी। दो-तीन दिन तक ऐसे कपड़े पहनकर जाने के बाद चौथे दिन उन्होंने साहब से कह दिया—"यही आपकी मेरी आख़िरी भेट है।" लाट साहब ने विस्मित होकर पूछा—"क्यों पण्डित, क्या हुआ जो अब भेट न होगी?" स्वाधीनचेता विद्यासागर ने हँसते-हँसते कहा—"क़ैदियों की ऐसी कष्ट देनेवाली पोशाक पहनकर स्वाँग बनकर आपसे मिलने आना मेरे लिए असम्भव है।" लाट साहब ने दम-भर कुछ सोचकर कहा—"पण्डित, जिस पोशाक से आने में आपको सुविधा हो उसी में आइए।" इस घटना के बाद विद्यासागरजी उसी अपने पुराने फ़ैशन से आते-जाते रहे।

यह पहले लिखा जा चुका है कि यङ्ग साहब और विद्यासागर में कोई विवाद आ पड़ने पर हालिडे साहब अक्सर विद्यासागर का ही पक्ष लेते थे। साथ ही यङ्ग साहब के साथ सद्भाव बनाये रखने के लिए अनुरोध किया करते थे। विद्यासागरजी भी इस बात के लिए कोशिश करते थे, लेकिन यङ्ग साहब के मारे कुछ न होता था। एक बार विद्यासागर ने स्कूलों के मुआइने की रिपोर्ट पेश की। डाइरेक्टर यङ्ग साहब ने कहा—"इस रिपोर्ट को अच्छी तरह बना-चुना कर लिखो।" इसका मतलब यह था कि इस ढङ्ग से रिपोर्ट लिखो कि ऊपर के अफ़सर लोग समझें कि काम बहुत अच्छा हो रहा है। उन्नत विचारवाले न्यायपरायण विद्यासागर ने साहब के इस कथन से अपने को अपमानित समझा। रिपो॑

में एक अक्षर का भी हेरफेर करने को वे राज़ी न हुए। बहुत कहने-सुनने पर उन्होंने नौकरी छोड़ देने की इच्छा प्रकट की। उनके नौकरी छोड़ने का विवरण नीचे लिखा जाता है। इसे देखकर पाठक समझ सकेंगे कि साधारण नीचता न स्वीकार करके ५००) महीने की नौकरी छोड़ देनेवाले विद्यासागर कैसे पुरुष थे और नौकरी न छोड़ने के लिए उनसे कहाँ तक अनुरोध किया गया था।

विद्यासागर ने छोटे लाट हालिडे साहब को जो पत्र पहले लिखा था और जिससे यह आग सुलग उठी वह पत्र यह है—

प्रथम पत्र

महाशय,

गत शनिवार को मैं आपसे मिलने गया था। दक्षिण बङ्गाल विभाग के इन्स्पेक्टर की नियुक्ति के सम्बन्ध में मैंने दो-एक बातें कहने की अनुमति माँगी थी। आपने मुझसे कहा था कि इस विषय के मन्तव्यों को लिखकर मुझे दो। उसी के अनुसार निवेदन है कि यदि आप मुझे उक्त इन्स्पेक्टर के पद पर भेजना चाहते हों तो मेरी जगह पर संस्कृत-कालेज में किसे रखने से कालेज की भलाई होगी, इस बारे में मेरे साथ सलाह करके किसी योग्य व्यक्ति को रखना ही अच्छा होगा। बहुत दिनों की अभिज्ञता के द्वारा मैं ही इस बात को अच्छी तरह बतला सकता हूँ कि उक्त कालेज के अध्यापकों में से इस पद के लायक़ कौन है। गवर्नमेंट के स्थापित किये हुए अँगरेज़ी स्कूल-कालेजों-सहित ज़िलों के डिवीज़नल इन्स्पेक्टर का पद मुझे देना यदि उचित न समझा जाय तो आप कम से कम हुगली, मेदिनीपुर, वर्द्धवान और नदिया ज़िलों के माडल स्कूलों के इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त कर सकते हैं। सर्कारी स्कूल-कालेजों के निरीक्षण का भार डिवीज़नल इन्स्पेक्टर के ऊपर छोड़ने से भी काम

चल सकता है। बँगला भाषा की शिक्षा के प्रचार के सम्बन्ध में मैं आपको इतना तङ्ग कर चुका हूँ कि फिर उसका उल्लेख करके आपके बहु-मूल्य समय को नष्ट करना नहीं चाहता।

(ह०) ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

खेद की बात है कि पत्र की नक़ल में तारीख़ नहीं दी हुई थी। किन्तु इस पत्र के उत्तर में छोटे लाट साहब ने जो उत्तर भेजा था उसकी तारीख़ देखने से जान पड़ता है कि सन् १८५७ की २१ वीं मई के लगभग यह पत्र लिखा गया होगा।

विद्यासागर के पत्र के उत्तर में हालिडे साहब ने जो पत्र भेजा था उसकी नक़ल यह है—

द्वितीय पत्र

दार्जिलिंग,
२७ वीं मई १८५७

पण्डित ईश्वरचन्द्र शर्म्मा,
कलकत्ता।

पण्डित महाशय,

आपको शायद मालूम हुआ होगा कि आपका पत्र पाने के पहले ही मिस्टर लाज को मैंने उक्त पद के लिए चुन लिया है। इसके पहले वह पद लेफ़्टिनेन्ट लीज को दिया गया था। वे इँगलेंड में हैं। उक्त पद पर काम करना उन्होंने अस्वीकार कर दिया है।

मैं आशा करता हूँ कि शीघ्र ही मुझसे मुलाक़ात होगी। क्योंकि मैं कलकत्ते की ओर जा रहा हूँ। इस प्रयोजनीय विषय के सम्बन्ध में, जिसकी उन्नति के लिए हम दोनों को आग्रह है, बातचीत होगी।

(ह०) फ्रेड० जे० हालिडे।

शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर यङ्ग साहब को विद्यासागर ने जो पहला पत्र लिखा था उसकी नक़ल यह है—

तृतीय पत्र

संस्कृत-कालेज,
२० वीं अगस्त, १८५७

माननीय डब्लू० गार्डन यङ्ग,

शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर महाशय की सेवा में।

महाशय,

आप तीन महीने के लिए शहर छोड़कर जाते हैं। अतएव इसे ही सुसमय समझकर मैं आपको सूचित करता हूँ कि मैंने कुछ ही दिनों में नौकरी छोड़ देने का विचार कर लिया है। मेरे इस तरह इतनी जल्दी नौकरी छोड़ने का उद्देश सर्व-साधारण के जानने लायक़ नहीं है। अन्य किसी को मैं उसकी सूचना नहीं देना चाहता, इसी से इस पत्र में भी उसका उल्लेख नहीं करता हूँ।

संस्कृत-कालेज की शिक्षा-विषयक नवीन पद्धति अभी तक ठीक नहीं हुई। उसे ठीक करने में और भी दो-तीन महीने लगेंगे। दिसम्बर तक मैं काम करता रहूँगा। दिसम्बर में अपना इस्तीफ़ा दाखिल करूँगा।

आपको इतने दिन पहले से अपनी यह इच्छा जताने का मतलब यह है कि मेरे नौकरी छोड़ने पर जो जगह ख़ाली होगी उस पर किसी अच्छे आदमी को रखने के लिए आप अच्छी तरह विचार कर सकें।

(ह०) ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

चतुर्थ पत्र

कलकत्ता संस्कृत-कालेज,
३१ वीं अगस्त, १८५७

माननीय एफ़० जे० हालिडे,
महाशय की सेवा में।

महाशय,

कुछ दिन हुए, आपने बँगला की शिक्षा देने की वर्त्तमान पद्धति के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट तैयार करने के लिए मुझसे कहा था। मैंने, बिलकुल इच्छा न रहने पर भी, स्वीकार कर लिया था। किन्तु बाद को सोचने पर मुझे मालूम हुआ है कि अपने ही साथ काम करनेवाले कर्मचारियों और अन्यान्य लोगों के कार्यों की आलोचना से पूर्ण रिपोर्ट देना बहुत ही कठिन काम है। अतएव उसके लिए क्षमा-प्रार्थना करता हुआ रिपोर्ट लिखने की प्रतिज्ञा को मैं वापस लेना चाहता हूँ।

यहाँ पर आपकी अनुमति लेकर मैं सूचित करना चाहता हूँ कि मैं जनवरी से नौकरी छोड़ देने का पक्का इरादा कर चुका हूँ। मैं अपना यह अभिप्राय एक-आध "सरकारी" पत्र-द्वारा मिस्टर यंग को जता चुका हूँ। उस पत्र की एक नक़ल इस पत्र के साथ आपके पास भी भेजता हूँ।

ससम्मानश्रद्धावनत
(ह०) ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

इस पत्र के उत्तर में छोटे लाट ने जो पत्र लिखा था उसकी नक़ल यह है—

पञ्चम पत्र

३१ अगस्त

पण्डित ईश्वरचन्द्र शर्म्मा के पास।

प्रिय पण्डित महाशय,

मैं आपके इस इरादे को सुनकर सचमुच ही बहुत दुःखित हुआ। आगामी बृहस्पतिवार को आकर मुझसे मिलिएगा और बतलाइएगा कि आपके इस इरादे का मूल कारण क्या है।

आपका

फ्रेड० जे० हालिडे।

सन् १८५७ के शुरू में ही कलकत्ते के निकटवर्त्ती बारकपुर नगर में पहले सिपाही-विद्रोह के लक्षण देख पड़े। थोड़ी चेष्टा से ही वह विद्रोह शान्त कर दिया गया। गवर्नमेंट भी निश्चिन्त हो गई। किन्तु मार्च, अप्रेल, मई और जून में भारत के अनेक स्थानों में विद्रोह की आग फिर जल उठी। कलकत्ता शहर राजधानी था। इस कारण जहाँ जो कुछ उपद्रव हुआ उसका असर यहाँ के लोगों पर बहुत अधिक पड़ा। कलकत्ते के अँगरेज़ और बङ्गाली स्त्री-पुरुष बहुत डर गये। नगर-रक्षा के लिए दिन-रात गोरों का पहरा रहने लगा। शाम के पहले लोग अपने दरवाज़े बन्द कर लेते थे और सवेरे सूर्योदय के बहुत देर बाद खोलते थे। उस समय छात्र लोग स्कूलों में पढ़ने जाने का साहस नहीं करते थे। संस्कृत-कालेज में गोरों को जगह देने के लिए विद्यासागर ने कुछ दिनों के वास्ते कालेज का काम बन्द कर रक्खा। इतनी जल्दी कालेज बन्द करना पड़ा कि विद्यासागरजी डाइरेक्टर इत्यादि किसी को उसकी सूचना नहीं दे सके।

कालेज बन्द करके विद्यासागर ने डाइरेक्टर यंग के पास अन्यत्र कार्य्य शुरू करने के लिए रिपोर्ट की। साहब ने बिना अनुमति लिये कालेज बन्द करने के लिए असन्तोष प्रकट किया। विद्यासागर ने यंग साहब के पत्र के उत्तर में लिखा कि विद्रोह के समय सहसा सर्कारी काम आ पड़ने से मैंने कालेज का मकान ख़ाली कर दिया और मैंने अपनी सम्मति में यह अन्याय नहीं किया। इस बात से यंग साहब मन ही मन बहुत खीझे लेकिन ज़ाहरी तौर पर विद्यासागर के विरुद्ध कोई कारवाई नहीं कर सके। वे जानते थे कि इस बारे में कुछ करने से उन्हीं की हार होगी। किन्तु विद्यासागर के इस्तीफ़ा देने का यह भी एक प्रबल कारण हो गया।

इसके बाद छोटे लाट हालिडे साहब ने मीठी बातों से सन्तुष्ट करके और एक साल तक विद्यासागर को उनके पद पर बनाये रक्खा। सन् १८५७ की ३१ वीं अगस्त को पत्र लिखकर हालिडे साहब ने विद्यासागर को अपने पास बुलाया और समझाया। विद्यासागरजी भी उस बार मान गये। किन्तु जब यंग साहब उनसे हुकूमत का बर्त्ताव करके मनोमालिन्य का परिचय देते थे तभी वे नौकरी छोड़ने का विचार करते थे। अन्त को सन् १८५८ के अगस्त महीने में विद्यासागर ने नौकरी छोड़ ही दी। छोटे लाट के बहुत कहने पर भी नहीं माना। छोटे लाट ने उस समय यह भी कहा—"आपने इतना बड़ा समाज-संस्कार का काम उठाया है। ऐसी अवस्था में नौकरी छोड़ देने से अर्थाभाव के कारण आपको कष्ट होगा।" विद्यासागर ने इसके उत्तर में कहा—"मैं विपत्ति कष्ट को बिलकुल नहीं डरता।" विद्यासागर के निम्न-लिखित अन्तिम दो पत्रों को पढ़ने से जान पड़ता है कि उन्होंने

यह सोचकर एक महीने का विलम्ब करके इस्तीफ़ा दिया था कि वालिका-विद्यालय का काम भी समाप्त करके एकदम अलग हो जाना चाहिए; किन्तु नौकरी छोड़ने के बाद बहुत दिनों तक उन्हें वालिका-विद्यालय की स्थापना के मामले में क्लेश उठाना ही पड़ा।

षष्ठ पत्र

माननीय डब्लू० गार्डन यङ्ग,

शिक्षाविभाग के डाइरेकृर महाशय की सेवा में।

महाशय,

जो भारी कर्त्तव्य-भार इस समय मेरे ऊपर है उसके सम्पन्न करने में निरन्तर मानसिक परिश्रम करने के कारण मेरा स्वास्थ्य एकदम ख़राब हो गया है। इससे लाचार होकर मैं अपना इस्तीफ़ा माननीय लेफ्टिनेन्ट गवर्नर बहादुर की सेवा में भेजता हूँ।

मैं ख़ूब समझता हूँ कि इस दायित्वपूर्ण कार्य को अच्छी तरह करने के लिए जैसे मनोयोग की आवश्यकता है वह मुझसे इस समय नहीं हो सकता। मुझे इस समय विश्राम की ज़रूरत है। सर्वसाधारण के स्वार्थ और अपने शरीर के स्वास्थ्य तथा मानसिक शान्ति की रक्षा के लिए मुझे यही ठीक जान पड़ता है कि मैं यह नौकरी सदा के लिए छोड़ दूँ। उस सुख के पाने का इसके सिवा और कोई उपाय मुझे नहीं देख पड़ता।

मैंने निश्चय कर लिया है कि स्वास्थ्य ठीक होने पर नई पुस्तकों की रचना और सङ्कलन के द्वारा मैं बँगला-साहित्य की श्रीवृद्धि करता रहूँगा। यद्यपि स्वदेशीय जनसाधारण के सुशिक्षालाभ और उनमें ज्ञानप्रचार के साथ मेरा साक्षात्-सम्बन्ध उठा जाता है तथापि मेरे जीवन का शेष समय उसी पवित्र कार्य के करने में बीतेगा। मेरे इस पवित्र व्रत का उद्यापन अन्तिम दिन चिता की भस्म में होगा।

ऐसे भारी कार्य के लिए मेरे अग्रसर होने के कई कारण हैं। उनमें से भविष्यत् उन्नति की आशा का न रहना और शिक्षाप्रणाली की वर्त्तमान पद्धति के साथ मेरी व्यक्तिगत सहानुभूति का न होना ही प्रधान है। विभागीय कर्मचारियों के कर्त्तव्य कार्य तभी सुसम्पादित हो सकते हैं जब (१) भविष्यत् उन्नति की आशा हो और (२) ऊपर के कर्म्मचारियों के कार्यों के साथ उनकी व्यक्तिगत सहानुभूति हो।

ऊपर लिखे दोनों कारणों में से पहले के सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य यह है कि वैसा होने से, अवसर के समय, औरों की अपेक्षा थोड़ा ही कायिक और मानसिक परिश्रम करके मैं बहुत अधिक कार्य कर सकूँगा। किन्तु यह स्वीकार करना अनुचित है कि गुरुतर कार्य में अग्रसर होने के लिए यही यथेष्ट है। ख़ास कर अब तक मैं अपने परिवार और परिजन के खाने-पहनने का ठिकाना नहीं कर सका हूँ और और भी अधिक दिन तक ऐसे गुरुतर दायित्वपूर्ण कार्य में लगे रहने से मेरा शरीर बिलकुल इस काम के करने लायक़ न रहेगा। यही चिन्ता मुझे व्याकुल किये हुए है।

दूसरे कारण के सम्बन्ध में मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि गवर्नमेंट के ऊपर अपनी बुद्धि-विवेचना और मतामत लादने का कुछ भी अधिकार मुझे नहीं है, तथापि मैं जिनकी मातहती में काम करता हूँ उनके निकट मैं यह बात छिपा नहीं सकता कि जो काम मैं कर रहा हूँ उसमें अब मुझे उतना अनुराग नहीं है। इसी अनुराग के अभाव से मेरी कार्यकुशलता भी नहीं रह सकती। मैं इससे अधिक कुछ कहना नहीं चाहता।

नौकरी छोड़ने के समय मुझे सन्तोष यह है कि मैं अपनी छोटी सी शक्ति की सहायता से भरसक आग्रह के साथ अब तक काम

करता रहा, और मैं समझता हूँ कि गवर्नमेंट ने अविचलित भाव से मेरे ऊपर जो अनुग्रह प्रकट किया है, मेरी ज़िदों को माना है, और मेरे प्रस्तावों पर ध्यान दिया है उसे कृतज्ञता-पूर्ण हृदय से स्वीकार करना मेरे लिए वेअदवी की वात न होगी। ससम्मान निवेदन इति।

संस्कृत-कालेज, ५ वीं अगस्त, सन् १८५८।

(ह०) ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

सप्तम पत्र

प्रिय महाशय,

आप क्या ५ वीं अगस्त के पत्र में किसी जगह कुछ परिवर्त्तन करना चाहते हैं? यदि चाहते हों तो, जहाँ तक सम्भव हो, शीघ्र एक दिन यहाँ आवें और अपनी इच्छा के अनुसार चाहे कोई अंश वदल दें अथवा इस आवेदनपत्र के वदले और एक संशोधित नया पत्र लिखकर भेज दें। किन्तु जो करें सो शीघ्र ही। मैं शनिवार को यहाँ रहूँगा और फिर मङ्गलवार को आऊँगा। आपकी गत शनिवार की वातों से मैं समझा था कि आप छुट्टी की अर्ज़ी अफ़सरों के पास भेजना नहीं चाहते, इसी से मैंने उसे नहीं भेजा।

आपका

९ सितम्वर।　　　　　　　　　डब्लू० गार्डन यङ्ग।

इन पत्रों में सन्, तारीख़, महीने आदि का ठीक उल्लेख नहीं है। किसी-किसी पत्र में सन् तारीख़ आदि कुछ नहीं है; केवल वार का उल्लेख है। किसी में तारीख़ है तो साल का उल्लेख नहीं है। इसके सिवा एक विशेष वात यह है कि इन पत्रों के सिवा ज़वानी वातचीत भी वहुत कुछ हुई थी।

अष्टम पत्र

१५ वीं सितम्बर, सन् १८५८

माननीय एफ़० जे० हालिडे,

वङ्गाल के लेफ़्टिनेण्ट गवर्नर महाशय की सेवा में।

महाशय,

मैंने ख़ूब मन लगाकर, विचार कर, देखा। मेरे भेजे हुए इस्तीफ़े से जिन अंशों को आप आपत्ति-जनक समझते हैं उन्हें निकाल डालना मुझे किसी तरह युक्तियुक्त या न्यायसङ्गत नहीं जान पड़ता। उसका कारण यह है कि यद्यपि इस समय मेरा शरीर अस्वस्थ है तथापि मैं यह नहीं कह सकता कि शारीरिक अस्वस्थता ही मेरे इस्तीफ़ा दाख़िल करने का एकमात्र कारण है। यदि शारीरिक अस्वस्थता ही मुख्य होती तो मैं, स्वास्थ्य सुधारने के लिए, लम्बी छुट्टी ले लेता। मैं तो आपको कई वार जता चुका हूँ कि वर्त्तमान व्यवस्था की मातहती में काम करना मेरे लिए विलकुल ही अरुचिकर और क्लेश-दायक हो उठा है। ख़ासकर वहुत रुपया ख़र्च करके जिस प्रणाली से बँगला भाषा की शिक्षा दी जाती है उसके प्रति मुझे कुछ भी सहानुभूति नहीं है। आप अच्छी तरह जानते हैं कि मुझे सदा मेरे कर्त्तव्य के मार्ग में बाधा प्राप्त हुई है। इसके सिवा कर्म्मक्षेत्र में मेरे और अधिक अग्रसर होने की सम्भावना भी नहीं देख पड़ती। एक आध वार मेरे पीछे के लोग मुझसे आगे वढ़ गये हैं। आप अगर विचार कर देखेंगे तो स्वीकार करेंगे कि मेरे उत्साह-भङ्ग के यथेष्ट कारण मौजूद हैं। किन्तु तो भी शारीरिक अस्वस्थता के कारण इस समय अगर मैं काम छोड़ने के लिए लाचार न होता तो और भी कुछ दिन

इस्तीफ़ा न देता। वर्त्तमान शारीरिक अस्वस्थता ने मुझे बिल्कुल ही अपने भारी कर्त्तव्य कार्य के अनुपयुक्त बना डाला है। जब शारीरिक अस्वस्थता के अलावा अन्यान्य कारणों ने भी मेरे नौकरी छोड़ने के इरादे को दृढ़ बनाने में सहायता की है तब उन्हें स्वीकार न करना मेरी विवेचना-बुद्धि के विरुद्ध होगा। केवल अस्वस्थता का ही उल्लेख करके अन्य कारणों को इस्तीफ़े से उड़ा देना मुझसे न होगा। एक बात और है। अपना इस्तीफ़ा जब मैंने भेज दिया है तब अनेक लोग उसकी बातों को जान गये हैं। अब अगर मैं उसकी इबारत में कुछ अदलबदल करूँगा तो उसे भी लोग जान जायँगे। तब केवल बन्धुओं के निकट ही नहीं, बल्कि सर्वसाधारण के निकट भी मुझे निन्दा का पात्र बनना पड़ेगा। × × × मेरे इस्तीफ़े के इस अंश को न वापस लेने से आपको असुविधा होगी। मुझे इसका बड़ा ही खेद है। जब मैं सोचता हूँ कि बिना जाने मुझसे आपको ऐसा क्लेश और असुविधा हुई तब मुझे बेहद रञ्ज होता है। यदि किसी उपाय से मैं इस्तीफ़े के उस अंश को बदल सकता तो मेरे सुख की सीमा न रहती। किन्तु मैं जिस विषम अवस्था में पड़ा हूँ (और जिसे मैंने विस्तार के साथ इस पत्र में बतलाया है) उसमें वैसा परिवर्त्तन करना मेरे लिए एक प्रकार से असम्भव है। आशा है, आप स्वयं यह बात समझ रहे होंगे।

सम्पूर्णरूप से अपने इस मामले में आपको मैंने जो क्लेश दिया है उसके लिए क्षमा-प्रार्थना करके आपको अपनी भक्ति और सम्मान जताकर अब मैं विदा होता हूँ।

(ह०) ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

नवम पत्र

१५ वीं सितम्बर, १८५८

पण्डित ईश्वरचन्द्र शर्म्मा ।

प्रिय महाशय,

आपका आज की तारीख़ का पत्र मिला। अपने इस्तीफ़े के जिस अंश को रखने के प्रस्ताव के सम्बन्ध में आपने अपने पत्र में चर्चा की है उस अंश को न निकाल देने से मुझे किसी प्रकार की असुविधा होगी—यह आपका समझना भूल है। उस अंश के रहने न रहने से मेरा कुछ हानि-लाभ नहीं। मैंने आपसे जो इस्तीफ़े के उस अंश को निकाल देने के लिए कहा था उसका कारण यह है कि शायद शिक्षा-विभाग के कामों के सम्बन्ध में आपके यों असन्तोष प्रकट करने के गूढ़ कारण को साफ़-साफ़ लिखने के लिए ऊपर के अफ़सर आपसे अनुरोध करेंगे; और आप कह चुके हैं कि इन सब बातों के असली मतलब को सरकारी काग़ज़-पत्रों में ख़ुलासा करके लिखने के लिए आप किसी तरह राज़ी नहीं हैं। आप यह कहते हैं कि इस्तीफ़ा देने के अनेक कारणों में शारीरिक अस्वस्थता एक प्रधान कारण है। ऐसी अवस्था में जिन कारणों का स्पष्ट वर्णन करना आपके लिए सुविधा-जनक नहीं, उनका उल्लेख न करके केवल अस्वस्थता के कारण इस्तीफ़ा देने की बात लिखना ही अच्छा होता।

आपने मुझसे यह स्वीकार करने के लिए कहा है कि आपके उत्साह-भङ्ग या अनुयोग करने के यथेष्ट कारण मौजूद हैं। किन्तु मैं इस बात को स्वीकार करने में सम्पूर्ण असमर्थ हूँ। आपने जिन बातों को इस्तीफ़ा देने का यथेष्ट कारण बतलाया है वे ये हैं—(१) बँगला की शिक्षा देने की वर्त्तमान पद्धति आपको पसन्द नहीं।

उसमें केवल धन का अपव्यय होता है। (२) आपको आपके काम में हमेशा वाधा पहुँचाई गई। (३) आपके उन्नति के मार्ग में अग्रसर होने के उचित अवसर की उपेक्षा की गई।

इन सब वातों के उत्तर में केवल यही कहना यथेष्ट होगा कि अन्तिम वात के सम्वन्ध में आपके मत से मेरा मत विलकुल नहीं मिलता। दूसरी वात के सम्वन्ध में मेरा कहना यह है कि आपको किसी दिन किसी काम में मेरे द्वारा वाधा न पहुँची होगी। पहली वात के सम्वन्ध में इतना ही कहना यथेष्ट है कि यह केवल मत-भेद मात्र है। ख़ास कर आप जिस बँगला की शिक्षा देने के काम में नियुक्त हैं उसमें यह प्रश्न उतना प्रयोजनीय नहीं।

एकान्त विश्वासपात्र

फ्रेड्० जे० हालिडे।

दशम पत्र

सोमवार, २० वीं सितम्बर

माननीय डब्लु० गार्डन यंग, शिक्षा-विभाग
के डाइरेक्टर महाशय की सेवा में।

प्रिय महाशय,

वहुत सोचने के वाद मैं देखता हूँ कि अपने इस्तीफ़े में किसी तरह का परिवर्त्तन करना, न्याय की दृष्टि से, मेरे लिए असम्भव है। पत्र के उत्तर में विलम्ब होने के लिए क्षमा चाहता हूँ।

आपका

(ह०) ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

ग्यारहवाँ पत्र

माननीय एफ़० जे० हालिडे, बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर
महाशय की सेवा में ।

प्रिय महाशय,

मेरे इस्तीफ़े के उस अंश को न निकालने से आपको किसी प्रकार की असुविधा न होगी, इस बात को जानकर मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ। मुझे जहाँ तक याद है, उस दिन जो आपसे और मुझसे बातचीत हुई थी उसी से मुझे यह धारणा हो गई कि इस्तीफ़े के उस अंश को न निकाल देने से आपको असुविधा होने की सम्भावना है। अगर मेरी ऐसी धारणा न होती तो १३ वीं तारीख़ के पत्र में मैं उस विषय का उल्लेख न करता। अब मेरे मन से एक भारी बोझ सा उतर गया।

एक बारे में मैं कुछ बातें कहना चाहता हूँ। अन्तिम पत्र में मैंने वक्तव्य को विस्तार के साथ नहीं लिखा। यह मुझे खेद है। अपने उस पत्र में घड़ी भर के लिए भी मैंने ऐसा अभिप्राय नहीं व्यक्त किया कि आपके द्वारा मुझे कर्त्तव्य-सम्पादन में बाधा पहुँची। मुझे इस बात का अच्छी तरह अनुभव है कि आपसे मुझे सदा सब तरह उत्साह ही मिला है। मैंने अपनी समझ से अपने इस्तीफ़े के अन्त में अपने हृदय का ऐसा ही भाव प्रकाशित किया है। कामकाज में बाधा पहुँचने के उल्लेख का तात्पर्य यह है कि मैं कामकाज में बाधा पाकर निरन्तर आपको दिक़ करने के लिए विवश हुआ हूँ। आपने सर्वदा अनुग्रह करके ध्यान देकर मेरी सब बातें सुनी हैं और अक्सर मध्यस्थ होकर मेरी उन सब असुविधाओं को दूर कर दिया है। आपको इस प्रकार दिक़ करने में सदा मुझे असुविधा जान पड़ी है।

किन्तु ऐसे कारण आ पड़े हैं जिनसे लाचार होकर मुझे वैसा करना पड़ा है। मेरे निज के आचरण के सम्बन्ध में जब ऐसा कठिन प्रश्न उठा तब उसके सम्बन्ध में दो-चार बातें लिखे बिना काम न चलता। इसी से फिर पत्र लिखकर आपको कष्ट दिया है। निवेदन इति।

१८ वीं सितम्बर, सन् १८५८ ससम्मान श्रद्धावनत
(ह०) ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

बंगाल गवर्नमेंट के सेक्रेटरी के पास से शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर को सन् १८५८, २५ सितम्बर का नं० १५६६ का जो पत्र मिला था उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है।

बारहवाँ पत्र

ऊपर के अफ़सरों के आदेश से मैं आपके गत १८ वीं अगस्त के नं० २०९७ पत्र की (अन्यान्य पत्रों-सहित) प्राप्ति स्वीकार करता हूँ और उसके प्रत्युत्तर में सूचित करता हूँ कि लेफ्टिनेन्ट गवर्नर बहादुर आपके अनुरोध के ऊपर निर्भर करके संस्कृत-कालेज के अध्यक्ष और अतिरिक्त इन्सपेक्टर पण्डित ईश्वरचन्द्र शर्मा का इस्तीफ़ा मंजूर करते हैं। आक्षेप की बात यह है कि पण्डितजी ने ऐसे निर्मम भाव (रुखाई) से नौकरी छोड़ना उचित समझा है। वे अपने असन्तोष का उपयुक्त कारण दिखला नहीं सकते। तथापि आप उन्हें जताइएगा कि देश के लोगों को शिक्षा देने में उन्होंने इतने दिनों तक जो उत्साह के साथ काम किया है उसके लिए गवर्नमेन्ट उनकी कृतज्ञ है।

तेरहवाँ पत्र

माननीय डब्लू० गार्डन यङ्ग की सेवा में ।

प्रिय महाशय,

आपके २४६१ नं० के पत्र द्वारा मेरा इस्तीफ़ा मंजूर होने की सूचना मिली। × × × अनेक स्थानों के बालिका-विद्यालयों के पण्डितों और अन्यान्य लोगों का वेतन आदि देने में असमर्थ होने के कारण मुझे अत्यन्त असुविधा हो रही है। मुझे डर है कि मेरे नौकरी छोड़कर चले जाने पर यह अशान्ति और भी अधिक बढ़ जायगी। मेरी शारीरिक अवस्था काम करने के बिल्कुल अयोग्य होने पर भी, यदि आपको आपत्ति न हो तो, मैं इस अप्रीतिकर बालिका-विद्यालयों की स्थापना के मामले में गवर्नमेन्ट के अन्तिम निर्णय तक अपेक्षा करना चाहता हूँ।

५वीं अक्तूबर सन् १८५८। (ह०) ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

चौदहवाँ पत्र

बृहस्पतिवार, प्रातःकाल

प्रिय महाशय,

कालेज, नार्मल-स्कूल, पाठशाला आदि के सम्बन्ध में जो आज्ञा निकली है और जो बन्दोबस्त किया गया है उसमें अब किसी तरह का हेरफेर करना सम्भव नहीं। विशेष कर बालिका-विद्यालयों की स्थापना के सम्बन्ध में सुप्रीम गवर्नमेन्ट कब अपना आख़री फ़ैसला ज़ाहिर करेगी, इसका कुछ ठीक नहीं है। ऐसी अवस्था में नये बन्दोबस्त के अनुसार काम शुरू करने में विलम्ब करना मेरी समझ में न्यायसंगत न होगा। आपका ५ ता० का पत्र और भी दो-एक सप्ताह पहले मिलता तो आपके अनुरोध के अनुसार काम करना सम्भव होता। मेरी समझ से अब बहुत देर हो गई है। मैं विश्वास

करता हूँ कि यह बालिका-विद्यालयों के खर्च का मामला शीघ्र ही निपट जायगा। निपटारे के समय जिसमें न्यायपूर्ण विचार हो और आपकी इच्छा पूर्ण हो, इसके ऊपर गवर्नमेन्ट की विशेष दृष्टि रहेगी और जहाँ तक सम्भव होगा, इस बालिका-विद्यालय-स्थापना के अशान्तिकर प्रश्न से आपको छुटकारा दिया जायगा।

आपका

डब्लू० गार्डन यंग।

अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क और अनुरोध-उपरोध की उपेक्षा करके विद्यासागर ने सन् १८५८ के नवम्बर महीने में पूरी तौर से काम छोड़ दिया। अब वे स्वाधीन भाव से जीवन के मार्ग में चलने का सुयोग पाकर कृतार्थ हो गये। नौजवान अफ़सर यङ्ग साहब को उन्होंने ख़ुद काम-काज सिखाया था; छोटे लाट हालिडे साहब के स्नेह और मैत्री के अनुरोध से, सोलहों आने इच्छा न रहने पर भी, उन्होंने यङ्ग साहब के साथ मेल रखकर चलने की प्राणपण से चेष्टा की थी; किन्तु बड़े ही खेद की बात है कि डाइरेक्टर यङ्ग साहब के व्यवहार और बाधाओं से स्वाधीन-प्रकृति विद्यासागर की धैर्यच्युति हो गई। यङ्ग साहब के अन्तिम पत्र को आदि से अन्त तक मन लगाकर पढ़ने से स्पष्ट देख पड़ता है कि उसका अन्तिम अंश पहले अंश के बिल्कुल विपरीत है। एक छोटे-से पत्र में इस तरह का पूर्वापर-विरोध विद्यासागर के प्रति यङ्ग साहब की आन्तरिक अनबन का ही परिचय देता है। विद्यासागरजी कुछ दिन अपने पद पर रहकर झगड़े के प्रधान कारण—बालिकाविद्यालय-स्थापना के व्यय-सम्बन्धी प्रश्न—का अन्तिम निपटारा कर जाना चाहते थे। साहब ने कहा—नहीं, यह न होगा। ऐसी अवस्था में सरकारी (बारहवें) पत्र में प्रकाशित छोटे लाट हालिडे साहब का मन्तव्य कहाँ तक युक्ति-संगत हुआ है, इसका

पाठक-गण स्वयं विचार कर लेंगे। ऐसे अवसर पर विद्यासागर के लिए यही परम प्रशंसा की बात है कि बहुत अनुनय-विनय होने पर भी उन्होंने ५००) रु० मासिक की नौकरी की ओर फिरकर भी नहीं देखा। इस बड़ी आमदनी और भारी सम्मान की नौकरी को छोड़ देने पर विद्यासागर के मित्र एक स्कूल-इन्स्पेक्टर ने कहा था—"विद्यासागर, तुमने यह अच्छा काम नहीं किया।" इसके उत्तर में विद्यासागर ने अपनी स्वाभाविक स्वाधीनता-प्रियता के अनुसार कहा—"मैं रुपये की अपेक्षा, पदमर्यादा की अपेक्षा, इज़्ज़त को बहुमूल्य समझता हूँ।" विद्यासागर के नौकरी छोड़ देने पर उनके पिता, माता और परिवार के और सब लोग बहुत ही चिन्तित हो पड़े थे। किन्तु विद्यासागर के परवर्ती जीवन की घटनाओं ने उनकी कल्पनाओं के विपरीत फल दिखाकर विद्यासागर के जीवन को सौगुना उज्ज्वल बना दिया। उनके अद्भुत परोपकार-व्रत के द्वारा देश का कल्याण करनेवाली सुलभ शिक्षा का द्वार खुल गया है। उन्होंने बड़ी आशा करके अपने इस्तीफ़े में लिखा था—

"मेरे जीवन का अन्तिम समय उसी पवित्र कार्य (स्वदेश के नर-नारियों की ज्ञानोन्नति और साधारण शिक्षा-प्रचार) में लगेगा और उस व्रत का उद्यापन मेरी चिता के भस्म से होगा।"

उनकी यह आकांक्षा पूर्ण रूप से सफल हुई। वे अपने राजसूय यज्ञ में विजयी पाण्डवों की तरह सर्वदा भगवान् की शुभ दृष्टि पाकर कृतार्थ हुए। वे सब बाधाओं को नाँघकर, सब शत्रुओं या प्रतिद्वन्द्वियों की उपेक्षा करके, जीवन के मार्ग में अग्रसर हुए और बहुत तेज़ बिजली की रोशनी के समान सबको मुग्ध बना देनेवाली प्रतिभा के पराक्रम से मानवमण्डली को मोहित करके अपने कर्त्तव्य-पालन में अग्रसर हुए। सब कामों में जय पाने के कारण उन्हें नररत्न या

पुरुष-शिरोमणि कहना ही ठीक होगा। समय बीतने के साथ ही साथ उनके चरित्र की माधुरी और भी अपूर्व शोभा धारण करती जायगी। युगयुगान्तर तक सब मनुष्य उस गुणराशि के आगे सिर झुकावेंगे।

दूसरे की नौकरी करने में मनुष्य की शक्ति-सामर्थ्य अच्छी तरह विकसित नहीं होती। हमारी इस बात का अनुमोदन करने वाले बहुत-से लोग मिलेंगे। एक बार हमारे एक श्रद्धेय और माननीय महोदय के नौकरी छोड़कर देश-सेवा के व्रत में आत्मोत्सर्ग करने पर उनके परिवार के लोग विद्यासागर के पास आकर अनेक प्रकार से अपना दुखड़ा रोने लगे। विद्यासागरजी ने मुसका-कर कहा—"उस पागल के नौकरी छोड़ देने का दुखड़ा रोने के लिए तुमको और कहीं जगह नहीं मिली? एक पागल की बात दूसरे पागल से कहने आये हो! नौकरी छोड़ दी तो अच्छा ही किया। दूसरों के पैर चाटते-चाटते यह जाति रसातल को चली गई है। लोग जितना ही ताबेदारी करना नापसन्द करेंगे उतना ही देश का कल्याण होगा।" विद्यासागर ऐसे दृढ़-प्रतिज्ञ और स्वाधीन-प्रकृति पुरुष के लिए ऐसा उत्तर देना ही स्वाभाविक था।

लोहे के पिंजड़े में बन्द होने पर महाबली सिंह की जो दशा होती है वही दशा गुणी पुरुष की, परपदसेवी होने पर, होती है। आकाशचारी पक्षी को पिंजड़े में बन्द कर दीजिए तो उसका सारा सुख और शान्ति जाती रहेगी। वह तुम्हारी सिखाई बातें ही कहेगा, अपनी बोली भूल जायगा। उसका स्वभाव, उसका मुक्तभाव, उसका आत्मतृप्तभाव जैसे नहीं रहता वैसेही दासत्व-शृङ्खला में बँधा हुआ पुरुष भी दूसरे की ही बोली बोलता है, दूसरे की ही बातें दुहराता है। वह क्रमशः पराये दिये सुख का अनुभव करना सीख जाता है। विद्यासागरजी इस प्रकृति के

आदमी न थे। ऐसी नौकरी छोड़ देने से उन ऐसे खरचीले और मर्यादाशाली दूसरे आदमी को एक दिन गुज़र करना भी कठिन हो जाता; किन्तु उन्होंने सहसा कुछ भी नहीं किया। उनके अनेक अँगरेज़ मित्र उनके लिए चिन्तित थे। तत्कालीन सुप्रीमकोर्ट के प्रधान जज माननीय सर जेम्स कालविन ने विद्यासागर से आईन की परीक्षा देने के लिए बहुत कहा। आईन की परीक्षा देकर सुप्रीमकोर्ट में वकालत करने की सलाह पसन्द न करके पहले तो विद्यासागर ने कहा कि—"अब परीक्षा देना केवल विडम्बना-मात्र है। विशेष कर वकालत के पेशे में मुझे वैसा अनुराग नहीं है।" किन्तु साहब के फिर भी अनुरोध करने पर विद्यासागरजी राज़ी हो गये। वे इस कार्य का फलाफल देखने के लिए कई दिन तक अपने मित्र बाबू द्वारकानाथ मित्र वकील के घर जाते-आते रहे। वहाँ उन्होंने इस पेशे के आदमियों का आचार-व्यवहार ऐसा देखा कि जी लगने के बदले और भी उचट गया। विद्यासागर ने कालविन साहब के घर जाकर अपनी अनिच्छा का कारण बता दिया और वकालत का इरादा छोड़ दिया। उस समय जीविका का कोई उपाय न सूझने पर कुछ समय के लिए विद्यासागर को भी विशेष चिन्तित होना पड़ा था। इस समय सर सिसिल बीडन बङ्गाल के लाट थे। ये भी हालिडे साहब की तरह विद्यासागर को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। बीडन साहब ने फिर विद्यासागर को सरकारी नौकरी दिलाने की कोशिश की थी। किन्तु अनेक कारणों से, ख़ास कर विद्यासागर का आग्रह न होने से, बात जहाँ की तहाँ रह गई। आगे चलकर, प्रयोजन के अनुसार, इन बातों का उल्लेख किया जायगा।

बँगला-साहित्य में विद्यासागर

जातीय जीवन के प्रधान लक्षण दो हैं—धर्म्म और भाषा। जिस जाति का एक धर्म्म नहीं है, जिस जाति का समाज-शरीर धर्म्म की आलोचना में सिर से पैर तक उच्छ्वसित नहीं होता, जिस जाति के धर्म्म-सम्बन्धी आन्दोलन की लहरों से समाज-शरीर में सजीवता की झलक नहीं पाई जाती वह जाति मुर्दा है। उस जाति से जातीय जीवन के सङ्गठन में सहायता मिल ही नहीं सकती। वैसे ही माता की गोद में दूध पीते-पीते मनुष्य सबसे पहले जिस भाषा में माता को सम्बोधन करना या पुकारना सीखता है, जिस भाषा के सरल और मधुर शब्दों का उच्चारण करते-करते जिह्वा की जड़ता दूर हो जाती है, तथा जिस भाषा में अपने क्षुद्र जीवन के शोक और दुःख को प्रकाशित करता हुआ बच्चा रोता है वही उसकी मातृभाषा है; जिस भाषा में छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ आनन्द-मग्न होकर अपने जय-पराजय का परिचय देते हैं, जिस भाषा को मनुष्य बचपन के क्रीड़ा-कौतुक और आमोद-प्रमोद के साथ-साथ सीखता है, जिस भाषा में आदमी अपने आनन्द और कष्ट की कहानी अपने बन्धु-बान्धवों को सुनाता है, वही उसकी मातृभाषा है। माता और मातृभाषा एक ही चीज़ है। जो जाति अभाग्यवश मातृपूजा करना नहीं सीखती वह मातृभाषा का आदर करना भी नहीं जानती। जिस जाति की मातृभाषा एक नहीं है, जिस जाति के लोग एक

शब्द और एक स्वर से माता को पुकार नहीं सकते उनके जातीय जीवन की नाट्यशाला में उपस्थित होने में अभी बहुत विलम्ब है।

हर एक बालक विधाता के दिये हुए राजचिह्न को धारण कर पृथ्वी पर आता है। मामूली घर में, मामूली लोगों में उत्पन्न होने पर भी तत्त्वदर्शी लोग लक्षणों को देखकर उसके भावी कार्यों के सम्बन्ध में भविष्यद्वाणी कर देते हैं। किन्तु सब तरह के सुलक्षण रहने पर भी अक्सर किसी-किसी के जीवन में, ग्रहदशा के फेर से, शीघ्र शुभ दिन नहीं उपस्थित होता। यही दशा बँगला भाषा की भी हुई। प्रबल देवभाषा संस्कृत के पेड़ के नीचे ही इसे अपना बाल्यकाल बिताना पड़ा। बङ्गाली-जीवन की प्रथमावस्था में, बङ्गाल के सामाजिक इतिहास के शैशवकाल में, स्मृति-शास्त्र-संस्कारक पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य और गीतगोविन्द-रचयिता जयदेव गोस्वामी आदि प्रातःस्मरणीय महात्मा जन्म लेकर मातृभूमि का मुख उज्ज्वल कर गये हैं। किन्तु उन सबने संस्कृत की आलोचना में ही जन्म बिता दिया; उनके ग्रन्थ भी संस्कृत में ही हैं। उन्होंने अपना स्नेह, ममता और उद्यम सब संस्कृत की सेवा में लगा दिया। उन्होंने मातृभाषा बँगला की पुष्टि कुछ भी नहीं की। बँगला भाषा का साहित्य प्राचीन युग के नीतिकुशल निपुण लेखकों की सेवा से वञ्चित है। बँगला भाषा की उन्नति के लिए बङ्गाल के सर्वसाधारण लोगों के पढ़ने लायक ग्रन्थों की रचना करने में पहले-पहल जो लोग अग्रसर हुए हैं उनमें सबसे आगे विद्यापति, चण्डीदास, उनके बाद चैतन्यभागवत के लेखक वृन्दावनदास, फिर चैतन्यचरितामृत के लेखक कृष्णदास कविराज और चण्डीकाव्य के लेखक मुकुन्दराम चक्रवर्ती आदि के नाम लिये जाते हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि वैष्णवधर्म्म के अभ्युदय के बहुत पहले, बँगला भाषा,

भारतवर्ष में आर्यजाति के प्रथम अभ्युदय-काल की भाषा की तरह मौखिक ही थी। ग्रन्थरचना करके मनुष्यों की उक्तियों को स्थायी बनाने की कुछ भी चेष्टा नहीं की जाती थी। अतएव विद्यापति और चण्डीदास बँगला-ग्रन्थकारों के पथप्रदर्शक और गुरु कहे जाते हैं। किन्तु इस विषय में इस समय मतभेद हो गया है कि विद्यापति बङ्गाली कवि थे। डाकृर ग्रियर्सन ने "विहार-डायलेक्टर" नाम की पुस्तक रचकर यह प्रमाणित कर दिया है कि विद्यापति मैथिल कवि थे। उनकी सब कविताएँ मैथिली भाषा में हैं। उनकी मृत्यु के बाद बङ्गालियों ने उन कविताओं को बँगला के साँचे में ढाल लिया है। यह बात असम्भव नहीं है और अगर यह सच हो तो विद्यापति को हम बँगला-ग्रन्थकारों का पथप्रदर्शक या आदि-गुरु नहीं मान सकते। किन्तु ँगला-साहित्य के बाल्यबन्धु और यौवन-सखा विज्ञवर राजनारायण वसु ने अपनी बँगला-भाषा-सम्बन्धी वक्तृता के शुरू में ही लिखा है—"ईसा की सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री हियनसाँग भारतवर्ष में आया था और वह बङ्गाल, विहार और उत्तर-पश्चिम अञ्चल के कुछ अंश में एक ही भाषा का व्यवहार देख गया था। केवल आसाम और उड़ीसा की भाषा कुछ भिन्न थी। यह मागधी-प्राकृत भाषा से उत्पन्न एक तरह की पुरानी हिन्दी-भाषा थी। हिन्दी और बँगला दोनों ही इस एक ही भाषा से उत्पन्न हुई हैं। इसी कारण यहाँ के प्राचीन कवियों की भाषा में बहुत अधिक हिन्दी मिली हुई है। विद्यापति मैथिली-हिन्दी के कवि हैं। उनकी भाषा न तो प्राकृत-हिन्दी है और न बँगला। परवर्ती वैष्णव कवियों ने विद्यापति की कविता को बँगला-लिबास पहनाया है।" डाकृर ग्रियर्सन और राजनारायण बाबू की उक्ति का फल एक ही है।

भेद यही है कि ग्रियर्सन साहब विद्यापति को बङ्गाली कवि नहीं कहते ; श्रौर राजनारायण बाबू कहते हैं कि विद्यापति के होने के पहले बङ्गालियों की कोई जुदी भाषा नहीं थी, मैथिली ही उस समय बङ्गालियों की भाषा थी। उक्तियाँ भिन्न होने पर भी मतलब एक ही है। ऐसे मतविरोध की अवस्था में हमारी राय यह है कि बङ्गाली लोग विद्यापति को उनके प्राप्य सम्मान से एकदम वञ्चित न कर दें। विद्यापति के समय में बँगला-भाषा की स्वतन्त्रता की सूचना हुई थी। वैष्णव कवियों की रचना वर्त्तमान बँगला-भाषा से भिन्न श्रौर बहुत कुछ हिन्दी-मिली होने पर भी वह बँगला के सिवा श्रौर कुछ नहीं कही जा सकती। विद्यापति के मैथिल कवि होने की बात को ग्रियर्सन साहब श्रौर राजनारायण बाबू दोनों ने स्वीकार किया है। वे बिहारी हैं, मैथिल-कवि हैं, बँगला में उनकी कोई रचना होने का प्रमाण नहीं पाया जाता। उनका जो कुछ है वह मैथिली भाषा की कविता का बँगला-संस्करणमात्र है। इस दशा में यदि उन्हें बङ्गाली कवियों का अगुआ श्रौर बँगला-ग्रन्थकारों का पथप्रदर्शक न मानें तो कोई दोष की बात न होगी। हमारी समझ में तो चण्डीदास श्रौर गोविन्ददास ही बँगला के आदि-ग्रन्थकार हैं। अस्तु। विद्यापति, चण्डीदास श्रौर गोविन्ददास, ये श्रीगौराङ्ग-देव के आविर्भाव के कुछ पहले हुए। उस समय जो इन्होंने लिखा वह सब कृष्णलीला से सम्बन्ध रखता है।

४०० बरस पहले बङ्गाल की सामाजिक दशा बहुत ही शोचनीय हो रही थी। सब आदमी निर्जीव, जड़प्राय हो रहे थे। खाने-पीने-सोने में ही उनका समय बीतता था। वे अपने अमूल्य जीवन को इसी तरह बिता देते थे। उस समय बङ्गाल की सामाजिक दशा में परिवर्त्तन न होता तो समाज-शरीर का प्राणवायु थोड़े ही समय में

निकल जाता। विधाता अपने महान् कार्यों का सूक्ष्म सूत्र जिस रास्ते से चलाते हैं वह मनुष्य की बुद्धि-विवेचना से परे होता है। १४०७ शकाब्द (सन् १४८५ ई०) में बङ्गाल की भूतपूर्व राजधानी और धर्म्मक्षेत्र नवद्वीप में नवद्वीपचन्द्र का जन्म हुआ। उनकी विद्या-बुद्धि का प्रभाव बहुत फैल गया! उनका अलौकिक सुन्दर शरीर और गोरा रङ्ग दर्शनीय था। ऐसे सुरूप और गुणी पुरुष ने मृतकल्प बङ्गालियों के जीवन में नवीन शक्ति का सञ्चार करने में अपनी जान लड़ा दी। जननी शची देवी के आँसुओं की परवा न करके, प्यारी स्त्री विष्णुप्रिया के सुदृढ़ प्रेमबन्धन को काटकर, उन्होंने लोकसेवा में अपना जीवन लगा दिया; धर्म्म की प्रबल तरङ्गें उठाकर वे उसमें डूब गये। उन्होंने अपने साथ ही देश के अनेक लोगों को भी धर्म्मभाव के सागर में मग्न कर दिया। इस धर्म्म के आन्दोलन में दो तरह के लेखक उत्पन्न हुए। कुछ लोग वैष्णव-धर्म्म के मधुर भाव के प्रचार में, काव्य-रचना करने में, कमर कसकर खड़े हो गये। वैष्णव-साहित्य इसी आन्दोलन का एक अंश है। वैष्णव-धर्म के बहुल प्रचार से जब चारों ओर उलट-पुलट हो रहा था, जब जाति और धर्म का भेद उड़ गया और सभी उच्च धर्म के अधिकारी बतलाये जाने लगे, जब वैष्णव लोग ऐसे उच्च भाव का प्रचार करने लगे कि "चाण्डालोऽपि द्विजश्रेष्ठः हरिभक्तिपरायणः।" "जाति पाँति पूछै ना कोय। हरि का भजै सो हरि का होय।" तब कुछ शाक्त लोग पैदा हुए और वे अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए बहुत-से ग्रन्थ रचने लगे। इन शाक्तों और वैष्णवों की प्रतिद्वन्द्विता से बँगला का साहित्य सङ्गठित होने लगा। इस समय की बङ्गाली भाषा दोनों ओर से परिपुष्ट होने लगी। एक ओर चैतन्य-भागवत, चैतन्यमङ्गल, चैतन्यचरितामृत, भक्तमाल आदि छोटे और बड़े वैष्णवों के ग्रन्थ लिखे

जाने लगे तो दूसरी ओर कविकङ्कण मुकुन्दराम चक्रवर्ती आदि लेखक चण्डीकाव्य ऐसे ग्रन्थों से बँगला-भाषा की श्रीवृद्धि करने में अग्रसर हुए। कविकङ्कण के बारे में बाबू राजनारायण वसु ऐसे प्रवीण साहित्यानुरागी पुरुष की राय है कि वे राजा कृष्णचन्द्र राय के सुसभ्य सभासद भारतचन्द्र और बङ्ग के अमर कवि माइकेल मधुसूदन दत्त से भी कपोलकल्पित रचना के बारे में बढ़े-चढ़े हैं।

मुकुन्दराम की कोमल कविताएँ ऐसी सरल हैं कि समाज के सब लोग उन्हें सहज में समझ लेते हैं। यही उनका प्रधान गुण है। उनकी रचना-परिपाटी और कविता मधुर भी है। इसी से मुकुन्दराम की कविता को "सोने में सोहागे" का सौभाग्य प्राप्त है। उन्होंने ख़ुद अपनी कविता को "स्वर्णमण्डित गज-दन्त" कहा है। एक समालोचक की राय है कि उनकी यह अपनी उक्ति होने पर भी बहुत ही समीचीन है।

इसके उपरान्त बङ्गाल के अमर कवि कृत्तिवास और काशीराम ने रामायण और महाभारत बँगला में लिखकर हमको अपना चिर-ऋणी बनाया। इनके ऋण को बङ्गाली लोग किसी तरह चुका नहीं सकते। बङ्गाल में घर-घर मर्द-औरत लड़के-लड़की सब रामायण और महाभारत को पढ़ते रहते हैं। इसी से इन दोनों महात्माओं को भक्ति-पूर्वक याद करना हमारा परम कर्त्तव्य है। हमारे देश के छोटे लोग अन्यान्य देशों के छोटे लोगों से नम्र और धर्मात्मा हैं। इसका प्रधान कारण रामायण और महाभारत का उनमें प्रचार होना ही है। पाश्चात्य जातियों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल से जो उद्देश्य नहीं सिद्ध हुआ और भारत में वेद, उपनिषद्, पुराण आदि से जो काम सुसम्पन्न नहीं हो सका वही काम इन दो महाकाव्यों ने बङ्गाल में कर दिखाया। समाज-शरीर के भीतर, बहुत सी विभिन्नताएँ और विचित्रताएँ रहने

पर भी जो जातीयता की शेष रेखा अभी तक देख पड़ती है उसकी चुपचाप रक्षा करनेवाले यही दो महाकाव्य—रामायण और महाभारत—हैं। बङ्गाल में कृत्तिवास और काशीराम और भारत भर में वाल्मीकि और व्यास को यह श्रेय प्राप्त है। इसके बाद वैष्णवों और शैवों के बहुत-से ग्रन्थ बने, जिनका केवल उल्लेख भी यहाँ पर असम्भव है। इनके बाद बँगला भाषा की सेवा करनेवालों में रामप्रसाद और राय गुणाकर का नाम विशेष रूप से उल्लेख के योग्य है। रामप्रसाद श्यामा के उपासक थे और उन्हीं के सम्बन्ध के कुछ गीतों की रचना ही उनकी इस कीर्त्ति का कारण है। उनके सात्त्विकभावपूर्ण सरल गीतों को मीठे "प्रसादी" स्वर में बङ्गाल के बच्चे-बूढ़े सब गाते हैं। उन गीतों से सात्त्विक प्रसन्नता और तृप्ति प्राप्त होती है। कविरञ्जन ने भी "विद्या-सुन्दर" लिखा है किन्तु राय गुणाकर के "अन्नदामङ्गल" के अन्तर्गत "विद्यासुन्दर" को ही विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। राय गुणाकर भ्रमर की तरह अनेक पुष्पों से मधु-सञ्चय करके जो मधुचक्र (मक्खियों का छत्ता) बना गये हैं वह बङ्गालियों के लिए सदा मधुमय बना रहेगा।

जिस समय का यह ज़िक्र है उस समय ग्रन्थकार ग्रन्थ बनाकर बड़े कष्ट से जुगोकर उसकी कापी रखते थे। आजकल लोग बहुमूल्य वस्तुओं को जिस तरह हिफ़ाज़त से रखते हैं उससे भी अधिक सावधानी के साथ उस समय हस्तलिखित ग्रन्थों की रक्षा की जाती थी। जिसको ज़रूरत या शौक़ होता था वह ग्रन्थकार की ख़ुशामद करके बहुत क्लेश उठाकर बहुत दिनों में उसकी नक़ल कर लेता था। इस प्रकार उस समय ग्रन्थ का प्रचार होना बहुत ही कठिन था। ऐसी दशा में यह मानना ही पड़ेगा कि उस समय के ग्रन्थकार लोग धन की आशा से ग्रन्थ नहीं लिखते थे। वे अपनी प्रसन्नता के लिए,

अपनी रुचि और प्रकृति के अनुरूप मार्ग में, एक-एक पग अग्रसर होते थे। जिनमें ग्रन्थरचना की प्रवृत्ति प्रवल होती थी वे ही अपनी-अपनी मित्रमण्डली की प्रसन्नता या सन्तोप के लिए ग्रन्थ लिखते या वनाते थे। किन्तु उससे लोकशिक्षा को विशेष सहायता नहीं मिलती थी। उस समय, जव कि छापे का विलकुल प्रचार न था, ग्रन्थकारों और साहित्य का कल्याण चाहनेवालों की इच्छा पूर्ण होने का एक उपाय था। ग्रन्थकार लोग कृष्णचरित, रामायण, महाभारत आदि के आधार पर पुस्तकें वनाते थे। कुछ लोग ऐसे भी थे जो वाजों के साथ इन सव ग्रन्थों के विपय गा-गाकर लोगों को सुनाते फिरते थे। इसके सिवा कथा वाँचनेवालों और नाचने-गानेवाली मण्डलियों ने भी बँगला-साहित्य के प्रचार में यथेष्ट सहायता पहुँचाई है।

अव हम संक्षेप में इसी वात का उल्लेख करेंगे कि किस शुभ-मुहूर्त में किस महात्मा के द्वारा किस उपाय से यह लोक-शिक्षा का मार्ग साफ़ हुआ है, किन-किन कार्यों से वर्त्तमान बँगला भापा की सृष्टि हुई है, और सहसा किस दैवी-शक्ति को प्राप्त करके बँगला का साहित्य अपनी किशोर अवस्था वीतने के पहले ही इतनी शक्ति-सामर्थ्य, इतनी विचित्रता और इतनी विस्तृति के साथ प्रवल वेग से उन्नति के मार्ग में अग्रसर हो रहा है। वङ्गाल में अँगरेज़ी राज्य का सूत्रपात हुए कुछ अधिक डेढ़ सौ वर्ष वीते हैं। किसी नई जगह पर पदार्पण करते ही करते उस स्थान के अभावों को मिटाने और उस जगह को सव प्रकार मनुष्य के रहने लायक़ वनाने के लिए उपाय करना अँगरेज़-जाति का स्वभाव-सिद्ध गुण है। खोजने से हर-एक जाति में दोप दिखाई देंगे। अँगरेज़ों में भी दोप हो सकते हैं। किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि जातीय-उन्नति के लिए जिन गुणों की ज़रूरत हुआ करती है वे, अधिक मात्रा में, उनमें मौजूद हैं। राज-

दण्ड से दण्डित अपराधी अँगरेज़ों को देश-निकाला होता था तो वे आस्ट्रेलिया को भेज दिये जाते थे। रूस में ऐसे अपराधी साइ-बेरिया को भेज दिये जाते हैं और भारत में ऐसे अपराधी अण्डमन टापू में पहुँचा दिये जाते हैं। किन्तु आस्ट्रेलिया में निर्वासित अँगरेज़ों और उनके वंशधरों ने सभ्य-जगत् की सुख-वृद्धि के काम में बड़ी सहायता पहुँचाई है। यह बात निर्वासित रूसियों और भारतवासियों में नहीं पाई जाती। जिस जाति के अपराधी भी ऐसी विचित्र उन्नति कर सकते हैं वह जाति, हज़ार दोष होने पर भी, आदरणीय है। ऐसी पूजनीय अँगरेज़-जाति की इस विचित्र जातीय उन्नति की एक प्रबल तरङ्ग अटलांटिक और भारत-महासागर को नांघकर, बढ़िया के पानी की तरह, अनेक मार्गों से भारत में भी पहुँच गई। उसी तरङ्ग के घात-प्रतिघात से जो श्वेत फेन-पुञ्ज उठा था उसी ने सारे भारत को उज्ज्वल बना रक्खा है। इस अँगरेज़ों के आगमन से जिन मङ्गलकार्यों की शुभ सूचना हुई उनमें एक प्रधान कार्य छापेख़ानों की स्थापना है। सन् १७७८ में चार्ल्स विल्किन्स नाम के एक अँगरेज़ ने सबसे पहले बहुत क्लेश उठाकर छापे के लायक़ बँगला-अक्षर बनाये। इन अक्षरों की सहायता से हालहेड नामक एक अँगरेज़ का बनाया हुआ सबसे पहला बँगला का व्याकरण छापा गया। इन दोनों चिरकृतज्ञता-भाजन विदेशी महात्माओं के निकट बँगला भाषा और उसके हितैषी लोग सदा ऋणी बने रहेंगे। विल्किन्स और हालहेड वर्त्तमान शीघ्रगामी बँगला-साहित्य के अतिवृद्ध प्रपितामह होने के कारण बङ्गालियों के पूजनीय हैं। जो लोग किसी कार्य के सुफल का ही सम्भोग करते हैं वे उस कार्य की सूचना करनेवालों के अध्यवसाय, आत्म-त्याग और कष्टसहि-ष्णुता की रत्ती भर भी धारणा अपने मन में नहीं कर सकते।

ये दोनों महात्मा अँगरेज़ थे, इसी से शायद ऐसे असाध्यसाधन के लिए साहस करके छः साल तक इस देश की अनेक भाषाएँ सीख कर, उन भाषाओं के अक्षर एकत्र कर, उन्हें परस्पर मिलाकर, इन्होंने बँगला-टाइप बनाया। इसी से कहते हैं कि दृढ़-प्रतिज्ञ अँगरेज़-जाति धन्य है। उक्त दोनों सज्जनों ने निःस्वार्थभाव से नगण्य उपेक्षित बँगलासाहित्य के उद्धार का प्रयत्न किया; इसी से आज हम अनेक दैनिकों, साप्ताहिकों और मासिकपत्रों तथा ग्रन्थों का ऐसा प्रचार देख पाते हैं। सन् १७९३ में एच० पी० फ़ास्टर नामक एक अँगरेज़ ने लार्ड कार्नवालिस के संगृहीत और अनुमोदित आईनों का बँगला-भाषा में अनुवाद किया। इन्हीं सज्जन ने बँगला का सबसे पहला 'कोष' तैयार किया। आईनों का वङ्गानुवाद ही बँगला में गद्यग्रन्थ-रचना की सूचना है। यह पुस्तक श्रीरामपुर में, सन् १८२६ में, दूसरी बार छपी थी।

श्रीरामपुर के पादरियों का मुख्य उद्देश्य ईसाई-धर्म का प्रचार होने पर भी उसी कार्य के सुभीते के लिए उन्होंने पहले-पहल बँगला का छापाख़ाना खोला था। ये ही लोग बँगला-टाइप के अधिक प्रचार के उत्साहदाता और बँगला भाषा के संवाद-पत्रों और ग्रन्थों की रचना के पथप्रदर्शक हैं। और, इसी से हम इनके चिर-कृतज्ञ बने रहेंगे। जिस तरह चैतन्यसम्प्रदाय के वैष्णवों के द्वारा बँगला में पद्यरचना की उन्नति शुरू हुई थी उसी तरह ईसाई पादरियों के द्वारा बँगला गद्य का प्रचार शुरू हुआ। कृत्तिवास की रामायण और काशीदास का महाभारत जो सुलभ मूल्य में बिककर वङ्गाल में घर-घर फैल गया, वह भी इन्हीं पादरियों के उद्योग और अध्यवसाय का फल है। जिस समय की बात लिखी जा रही है उस समय पूर्वोक्त हालहेड, विल्किन्स, फ़ास्टर, केरी, मार्श-

मेन, कोलब्रुक और सर विलियम जोन्स आदि अनेक अँगरेज़ सज्जन संस्कृत, बँगला, हिन्दी, उड़िया आदि इस देश की भाषाओं के अनुशीलन और उन्नति की विशेष चेष्टा में लगे हुए थे।

ईसाई मिशनरियों का काम शुरू होने के बाद और महात्मा राममोहन राय के बँगला-साहित्य की सेवा में नियुक्त होने के पहले, सन् १८०० में, अँगरेज़ सिविलियनों को देशी भाषाओं की शिक्षा देने के लिए कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। इस कालेज में साहबों को बँगला की शिक्षा देने के लिए कई एक बँगला के गद्य-ग्रन्थ बनाये गये। इन ग्रन्थों की बँगला बड़ी विचित्र थी। इस समय के बङ्गाली पाठक उस भाषा को पढ़कर अपनी हँसी न रोक सकेंगे। राजीवलोचन का लिखा "कृष्णचन्द्रचरित" पहले-पहल सन् १८०५ में छपकर प्रकाशित हुआ था। रामराम वसु का बनाया "प्रतापादित्यचरित" पहले-पहल सन् १८०६ में छपकर प्रकाशित हुआ था। ऐसे ही उड़ीसे के रहनेवाले मृत्युञ्जय विद्यालङ्कार की बनाई "राजावली" सन् १८०८ में और "प्रबोधचन्द्रिका" सन् १८१३ में पहले-पहल छपकर प्रकाशित हुई थी। बहुत चेष्टा करने पर भी इनके बाद बँगला के गद्य-ग्रन्थ हमको नहीं मिले। ये सब ग्रन्थ इस समय बहुत ही कम पाये जाते हैं। शायद कुछ वर्षों के बाद बङ्गाल में कहीं ये ग्रन्थ नहीं मिलेंगे। किन्तु विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि लन्दन में शाही लाइब्रेरी में ये पुस्तकें बड़े यत्न से सुरक्षित हैं। यही कारण है कि वर्त्तमान समय में अँगरेज़-जाति ज्ञान और गुण में हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ जाति समझी जाती है। हम अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को यत्न से रखना नहीं जानते, और वे लोग अपनी चीज़ों के अलावा औरों की भी चीज़ों को जमा करके अपने यहाँ रखते हैं। कृष्णचन्द्रचरित सन् १८११ में लन्दन में छपा और प्रका-

शित हुआ था। आश्चर्य्य तो यह है कि उस समय भी इँग्लेंड में बँगला पुस्तक छापनेवाले और उसके प्रूफ़ देखनेवाले लोग मौजूद थे।

अँगरेज़ लोग ऐसे उद्यमशील और कार्यतत्पर होने के कारण ही देश-देश में विचरते हैं और सर्वत्र सिद्धि प्राप्त करके अपनी जाति का गौरव बढ़ाते हैं। और हम, इसी गुण के न होने से, अपने ही घर में मुर्दों की तरह पड़े हुए हैं।

बहुत लोगों की धारणा यह है कि ब्राह्मसमाज के संस्थापक महात्मा राममोहन राय ही बँगला-गद्य-रचना के पथ-प्रदर्शक हैं। लोगों की ऐसी धारणा होने के यथेष्ट कारण मौजूद हैं और इस धारणा में कुछ सत्य भी है। राममोहन राय काम-काज छोड़कर सन् १८१४ में कलकत्ते में आकर रहने लगे। सन् १८१५ में उन्होंने वेदान्तसूत्र का बङ्गानुवाद प्रकाशित किया। उस समय भी बँगला-भाषा की बड़ी ही शोचनीय दशा थी। विद्यालय में पढ़ाने के लिए बनाई गई ऊपर लिखी पुस्तकों के अलावा केवल ग्रन्थ-प्रणयन और ग्रन्थ-प्रचार के उद्देश्य से कोई बँगला-गद्य-ग्रन्थों की रचना करनेवाला न था। किन्तु यह बात जान पड़ती है कि जगह-जगह बँगला के गद्य-ग्रन्थ रचे और सुरक्षित रक्खे जाते थे। इस सम्बन्ध में सब तरह के संशय दूर करने की इच्छा से मैंने बङ्गाल-गवर्नमेंट के लाइब्रेरियन श्रद्धेय हरप्रसाद शास्त्रीजी को एक पत्र लिखा था। उन्होंने अनुग्रह करके मेरे पत्र का जो उत्तर दिया वह यहाँ पर उद्धृत किया जाता है।

श्रीश्रीदुर्गा सहाय।

नैहाटी,

१६ जून, १८६४

विहित विनयानुनयपुरस्सरं निवेदनमेतत्।

महाशय, अनेक लोगों की धारणा यह है कि स्वर्गीय महात्मा

राममोहन राय ही बँगला-गद्य के जन्मदाता हैं। उन्होंने सबसे पहले बँगला में बहुत-से गद्य-ग्रन्थों की रचना की है। यह बात सच होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनसे पहले गद्य नहीं लिखा जाता था। गद्य लिखने में राममोहन राय के प्रतिद्वन्द्वी स्वर्गीय गौरीशङ्कर ने भी बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं। अगर राममोहन को ही गद्य का जन्मदाता मानें तो यह प्रश्न होता है कि गौरीशङ्कर ने गद्य लिखना कहाँ सीखा? इस कारण इसमें कोई सन्देह नहीं कि गद्य-रचना-प्रणाली राममोहन राय के बहुत पहले से प्रचलित थी। गद्य-रचना की प्राचीनता का पता लगाने में वैष्णवों के ग्रन्थों से सहायता अवश्य मिलेगी, यह समझकर मैंने चैतन्यप्रभु-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। उसमें देख पड़ा कि श्रीचैतन्य के समय में चिट्ठी-पत्री तक संस्कृत में लिखी जाती थी। खोजने से भी मुझे बँगला में लिखे किसी पत्र का पता नहीं मिला। महाराज नन्दकुमार के कारावास के समय लिखे हुए पत्र ही बँगला-गद्य की प्रथम रचना जान पड़ते हैं। कम से कम उनसे पहले की कोई गद्यरचना अब तक नहीं पाई गई। नन्दकुमार की बँगला में भी उर्दू शब्द बहुतायत से हैं और वह कचहरी की भाषा के समान है। नन्दकुमार के बहुत पहले से ही अदालती काग़ज़ात गद्य में लिखे जाते थे। जान पड़ता है, अदालती काग़ज़ों से गद्यरचना सीखने के कारण नन्दकुमार की भाषा ऐसी हुई थी।

किन्तु अदालती काग़ज़ और पत्र आदि गद्य में लिखे जाने पर भी जब तक गद्य में लिखी कोई पुस्तक न पाई जाय तब तक बँगला-गद्य की प्राचीनता स्वीकार करने के लिए कोई तैयार न होगा। इसी से संस्कृत-पुस्तकों के अनुसन्धान के समय मैंने बँगला के गद्य-ग्रन्थों की भी खोज शुरू की थी। मेरे घर में पिताजी की हस्त-

लिखित पुस्तकों में खोज करते-करते स्मृतिकल्पद्रुम नामक एक हस्त-लिखित गद्य-ग्रन्थ मुझे प्राप्त हुआ। यह सम्पूर्ण नहीं है। इसमें तिथिमञ्जरी, प्रायश्चित्तमञ्जरी, शुद्धमञ्जरी आदि कई मञ्जरियाँ हैं। वृद्ध चाचाजी से पूछने पर मालूम हुआ कि वह पुस्तक उनके फूफा के हाथ की लिखी है और उन्होंने यशोहर ज़िले से लाई गई पुस्तक से उक्त ग्रन्थ की यह कापी की थी। चाचाजी का ख़याल है कि थाना-कुल के वन्द्योपाध्याय ठाकुर के वंशधरों की यह रचना है। यह बात किसी क़दर सच भी जान पड़ती है। क्योंकि वन्द्योपाध्यायजी और उनके वंशधर लोग स्मृतिशास्त्र की व्यवस्था देना सहजसाध्य बनाने के लिए बहुत-से स्मृति-ग्रन्थ बँगला-गद्य में लिख गये हैं। भट्टाचार्य घराने का कोई भी आदमी संस्कृत न जानने पर भी व्यवस्था दे सके, इसी अभिप्राय से बँगला-स्मृतिकल्पद्रुम लिखा गया था।

चाचाजी ने जिस समय की बात कही उस समय थानाकुल के भट्टाचार्य्यों में से कई आदमी मेरे घर में पढ़ते थे। यह कुछ विचित्र नहीं है कि उन लोगों में से किसी की ज़बानी ख़बर पाकर एक संस्कृत न जाननेवाले आदमी (अर्थात् चाचाजी के फूफा) ने उक्त ग्रन्थ की कापी करके पाण्डित्य-प्रसिद्धि पाने की चेष्टा की हो। इसी समय पूर्वोक्त गौरीशङ्कर भी मेरे घर में पढ़ते थे। उन्होंने इस ग्रन्थ की गद्य-प्रणाली देखकर वैसा ही गद्य लिखने की चेष्टा की हो तो क्या आश्चर्य है। और भी एक बँगला-गद्य में लिखित स्मृति-ग्रन्थ शेरपुर-निवासी पण्डित-प्रवर महामहोपाध्याय श्रीयुत चन्द्र-कान्त तर्कालङ्कारजी के घर में मिला है। वह भी निपट आधुनिक नहीं जान पड़ता।

सत्तर बरस के लगभग हुए, जब मेरे घर में स्मृति-कल्पद्रुम ग्रन्थ की नक़ल की गई थी। उस समय जिस पुस्तक से नक़ल की गई

थी वह पुरानी थी। अनायास यह अनुमान किया जा सकता है कि वह १०० वर्ष पहले की लिखी हुई थी। बल्कि वह प्रति इससे भी अधिक पुरानी मानी जा सकती है। नारायण ठाकुर और उनके पुत्रों ने इस ग्रन्थ को बँगला-गद्य में लिखा था। वे नक़ल करने के समय से २०० वर्ष पहले पैदा हुए थे। राममोहन राय की बँगला-ग्रन्थावली इस शताब्दी के १४।१५ वर्ष बीतने पर लिखी जाने लगी थी। अतएव बँगला-स्मृतिकल्पद्रुम उसकी अपेक्षा प्राचीन है।

एकान्त वशंवद
श्रीहरप्रसाद शास्त्री।

किन्तु महात्मा राममोहन राय के जीवनचरित में उन्होंने लिखा है—"सोलह वर्ष की अवस्था में मैंने हिन्दुओं की मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध एक पुस्तक लिखी थी।" यह पुस्तक निस्सन्देह गद्य ही में लिखी गई थी। राममोहन राय की गद्यरचना का समय सन् १८१५ नहीं, सन् १७९० ही है।

अब इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस समय के बहुत पहले से बङ्गाल के अनेक स्थानों में, छिपे हुए रत्नों की तरह, थोड़े-बहुत हस्तलिखित गद्य-ग्रन्थ यत्नपूर्वक सुरक्षित रहने पर भी उनके द्वारा महात्मा राममोहन राय का कुछ उपकार नहीं हुआ। सात-आठ वर्ष तक पटने में और उसके बाद काशी में पढ़ने के लिए रह-कर सोलह वर्ष की अवस्था में घर आकर उन्होंने पहली पुस्तक लिखी थी। उनके उक्त ग्रन्थ लिखने के समय उन्हें यह बात बिलकुल नहीं मालूम थी कि और कहीं भी गद्य-ग्रन्थ मौजूद हैं। इस बात को कहने का ख़ास मतलब यह है कि उन्होंने शास्त्र-प्रचार के लिए जितने गद्य-ग्रन्थ लिखे थे उनकी भाषा उन्हीं की प्रतिभा का निज-स्व थी। राममोहन राय भाषाप्रणाली के विषय में किसी के ऋणी

नहीं हैं। वेदान्त-ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने बँगला-गद्य पढ़ने के नियमों के बारे में जो उपदेश दिया है उससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस तरह गद्य पढ़ने का लोगों को अभ्यास न था। हम उस भूमिका का कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये देते हैं।—

"ओं तत्सत्। पहले तो बँगला-भाषा में केवल आवश्यक घर के कामों के निर्वाह-योग्य कुछ शब्द हैं। यह भाषा संस्कृत की कितनी अनुगामिनी है, यह बात उस समय स्पष्ट जान पड़ती है जब किसी दूसरी भाषा का अनुवाद इस भाषा में किया जाता है। दूसरे, इस भाषा में अभी तक किसी शास्त्र या काव्य का वर्णन नहीं किया गया। इसका फल यह देख पड़ता है कि इस देश के अधिकांश लोग अभ्यास न होने के कारण, दो-तीन वाक्यों का अन्वय करके उसका अर्थ समझने में असमर्थ-से देख पड़ते हैं। क़ानूनी तर्जुमों का अर्थ समझने के समय यह बात स्पष्ट जान पड़ती है। अतएव वेदान्त-शास्त्र की भाषा लिखना साधारण बातचीत की भाषा की तरह सुगम न देखकर इसे पढ़ने में किसी-किसी का मन नहीं लगेगा। इसी लिए यह भूमिका लिख रहा हूँ। जिन लोगों को संस्कृत में कुछ भी व्युत्पत्ति होगी और जो लोग ऐसे व्युत्पन्न लोगों के साथ रहकर साधुभाषा बोलते और सुनते हैं वे थोड़े ही परिश्रम से इस गद्य-व्याख्या का अर्थ समझ लेंगे। वाक्य के प्रारम्भ और समाप्ति का ख़याल ख़ास तौर पर रखना चाहिए। जिस-जिस जगह जब, जो, जैसे इत्यादि शब्द हों उस-उस जगह उनके प्रतिशब्द तब, वह, वैसे इत्यादि शब्दों का अन्वय करके वाक्य को समाप्त करना चाहिए। जब तक वाक्य की क्रिया न मिले तब तक वाक्य को समाप्त समझकर उसका अर्थ निकालने की चेष्टा न करनी चाहिए। किस नाम के साथ किस क्रिया का अन्वय है, इस बात का विशेष ध्यान रखना

चाहिए। क्योंकि कभी-कभी एक वाक्य में कई नाम और कई क्रियाएँ रहती हैं। उनमें से किस नाम के साथ किस क्रिया का अन्वय है, यह जाने बिना ठीक अर्थ समझ में नहीं आ सकता। इसका उदाहरण नीचे दिया जाता है। जैसे—ब्रह्म, जिसे सब वेदों में गाते हैं और जिसकी सत्ता के सहारे जगत् का काम चलता है, सबके उपास्य हैं। इस उदाहरण में यद्यपि ब्रह्म शब्द सबके पहले है तथापि अन्तिम 'हैं' इस क्रियापद के साथ उसका अन्वय होता है।"

इसी तरह हर एक पद का अन्वय करके उन्होंने दिखलाया है कि किस प्रकार गद्य-रचना पढ़ी जाती है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस देश में उस समय गद्य के चलन का वैसा आदर नहीं था और राममोहन राय ने और की सहायता की अपेक्षा न रखकर यह गद्य-रचना की थी। अतएव यदि उन्हें ब्रह्मज्ञान-प्रचार और शास्त्रों का अर्थ प्रकट करने योग्य गद्य लिखने का प्रवर्तक कहें तो शायद किसी के साथ कुछ अन्याय न होगा। बँगला-साहित्य में उनका हाथ लगने के बहुत पहले से ही गद्य-रचना होती थी। पण्डित हरप्रसाद शास्त्री महाशय के पत्र में इस बात का आभास पाया गया है। इधर राममोहन के प्रतिद्वन्द्वी गौरीशङ्कर भट्टाचार्य भी गद्य के तत्कालीन लेखक समझे जाते हैं। तथापि यह बात निर्विवाद है कि राममोहन राय की रचना में मौलिकता देखने को मिलती है और गद्य पढ़ने की पद्धति चलाने और उसके नियमों का उपदेश करने के कारण वे गद्य-लेखकों में विशेषता पाने के अधिकारी हैं। जो हो, इन्होंने ब्रह्मज्ञान के प्रचार के लिए बहुत से ग्रन्थों की रचना करके बँगला-साहित्य की बड़ी भारी उन्नति की। आज जो बँगला के साहित्य में धर्म्म की आलोचना का प्रबल प्रवाह देख

पड़ता है उसके पथ-प्रदर्शक या पितृपुरुष राममोहन राय ही हैं। जो चाहे जिस तरह बँगला-भाषा में शास्त्र की व्याख्या और धर्म्म की आलोचना करे, उसे स्मरण रखना चाहिए कि वह इस महापुरुष के निकट ऋणी है। भीष्मपितामह की तरह महात्मा राममोहन राय भी बङ्गाल के हर एक मनुष्य से तर्पण-जल पाने के अधिकारी हैं। वैष्णव-धर्म्म के अभ्युदय के समय आन्दोलन के घात-प्रतिघात से जैसे बँगला का साहित्य पुष्ट हुआ वैसे ही राममोहन राय के ब्रह्म-ज्ञान-प्रचार के समय भी, अँगरेज़ पादरियों और एतद्देशीय कर्म्म-काण्डी आस्थावान् हिन्दुओं के साथ उनका वाद-प्रतिवाद होने से, बँगला-साहित्य जीवन के मार्ग में और भी अग्रसर होने लगा। राममोहन राय की बनाई जो कई एक बँगला की पुस्तकें देख पड़ती हैं वे सब शास्त्र-ग्रन्थों के अनुवाद और मूर्त्तिपूजक प्राचीन भट्टाचार्य पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करने से सम्बन्ध रखती हैं। इन सब शास्त्रार्थों में सर्वत्र राममोहन राय के शास्त्रज्ञान, विद्या, बुद्धि, तर्क, विनय, गाम्भीर्य आदि सद्गुणों का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। मन लगाकर उन्हें पढ़ने से विस्मय के साथ ही उनके ऊपर भक्ति का उदय होता है। किन्तु जो सुमधुर सुललित भाषा आज बङ्गवासियों के कानों में अमृत की वर्षा करती है, जिस भाषा की प्रबल शक्ति और बहुविस्तार देखकर आज हर एक बङ्गाली फूला नहीं समाता तथा जिसके श्रीसम्पादन के लिए अतुल प्रतिभाशाली बङ्किमचन्द्र ने लेखनी उठाई और उसे अनुपम सौन्दर्य प्रदान किया, जिस भाषा की गम्भीरता का गौरव बढ़ाने के लिए पूर्वबङ्गनिवासी रायबहादुर कालीप्रसन्न घोष ने अपना जीवन अर्पण कर दिया और आज जिस भाषा की सेवा में बङ्गाल के बहुत-से सपूत लगे हुए हैं उसका सङ्गठन करने, उसे सँवारने और उसके श्वासहीन शरीर

में प्राणसञ्चार करने के लिए हम किसके निकट ऋणी हैं? अपने हृदय का रक्त चढ़ाकर, बहुत चिन्ता और परिश्रम स्वीकार कर, अपनी कन्या के समान भाषा का लालन-पालन करनेवाला महात्मा कौन है? सारी बङ्गाली-जाति एक स्वर से इसके उत्तर में कहेगी कि वे प्रातःस्मरणीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ही हैं। उन्होंने महर्षि कण्व की तरह 'शकुन्तला' का पालन किया। उन्होंने महर्षि वाल्मीकि की तरह 'सीता' के आँसू वनवास में पोंछे। उनके आश्रय में सीता और शकुन्तला से शोभित बङ्गभाषा बड़े गौरव को प्राप्त हुई।

विद्यासागर का पहला गद्य-ग्रन्थ वासुदेवचरित है। इस प्रथम ग्रन्थ के सम्बन्ध में मतभेद रहने पर भी विशेष अनुसन्धान करके हमने पता पाया है कि वह अप्रकाशित वासुदेवचरित ही उनका पहला ग्रन्थ है।

उसके बाद सन् १८४७ में विद्यासागर ने वेतालपञ्चविंशति का बँगला अनुवाद प्रकाशित किया। विद्यासागर की प्रकाशित पुस्तकों में पहला ग्रन्थ यही है। उस समय के साहित्यानुरागी पण्डितों को वेतालपञ्चविंशति का अनुवाद देखकर ही इस बात का पूर्वाभास प्राप्त हो गया था कि आगे चलकर साहित्यक्षेत्र में विद्यासागर को सम्पूर्ण सफलता प्राप्त होगी।

इस ग्रन्थ की रचना के बाद, फ़ोर्ट विलियम कालेज में यह पुस्तक पाठ्य पुस्तक रूप से मञ्जूर की जा सकती है या नहीं, इस बारे में सबसे पहले परलोकगत डाकृर कृष्णमोहन बनर्जी से पूछा गया। उन्हें उक्त पुस्तक अच्छी नहीं जँची। विद्यासागर ने बिल्कुल ही निरुपाय होकर श्रीरामपुर के पादरियों की शरण ली। पादरी मार्शमेन साहब ने इस आशय का एक प्रशंसापत्र दिया कि इस

समय जितने बँगला के गद्य-ग्रन्थ हैं उनमें वेतालपञ्चविंशति के अनुवाद का सर्वोच्च स्थान है। वर्त्तमान बँगला भाषा के पितृस्थानीय विद्यासागर का पहला ग्रन्थ पहले इस प्रकार दो-एक धक्के खाकर अन्त को पादरी साहब के अनुमोदन से पाठ्य पुस्तक बना लिया गया। यह घटना हमें स्मरण कराती है कि जगत्प्रसिद्ध शेक्सपियर की बहुमूल्य रचना बहुत दिनों तक अज्ञात और अनादृत ही बनी रही और मिल्टन की ज़िन्दगी में उनके "पैराडाइज़ लास्ट" का कुछ भी आदर नहीं हुआ। जानसन भले आदमियों की ऐसी पोशाक़ का सुभीता न होने के कारण लोगों से मुलाक़ात नहीं कर सकते थे। गोल्डस्मिथ ज़िन्दगी भर ग़रीबी के दुःख सहते रहे। इन लोगों के ग्रन्थों का, इस समय समादर होने पर भी, अच्छी तरह आदर होने में बहुत देर लगी। अगर ऐसा न होता तो इन सुलेखकों को आर्थिक कष्ट कभी न उठाना पड़ता। विदेश के सुलेखकों को जाने दीजिए। बङ्गाल के अमर कवि माइकेल मधुसूदन दत्त का, उनकी ज़िन्दगी में, आदर नहीं हुआ और मृत्यु के समय उनका किसी ने साथ नहीं दिया। अतएव विद्यासागरजी को पहले उद्योग में अगर ऐसी बातों का सामना करना पड़ा तो उसमें विचित्र ही क्या है? उनका यही यथेष्ट सौभाग्य समझना चाहिए कि पहली ही बार में वे अपने मार्ग को साफ़ करके अग्रसर हो सके। उनकी वेतालपचीसी (बँगला) को अब लोग बड़े आदर और चाव से ख़रीदकर पढ़ते हैं।

वेतालपचीसी की सौ कापियाँ ३००) की मार्शल साहब ने ख़रीदी थीं। इन तीन सौ रुपयों से छपाई का ख़र्च निकल आया था। बाक़ी कापियाँ बन्धु-बान्धवों को उपहार देने में ही चुक गईं। वेतालपचीसी के पहले संस्करण की भाषा वैसी प्राञ्जल न थी।

संस्कृत के कठिन शब्द उसमें भरे हुए थे। जैसे—"उत्तालतरङ्ग-मालासङ्कुल उत्फुल्लफेननिचयचुम्बित भयङ्करतिमिमकरनक्रचक्रभीषण स्रोतस्विनीपतिप्रवाह के मध्य से सहसा एक दिव्य तरु उद्भूत हुआ।" किन्तु यह बात बहुत शीघ्र ही उनकी समझ में आ गई कि ऐसे लम्बे समासों की कठिन पदावली पाठकों को सहजगम्य और रुचिकर न होगी। इसी से वेतालपचीसी के अगले संस्करणों में क्रमशः ऐसे-ऐसे स्थानों की भाषा बदलकर सहज कर दी गई है। वर्त्तमान संस्करण की भाषा प्राञ्जल और लालित्यपूर्ण है। सुमधुर पद-विन्यास के साथ ही भाषा और भाव के समावेश में वेतालपचीसी तत्कालीन सब पुस्तकों से श्रेष्ठ समझी जाती है। गद्य-भाषा के विषय में वेतालपचीसी ही वर्त्तमान बँगला-साहित्य का सबसे पहला ग्रन्थ कहा जाता है। सन् १८४८ में विद्यासागर ने मार्शमैन साहब के लिखे इतिहास के आधार पर बङ्गाल का इतिहास (दूसरा भाग) लिखा। उसमें अँगरेज़ों के राज्य की सूचना से लेकर उस समय के वर्त्तमान गवर्नर-जनरल के शासन-काल तक का वर्णन है। उसकी भी भाषा प्राञ्जल और मनोहर है। लड़कपन में, स्कूल में, यह पुस्तक हम लोग बड़े चाव से पढ़ते थे। इसकी स्थान-स्थान पर की सुमधुरपदावली-पूर्ण भाषा मुझको अभी तक कण्ठस्थ है। विद्यासागर ने, सन् १८५० में, "चेम्बर्स बिओग्राफ़ी" नामक ग्रन्थ के आधार पर "जीवनचरित" लिखा। जीवनचरित में विदेशी वीरों की कथाएँ हैं। जिन महात्माओं के आविर्भाव से पाश्चात्य जातियों का जातीय गौरव बढ़ा है, जिन्होंने आत्मसमर्पण करके अपने देश की भलाई की है, जिनके जन्म और सेवा से पृथ्वी की सारी मनुष्य-मण्डली का उपकार और लाभ हुआ है उनके कीर्त्तिकलाप और प्रातः-स्मरणीय नाम केवल ग्रीस, केवल रोम या केवल इँगलेंड की

ही सम्पत्ति नहीं हैं। वे तो सारी पृथ्वी के हैं। ऐसे ही महात्माओं की कीर्त्तिगाथा "जीवनचरित" है। जैसे पदमाधुर्य के बारे में वेतालपचीसी की प्रसिद्धि है वैसे ही भाषा की ओजस्विता के बारे में "जीवनचरित" की। उस समय सुन्दर, सुमधुर, सुश्राव्य बँगला के आदर्श यही दोनों ग्रन्थ समझे जाते थे। "जीवनचरित", "आख्यानमञ्जरी" और "चरितावली" आदि पुस्तकों में विदेशी चरित्रों के ही लिखने के कारण कुछ लोग यह कटाक्ष करते हैं कि वे विदेशियों के पक्षपाती थे; किन्तु यह कटाक्ष उचित नहीं है। बालकों के पढ़ने लायक़ सहज ही समझ में आ जानेवाली देशी आख्यायिकाओं का संग्रह अगर उस समय सम्भवपर होता तो विद्यासागर उसकी कभी उपेक्षा न करते। इसके अतिरिक्त विद्यासागरजी तो इस सिद्धान्त के आदमी थे—"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥" वे जैसे दान में मुक्तहस्त थे वैसे ही साधुचरित के समादर में भी सच्चे हिन्दू की तरह उदारता के उच्च शिखर पर विराजमान थे। हिन्दूचरित्र का उच्च आदर्श उनके हर एक काम में देख पड़ता है। सन् १८५१ में, "चेम्बर्स रूडीमेन्ट्स् आफ़ नालेज" नामक अँगरेज़ी पुस्तक के आधार पर उन्होंने "शिशुशिक्षा" का चौथा भाग (बोधोदय) बनाया। इस पुस्तक में सहज रीति पर सरल भाषा में पदार्थ-विभाग, वस्तु-विचार, काल-विभाग और संख्या आदि का वर्णन है। बहुत सी जानने योग्य बातें अत्यन्त सरल भाव से बच्चों को समझाने के लिए ऐसा उपयोगी ग्रन्थ, बँगला में, शायद ही दूसरा हो।

इसके बाद सन् १८५५ में विद्यासागर ने कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के कथाभाग के आधार पर एक बहुत ही उपादेय सुखपाठ्य ग्रन्थ लिखा और उसका नाम रक्खा "शकुन्तला"। शकु-

न्तला से बँगला-साहित्य की शोभा बढ़ गई। शकुन्तला में विद्यासागर की लिपिचातुरी, रचनामाधुरी और पदलालित्य देखकर पाठकगण मुग्ध हो गये और चारों ओर उनकी प्रशंसा फैल गई।

विद्यासागर ने इसी साल अपनी सुप्रसिद्ध "विधवा-विवाह-विषयक पुस्तक" बनाकर प्रकाशित की। विधवा-विवाह-सम्बन्धी अध्याय पढ़ने से ज्ञात होगा कि इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर कैसा आन्दोलन हुआ था। विधवा-विवाह-विषयक आन्दोलन में लगे रहकर और साथ ही कालेज का काम भी ठीक तौर पर करते रहकर विद्यासागरजी पुस्तकें लिखने का क्रम भी जारी किये हुए थे। सन् १८५६ में विधवा-विवाह का आन्दोलन सारे बङ्गाल में हलचल डाले हुए था। उस समय सब बङ्गालियों को विद्यासागर की पड़ी हुई थी। कोई उनके पक्ष में था और अनेक उनके प्रतिपक्षी थे—और विद्यासागर उस हलचल के बीच में, उस समाज-तरङ्ग के फेनपुञ्ज के भीतर, विधवा-विवाह-सम्मतिरूपी घोर आँधी से आन्दोलित विपत्ति-पूर्ण समाज की छाती पर बैठे बालकों के पढ़ने लायक़ पुस्तकें लिख रहे थे। "वर्णपरिचय" के दो भाग, "कथामाला" और "चरितावली" की रचना इसी साल हुई। विद्यासागरजी जब जिस काम में हाथ लगाते थे उसी में उनकी असाधारण शक्ति का परिचय प्राप्त होता था। इस प्रकार के धैर्य, शान्तभाव और तेजस्वी उद्धत प्रकृति से विद्यासागर की विचित्रता स्पष्ट झलकती है।

"डेविड हेयर" की तरह "बेथून" के मरने पर भी कलकत्तावासियों को बड़ा शोक हुआ था। बहुत लोगों के उद्योग से बेथून के स्मारक में "बेथूनसोसाइटी" नाम की एक सभा स्थापित हुई। इस सभा की स्थापना में विद्यासागर का प्रधान उद्योग था। इस सभा में अब तक बहुत से विषयों की आलोचना हो चुकी है और

यहाँ प्रबन्ध पढ़ने या व्याख्यान देने से अनेक विद्वानों की प्रतिष्ठा हो गई है। स्वर्गीय केशवचन्द्र सेन को जिस व्याख्यान से विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई उस "ईसा ख्रीष्ट, यूरोप और एशिया" विषयक व्याख्यान की रङ्गभूमि वेथूनसोसाइटी ही है। इसी सभा के एक अधिवेशन में विद्यासागर ने "संस्कृत-भाषा, संस्कृत-साहित्य और शास्त्र" विषयक निबन्ध पढ़ा था। यह एक समालोचना-ग्रन्थ है। संस्कृत के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की संक्षिप्त और सङ्गत समालोचना ही इस छोटी सी पुस्तक का उद्देश्य है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि इसमें वाल्मीकि और व्यास के दोनों अमूल्य ग्रन्थों (रामायण और महाभारत) के बारे में कुछ भी नहीं लिखा गया। इसका ठीक कारण ढूँढ़ निकालना कठिन है। जान पड़ता है, लेख छोटा था और उसे पढ़ने का समय थोड़ा होना ही इसका मुख्य कारण है। किन्तु ऐसा होने पर भी उक्त दोनों ग्रन्थों का उल्लेख भी न करना न्याय की दृष्टि से उचित नहीं हुआ।

इसके बहुत पहले से विद्यासागर की कलकत्ता ब्राह्मसमाज के सभासदों के साथ जान-पहचान हो गई थी। अक्षयकुमार दत्त, राजनारायण वसु, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि महानुभावों से हेलमेल बढ़ने का एक विशेष कारण आ पड़ा। इसी समय "तत्त्वबोधिनी पत्रिका" में विद्यासागर ने लिखना शुरू किया। तरह-तरह के प्रबन्ध लिखकर तत्त्वबोधिनी की शोभा और गौरव बढ़ाने के लिए विद्यासागर ने विशेष परिश्रम किया। जिस तत्त्वबोधिनी सभा की पत्रिका तत्त्वबोधिनी थी उसके मन्त्री भी विद्यासागर हो गये और साथ ही वे ब्राह्मसमाज की भी भलाई सोचने लगे। इसी समय विद्यासागर ने बँगला-गद्य में महाभारत लिखना शुरू किया। तत्त्वबोधिनी पत्रिका में महाभारत की उपक्रमणिका क्रमशः प्रकाशित होने

लगी। पीछे से सन् १८६० में वह उपक्रमणिका पुस्तकाकार छप-कर प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ की भी लेखशैली मनोहर है। बड़े खेद की वात है कि गद्य-महाभारत पूरा नहीं हो सका।

इसके वाद सन् १८६२ में विद्यासागर ने "सीतार वनवास" नाम की पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने अपनी लेखशैली की शोभा और सौन्दर्य पूरी तौर से दिखला दिया है। यह पुस्तक सहृदयता और प्रसादगुण से परिपूर्ण है। यथार्थ में यह अनुवाद नहीं है। अनुवाद की छाया पड़ने पर भी इसे एक प्रकार से मौलिक ग्रन्थ कह सकते हैं। इस ग्रन्थ की विपयगत मौलिकता सम्पूर्णरूप से विद्या-सागर की न होने पर भी भाव और भापा के वारे में वही इस प्रकार के ग्रन्थ लिखने के पथदर्शक हैं। रामवनवास, रामवनगमन, राम-राज्याभिपेक आदि ग्रन्थ रामायण की छाया पर बँगला में लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों का आदर्श "सीतार वनवास" ही है। "सीतार वनवास" वहुत दिनों से स्कूलों में पढ़ाया जाता है। दुःख-कष्ट में पड़कर भी एकनिष्ठता, सहिष्णुता और पति के प्रति अटल भक्ति दिखलाना ही इस पुस्तक की अमूल्य सम्पत्ति है। इस पुस्तक का प्रथम अंश तो भवभूति के उत्तरचरित का अविकल अनुवाद है, किन्तु आगे का हिस्सा विलकुल नई रचना है। इसका एक पृष्ठ भी ऐसा नहीं जिसे पढ़कर पत्थर भी पसीज न उठे। इसमें विद्यासागर ने करुणारस ख़ूब दरसाया है। पं० रामगति न्यायरत्न ने इस पुस्तक की लिखावट पर प्रसन्न होकर गुप्तरूप से सोमप्रकाश-सम्पादक के द्वारा विद्यासागर को एक सोने की क़लम उपहार में देने का विचार किया था। पर कई कारणों से वैसा नहीं हो सका।

"सीतार वनवास" लिखने के उपरान्त विद्यासागर ने "राम-राज्याभिपेक" लिखना शुरू किया था। कुछ दिनों वाद, जव इस

ग्रन्थ के कई फ़ार्म छप चुके थे तब, "सहचर" पत्र के सम्पादक शशिभूषण चटर्जी ने निज रचित "रामराज्याभिषेक" की एक कापी लाकर विद्यासागर को अर्पण की। विद्यासागरजी ने देखा कि शशिभूषण बाबू की पुस्तक अच्छी हुई है। तब उन्होंने अपना "रामराज्याभिषेक" छापना बन्द कर दिया। साहित्य-संसार में आजकल ऐसी उदारता कम देखने को मिलेगी।

इसके बाद विद्यासागर ने सन् १८६४ में "आख्यानमञ्जरी" सन् १८६६-६ में "व्याकरणकौमुदी" का दूसरा हिस्सा, सन् १८७० में सटीक मेघदूत और बीमारी की हालत में—वर्द्धवान में रहते समय—शेक्सपियर के "Comedy of Errors" के आधार पर "भ्रान्ति-विलास" लिखा। भ्रान्तिविलास ग्रन्थ बहुत ही अनूठा है। इसमें निर्मल हास्य है। इसके उपरान्त विधवा-विवाह और कुलीनों के बहु-विवाह के सम्बन्ध में कई पुस्तकें विद्यासागर ने लिखीं।

विद्यासागर ने सब मिलाकर ५२ ग्रन्थ लिखे। उनमें १७ संस्कृत के ग्रन्थ हैं। उपक्रमणिका और उसके उपरान्त के व्याकरण ख़ास उनके परिश्रम का फल हैं। ऋजुपाठ आदि कई पुस्तकें संस्कृत के अनेक ग्रन्थों से संग्रह करके लिखी गई हैं। उन्होंने रघु-वंश, किरातार्जुनीय, माघ, मेघदूत आदि ग्रन्थों के पाठान्तर मिलाकर मूल ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं। पाँच अँगरेज़ी के ग्रन्थ हैं। उनमें से विधवा-विवाह-सम्बन्धी अँगरेज़ी की पुस्तक उनकी निज की रचना है और अन्य पुस्तकें संग्रह या अनुवाद-मात्र हैं। शेष ३० पुस्तकें बँगला की हैं। उनमें १४ स्कूली किताबें हैं। इन १४ में वर्ण-परिचय आदि उनकी निज की रचना हैं। और स्तकें अँगरेज़ी या संस्कृत की पुस्तकों के अनुवाद हैं। बची हुई १६ पुस्तकों में तीन पुस्तकें भारतचन्द्ररचित अन्नदामङ्गल, विद्यासुन्दर और मानसिंह के

सुसम्पादित संस्करण हैं। १३ पुस्तकें सर्व-साधारण के लिए लिखी गई हैं। शकुन्तला, सीतार वनवास और भ्रान्तिविलास आदि कई पुस्तकें अन्य भाषाओं के अनुवाद या उनके आधार पर लिखी हुई हैं। बाक़ी ग्रन्थ उनकी निज की रचना हैं। विधवा-विवाह और बहुविवाह के सम्बन्ध में लिखी गई सब पुस्तकें मौलिक हैं। उनके लिए विद्यासागर किसी के ऋणी नहीं।

विद्यासागर के पहले बँगला-साहित्य 'साहित्य' नाम के योग्य ही न था। उनके पहले साहित्य की कैसी बुरी हालत थी और उनकी वेतालपचीसी ने साहित्य-संसार में कैसा युगान्तर उपस्थित कर दिया, इसके सम्बन्ध में पण्डित रामगति न्यायरत्नजी लिखते हैं—"इस समय जो सुन्दर सुश्राव्य संस्कृत-शब्दमयी बँगला-भाषा लिखने की शुद्ध रीति प्रचलित हुई है इसका मूल कारण विद्यासागर की वेतालपचीसी ही है। वेतालपचीसी के पहले वैसी भाषा नहीं लिखी जाती थी। उसके जन्मदाता विद्यासागर ही हैं।" वास्तव में विद्यासागर ने बड़े परिश्रम से सोच-विचारकर सहज में समझने लायक़ बँगला लिखना आरम्भ किया था। उनकी लेखशैली की विशेषता यह है कि एक ओर सीतार वनवास, शकुन्तला, भ्रान्ति-विलास आदि पुस्तकों में उन्होंने मधुर और कोमल भाषा लिखी है और दूसरी ओर विधवा-विवाह आदि शास्त्रीय समालोचना-ग्रन्थों में ओजस्विनी भाषा का प्रयोग किया है। विद्यासागर के वर्ण-परिचय, कथामाला आदि शिशुपाठ्य ग्रन्थों में बहुत ही सरल भाषा लिखी गई है। उसी लेखनी ने वेतालपचीसी में सुललित भाषा और जीवन-चरित में गम्भीर भाषा लिखकर अपनी विचित्र शक्ति का परिचय दिया है। इसी भाषा की सरलता, कोमलता, गम्भीरता और ओज-स्विता में ही विद्यासागर की विचित्र प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता

है। विद्यासागर ने बँगला की पहली पुस्तक "वर्ण-परिचय" पालकी पर चलते-चलते एक दिन में लिखी थी। बँगला-भाषा में विराम-चिह्न (,;), विस्मय-चिह्न (!) और प्रश्न-चिह्न (?) का प्रयोग भी सबसे पहले विद्यासागर ही ने किया था। ये चिह्न अर्थ समझने में बड़ी सहायता करते हैं, और इस कारण भी बँगला-भाषा का साहित्य विद्यासागर के निकट विशेष रूप से ऋणी है।

साहित्य-चर्चा में लोगों की रुचि पैदा करने और लोक-शिक्षा का मार्ग सुगम और सहज-साध्य बनाने के जितने उपाय हैं उनमें समाचारपत्रों का प्रचार एक प्रधान उपाय है। इसके द्वारा बहुत ही थोड़े दिनों में इस देश की जातीय उन्नति में युगान्तर उपस्थित हो गया है। समाचारपत्रों में उपन्यास, आख्यायिका, समाजतत्त्व, इतिहास और विज्ञान के अनेक लेख प्रकाशित होने के कारण उनके पाठक लोग हमेशा अगली संख्या देखने के लिए उत्सुक बने रहते हैं। जिस समाचारपत्र को पढ़ने के लिए लोगों को जितना अधिक आग्रह होता है उसमें जन-समाज पर असर डालने की ताक़त भी उतनी ही अधिक होती है। इँग्लेण्ड में टाइम्स, डेलीन्यूज़ आदि समाचार-पत्रों का ही सच्चा आधिपत्य है। बङ्गाल में भी समाज-तत्त्व, ज्ञान और विज्ञान के तत्त्वों का प्रचार करके उच्च श्रेणी के पत्रों ने कैसा दबदबा जमा लिया था इसके उज्ज्वल दृष्टान्त तत्त्वबोधिनी, प्रभाकर, बङ्गदर्शन, बान्धव, वामाबोधिनी और भारत-संस्कारक आदि पुराने और नये पत्र हैं। वर्त्तमान समय में जो साप्ताहिक समाचारपत्र इस प्रकार शक्ति प्राप्त करके बङ्ग देश की सेवा कर रहे हैं उनमें सबसे पहला पत्र "समाचारदर्पण" था। इसे श्रीरामपुर के मिशनरी मार्शमैन साहब ने सन् १८१८ के अगस्त महीने में निकाला था। यह पत्र सन् १८४१ तक निकलता रहा। उस समय २३ वर्ष तक

निकलकर समाचार-दर्पण देश की सेवा करता रहा, यही उसके लिए यथेष्ट गौरव की बात है। बँगला का पहला समाचारपत्र होने के कारण तत्कालीन गवर्नर-जनरल हेस्टिंग्स और उनके बाद लार्ड अमहर्स्ट इस पत्र को सरकारी सहायता देते रहे थे। सन् १८१९ में महात्मा राममोहन राय द्वारा सम्पादित "कौमुदी," उसके बाद सन् १८२२ में "समाचारचन्द्रिका" निकली। समाचार-चन्द्रिका को सतीदाह का समर्थन करने के लिए, राममोहन राय के ख़िलाफ़, स्वर्गीय भवानीचरण बनर्जी ने निकाला था। इसके बाद सन् १८३० में माघ के महीने से विद्यासागर ने "संवादप्रभाकर" निकालना शुरू किया। प्रभाकर की प्रभा के आगे पहले के समाचारपत्र कुछ फीके पड़ गये थे। उस समय गद्य की जैसी दुर्दशा थी वैसे ही समाचारपत्रों के लेख भी होते थे। उस भाषा से पाठकों की तृप्ति नहीं होती थी। हाँ, पद्य जो प्रकाशित होते थे वे उत्तम और मनोहर हुआ करते थे। यह सच है कि विद्यासागर के पहले भी अनेक पत्र बँगला में निकलते थे, परन्तु ऊँचे दर्जे का सर्वजनप्रिय पत्र भी पहले पहल विद्यासागर ने ही निकाला था। उस पत्र का नाम 'सोमप्रकाश' था। संस्कृत-कालेज की परीक्षा पास किये हुए एक बहरे विद्यार्थी का नाम शारदाचरण था। उसकी लेखशैली प्रशंसनीय थी। विद्यासागर ने उसी छात्र को सोमप्रकाश के सम्पादन का काम सौंप दिया। किन्तु सोमप्रकाश की उन्नति के लिए विद्यासागर स्वयं यथेष्ट परिश्रम करते थे। विद्यासागर के संसर्ग, उत्साह और सहायता से फुर्ती के साथ सोमप्रकाश की श्रीवृद्धि होने लगी। बर्दवान के राजभवन में महाभारत के बँगला अनुवाद का काम पाकर शारदाचरण वहाँ चले गये तब सोमप्रकाश का सम्पादन स्वनामधन्य स्वर्गीय द्वारकानाथ

विद्याभूषण को सौंपा गया। इन्होंने सोमप्रकाश की श्रोर भी उन्नति की। विद्यासागर सदा सोमप्रकाश के पृष्ठपोषक बने रहे। पहले-पहल विद्यासागर के लेख भी उसमें निकले थे। जैसे वर्त्तमान बँगला-गद्य-ग्रन्थों की भाषा का आदर्श वेतालपचीसी है वैसे ही ऊँचे दर्जे के, सुरुचिसङ्गत श्रोर प्राञ्जल भाषा में लिखे गये, बँगला-अखबारों का पथप्रदर्शक सोमप्रकाश है। सोमप्रकाश, प्रचार श्रोर तत्त्व-बोधिनी के अतिरिक्त श्रोर भी किसी-किसी पत्र में, समय-समय पर, विद्यासागर ने लेख लिखे हैं। वे जब जिस पत्र में लिखते थे तब उसे लोग बड़े श्रादर श्रोर चाव से पढ़ते थे। विद्यासागर की लेखशैली की उनके सम-सामयिक श्रोर परवर्त्ती सब विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ होकर प्रशंसा की है।

विद्वद्वर राजनारायण बाबू ने अपनी बँगला-भाषा श्रोर साहित्य शीर्षक वक्तृता में कहा है—"अब हम बँगला-भाषा के जानसन विद्वद्वर माननीय श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की श्रोर अग्रसर होते हैं। विद्यासागरजी ने ही अपने लिखे श्रोर प्रकाशित ग्रन्थों के द्वारा बँगला की वर्तमान उन्नति का प्रथम सूत्रपात किया है। अनेक लोगों को मालूम नहीं है कि देवेन्द्रनाथ ठाकुर श्रोर विद्यासागर ने बँगला के उद्भट लेखक अक्षयकुमार दत्त का कितना उपकार किया है। अक्षय बाबू के लेख को पहले पहल ये ही दोनों महाशय देख-कर शुद्ध कर दिया करते थे। कुछ दिनों में अक्षय बाबू स्वयं प्रवीण लेखक हो गये श्रोर उनके लेख में संशोधन की श्रावश्यकता ही न रही। बहुत लोगों की धारणा है कि विद्यासागर में उद्भावनी शक्ति न थी, उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अनुवादमात्र है। किन्तु जिन्होंने विद्यासागर के 'संस्कृतसाहित्य-विषयक प्रस्ताव' श्रोर 'विधवा-विवाह विचार' को पढ़ा है वे कभी यह नहीं कह सकते कि

विद्यासागर में अपने दिमाग़ से कुछ लिखने की ताक़त न थी। बँगला में व्याख्यान देते समय और उसे समाप्त करते समय अनेक अँगरेज़ीदाँ लोग अज्ञातभाव से विद्यासागर-लिखित विधवाविवाह-सम्बन्धी दूसरी पुस्तक के उपसंहार का अनुकरण किया करते हैं। विद्यासागर-लिखित सीतार वनवास में भवभूति के उत्तरचरित और वाल्मीकि की रामायण का कोई-कोई अंश अवश्य लिया गया है; किन्तु उसमें विद्यासागर के अपने दिमाग़ से लिखे गये अनेक मनोहर अंश भी हैं। सीतार वनवास को एक प्रकार से मौलिक ग्रन्थ कहना ही ठीक होगा। विद्यासागर ने बँगला के सङ्गठन और परिमार्जन का बहुत कुछ काम किया है। बँगला-भाषा उनके निकट बहुत कुछ ऋणी है।"

स्वर्गीय प्यारीचाँद मित्र की ग्रन्थावली की भूमिका में रायबहादुर बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय सी. आई. ई. महोदय लिखते हैं—"कहा जाता है कि राजा राममोहन राय उस समय के प्रथम गद्य-लेखक हैं। उनके बाद जो गद्य लिखा जाने लगा वह प्रचलित बँगला से बिलकुल भिन्न था। यहाँ तक कि बँगला-भाषा दो तरह की कहलाई जाने लगी। एक साधुभाषा अर्थात् पण्डितों की भाषा, और दूसरी इतर-भाषा अर्थात् पण्डितेतर लोगों के व्यवहार में आनेवाली भाषा। मैंने ख़ुद बचपन में अध्यापक पण्डितों को जिस भाषा में बातचीत करते देखा है उस भाषा को संस्कृत पढ़े-लिखे लोगों को छोड़कर और कोई समझ नहीं सकता था। वह बँगला सोलहों आने संस्कृत होती थी। वे 'खैर' न कहकर 'खदिर' कहते थे। 'चीनी' से उन्हें अरुचि थी; उन्हें 'शर्करा' ही भाती थी। वे चूल (बाल), केला, दई (दही) की जगह केश, रम्भा, दधि ही कहते थे। मैंने ख़ुद एक दिन देखा है कि एक अध्यापक पण्डित 'शिशुमार'

कहकर 'शुशुक' (सूस) का बयान कर रहे थे। सुननेवालों में कोई 'शिशुमार' का अर्थ न जानता था। अगर पण्डितजी 'शुशुक' कहते तो सबकी समझ में आ जाता। पण्डितों की बोलचाल की भाषा जब ऐसी थी तब उनकी लिखी बँगला-भाषा कैसी होगी, इसका अनुमान पाठकगण स्वयं ही कर सकते हैं। ऐसी भाषा में कोई ग्रन्थ लिखा जाता तो वह उसी समय लुप्त हो जाता; क्योंकि उसे पढ़नेवाला कोई न मिलता। इसी से उस भाषा में लिखे ग्रन्थों-द्वारा बँगला-साहित्य की श्रीवृद्धि नहीं हो सकती थी। इस संस्कृतमयी भाषा को पहले पहल महात्मा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बाबू अक्षयकुमार दत्त ने सहजबोध्य सुश्राव्य शब्दों से अलङ्कृत और परिमार्जित बनाया। इनकी भाषा संस्कृत की अनुगामिनी होने पर भी इतनी कठिन नहीं है। ख़ासकर विद्यासागर की भाषा अत्यन्त मधुर और मनोहर है। उनके पहले कोई ऐसी मधुर गद्य-बँगला न लिख सका है और न आगे कोई लिख सकेगा।"

श्रद्धास्पद बङ्किम बाबू ने ठीक ऐसी ही बातें मुझसे भी कही थीं। उन्होंने कहा था—"विद्यासागर के हाथों सङ्गठित और सुसंस्कृत भाषा ही हम लोगों का मूलधन है। उन्हीं की सम्पत्ति लेकर इस समय हम बँगला-साहित्य की श्रीवृद्धि का प्रयास कर रहे हैं।" बड़ी ही कृतज्ञता और विनय के भाव से बङ्किम बाबू ने यह बात कही थी।

बहुत से ग्रन्थों के लेखक बाबू रजनीकान्त गुप्त ने अपने 'स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' लेख में लिखा है—"विद्यासागर और किसी काम में हाथ न डालते तो भी वे अपनी अमृतमयी लेखनी से निकली ग्रन्थावली के कारण वङ्गसाहित्य में चिरकाल तक अमर बने रहते। वे बँगला-साहित्य के पिता न होने पर भी स्नेहमयी माता की तरह उसके

पोपक और सँवारने-सिंगारनेवाले अवश्य हैं। उन्हीं के प्रयत्न से गद्य-साहित्य की उन्नति और पुष्टि हुई है। दशभुजा दुर्गा की प्रतिमा के बाँस-फूस-रस्सी के ढाँचे पर मिट्टी लेसी गई थी। विद्यासागर ने उस मिट्टी को चिकना कर, उस मूर्त्ति पर रङ्ग फेरकर, उसे सुसज्जित, श्रीसम्पन्न और मनोहर बना दिया। उनके असम्पूर्ण महाभारत और बेतालपचीसी की भाषा में जैसे ओजस्विता और शब्दप्रयोगवैचित्र्य देख पड़ता है वैसे ही उनके सीतार वनवास और शकुन्तला में ललित पदविन्यास के साथ-साथ असामान्य माधुर्यगुण का उत्कर्ष दृष्टि-गोचर होता है। उनमें गद्यरचना की असाधारण शक्ति थी, इसका बढ़िया उदाहरण उनका सीतार वनवास औ शकुन्तला हैं।"

बहुत सी ऐसी पुस्तकें भी विद्यासागर की हैं जिन्हें आरम्भ करके समय न मिलने के कारण वे लिख नहीं सके। ऐसी पुस्तकें या तो असम्पूर्ण ही पड़ी रह गई हैं और या विद्यासागर की अनुमति से उनके किसी इष्टमित्र ने उन्हें पूर्ण कर डाला है। जैसे 'नीति-बोध' नाम की पुस्तक विद्यासागर ने शुरू की थी, पर समयाभाव से वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। उस पुस्तक को, उनके कहने से, उनके प्रिय मित्र राजकृष्ण बाबू ने पूरा किया। विद्यासागर की बहुत दिनों से भारत का एक सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास लिखने की इच्छा थी। उसका सब सामान भी उन्होंने जुटा लिया था। अन्त समय, अस्सी वर्ष की अवस्था में, जब वे बीमार पड़े हुए थे तब उन्होंने अपने स्नेहपात्र नीलाम्बर मुखोपाध्याय एम० ए० से कहा—"मैं एक भारत का सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास लिखना चाहता था, उसका सामान भी जुटा रक्खा है, पर अब मुझसे यह काम होने की कोई सम्भावना नहीं। तुम लिखे-पढ़े योग्य आदमी हो। तुमसे यह काम अच्छा हो सकता है।" इस समय वहाँ मैं भी उपस्थित था।

विद्यासागरजी गुणग्राही पुरुष थे। गुण का आदर करने में वे कभी चूकते न थे। मोतीलाल शील और द्वारकानाथ ठाकुर की वे सदा प्रशंसा किया करते थे। इन दोनों सज्जनों के जीवनचरित लिखने की भी उनकी बड़ी इच्छा थी। किन्तु दुःख की बात है कि उनकी यह इच्छा भी पूरी न हो सकी।

विद्यासागर ने विद्यालय में 'विद्यासागर' की उपाधि पाकर ही विद्याचर्चा की इतिश्री नहीं कर दी। वे जन्म भर विद्या का अनुशीलन करते रहे। अन्त समय, बीमारी की हालत में भी, वे बराबर पुस्तकें पढ़ते रहते थे। हाथ-पैर समेटकर बेकार बैठे रहने का उनको अभ्यास न था। वे हमेशा कुछ न कुछ करते ही रहते थे। उन्होंने अपना एक पुस्तकालय बना रक्खा था। उसमें संस्कृत, बँगला, हिन्दी और अँगरेज़ी की अनेक पुस्तकें थीं। अपनी चेष्टा से विद्यासागर ने जो संस्कृत की पुस्तकें छपाई थीं उनके अलावा अनेक हस्तलिखित संस्कृत-पुस्तकें भी उन्होंने अपने यहाँ जमा कर रक्खी थीं। संस्कृत-पुस्तकें उनके यहाँ असंख्य थीं और वे ख़ूब ही सुरक्षित थीं। वे अँगरेज़ी की पुस्तकों का भी यथेष्ट आदर करते थे। सुपरिचित और गण्य मान्य अँगरेज़ों की लिखी सभी पुस्तकें उनके पुस्तकालय में थीं। चाहे संस्कृत का हो, चाहे अँगरेज़ी का, कोई नया ग्रन्थ प्रकाशित होते ही वे उसे मँगा लेते थे। कोई-कोई कहते हैं कि उनके पुस्तकालय में पुस्तकों का जैसा संग्रह था, वैसे वे विद्वान् न थे। यदि ऐसा था तो वे यह कैसे यथासमय बतला देते थे कि इस ग्रन्थ में इस विषय की आलोचना है, इसकी भाषा ऐसी है, इससे इस-इस तत्त्व का संग्रह किया जा सकता है—इत्यादि। मैंने ख़ुद देखा है कि चाहे जिस विषय की चर्चा हो, वे उसके सम्बन्ध में किसी प्रवीण लेखक की राय का उल्लेख करके

अपना मन्तव्य प्रकट करते थे। मैंने उन्हें स्काट, शेक्सपियर मिल्टन, हक्सले, टिण्डेल, मिल, स्पेन्सर आदि अँगरेज़ कवि, औपन्यासिक, वैज्ञानिक और दार्शनिक पण्डितों के ग्रन्थों के बारे में आलोचना करते देखा है। उन्होंने पुस्तकालय की शोभा बढ़ाने के लिए कोई पुस्तक नहीं ख़रीदी। उन्होंने जो पुस्तक ख़रीदी उसे पढ़ा और फिर अच्छी जिल्द बँधाकर पुस्तकालय में रख दिया। वे अच्छे दाम देकर सोने के अक्षरों से विभूषित अच्छी जिल्द बँधवाते थे।

एक बार एक प्रतिष्ठित पुरुष विद्यासागर से मिलने और उनका पुस्तकालय देखने आये। पुस्तकें देखकर उन्होंने कहा—"इस तरह बहुत दाम ख़र्च करके जिल्द बँधवाना क्या आप अच्छा समझते हैं?" विद्यासागर ने कहा—"क्यों, इसमें क्या कुछ दोष है?" इसके उत्तर में आनेवाले महाशय ने कहा—"इस रुपये से अनेक आदमियों का उपकार हो सकता था।" उस समय इस बात को विद्यासागरजी टाल गये, कुछ नहीं कहा। थोड़ी देर में इधर-उधर की बातचीत करते-करते विद्यासागर ने उनसे पूछा—"महाशय, यह शाल का जोड़ा आपने कितने को लिया था? चीज़ तो अच्छी है।" उक्त महाशय ने कहा—"यह जोड़ा ५००) रुपये को ख़रीदा था।" विद्यासागर ने कहा—"पाँच रुपये के कम्बल से भी तो जाड़ा जा सकता है, फिर इतना क़ीमती दुशाला ओढ़ने की ज़रूरत क्या है? इस रुपये से भी तो बहुत लोगों का उपकार हो सकता था। मैं तो जाड़ों में मोटी चद्दर का जोड़ा ओढ़ा करता हूँ।" बाबू साहब बहुत ही शरमाये। उन्होंने कहा—"मुझसे बड़ी बेअदबी हुई, माफ़ कीजिएगा।" उक्त उत्तर से बाबू साहब ऐसे झेंपे कि जब तक वहाँ रहे, आँख सामने करके बात नहीं कर सके।

पहले विद्यासागरजी अपनी लाइब्रेरी से इष्टमित्रों को पुस्तकें, देखने के लिए, ले जाने देते थे। एक बार उनके एक मित्र एक बहुमूल्य पुस्तक विद्यासागर से माँग ले गये। कुछ दिनों बाद विद्यासागर ने जब वह पुस्तक मँगा भेजी तब उन भलेमानुस ने कहला भेजा—"वह पुस्तक मैंने लौटा दी है।" विद्यासागर को इससे बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि अब किसी को पुस्तक ले जाने न देंगे। जो पुस्तक इस प्रकार खो गई थी वह एक दुष्प्राप्य संस्कृत-ग्रन्थ था। जर्मनी के सिवा और कहीं मिल न सकता था। और वहाँ भी नया संस्करण हुए बिना उसके मिलने की कोई सम्भावना न थी। किन्तु सुनकर पाठकों को आश्चर्य होगा कि विद्यासागर का जाना-पहचाना एक पुस्तक-विक्रेता (Hawker) उसी पुस्तक को विद्यासागर के पास बेचने लाया। थोड़ी देर तक तो विस्मित विद्यासागर चुपचाप खड़े रहे, उसके बाद उन्होंने उससे पूछा—"तूने यह पुस्तक कहाँ से पाई?" इसके उत्तर में उसने उन्हीं महाशय का नाम लिया जो विद्यासागर से माँग ले गये थे। सुनकर क्रोध के मारे विद्यासागर काँपने लगे। इसके बाद जो दाम उस फेरीवाले ने माँगे वही देकर उन्होंने वह पुस्तक ख़रीद ली। इसके बाद एक टुकड़ा काग़ज़ भी विद्यासागर किसी को ले जाने न देते थे।

विद्यासागर की साहित्य-सम्बन्धी दो-एक बातें आगे चलकर, प्रसङ्गवश, लिखी जायँगी।

स्त्रीशिक्षा और विद्यासागर

सन् १८४९ में, कई देशी प्रतिष्ठित पुरुषों की सहायता और भारतबन्धु प्रातःस्मरणीय जे. ई. डी. बेथून साहब के उद्योग से कलकत्ते में बङ्ग देश की वर्त्तमान स्त्रीशिक्षा का श्रीगणेश हुआ था। किन्तु उसके बहुत पहले से कलकत्ते के अनेक स्थानों में लड़कियों के स्कूल खोलकर उनमें लड़कियों को पढ़ाने की व्यवस्था की जा चुकी थी। सन् १८२० की बङ्गाल की शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्ट में देखा जाता है कि उस साल की स्कूल-परीक्षा में ग़रीब घरों की ४० लड़कियों ने परीक्षा देकर पुरस्कार पाये थे। बालिकाओं की परीक्षा लेने के उपरान्त प्रसन्न होकर राजा राधाकान्त देव बहादुर ने लिखा था—"महिला-शिक्षा-समिति के द्वारा शिक्षा पाई हुई लड़कियों की भी परीक्षा ली गई; उनका उच्चारण और फल बहुत ही सन्तोष-जनक पाया गया।" इसी से अच्छी तरह जान पड़ता है कि इस साल के पहले से ही कलकत्ते में लड़कियों को शिक्षा दी जाने लगी थी। उक्त साल के सन्तोष-जनक फल से उत्साहित होकर महिलासमिति के सञ्चालकों ने शोभावाज़ार, श्यामवाज़ार, जान वाज़ार और इटाली में चार कन्यापाठशालाएँ और स्थापित की थीं। राजा राधाकान्त देव बहादुर ने महिला-समिति को एक प्रबन्ध लिखकर दिया; उसका हेडिंग था—"स्त्री-शिक्षा-विधायक प्रस्ताव"। स्त्रीशिक्षा की उपयोगिता और आवश्यकता समझाने

के लिए (और ख़ासकर यह प्रमाणित करने के लिए कि यह काम उच्च श्रेणी के भद्रपुरुषों की रीतिनीति के विरुद्ध नहीं है) वह प्रबन्ध लिखा गया था। प्रातःस्मरणीय सुशिक्षिता आर्यमहिलाओं के नामों का उल्लेख करके स्त्रीशिक्षा का गौरव दिखलाते हुए उस प्रबन्ध की रचना हुई थी। उसमें उक्त राजा साहब ने लिखा है—"यदि इस स्त्री-शिक्षा को विशेष भाव से उत्साह दिया जाय तो यह समाज का बड़ा कल्याण करेगी।" मेरे पास इस "स्त्री-शिक्षा-विधायक प्रस्ताव" की एक प्रति मौजूद है। उससे कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है।—

"आजकल की स्त्रियों में भी देखो। मुरशिदाबाद में वारेन्द्र श्रेणी की ब्राह्मणी रानी भवानी थीं। उन्होंने लड़कपन में शिक्षा पाई थी। वे राजकाज का सारा हिसाब आप देखती और आप ही सब बन्दोबस्त करती थीं। × × × एक और राढ़-श्रेणी की ब्राह्मण-कन्या थीं। उनका नाम था, हठी विद्यालङ्कार। वे बचपन में काम-काज से फ़ुरसत मिलने पर पढ़ती थीं। धीरे-धीरे वे ऐसी पण्डिता हो गईं कि सबको शास्त्र पढ़ाने लगीं। काशीवास के समय उन्होंने अनेक बङ्गाली और हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों को पढ़ाया। उस समय अन्यान्य अध्यापक पण्डितों की तरह उन्हें भी सभाओं में निमन्त्रण मिलता था और वे पण्डितों से शास्त्रार्थ भी करती थीं। फ़रीदपुर ज़िले के कोटालीपाड़ा गाँव में श्यामासुन्दरी नाम की एक वैदिक ब्राह्मण की स्त्री ने व्याकरण के उपरान्त सम्पूर्ण न्यायदर्शन पढ़ा था। उनके स्वामी भी महामहोपाध्याय थे। उनको अपनी आँखों देखनेवाले अभी तक मौजूद हैं। कलकत्ते के शोभाबाज़ारवाले राजघराने की सब स्त्रियाँ लिखना-पढ़ना जानती हैं।"

इस प्रकार उत्साह पाकर तीन-चार साल तक इस महिला-शिक्षा-समिति का काम ख़ूब चलता रहा। अनेक बालिकाएँ सालाना, छमाही और तिमाही परीक्षा देने के लिए राजा राधाकान्त देव के घर जाती थीं। किन्तु अन्त को अर्थाभाव से यह शुभ कार्य बहुत दिनों तक नहीं चल सका। सब सदस्यों का एक सा उत्साह न रहने से, और काफ़ी रुपया ख़र्च न कर सकने के कारण, आरम्भ में ही इस अच्छे काम की इतिश्री हो गई। सन् १८२४ में यह समिति टूट गई। पचीस वर्ष बाद महात्मा बेथून के आने से फिर स्त्रीशिक्षा का काम शुरू हुआ। बेथून स्त्रीजाति के बड़े ही शुभ-चिन्तक और कृतज्ञ थे। उन्होंने मन-वाणी-काया से बङ्ग-ललनाओं का हितसाधन करना अपना व्रत बना लिया। जिस काम का जैसा गुरु होता है वैसा ही शिष्य भी मिल जाता है, और यही कार्यसिद्धि की सूचना समझी जाती है। बेथून साहब लाट साहब की सभा के व्यवस्था-सचिव थे। लम्बी-चौड़ी ख़ासी तनख़्वाह पाते थे। इज़्ज़त भी उनकी बड़े लाट के बराबर ही थी। किन्तु व्यवहार में वे बहुत ही निष्कपट और सीधे आदमी थे। उनके पास जाकर बातचीत करके कोई यह न जानता था कि किसी अफ़सर से बातचीत कर रहे हैं; यही जान पड़ता था कि किसी अपने बड़े या गुरुजन से बातचीत कर रहे हैं। परोपकारपरायण बेथून साहब बङ्गललनाओं को सुशिक्षा देने के लिए अग्रसर हुए। किन्तु उन्हें प्रेरणा करनेवाले—इस ओर आकृष्ट करनेवाले—अमरकीर्त्तिशाली विद्यासागरजी ही थे। इसी समय विद्यासागर को एक बार हुगली, ढाका, कृष्णनगर और हिन्दू-कालेज के सीनियर परीक्षा देनेवाले विद्यार्थियों का बँगला का पर्चा बनाना पड़ा। विद्यासागर ने उस पर्चे का विषय "स्त्रीशिक्षा की आवश्यकता" रक्खा। परीक्षा में

मिस्टर बेथून ।

कृष्णनगर-कालेज के नीलकमल भादुड़ी का लेख सर्वोत्तम ठहरा और उन्हीं को स्वर्णपदक मिला। यह लेख उस समय के अख़-बारों में और शिक्षाविभाग की रिपोर्ट में छपा था। पारितोषिक देने के समय सभा में स्त्रीशिक्षा के परम प्रेमी बेथून साहब उपस्थित थे। उन्होंने एक उत्साह-पूर्ण वक्तृता-द्वारा उपस्थित सज्जनों को इस शुभ कार्य के लिए उत्तेजित भी किया था। शिक्षा-प्रचार के अच्छे प्रबन्ध तथा बङ्गाल में जगह-जगह अँगरेज़ी और बँगला के स्कूल खुलवाने के लिए विद्यासागरजी अक्सर बेथून साहब के यहाँ आया-जाया करते थे। बेथून साहब का विद्यासागर से बड़ा हेल-मेल हो गया था।

बेथून साहब उस समय की शिक्षा-समिति के प्रेसीडेण्ट थे। विद्यासागरजी उससे पहले ही पढ़ाई समाप्त करके कामकाज करने लगे थे। उस समय विद्यासागर पर मार्शेल, मायेट आदि शिक्षा-विभाग के प्रतिष्ठित कर्मचारी ऐसी श्रद्धा रखते थे कि कोई भी काम उनसे सलाह लिये बिना न करते थे। बहुत ही थोड़े दिनों में विद्या-सागर और बेथून की ऐसी दाँत-काटी रोटी होने का यह भी एक कारण है। बेथून और विद्यासागर की मैत्री ने ही बङ्गाल में स्त्री-शिक्षा का ऐसा ज़ोरदार प्रचार कर दिया है। विद्यासागर का स्वभाव ही था कि वे जिस काम में हाथ लगाते थे उसे पूरा करने के लिए तन, मन, धन, मान, सुख और सम्पत्ति सब कुछ त्याग करने को तैयार रहते थे। उनके बन्धुबान्धव भी उनके इस स्वभाव को गुण समझते थे। विद्यासागर और उनके इष्टमित्रगण सैकड़ों विघ्न-बाधाओं की परवा न करके बेथून साहब के बालिकाविद्यालय की श्री-वृद्धि करने के लिए अग्रसर हुए। इस कार्य में सहायता करने के कारण राजा दक्षिणारञ्जन, स्व० मदनमोहन तर्कालङ्कार, स्व० पण्डित शम्भुनाथ,

स्व० रामगोपाल घोष आदि बहुत से सम्माननीय लोगों को समाज-कृत निग्रह भोगना पड़ा था। इन लोगों में से हर एक ने इस काम में इतनी सहायता की थी कि हर एक को बेथूनविद्यालय का संस्थापक कह सकते हैं। इन लोगों ने अपनी बालिकाओं को उक्त स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा, और उसके लिए अनेक लाञ्छनाएँ भी सहीं। तर्कालङ्कारजी को कुछ अधिक उपद्रव सहने पड़े थे। उन्हीं ने सबसे पहले अपनी दो लड़कियों को स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा था। उस समय के अखबारों ने भी इन लोगों पर बड़े कड़े लेख लिखे थे।

बेथून साहब ने विद्यालय स्थापित करके उसका प्रबन्ध विद्यासागर को सौंपा। विद्यासागर ने, मित्र के अनुरोध से, विद्यालय की देखरेख और उन्नति करने का काम स्वीकार कर लिया। विद्यासागर के साथ बेथून साहब अक्सर स्कूल देखने आया करते थे। डेविड हेयर की तरह बेथून साहब भी जब स्कूल देखने जाते तब लड़कियों के लिए तरह-तरह की खेलने की चीज़ें ले जाया करते थे। विद्यालय में जाकर बालिकाओं को खिलौने देते और लड़कों की तरह उनके साथ खेलते थे। मदनमोहन तर्कालङ्कार के जीवनचरित में विद्याभूषण महाशय लिखते हैं—"वे प्रायः अपने घर जाते समय भुवनमाला और कुन्दमाला नाम की तर्कालङ्कार महाशय की लड़कियों को गोद में लिया करते थे और कभी-कभी उन्हें अपने बँगले पर भी ले जाते थे। उन लड़कियों के ऊधम और उपद्रवों को भी बेथून साहब सह लेते थे। भुवनमाला और कुन्दमाला बेथून की इतनी दुलारी थीं; इसी से लेडी डलहौसी आदि को भी बहुत प्यारी थीं।" इस प्रकार विद्यालय का काम अच्छी तरह चलने लगा। बेथून साहब की पृष्ठपोषकता और विद्यासागर के यत्न से थोड़े ही दिनों में विद्यालय की इमारत बनाने के लिए चन्दा होने लगा। इतने दिनों तक

विद्यालय का ख़ास मकान नहीं था। विद्यालय के प्रधान उद्योगी दक्षिणारञ्जन मुखोपाध्याय के घर में पढ़ाई होती थी। स्थान कम होने के कारण कुछ दिनों बाद बेथून-विद्यालय गोलदीघी के पास उठकर चला गया था। बेथून साहब ने ख़ुद बालिका-विद्यालय की इमारत के लिए बहुत-सा धन दिया था। पहले बिना फ़ीस लिये, फिर कुछ फ़ीस लेकर, पढ़ाई होती रही। मास्टरों को तनख़्वाह भी अच्छी देनी पड़ती थी। वह ख़र्च भी बेथून साहब के ज़िम्मे था। लड़कियों को लाने और पहुँचा आने के लिए गाड़ियाँ थीं। उनका भी ख़र्च भला-चङ्गा था। क़रीब-क़रीब सभी ख़र्च अपने सिर लेकर बेथून साहब इस विद्यालय की सहायता करते रहे।

सन् १८५१ में, बरसात के समय, गङ्गा के उस पार ४।५ कोस पर जनाई गाँव के बहुत से रईसों के अनुरोध से वहाँ का बालिका-विद्यालय देखने के लिए बेथून साहब गये। रास्ते में भीगते हुए कीचड़ मँझाकर वहाँ पहुँचे। सहसा वहाँ उन्हें बुख़ार आ गया और उसी में उनकी मृत्यु भी हो गई। बेथून साहब के वियोग से व्याकुल विद्यासागर बालकों की तरह रोने लगे थे। भारत के परम बन्धु और बङ्गललनाओं के हितैषी बेथून साहब के स्वर्गवास से विद्यासागर बहुत दिनों तक निरुत्साह-से बने रहे। उसके बाद बेथून-साहब के बालिका-विद्यालय की उन्नति के लिए उन्होंने बहुत परिश्रम, उद्योग और ख़र्च किया। अन्त को अनेक प्रकार के मत-भेद होने के कारण विद्यासागर ने बेथून-विद्यालय के सञ्चालन का काम छोड़ दिया। स्थापना के समय विद्यालय का नाम था हिन्दू-बालिका-विद्यालय। बेथून साहब विल में विद्यालय के लिए बहुत सा रुपया लिख गये थे। उसी धन से विद्यालय का घर बना और उनके स्मारक के तौर पर उन्हीं के नाम पर विद्यालय का नामकरण हुआ।

बेथून साहब के मरने पर विद्यालय के लिए विद्यासागर बड़ी मुश्किल में पड़े। तब स्मरणीय गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग की स्त्री श्रीमती लेडी कैनिंग ने उक्त विद्यालय की पृष्ठपोषकता स्वीकार कर ली। इस विद्यालय को बनाये रखने के लिए उन्होंने अच्छी आर्थिक सहायता भी की। लेडी कैनिंग की चेष्टा से गवर्नमेंट ने भी उक्त विद्यालय को धन से सहायता दी थी।

विद्यासागर ऐसे महानुभावों की स्त्री-शिक्षा-प्रचार-सम्बन्धी चेष्टा आज सफल होती देख पड़ती है। दिन-दिन स्त्री-शिक्षा के फ़ायदे लोगों की समझ में आते जाते हैं और इस ओर समाज की रुचि बढ़ती जाती है। अब लोग यह अच्छी तरह समझने लगे हैं कि जब तक हम स्त्रियों को पढ़ाने-लिखाने का प्रबन्ध नहीं करेंगे तब तक खना, लीलावती, सीता, सावित्री, गार्गी और आत्रेयी का नाम लेकर गौरव का अनुभव करना आत्मवञ्चना के सिवा और कुछ नहीं है। अतएव बालिकाओं को जैसे घर के कामकाज सिखलाये जाते हैं वैसे ही, जब तक वे सयानी न हों तब तक, उन्हें पढ़ाना-लिखाना भी चाहिए। किसी श्रुति या स्मृति में स्त्रियों को शिक्षा देने की मनाही नहीं लिखी है। एक विदुषी बङ्गमहिला (श्रीमती मानकुमारी) के एक ग्रन्थ (काव्यकुसुमाञ्जलि) की समालोचना करते हुए माननीय जज गुरुदास बनरजी लिखते हैं—"इन कविताओं को देखकर, साहस के साथ, यह बात कही जा सकती है कि स्त्री-शिक्षा का बड़ा अच्छा फल हुआ है।" पण्डित चन्द्रनाथ वसु ने इसी पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा है—"एक विशुद्धमन, एक सरल-हृदय, एक सतोगुण की मूर्त्ति मुझे इन कविताओं में देख पड़ी।"

कुछ लोग इस ज़माने में भी कुछ पढ़ी-लिखी स्त्रियों के बुरे आचरणों का उल्लेख करके स्त्री-शिक्षा का विरोध करते हैं। पर

उन्हें यह विचारना चाहिए कि कच्चे नारियल का पानी बड़ा अच्छा होता है, पर वह काँसे के बर्तन में रखने से खराब हो जाता है। तो इस पात्र-दोष को जल के सिर मढ़ना कहाँ का न्याय है? इस के अलावा बुरे आचरणवाले पढ़े-लिखे मर्दों का उल्लेख करके अगर कोई मर्दों की शिक्षा का द्वार बन्द करना चाहे तो फिर वे क्या कहेंगे?

विद्यासागरजी जीवन की अन्तिम घड़ी तक स्त्री-शिक्षा के पूर्ण पक्षपाती रहे। स्त्री-शिक्षा की उन्नति के लिए जो लोग बेथून-विद्यालय की किसी प्रकार की सहायता करते थे उनसे मुलाक़ात होने पर विद्यासागरजी बराबर उक्त विद्यालय की ख़बर लेते थे। बेथून साहब के मरने के एक साल बाद उनके पुराने मित्र बोलपुर-निवासी प्रताप-नारायणसिंह ने अपने पुत्र हेमेन्द्रनाथसिंह के विलायत जाने की सम्भावना देखकर अपनी बहू सुशीला बाला को बेथून-कालेज में स्थायी भाव से भर्ती करने के लिए विद्यासागर को पत्र लिखा। विद्यासागरजी उक्त बालिका को कालेज में भर्ती कराने के लिए गये तो बालिकाओं और पढ़ानेवाली स्त्रियों को देखकर उनके आनन्द के आँसू बहने लगे। आते समय विद्यासागर ने सबके जलपान के लिए मिठाई मँगा दी। पुराने समय की एक दासी उस समय भी विद्यालय में मौजूद थी, उसने आकर विद्यासागर को प्रणाम किया। उसके पुरानी बातें याद कराने पर विद्यासागर का हृदय भर आया और आँखों से आँसू बहने लगे। स्कूल के दालान में बेथून साहब की पत्थर की मूर्ति के आगे खड़े होकर विद्यासागरजी देर तक रोते रहे। फिर उस पुरानी दासी को उन्होंने नये कपड़े मँगा दिये। इस प्रकार सबको सन्तुष्ट करके वे अपने घर आये। ठीक उसी समय मैं विद्यासागरजी से मिलने गया था। अक्सर मुझे

विद्यासागर के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था; किन्तु उस दिन विद्यासागर के मुख पर जो घोर विषाद की छाया देखी उसे देखकर मैं डर गया। मैंने बहुत व्यग्र होकर पूछा—"क्या तबीयत बहुत ख़राब है?" कुछ उत्तर नहीं मिला। दम भर के बाद उन्होंने कुर्सी की ओर उँगली से इशारा करके मुझसे बैठने के लिए कहा। मैं धीरे से बैठ गया। घड़ी भर बाद विद्यासागर ने कहा—"नहीं, मेरी तबीयत नहीं ख़राब है।" मैंने पूछा—"तो फिर आप इतने उदास क्यों देख पड़ते हैं?" उन्होंने कहा—"अभी मैं बेथून-स्कूल गया था; वहां का हाल देखकर बड़ा सुख हुआ।" मैंने फिर भी विद्यासागर के गम्भीर हृदय की थाह न पाकर पूछा—"उसमें फिर उदास होने का क्या कारण है?" विद्यासागर ने कहा—"इतनी लड़कियां पढ़ती हैं और वहीं की पढ़ी हुई कुछ लड़कियां वहां पढ़ाती भी हैं, किन्तु जिस पुरुष के उद्योग और उत्साह से यह सब हुआ उसने न देखा! अपनी पदमर्यादा का ख़याल न करके जो उनके साथ खेलता और उन्हें अपनी पीठ पर चढ़ाता था वह महात्मा आज नहीं है!" इस प्रकार बेथून साहब के लिए शोकाकुल होकर विद्यासागरजी बालकों की तरह रोने लगे।

विद्यासागर केवल कलकत्ते के बेथून-विद्यालय की स्थापना और सञ्चालन के कार्य में सहायता करके ही निश्चिन्त न थे। पहले कहा जा चुका है कि छोटे लाट हालिडे साहब की ज़बानी आज्ञा से विद्यासागर ने मेदिनीपुर, बर्दवान, हुगली और नदिया ज़िले के अनेक स्थानों में बहुत से बालिका-विद्यालय स्थापित किये थे और इसी काम को लेकर शिक्षाविभाग के तत्कालीन डाइरेक्टर यंग साहब के साथ उनके स्थायी मनोमालिन्य का सूत्रपात हुआ था। छोटे लाट ने

इन विद्यालयों को स्थापित करने के लिए विद्यासागर से अनुरोध किया था। किन्तु इस बारे में कोई लिखी हुई आज्ञा विद्यासागर को नहीं मिली थी। यह मौक़ा पाकर यंग साहब ने बालिका-विद्यालयों की स्थापना और उनके लिए धन ख़र्च करने का विरोध किया और इस चेष्टा में उनको सफलता भी प्राप्त हुई। ऊपर लिखे चारों ज़िलों के भिन्न-भिन्न स्थानों में पचास बालिका-विद्यालय खुल चुके थे। उनका ख़र्च अपने सिर लेना साधारण बात न थी। हर एक स्कूल में दो अध्यापक और एक नौकर था। उनकी तनख़्वाह के अलावा और भी बहुत कुछ ख़र्च था। लड़कियाँ बिना फ़ीस के पढ़ती थीं। उनको पढ़ने की पुस्तकें, काग़ज़, स्लेट, पेंसिल, सब देना पड़ता था। इसी समय विद्यासागर ने नौकरी भी छोड़ दी थी। वे इस समय बड़े ही धर्मसङ्कट में पड़ गये थे।

बालिका-विद्यालय-सम्बन्धी बिल मंजूर न होने पर छोटे लाट ने विद्यासागर को अपने ऊपर नालिश करने की सलाह दी थी। किन्तु उसमें असम्मत होकर विद्यासागर ने कहा—"मैंने कभी किसी के ऊपर नालिश नहीं की। फिर आप पर कैसे नालिश करूँ? इस रुपये को मैं क़र्ज़ लेकर अदा कर दूँगा।" विद्यासागर को इस झञ्झट में केवल नौकरी ही नहीं छोड़नी पड़ी, प्रत्युत क़र्ज़दार भी बनना पड़ा। इतने पर भी वे महात्मा बहुत दिनों तक इस चेष्टा में लगे रहे कि ये लड़कियों के स्कूल बन्द न होने पावें। इस काम में उनके कुछ अँगरेज़ दोस्त उनको मासिक सहायता दिया करते थे। उनमें सर सिसिल बीडन का नाम विशेषभाव से उल्लेख के योग्य है।

सन् १८६३ की ३० वीं मई को सर सिसिल बीडन ने विद्यासागर को जो पत्र लिखा था उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है। असल पत्र अँगरेज़ी में था।

प्रिय पण्डित महाशय, × × × इस साल के एप्रिल, मई और जून महीने का, बालिका-विद्यालय-फंड का चन्दा १६५) रु०, चेक के द्वारा, भेजता हूँ।

भवदीय
सी० बीडन

एक पत्र बीडन साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी का भी यहाँ पर उद्धृत किया जाता है।—

पण्डित ईश्वरचन्द्र शर्म्मा की सेवा में,

दार्जिलिंग,
१७ अगस्त, १८६६

प्रिय महाशय,

इस समय मैं प्रसन्नतापूर्वक बालिकाविद्यालय-फंड के लिए सर सिसिल बीडन का, इस साल की पहली छमाही का, चन्दा, ३३०) रुपये, चेकद्वारा भेजता हूँ। चेकबुक कलकत्ते में ही रह गई थी, इसी से इतनी देर हुई।

आपका एकान्त विश्वासपात्र
एच० रावन

इन विद्यालयों में से कई विद्यालय बहुत दिनों तक जारी रहे और उनसे बङ्गाल में स्त्री-शिक्षा के प्रचार को बहुत सहायता मिलती रही। इन्हीं स्कूलों के साथ विद्यासागर ने अपनी जन्मभूमि वीरसिंह गाँव में भी एक कन्यापाठशाला खोली थी। उसमें अध्यापक के वेतन और लड़कियों को किताबें आदि ख़रीदने में तीस रुपये के लगभग माहवारी ख़र्च होता था। बहुत दिनों तक यह ख़र्च विद्यासागर के ही ज़िम्मे रहा।

इसी समय विद्यासागर ने सर बार्टल फ्रेयर को एक बड़ा भारी पत्र लिखा था; उसका स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है। यथा:—"आप सुनकर अवश्य ही प्रसन्न होंगे कि आपने मुफ़स्सल की जिन कन्यापाठशालाओं की सहायता करने की कृपा की थी उनका काम ख़ूब अच्छी तरह चल रहा है। कलकत्ते के पास के ज़िलों में स्त्री-शिक्षा की ओर लोगों की रुचि दिन-दिन बढ़ती जाती है और समय-समय पर नये बालिका-विद्यालय भी खुलते जाते हैं।"

प्रतिकूल घटनाओं के डर से कभी विद्यासागर हटते न थे। कह-कर न करना या भरोसा देकर निराश करना विद्यासागर की प्रकृति के विरुद्ध था। सैकड़ों बाधा-विघ्नों का सामना करके, सैकड़ों अभाव और असुविधाओं में पड़कर जब अपना रुपया लगाकर और बन्धु-बान्धवों की सहायता से विद्यासागरजी इन कन्यापाठशालाओं को जारी रखने के उद्योग में लगे हुए थे उसी समय, सन् १८६६ के शेषभाग में, परोपकार-परायणा कुमारी कार्पेन्टर भारत के अनेक स्थानों की सैर करती हुई कलकत्ते पहुँचीं। मिस कार्पेन्टर ने जब से महात्मा राममोहन राय को देखा तब से उन्हें भारत पर एक प्रकार की ममता सी हो गई। राममोहन राय के चरित्रलेखक ने लिखा है कि राममोहन राय ने ही पहले पहल मिस कार्पेन्टर के हृदय में भारत की भलाई करने का भाव उद्दीप्त किया था। जगत्प्रसिद्ध वक्ता केशवचन्द्र सेन की वक्तृत्व-शक्ति और मैत्री से मुग्ध होकर मिस कार्पे-न्टर भारतवर्ष के नर-नारियों को और भी अधिक स्नेह की दृष्टि से देखने लगीं। मिस कार्पेन्टर के शुभागमन के अवसर पर भारत के अनेक स्थानों में उनके आदर और अभ्यर्थना की भारी तैयारियाँ हुई थीं। कलकत्ता और उसके उपनगरों में भी उनका बहुत अच्छा

स्वागत हुआ था। बराहनगर और उत्तरपाड़ा में बड़ी धूमधाम से उनका स्वागत किया गया था। मिस कार्पेन्टर ने कलकत्ते में आकर बेथून साहब के परम मित्र और अबला-बान्धव विद्यासागर से मिलने की इच्छा प्रकट की। उसके लिए तत्कालीन डाइरेक्टर एट्किन्सन साहब ने विद्यासागर को यह पत्र लिखा था—

२७ नवम्बर, १८६६

प्रिय पण्डित महाशय,

मिस कार्पेन्टर का नाम आपने अवश्य सुना होगा। वे आप से मिलकर भारत में स्त्री-शिक्षा की उन्नति के बारे में बातचीत करके अपनी सम्मति प्रकट करना चाहती हैं। आप क्या अगले बृहस्पतिवार को साढ़े ग्यारह बजे बेथून-विद्यालय में आ सकते हैं? मैं उस समय उन्हें बेथून-विद्यालय दिखलाने ले जाऊँगा। हम लोग प्रकाश्य रूप से न जायँगे। साथ में और कोई न होगा। इससे बातचीत करने का सुभीता रहेगा। शायद इसके बाद एक बार विद्यालय कमेटी के मेम्बरों से भी उनकी मिलने की इच्छा है। किन्तु मि० सीटनकार जब तक कलकत्ते लौट न आवें तब तक इस तरह प्रकाश्यभाव से सबसे मिलना मुल्तवी रक्खा जायगा।

आपका

डब्लू० एस० एटकिन्सन

मिस कार्पेन्टर से जान-पहचान होते ही उनके साथ विद्यासागर की घनिष्ठता बढ़ गई। मिस कार्पेन्टर प्रायः जहां जाती थीं वहाँ विद्यासागर को अवश्य अपने साथ ले जाती थीं। उत्तरपाड़े की कन्या-पाठशाला देखने के समय विद्यासागरजी मिस कार्पेन्टर के अनुरोध से उनके साथ गये थे। साथ में उड्रो और एट्किन्सन

साहब भी थे। विद्यासागरजी गाड़ी पर वाली स्टेशन से उत्तरपाड़ा जा रहे थे। उत्तरपाड़े के पास पहुँचकर रास्ते में एक जगह मोड़ पर गाड़ी उलट गई। विद्यासागरजी गाड़ी पर से दूर जाकर, गिर पड़े। बड़ी चोट लगी। वे सड़क के पास ही गिरकर बेहोश हो गये। घोड़ा और गाड़ी भी उलटी पड़ी थी। उनकी यह हालत देखकर हँसनेवाले बहुत से आदमी जमा हो गये, पर किसी ने उन्हें होश में लाने का यत्न नहीं किया। पीछे से मिस कार्पेन्टर की गाड़ी आने पर उन्होंने उस भीड़ का कारण जानना चाहा तो उन्हें बेहोश विद्यासागर देख पड़े। उन्होंने फ़ौरन् पास जाकर विद्यासागर का सिर अपनी गोद में ले लिया और पानी मंगाकर मुँह धोया। वे पङ्खा झलने लगीं। उन्होंने माता की तरह सेवा करके विद्यासागर को सचेत किया। किन्तु जब से यह चोट विद्यासागर के लगी तबसे उनके सुस्थ शरीर में रोग, सबल शरीर में कमज़ोरी और शान्त चित्त में अशान्ति का सूत्रपात हो गया। उनके फेफड़े में कड़ी चोट लग गई। एक प्रकार से उनका स्वास्थ्यभङ्ग हो गया। उनके फेफड़े में अक्सर दर्द होने लगता था। उससे उन्हें महीनों खटिया सेनी पड़ती थी। डाकृर महेन्द्रलाल सरकार आदि का कहना था कि उनका फेफड़ा फट गया था। मिस कार्पेन्टर बहुत दिनों तक कलकत्ते में रहीं और बराबर विद्यासागर की ख़बर लेती रहीं। कलकत्ता छोड़ने के कुछ दिन पहले उन्होंने विद्यासागर को यह पत्र लिखा था—

प्रिय महाशय,

आप फिर बीमार हो गये, यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। इसी से मुझे सन्देह है कि अगले बुधवार को सवेरे मेरे कलकत्ता छोड़ने के पहले शायद आपसे मुलाक़ात न हो सकेगी।

मैंने कल तीसरे पहर चार बजे स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए अपने कई एतद्देशीय बन्धुओं को अपने घर में निमन्त्रण दिया है। आशा है, अच्छी तबीयत होगी तो आप भी अवश्य आने की कृपा करेंगे।

आपकी
मेरी कार्पेन्टर

मेरी कार्पेन्टर की इच्छा थी कि बेथून-स्कूल में कुछ स्त्रियों को ख़ास तौर पर अध्यापिका बनने लायक़ शिक्षा दी जाय। अपनी इस इच्छा को पूर्ण करने के लिए उन्होंने यथेष्ट चेष्टा भी की थी। चेष्टा के अनुकूल कार्य भी हुआ था, पर वह कार्य्य स्थायी नहीं हो सका।

सर विलियम ग्रे, मि० सीटनकार, मि० एट्किन्सन आदि साहबों और कुछ बङ्गालियों ने मेरी कार्पेन्टर के इस प्रस्ताव का समर्थन किया था। किन्तु विद्यासागर ने इसका विरोध किया था। ख़ासकर उनकी सहानुभूति न होने से ही यह प्रस्ताव कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका। अध्यापिकाएँ तैयार करने के लिए, मिस कार्पेन्टर के प्रस्ताव के अनुसार, बेथून-स्कूल में ही एक नार्मल स्कूल स्थापित करने के लिए सर विलियम ग्रे ने विशेष उद्योग किया था। उस कार्य के औचित्य या अनौचित्य का निश्चय करने के लिए उन्होंने सन् १८६७ की पहली सितम्बर को एक लम्बी चिट्ठी लिखकर विद्यासागर की राय पूछी थी। उस पत्र में ग्रे साहब ने अध्यापिकाएँ तैयार करने के पक्ष का समर्थन करते हुए उसके बिना व्यर्थ बहुत सा रुपया ख़र्च होने पर आक्षेप प्रकट किया था। विद्यासागर ने जिस युक्तिप्रणाली के द्वारा उनकी हर एक बात का प्रतिवाद करते हुए अपने पक्ष को प्रबल रक्खा था और जिस बड़े पत्र
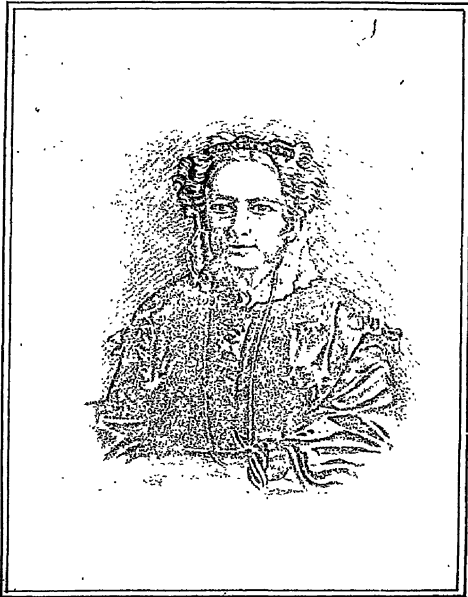
Mary Carpenter

मेरी कारपेंटर।

के दवाव से उस समय का वह प्रवल आयोजन व्यर्थ हो गया था उसका अनुवाद नीचे दिया जाता है। वह पत्र पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे वड़े ही सुन्दर उपाय से सव ओर की देख-रेख रखकर उन्नति करने के पक्षपाती थे। उनकी समझ में स्त्री-शिक्षा की वहुत वड़ी आवश्यकता थी। स्त्री-शिक्षा-प्रचार की उस प्रथम अवस्था में देश, काल और पात्र का विचार न करके वहुत वेग से अग्रसर होने में वात विल्कुल न विगड़ जाय, इस आशङ्का से विद्यासागरजी सदा सावधानी से काम करते थे। वह पत्र यह है—

कलकत्ता,

१ अक्तूवर, १८६७

माननीय सर विलियम ग्रे।

प्रिय महाशय,

आपसे आख़री मुलाक़ात होने के वाद मैंने विशेष सावधानी के साथ अनुसन्धान किया है और विशेष रूप से इस वारे में सोचा भी है, किन्तु मिस कार्पेन्टर के प्रस्ताव के अनुसार, कुछ अध्यापिकाएँ—जिन्हें सर्वसाधारण हिन्दू स्वीकार करें—वेथून-स्कूल में या और कहीं तैयार करने के मार्ग में अनेक विघ्न-वाधाएँ होने की जो मेरी धारणा है उसे वदलने का कोई कारण मुझे नहीं देख पड़ता। इस भारी मामले के सम्वन्ध में मैं जितना सोचता हूँ उतना ही मुझे दृढ़ रूप से यह विश्वास होता है कि हिन्दूभाव और हिन्दू-समाज की वर्त्तमान अवस्था इस कार्य के सम्पूर्ण विरुद्ध है। इसके द्वारा किसी शुभ फल की प्रत्याशा नहीं की जा सकती, इसी से मैं गवर्नमेन्ट को साक्षात् रूप से इस कार्य का भार अपने ऊपर लेने के लिए सलाह नहीं दे सकता। आप सहज ही समझ सकते हैं कि कोई प्रति-

ष्ठित हिन्दू अपनी सयानी स्त्रियों को अध्यापिका का काम करने न देगा। उच्च कुल के हिन्दू लोग, वर्त्तमान सामाजिक नियम के अनुसार, १० । ११ वर्ष की अविवाहिता बालिकाओं को भी घर से बाहर निकलने नहीं देते। केवल कुछ अनाथ असहाय विधवाएँ ही इस काम के लिए पाई जा सकती हैं। किन्तु इस देश की कुल-कामिनियों को शिक्षा देने के लिए ये विधवा अध्यापिकाएँ उपयुक्त होंगी या नहीं, इस प्रश्न को न उठाकर मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि वे जब भीतर से बाहर निकलने लगेंगी तब लोगों के मन में आप ही आप उनके बारे में तरह-तरह के सन्देह और अविश्वास के कारण उपस्थित होंगे। और, इसके द्वारा गवर्नमेन्ट के इस कार्य का शुभ उद्देश सहज ही नष्ट हो जायगा।

इस विषय को सफल बनाने की उत्तम प्रणाली सरकारी विज्ञापन में लिखी हुई है—इस बारे में (Grant-in-aid) धन की सहायता देने का वादा करना ही जनता के मन का भाव जानने का उत्तम उपाय जान पड़ता है। यदि इस देश के आदमी मिस कार्पेन्टर की बतलाई स्त्री-शिक्षा-पद्धति को पसन्द करेंगे तो वे आर्थिक सहायता के लिए आवेदन करेंगे और तब गवर्नमेन्ट बहुत सा रुपया ख़र्च करके उनके कार्य्य की सहायता कर सकती है। यद्यपि मैं यह स्पष्ट समझता हूँ कि इस देश के अधिकांश आदमी इस तरह की सहायता के लिए प्रार्थना न करेंगे, तथापि जो लोग इस कार्य की सफलता पर बहुत अधिक भरोसा किये बैठे हैं उनको इस बारे में अगर सचमुच ही आग्रह और अनुराग होगा तो आशा है कि, वे गवर्नमेन्ट की दी सहायता लेकर इस कार्य के फलाफल की परीक्षा के लिए प्राणपण से चेष्टा करेंगे।

मैं स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता हूँ कि जो लोग इस कार्य के पक्षपाती हैं उनके इस कार्य पर मुझे विशेष विश्वास नहीं है। किन्तु भारतगवर्नमेन्ट के चलाये, ऊपर लिखे, नियम की मौजूदगी में उन्हें भी फिर कोई शिकायत का मौक़ा न रह जायगा।

स्त्रीजाति के सुशिक्षा-लाभ के लिए अध्यापिकाओं की आवश्यकता मैं भी समझता हूँ और अगर हमारे देशी भाइयों के सामाजिक संस्कार दुर्लङ्घ्य वाधा के रूप में आगे न खड़े होते तो मैं सबसे आगे इस कार्य्य का पृष्ठपोषक और सहायक बनता। किन्तु जब यह देखता हूँ कि किसी तरह इस काम में सफलता न प्राप्त होगी और यदि गवर्नमेन्ट इस काम में हाथ डालेगी तो आप लोग ही अप्रीतिकर अवस्था में पड़कर अपदस्थ होंगे, तब मैं किसी तरह इस काम का सहायक बनना उचित नहीं समझता।

यह वात मैं स्वीकार करता हूँ कि बेथून-स्कूल की उन्नति के लिए जितना रुपया खर्च किया गया है उतनी सफलता नहीं हुई। इस बारे में मैं आपसे सहमत हूँ। किन्तु उसके साथ ही मेरा यह भी कहना है कि इस स्कूल को एकदम तोड़ देना किसी प्रकार युक्तिसङ्गत नहीं है। यह भारत में स्त्रीजाति के ज्ञान की उन्नति का चिह्न है। एक परोपकारी महात्मा का नाम इसके द्वारा चल रहा है। इस विद्यालय की उन्नति के लिए रुपया खर्च करना, मेरी समझ में, गवर्नमेंट का कर्त्तव्य है। इसके सिवा यह भी ज़रूरी जान पड़ता है कि बङ्गाल की राजधानी में एक सुपरिचालित स्कूल मौजूद रहकर मुफ़स्सिल की सब कन्यापाठशालाओं का आदर्श होकर अपना काम करता रहे। बङ्गदेश के हिन्दूसमाज के ऊपर इस विद्यालय की नैतिक शक्ति का बहुत बड़ा असर है। असल बात तो यह है कि इस स्कूल ने निकटवर्ती ज़िलों में स्त्रीशिक्षा का

प्रचार किया है। इसी लिए, मेरी समझ में, हर साल बहुत सा रुपया खर्च करके इस स्कूल को जारी रखने से जो लाभ हुआ है वह कम नहीं है। किन्तु चेष्टा करने से और भी कम खर्च में इसकी उन्नति की जा सकती है। विचार-पूर्वक चेष्टा करने से स्कूल में कुछ कमी न करके भी आधे के लगभग खर्च घटाया जा सकता है।

मैंने स्वास्थ्य ठीक होने की आशा से अधिक समय के लिए उत्तर-पश्चिम अञ्चल में जाकर रहने का विचार पक्का कर लिया है। यदि आप बेथून-स्कूल की नई व्यवस्था करना चाहें, और उस बारे में मेरी सलाह जानने की इच्छा करें तो मैं आपके कलकत्ते लौटकर आने तक अपेक्षा और आपके साथ इस बारे में सलाह करने के लिए राज़ी हूँ। आपका विश्वासपात्र—

ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

इसके उत्तर में मिस्टर ग्रे ने यह पत्र लिखा था :—

सुन्दरवन, १४ अक्तूबर, १८६७.

पण्डित ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

प्रिय महाशय,

आपका पहली अक्तूबर का पत्र पाकर अत्यन्त अनुगृहीत हुआ। पत्र बहुत सी जानने लायक ज़रूरी बातों से परिपूर्ण है। आशा है, आप किसी भी कारण से अपनी उत्तर-पश्चिमाञ्चल की यात्रा न रोकेंगे। मुझको विश्वास है कि जगह बदल देने से आप बिलकुल आरोग्य हो जायँगे।

यदि मैं और कई दिन बाद कलकत्ते में आकर आपके दर्शन पा सकूँ तो बेथून-स्कूल के नवीन संस्कार के बारे में आपके साथ सलाह करके परम सुखी होऊँगा। नहीं तो आप यथावकाश पत्र के द्वारा मुझे अपनी सम्मति लिखिएगा।

उत्तर-पश्चिम अञ्चल में यदि आप किसी अँगरेज़ अफ़सर के नाम चिट्ठी ले जाना चाहें तो मैं यह सहायता करके बहुत प्रसन्न होऊँगा। १५ तारीख़ से मैं वेलवेडियर-भवन में रहूँगा।

आपका विश्वासपात्र
डब्लू० ग्रे.

इस मामले में विद्यासागर के साथ बहुत कुछ तर्क-वितर्क होने के बाद अध्यापिकाएँ तैयार करने को नार्मल स्कूल खोलने के लिए सहायता देना निश्चित हुआ। नार्मल स्कूल खोलने का प्रस्ताव, मंजूर होकर भी, दो साल तक यों ही पड़ा रहा। एक दिन किसी मतलब से भूतपूर्व "अबलाबान्धव"-सम्पादक बाबू द्वारकानाथ गंगोपाध्यायजी तत्कालीन डिपुटी-इन्सपेक्टर रायबहादुर राधिकाप्रसन्न मुखोपाध्याय से मिलने गये। उस समय प्रसंगवश रायबहादुर ने यह ख़बर दी कि अध्यापिका-विद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव दो साल से मंजूर हुआ पड़ा है। यदि सम्भव हो तो आप लोग इस समय भी चेष्टा कर सकते हैं। द्वारिका बाबू ने इसी लिए शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर साहब से मुलाक़ात करके यह विद्यालय स्थापित करने के लिए अनुरोध किया। द्वारिका बाबू की लाई हुई ५।६ स्त्रियों से उक्त विद्यालय का काम शुरू किया गया। डेढ़ वर्ष तक इस विद्यालय का काम चलता रहा। पीछे सहसा तत्कालीन बङ्गाल के छोटे लाट सर जार्ज कैम्बेल ने वह स्कूल बन्द कर दिया। स्कूल उठा देने के समय वैसा करने के किसी विशेष कारण का उल्लेख नहीं किया गया।

मत-भेद के कारण, ख़ास कर उनके स्वदेशी बन्धुओं में से किसी-किसी के बहुत सताने पर, अन्त को खीझकर विद्यासागर ने बेथून-स्कूल से प्रकाश्य सम्बन्ध छोड़ दिया था। किन्तु स्त्री-शिक्षा के

प्रचार के लिए जो कार्य होते थे उनसे उनकी हार्दिक सहानुभूति मरते दम तक बनी रही। कहीं पर कुछ भी स्त्री-शिक्षा का उद्योग होता था तो वे उसमें यथाशक्ति सहायता करते थे। कुल-कामिनियों को शिक्षा देने के लिए बङ्गाल के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जो स्त्री-शिक्षा-विधायिनी सम्मिलनी स्थापित हैं और जिनके द्वारा स्त्री-शिक्षा का अच्छा प्रचार हो रहा है उन पर विद्यासागर की विशेष स्नेहदृष्टि थी। उत्तरपाड़ाहितकारी, श्रीहट्ट और मैमनसिंह की सम्मिलनी, फ़रीदपुर-सुहृत्सभा, बाकरगंज-हितसाधनी, विक्रमपुर-सम्मिलनी, मध्यबङ्गाल-सम्मिलनी आदि का कार्य्यविवरण वे बड़े चाव से सुनते थे।

बेथून विद्यालय की वर्त्तमान प्रधान अध्यापिका श्रीमती चन्द्रमुखी वसु, एम० ए० जब एम० ए० परीक्षा में पास हुई थीं तब विद्यासागर ने उनको बड़े आनन्द के साथ शेक्सपियर-ग्रन्थावली उपहार में दी थी। उस ग्रन्थावली के पहले पृष्ठ पर विद्यासागर ने अपने हाथ से लिख दिया था—

SHRIMATI.
KUMARI CHANDRAMUKHI BASU,
THE FIRST BENGALI LADY,
WHO HAS OBTAINED THE DEGREE OF MASTER OF ARTS,
OF THE CALCUTTA UNIVERSITY.
FROM HER SINCERE WELL-WISHER,
ISHWAR CHANDRA SHARMA.

स्त्रीशिक्षा-प्रचार के लिए जन्म भर उद्योग करनेवाले विद्यासागर के स्वर्गारोहण के उपरान्त बङ्गललनाओं ने उक्त महापुरुष के स्मारक के लिए १६७०) रु० का चन्दा करके बेथून-विद्यालय की कमेटी को दे दिया है। हिन्दू के घर की कोई बालिका तीसरी श्रेणी का

पाठ समाप्त करके प्रवेशिका परीक्षा देना चाहे तो दो साल तक उसे इन रुपयों की आमदनी से एक वृत्ति दी जाती है। बङ्गललनाओं ने विद्यासागर के प्रति जो कृतज्ञता प्रकट की है वह सर्वथा उनके उपयुक्त ही है। धन्य हैं ये बङ्गललनाएँ, जो अपना उपकार करने-वाले देवसुलभ-गुणालङ्कृत विद्यासागर महाशय के प्रति इतनी भी कृतज्ञता दिखला सकीं।

समाजसंस्कार और विद्यासागर

सन् १८२९ की चौथी दिसम्बर को लार्ड विलियम बेंटिङ्क की आज्ञा से सारे भारत से सती होने की प्रथा उठा दी गई। उसी दिन से खास कर भारतवर्ष में वैधव्य का असह्य दुःख सहने की सूचना हुई। भारत के हृदय में जो सती की चिता चिरकाल से धक्-धक् जलती चली आती थी, जिस अग्नि में असंख्य हिन्दूरमणियों ने अपनी इच्छा से, और अनिच्छा से भी, अपनी आहुति दे दो, वह अग्नि राममोहन राय की सहायता और बेन्टिङ्क के इशारे से चिर दिन के लिए बुझ गई। चिता पर मरे हुए पति के पास बैठ-कर जो हिन्दू-स्त्रियाँ अग्निपरीक्षा देती थीं वे धन्य थीं। किन्तु जब सती होने की एक रीति निकल गई और स्त्रियों को ज़बरदस्ती, तरवार के ज़ोर से, जलाया जाने लगा तब उसका बन्द होना ही सर्वथा श्रेयस्कर था। सबसे बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि भारत-वासी पुरुष ही इस कठोर व्यवहार के—और इसे बनाये रखने के—पक्षपाती होकर आत्मग्लानि और निन्दा के पात्र बने। इतने पर भी जो मर्द ऐसे नारी-चरित्र पर "दुर्बल हृदय और चञ्चल स्वभाव" का दोषारोपण करते हैं, वे कितने बड़े मूर्ख हैं। अच्छा हम मानते हैं कि सभी स्त्रियाँ अपनी इच्छा से हँसते-हँसते पति के साथ जल जाती थीं, तो फिर क्या मर्दों को ऐसा प्रेम का निदर्शन न दिखाना चाहिए? ऐसी स्त्री-जाति का ऋण चुकाने के लिए कितने

पुरुषों ने प्राण दे दिये हैं? प्राण दे देना कैसा, आजन्म फिर विवाह न करने का प्रण ही कितने पुरुष निवाहते हैं? परलोक में पति के पास स्थान पाने की कामना जैसे स्त्री के लिए वाञ्छनीय है वैसे ही पत्नी के पास स्थान पाने की आकांक्षा क्या पति के लिए स्वाभाविक न होनी चाहिए? अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर श्रीरामचन्द्र को अर्धाङ्गिनी की ज़रूरत पड़ी थी। इस देश के बालक-बूढ़े-जवान सभी जानते हैं कि रामचन्द्र ने वनवासिनी सीता की सोने की मूर्त्ति बनवाकर अपने पास रक्खी थी। ऐसा उच्च आदर्श सामने रहते भी स्त्री-जाति के लिए ही जन्मदुःखिनी सीता की तरह अग्नि-प्रवेश की व्यवस्था क्यों है? इस पर तुर्रा यह कि मर्द के लिए दूसरा व्याह करना (सो भी कहीं-कहीं एक स्त्री की मौजूदगी में) शास्त्र-संगत और सदाचार के द्वारा अनुमोदित है! ऐसे पक्षपात का पक्ष लेना ज्ञानी होनेवाली मनुष्य-जाति, ख़ास कर आर्य्य-जाति, के लिए तो सर्वथा अनुचित है। पुरुष-शक्ति-प्रधान समाज में असहाय अबलाएँ तो वेद-विधि, व्रत, नियम, पूजा-पाठ आदि करें और आपके लिए अपने प्राण दे दें और आप सब नियमों के बन्धन से मुक्त, उच्छृङ्खल, होकर मज़े करें, यह क्या न्यायसङ्गत कहा जा सकता है?

अस्तु। बेन्टिङ्क साहब के उद्योग से चिता की आग तो बुझ गई, पर उसकी जगह जन्म भर सुलगानेवाली वैधव्ययन्त्रणा की सृष्टि हुई। दुरूह ब्रह्मचर्य्य ने आकर सतीदाह के स्थान पर अधिकार जमा लिया। अग्नि ने दूसरा आकार धारण कर देह के बदले हृदय को जलाना शुरू कर दिया। बालिकाएँ विधवा होने के दिन से जीवन की अन्तिम घड़ी तक तिल-तिल करके जलने लगीं। सतीदाह में तो एक ही दिन में, दो-चार घण्टों में ही, सब मामला ख़तम हो जाता था, किन्तु यह आग जन्म भर जलाने के लिए हो गई। घर

में देखोगे कि प्रौढ़ा सौभाग्यशालिनी स्त्रियाँ सुख-सम्भोग कर रही हैं, और वहीं एक नाबालिग़ लड़की संन्यासिनी-वेश से विषाद की मूर्त्ति बनी बैठी रहती है। ऐसा भी कहीं-कहीं देख पड़ेगा कि पचास-साठ वर्ष का पिता घर में बचपन से राँड़ बनी बैठी हुई लड़की के आगे अपनी दूसरी या तीसरी शादी कर लाता है। कोमल स्वभाव-वाली बहनों-बेटियों को वैधव्य में ब्रह्मचर्य्य की शिक्षा क्या इसी तरह दी जाती है? फिर जो ब्रह्मचर्य्य चारों ओर अन्धकार करता है, जो सबके हृदय पर बोझ सा बना रहता है, जिसे देखकर हृदय में सैकड़ों साँपों के डसने की सी यन्त्रणा होती है वह भी क्या ब्रह्मचर्य कहा जा सकता है? शम्भुचन्द्र वाचस्पति ने बुढ़ापे में व्याह करके थोड़े ही दिनों में जिस ब्रह्मचर्य की सृष्टि की थी—जो सबल का अपने सुख के लिए दुर्बल पर अत्याचार होने के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता—उसे ब्रह्मचर्य कहना अपने आत्मा को सरासर धोखा देना है। विद्यासागर जिस समय पढ़ ही रहे थे उसी समय इस नीति-वैषम्य या आचार-विभ्राट् को देखकर उनके हृदय में एक प्रकार का आन्दोलन मच गया था। इसी से अपने गुरु वृद्ध वाचस्पति की बालिका स्त्री को देखकर वे रोने लगे थे। विद्या-सागर ने विधवा-जीवन की नाना प्रकार की दुर्दशा का हाल जानकर उसकी स्थिति में शास्त्रानुकूल परिवर्त्तन करना चाहा था। पति की स्मृति को हृदय में धारण कर ब्रह्मचारिणी होकर जो स्त्रियाँ ज़िन्दगी बिताने के लिए समर्थ और सहमत हों वे वही करें; उनके लिए वही श्रेष्ठ धर्म है। वे सब स्त्री-रूपधारिणी देवियाँ आत्मदमन और परसेवा की परम-सम्पत्ति भोगती हुई सदैव मनुष्य-समाज में निःस्वार्थ प्रेम और परार्थपरायणता का आदर्श बन-कर पुजती रहेंगी। किन्तु जिन्हें पति-सम्बन्धी कोई ज्ञान नहीं है,

अथवा जो इस कठिन मार्ग में नहीं चल सकतीं, उनके लिए नीति-कुशल दूरदर्शी लोग अन्य उपाय निर्दिष्ट करते हैं। वैसा किये विना लोकलाज और समाजशृङ्खला का दुरुस्त रहना असम्भव हो जाता है। इस उपाय के लिए वहुत सी जानकारी, भारी अभिज्ञता और असीम सहृदयता का होना परम आवश्यक है। ये सब वातें विद्या-सागर महाशय में यथेष्ट रूप से मौजूद थीं। उन्होंने वहुत कुछ देख-सुनकर, विविध तत्त्वों की आलोचना कर और वहुत लोगों के विरोध के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति प्राप्त करके समाज-संस्कार की तैयारी की थी। इस वार उन्होंने उस वड़े काम की तैयारी में कमर कसी जिसमें उनके मनुष्यत्व का पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ। उनके इस कार्य से वङ्गाल भर में हलचल मच गई। उनके इस संग्राम में थोड़ी शक्ति के कायर आदमी अपनी-अपनी जान लेकर इधर-उधर भाग गये। अवकी वार विद्यासागर ने वह महायज्ञ शुरू किया जिसमें उन्होंने भारतवासीमात्र को निमन्त्रित किया था। भारत के पवित्र क्षेत्र में अनेक महायज्ञ हो गये हैं, ऋषियों ने अनेक वार वैदिक यज्ञों के अनुष्टान किये हैं, भारतीय सम्राटों ने वहुत वार राजसूय यज्ञ किये हैं; किन्तु वङ्गाल की स्वार्थपरायण पण्डित-मण्डली से प्रकट होकर एक ग़रीव ब्राह्मण के लड़के ने जिस महायज्ञ का आयोजन किया उसकी वरावरी और कोई यज्ञ नहीं कर सकता। विद्यासागर के वारे में अव तक जो कहा जा चुका है वह उनकी गुणगरिमा लुप्त हो सकती है। किन्तु उनके इस महायज्ञ के कार्य को कोई नहीं छिपा सकता। लोग यह भूल सकते हैं कि ग़रीव के घर विद्यासागर पैदा हुए, ग़रीवी के कष्ट सहकर उन्होंने इतनी विद्या पढ़ी, विद्यालय में सर्व-विद्याविशारद होकर उन्होंने विद्यासागर की उपाधि पाई। लोग यह भी भूल सकते हैं कि उन्होंने अपनी

स्वतन्त्र प्रकृति के कारण ५००) रु० महीने की नौकरी छोड़ दी और छोटे लाट के कहने पर भी फिर नौकरी नहीं की। लोग यह भी भूल सकते हैं कि उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखकर बँगला के साहित्य की श्रीवृद्धि की और सदा दुखियों का दुःख मिटाने तथा आर्त-पीड़ित लोगों की सहायता करने में भी अपने जीवन का अधिकांश समय विताया। किन्तु उनके द्वारा प्रचलित बाल-विधवा-विवाह की बात को कोई हिन्दू नहीं भूल सकता। इस कार्य के कारण हिन्दू जाति के छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष बालक-वृद्ध सब सदैव विद्यासागर को जानें-पहचानेंगे। इस विधवा-विवाह के आन्दोलन में विद्यासागर ने समाज को अपना सच्चा और पूरा परिचय दिया है। उन्होंने यह दिखला दिया कि उनके शरीर में जितनी शक्ति थी, मन में उतना ही बल था। इस सामाजिक जटिल प्रश्न के निर्णय में उन्होंने अपनी सारी विद्या-बुद्धि और अभिज्ञता ख़र्च कर डाली।

इस कार्य में विद्यासागर को निन्दा और प्रशंसा, तिरस्कार और पुरस्कार, अनादर और सम्मान का समानरूप से सामना करना पड़ा था। यह ऐसा भारी आन्दोलन था कि अदालत में हाकिम और वकील, देवमन्दिर में पुजारी और तीर्थयात्री, बाज़ार में सौदा बेचने और ख़रीदनेवाले अन्तःपुर में कुलकामिनियाँ और खेतों में किसान लोग विधवा-विवाह की आलोचना करते-करते या तो विद्यासागर की प्रशंसा करते थे या निन्दा। अख़बारों का तो कहना ही क्या है। विधवाविवाह को शास्त्र-सम्मत प्रमाणित करके विधवाविवाह प्रचलित करना ही विद्यासागर की इतनी प्रसिद्धि और यश का कारण कहा जा सकता है। विधवा-विवाह के पक्ष का समर्थन और विधवा-विवाह को शास्त्रानुकूल प्रमाणित करना ही विद्यासागर के जीवन का महाव्रत हो गया

था। इस व्रत को सम्पूर्ण रूप से सम्पन्न करने में ही उन्होंने अपने जीवन का अधिक समय और अपनी आमदनी का बहुत सा हिस्सा लगा दिया।

अब प्रश्न यह है कि भारतवासी आर्य-जाति के सामाजिक इतिहास में विधवाविवाह का विचार क्या यह पहले ही पहल उठाया गया था? नहीं, यह बात नहीं है। एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में "भारत में हिन्दू-जाति की अन्त्येष्टि क्रिया" शीर्षक प्रबन्ध लिखकर उसमें डाकृर राजेन्द्रलाल मित्र ने इस प्रसङ्ग को उठाया था। किस प्रकार अन्त्येष्टि क्रिया होती थी, और उस समय कौन मन्त्र पढ़े जाते थे, इसकी आलोचना करते समय उन्होंने दिखलाया है कि उस समय मरे हुए पति के अनुगमन के समय भी प्रायः मृत-पुरुष का छोटा भाई या वैसा ही और कोई आदमी मृत व्यक्ति की चिता में आग लगाकर उसकी विधवा को, बायाँ हाथ पकड़कर, चिता पर से उतार लेता था और घर में लाकर उससे विवाह करता था। वह विधवा भी दुबारा के पति के साथ सुख से रहती थी। इस प्रकार विधवा को चिता पर से उतारने का मन्त्र भी था। मन्त्र रहने से यह साबित होता है कि यह कार्य शास्त्रसङ्गत था। लोग मनमानी नहीं करते थे। इस बारे में डाकृर राजेन्द्रलाल के कथन का कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है:—"इस मन्त्र में विशेष रूप से उल्लेख के योग्य वाक्य "दिधिपू" है। आरण्यक ने इस वाक्य का कोष-सङ्गत सहज अर्थ किया है कि दिधिपू, अर्थात् 'जो व्यक्ति विधवा से व्याह करे' या 'किसी स्त्री का दूसरी दफ़ा का स्वामी'। इसके सिवा अन्य प्रमाणों और युक्तियों से भी यह बात अनायास सिद्ध की जा सकती है कि वैदिक काल में विधवाविवाह आर्य-नीति-द्वारा सर्वथा अनु-

मोदित था। बहुत पुराने ज़माने से संस्कृत भाषा में दिधिषू (विधवा से ब्याह करनेवाला), परपूर्वा (दूसरे पति को ग्रहण करनेवाली), पौनर्भव (दूसरे पति से उत्पन्न पुत्र) आदि शब्दों का प्रचलित होना ही इस बात का प्रमाण है कि विधवाविवाह पहले हुआ करता था।"*

इस बात के और भी बहुत से प्रमाणों का संग्रह किया जा सकता है कि बङ्गाल या भारत भर में विधवाविवाह की यह चेष्टा नई नहीं थी। इस सम्बन्ध में राजा राजवल्लभ के वर्त्तमान वंशधरों ने मिलकर जो पत्र लिखा था वह यहाँ पर उद्धृत किया जाता है:—

महाशय,

राजा राजवल्लभ ने तत्कालीन समाज में विधवाविवाह चलाने के लिए बड़ी कोशिश की थी। अनेक देशों से शास्त्रज्ञ पण्डितों की व्यवस्था भी मँगवाई थी। विक्रमपुरनिवासी कई स्मार्त्त भट्टाचार्य्यों ने राजवल्लभ के इस काम में विशेष सहायता की थी। नवद्वीप

---

* The most important word in the *mantra* is *didhishu*. In the Aranyaka, he accepts it in its ordinary well-established dictionary meaning of a man "who marries a widow, or the second husband of a woman twice married." * * * "That remarriage of widows in Vedic time was a national custom, can be easily established by a variety of proofs and arguments. The very fact of the Sanscrit language having from ancient times such words as *didhishu*, 'a man that has married a widow,' *parapurva*, 'a woman that has taken a second husband,' *paunarbhava*, 'son of a woman by her second husband,' are enough to establish it."—On the Funeral Ceremonies of the Ancient Hindus. *The Journal of the Asiatic Society of Bengal*, 1870.

(नदिया) की अध्यापकमण्डली द्वारा अनुमोदित और उन पण्डितों के हस्ताक्षरों सहित व्यवस्थापत्र पाने के लिए राजवल्लभ ने कई अध्यापकों को नदियानरेश कृष्णचन्द्र के पास भेजा था। सुना जाता है कि नदिया के पण्डितों ने अन्यान्य प्रदेशों के पण्डितों की दी हुई व्यवस्था को शास्त्रानुकूल मान लिया था। किन्तु कृष्णचन्द्र के दवाव में पड़कर उस व्यवस्थापत्र में हस्ताक्षर करने का साहस किसी पण्डित को नहीं हुआ। राजा कृष्णचन्द्र के कुचक्र से राजवल्लभ का सब उद्योग विफल हो गया। राजवल्लभ के तीन सभा-पण्डित थे—सार्वभौम, विद्यावागीश और सिद्धान्त। प्रथम दो पण्डित राजवल्लभ के अनुकूल थे; तीसरे पण्डित को राजवल्लभ ने फोड़ लिया था। यही कारण है कि राजनगर में सार्वभौम और विद्यावागीश के वंशधरों का बड़ा भारी मान है।

इसके सिवा इस विधवाविवाह चलाने के प्रसङ्ग में "क्षितीशवंशावलिचरित" में लिखा है कि विक्रमपुर और नदिया प्रान्त के भद्रसमाज में अभी तक यह प्रवाद प्रचलित है कि विक्रमपुरनिवासी प्रसिद्ध राजा राजवल्लभ ने अपनी नौजवान विधवा कन्या की वैधव्य-यन्त्रणा देखकर बहुत ही व्यथित हो विधवाविवाह प्रचलित करने के लिए बहुत उद्योग किया था। विधवाविवाह शास्त्र-विरुद्ध नहीं है, इस बात की व्यवस्था पूर्व और पश्चिम प्रान्त के अनेक पण्डितों से मँगवाकर, उसमें नदिया की पण्डित-मण्डली के हस्ताक्षर कराने के लिए, राजवल्लभ ने वह व्यवस्थापत्र कई पण्डितों के हाथों राजा कृष्णचन्द्र की सभा में भेजा था। राजवल्लभ का उस समय ढाका में बड़ा दबदबा था। उन्होंने समझा था कि जब अन्य प्रान्तों के पण्डितों ने विधवाविवाह के अनुकूल व्यवस्था दे दी है तब नदिया के पण्डित अनायास ही इस व्यवस्था से सहमत हो जायँगे। राज-

वल्लभ के भेजे हुए पण्डित जब कृष्णचन्द्र की सभा में पहुँचे तब उन्होंने बड़े आदर और सत्कार के साथ उनकी अभ्यर्थना की और यह भी स्वीकार कर लिया कि मैं यथाशक्ति तुम्हारे राजा की इच्छा पूर्ण करने का उद्योग करूँगा। इसके बाद छिपे तौर से अपनी सभा के और नदिया के प्रधान पण्डितों को बुलाकर कृष्णचन्द्र ने वह व्यवस्था दिखलाई। उस व्यवस्था को पढ़कर सब पण्डितों ने कहा कि "यह व्यवस्था पूरे तौर से शास्त्र के अनुकूल है।" यह सुनकर डाह के मारे कृष्णचन्द्र ने कहा कि "शास्त्रानुकूल होने पर भी इस व्यवस्था को लौकिक व्यवहार के विरुद्ध बताकर राजवल्लभ को निराश करना होगा। वैद्य जाति का एक आदमी इस चिर-काल से अप्रचलित व्यवहार को प्रचलित कर जायगा! यह बात सर्वथा असह्य है। किन्तु इस समय राजवल्लभ का दबदबा बड़ा भारी है, इस कारण खुल्लमखुल्ला मैं उसके विरुद्ध कारवाई करना पसन्द नहीं करता। उसके सन्तोष के लिए मैं आप लोगों से इस व्यवस्थापत्र पर हस्ताक्षर करने को बहुत कुछ अनुरोध करूँगा; परन्तु आप लोग किसी तरह न मानिएगा। आप लोग यही कहिएगा कि महाराज, किसी के भी अनुरोध से इस व्यवस्था पर हस्ताक्षर करके पाप के भागी नहीं बनेंगे।"

इसके बाद दूसरे दिन राजवल्लभ के पण्डित लोग जब सभा में आये तब राजा कृष्णचन्द्र ने नदिया के पण्डितों से कहा—'राजवल्लभ ने जो व्यवस्था भेजी है वह अवश्य ही शास्त्रसम्मत होगी। यदि वह शास्त्रसम्मत न हो तो भी जब उन्होंने अनुरोध किया है तब आप लोगों को उसे मंजूर ही करना पड़ेगा।' पण्डित लोगों ने पहले की सलाह माफ़िक़ अनेक प्रकार की आपत्तियाँ उठाकर हस्ताक्षर करना अङ्गीकार न किया। राजवल्लभ के भेजे हुए पण्डित निराश

होकर अपने घर लौट गये। राजवल्लभ को कृष्णचन्द्र का कौशल कुछ भी मालूम न था, इन्होंने अपने विचार को छोड़ दिया। इस घटना के उल्लेख के समय ग्रन्थकार ने आक्षेप करके फ़ुटनोट में राजा कृष्णचन्द्र के आचरण के सम्बन्ध में लिखा है—महाराज श्रीशचन्द्र के मुँह से सुना है कि कृष्णचन्द्र ने राजवल्लभ की भेजी हुई व्यवस्था पढ़कर बड़े खेद से कहा था कि 'हाय, इससे पहले मैंने क्यों न इस काम के लिए यत्न किया'।

इस पत्र से पाठकों को सब हाल मालूम हो गया होगा। अभागे भारत का सर्वनाश सब कामों में इसी जली-फूट और ईर्षा ने कराया है। राजा-राजा के झगड़े से भारत की राजशक्ति क्षीण और हीनबल हो गई। समाज में एकता न रहने से वह भी निर्बल हो गया। राजवल्लभ और कृष्णचन्द्र अगर मिलकर इस शुभ कार्य को करते तो समाज का बड़ा भारी कल्याण होता। प्रबल शक्तियों के परस्पर मिलकर काम करने से जो सुफल होता है उसका अत्यन्त उज्ज्वल दृष्टान्त इँगलेंड है और प्रबल शक्तियों के परस्पर विरोध करने से जो कुफल होता है उसका सबसे बड़ा उदाहरण वर्तमान भारत है।

विद्यासागर ने जिस समय यह प्रश्न उठाया था कि विधवा का विवाह होना चाहिए या नहीं, उस समय देश में इस ओर से पण्डितों के उदासीन रहने पर भी साधारण गृहस्थ लोग सर्वथा विधवाविवाह की आवश्यकता का अनुभव करते रहते थे। जब कहीं किसी की बालिका कन्या विधवा होती थी तब वह उसकी भावी यन्त्रणा और दुर्दशा का ख़याल करके यह सोचता था कि यदि समाज में विधवा का विवाह किया जाता होता तो बड़ा अच्छा होता। किन्तु साहस और प्रतापी नेता के न होने से कोई इस काम के

लिए अग्रसर न होता था। खास कर हमारे देश के लोग अदृष्टवाद के वशवर्त्ती होकर ऐसे आलसी और अकर्मण्य हो गये हैं कि किसी काम के लिए अधिक दिनों तक उनका आग्रह नहीं बना रहता। किसी काम में पहले उत्साह होता है तो वह कुछ ही दिनों में आप ही आप बुझ जाता है। इसी कारण हम लोग स्थिर भाव से कोई काम करने के लायक़ नहीं रह गये हैं। विद्यासागर के इस काम में हाथ डालने के दस साल पहले कलकत्ता, बहूबाज़ार के रहनेवाले नीलकमल बनर्जी आदि कई गृहस्थों ने बहुत से आत्मीय स्वजनों को अपना साथी बनाकर विधवाविवाह चलाने की चेष्टा की थी; किन्तु काम के समय वे अधिक अग्रसर नहीं हो सके।

विद्यासागर के विधवाविवाह की चेष्टा करने के कुछ दिन पहले कृष्णनगर के राजा महाराज श्रीशचन्द्र ने ब्राह्मसमाज की स्थापना में सफलता प्राप्त करने के उपरान्त विधवाविवाह प्रचलित करने की चेष्टा की थी। उनके चरित-लेखक का कथन है कि महाराज श्रीशचन्द्र ने विधवाविवाह की शास्त्रसङ्गत व्यवस्था प्राप्त करने के लिए नवद्वीप के पण्डितों की सभा की थी। उसमें पण्डितों ने यह तो स्वीकार कर लिया कि विधवाविवाह शास्त्रसङ्गत है किन्तु सहसा व्यवस्थापत्र देने का साहस उन्हें नहीं हुआ। अन्त को राजा के विशेष आग्रह और अनुरोध से वे व्यवस्था देने के लिए राज़ी भी हो गये थे। व्यवस्थापत्र लिख देने में कुछ ही विलम्ब था, इसी समय बाबू ब्रजनाथ मुखर्जी और बारासात-निवासी बाबू कालीकृष्ण मित्र आदि के नेतृत्व में कृष्णनगर के नौजवान लोग सभा-समिति करके विधवाविवाह आदि समाजसंस्कार के काम करने के लिए कमर कस-कर खड़े हो गये। उस आन्दोलन से नवद्वीप के समाज में हल-चल पड़ गई। किन्तु बीरनगरनिवासी ज़मींदार बाबू बामनदास

मुखर्जी ने अपने दल के लोगों के साथ इस कार्य का ऐसा विरोध शुरू किया कि कुछ न हो सका। उनके विरोध से कृष्णनगर में विधवाविवाह चलाने की चेष्टा धीरे-धीरे धीमी पड़ रही थी, इसी समय कलकत्ते में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवाविवाह का आन्दोलन जारी कर दिया।

तत्त्वबोधिनी पत्रिका में इस विषय पर विद्यासागरजी के लेख निकलने लगे। उस समय तत्त्वबोधिनी में ओजस्विनी भाषा में इस विषय के लेख निकलने से समाज में एक भारी आन्दोलन उपस्थित हो गया।

इसी समय कालीकृष्ण मित्र ने एक लेख लिखकर कृष्णनगर की एक सभा में पढ़ा। इस लेख में उन्होंने विधवाविवाह की आवश्यकता के साथ ही विद्यासागर के दिये शास्त्रीय प्रमाणों को लोकाचारसङ्गत साबित कर दिखाया। उनके इस लेख के पढ़ने से कृष्णनगर में फिर नये जोश के साथ विधवाविवाह का आन्दोलन होने लगा। इधर तत्त्वबोधिनी पत्रिका में इस विषय पर लेख के ऊपर लेख प्रकाशित होने लगे। पहले लिखे-पढ़े लोगों में और फिर सर्वसाधारण में विधवाविवाह के आन्दोलन और विद्यासागर की समर-घोषणा का प्रचार हो गया।

अदृष्टवादी भारतवासियों का आलस्य और शिथिलता कुम्भकर्ण की नींद से कम नहीं है। यदि समय पर वे आलस्य और शिथिलता को छोड़ दें तो उनके द्वारा अनेक शुभ कार्य हो सकते हैं। किन्तु दुःख की बात है कि अक्सर असमय पर उनकी नींद खुलती है और उनके उद्यम उत्साह की क्षीण रेखा आलस्य की खुमारी ही में लीन होकर रह जाती है। किन्तु समाज-संस्कारक विद्यासागर ने उस समय आन्दोलन उपस्थित किया था जिस समय समाज ने आप ही

आप आँखें खोलकर अपनी आवश्यकता की ओर ध्यान देना शुरू किया था। बहुत दिनों तक सोचकर, बहुत से ग्रन्थ पढ़कर, बहुत से शास्त्रों की आलोचना कर, फिर वे सामाजिक संग्राम के मैदान में उतरे थे। यद्यपि विद्यासागर को सहज ज्ञान और सहज बुद्धि से बालिका विधवाओं का फिर ब्याह होना उचित जान पड़ता था तथापि जब तक उनको अपने अनुकूल शास्त्र का प्रमाण नहीं मिला तब तक वे बराबर शास्त्र का अभिप्राय समझने और उसकी छानबीन करने ही में लगे रहे। इस शास्त्र-समुद्र को मथकर किसी तत्त्व का निरूपण करना कितना कठिन काम है, इसका अनुमान करना भी सहज नहीं। बहुत सी पुरानी कीड़ों की खाई मैली हस्तलिखित पोथियों से शास्त्र का मतलब निकालना अशोक-वनवासिनी सीता के उद्धार से कम कठिन काम नहीं है। इसके लिए कितना धीर स्वभाव, कितनी सहिष्णुता और कितनी साधना की ज़रूरत है, इसकी धारणा भी हर एक आदमी नहीं कर सकता।

सुना है कि जिस समय विद्यासागरजी विधवाविवाह का शास्त्रीय प्रमाण खोज रहे थे उस समय वे केवल एक बार अपने मित्र राजकृष्ण बाबू के यहाँ भोजन करने जाते थे। कालेज का काम समाप्त करके तीसरे पहर से लेकर रात भर संस्कृतकालेज के पुस्तकालय में बैठे पुस्तकें देखा करते थे। कालेज के पास ही उनके परम मित्र श्याम बाबू रहते थे। शाम के बाद उनके यहाँ से जलपान के लिए कुछ मिठाई आती थी। किसी दिन विद्यासागर ख़ुद उनके यहाँ जाकर जलपान कर आते थे। शास्त्र की आलोचना में इस तरह नियुक्त रहने के समय एक दिन रात को बहुत देर तक विचार करने पर भी एक शास्त्रीय वचन के अर्थ की ठीक सङ्गति नहीं लगी। अन्त को उदास होकर विद्यासागर घर को लौटे। सहसा रास्ते में उन्हें

उसका ठीक अर्थ लग गया। विद्यासागर मेहनत करके थक गये थे। वे वैसे ही संस्कृत-कालेज को लौट गये और वहाँ उस श्लोक का अर्थ लिखने लगे। इस प्रकार लिखते-लिखते रात बीत गई। सवेरे की ठण्डी हवा लगने पर, धूप निकल आने पर, उन्होंने लिखना बन्द किया। ऐसी एकाग्रता और तत्परता के बिना कभी कोई किसी बड़े काम में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्रों की इस प्रकार आलोचना करते-करते विद्यासागर ने पराशरसंहिता में निम्नलिखित तीन श्लोक देखे—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥
मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटिश्च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्त्तारं याऽनुगच्छति॥

इन श्लोकों को देखकर इनका अर्थ ठीक-ठीक लग जाने से विद्यासागर को बड़ी प्रसन्नता हुई।

इस प्रकार स्मृतिशास्त्र का प्रमाण पाने पर और उसका ठीक अर्थ लग जाने पर विद्यासागर ने उसी शास्त्र-वचन के आधार पर सहज ज्ञान और सुयुक्तियों के सहारे एक ग्रन्थ लिख डाला। वह पहला ग्रन्थ उतना बड़ा नहीं बना था। थोड़े ही में प्रयोजन की बातें लिखकर विधवा-विवाह की आवश्यकता प्रमाणित कर दी गई थी। पुस्तक तो लिख डाली, पर उसका प्रचार नहीं किया। पुस्तक लिखकर विद्यासागर सबसे पहले पिता के पास गये और कहा—"देखिए, मैंने शास्त्रों से प्रमाण संग्रह करके विधवा-विवाह के पक्ष

का समर्थन करने के लिए यह पुस्तक लिखी है। आप इसे सुनकर इस बारे में जब तक सहमत न होंगे तब तक मैं इस पुस्तक को प्रकाशित नहीं कर सकता।" ठाकुरदास ने विद्यासागर से कहा—"अच्छा, अगर मैं इस काम में सहमत न होऊँ तो तुम क्या करोगे?" ईश्वरचन्द्र ने कहा—"तो मैं आपके जीवनकाल में इस पुस्तक को प्रकाशित न करूँगा। उसके बाद जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगा।" पिता ने पुत्र से कहा—"अच्छा, कल एक बार एकान्त में मन लगाकर सब पुस्तक आदि से अन्त तक सुनूँगा। उसके बाद अपनी राय दूँगा।" दूसरे दिन विद्यासागर ने पिता के पास बैठकर सब पुस्तक पढ़ सुनाई। पिता ने सब सुनकर कहा—"तुमको क्या इस बात का विश्वास है कि तुमने जो कुछ लिखा है वह शास्त्रसङ्गत है?" पुत्र ने कहा—"हाँ, इसमें मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं।" उदार हृदय ठाकुरदास ने कहा—"तो तुम इस मामले में चेष्टा कर सकते हो; मुझे इसमें कुछ आपत्ति नहीं।" पिता से आज्ञा लेकर विद्यासागर अपनी माता के पास गये। वहाँ जाकर उन्होंने कहा—"माताजी, तुम तो शास्त्र क्या कहता है, यह समझ नहीं सकतीं। मैंने विधवा-विवाह के बारे में यह पुस्तक लिखी है। किन्तु जब तक तुम आज्ञा न दोगी तब तक इसे मैं छपा न सकूँगा। शास्त्र में विधवा-विवाह का विधान है।" सरलता की सौम्यमूर्त्ति विद्यासागर-जननी ने कहा—"बेटा, इसमें मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं। लेकिन उनसे न कहना।" विद्यासागर ने कहा—"क्यों, पिताजी से छिपाने की क्या ज़रूरत है?" माता ने कहा—"वे शायद तुमको मना करें। क्योंकि तुम विधवा-विवाह की हलचल मचाओगे तो उससे उनका बहुत कुछ नुक़सान हो सकता है।" विद्यासागर ने कहा—"मैं उनसे पहले ही पूछ चुका हूँ। वे मेरी सम्मति से सहमत हैं।"

करुणारूपिणी भगवती देवी ने यह समाचार सुनकर और भी उत्साहित होकर कहा—तो ठीक है, फिर डर काहे का ?

इस प्रकार विद्यासागरजी जिस समय पिता-माता की अनुमति और सहानुभूति प्राप्त करके इस सामाजिक संग्राम के मैदान में उतरे थे, ठीक उसी समय कलकत्ता, पटलडाँगा, के रहनेवाले श्याम-चरणदास कर्मकार नामक एक बङ्गाली सज्जन ने अपनी बालिका विधवा कन्या का ब्याह करने के लिए पण्डितों से व्यवस्था माँगी थी। उस समय स्वर्गीय काशीनाथ तर्कालङ्कार, भवशङ्कर विद्यारत्न, रामतनु तर्कसिद्धान्त, ठाकुरदास चूड़ामणि और मुक्ताराम विद्यावागीश आदि कई स्मार्त्त भट्टाचार्य्यों ने विधवा-विवाह को धर्मशास्त्रानुकूल स्वीकार करते हुए जो व्यवस्थापत्र दिया था उसकी नक़ल और अनुवाद यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

व्यवस्था।

श्रीश्रीदुर्गा।

परम पूजनीय श्रीयुत धर्म्मशास्त्राध्यापक महाशयगणसमीपे।

प्रश्न—नवशाख जाति के किसी आदमी की कन्या ब्याह होने के बाद आठ या नव वर्ष की अवस्था में विधवा हो गई है। वह आदमी अपनी कन्या को कठिन विधवाधर्म (ब्रह्मचर्य्य आदि) के पालन में असमर्थ देखकर फिर दूसरे वर के साथ उसका ब्याह करना चाहता है। अब यहाँ पर प्रश्न यह है कि ब्रह्मचर्य के पालन में असमर्थ होने पर ऐसी विधवा का पुनर्विवाह शास्त्र-सिद्ध हो सकता है या नहीं और पुनर्विवाह के उपरान्त वह बालिका दूसरे पति की शास्त्रानुकूल पत्नी हो सकती है या नहीं? इस बारे में कृपा कर शास्त्रविहित व्यवस्था लिख दीजिए।

उत्तर। मन्वादिशास्त्रेषु नारीणां पतिमरणानन्तरं ब्रह्मचर्य्यसहमरणपुनर्भवनानामुत्तरोत्तरापकर्षेण विधवाधर्मतया विहितत्वात् ब्रह्मचर्यसहमरणरूपाद्यकल्पद्वयेऽसमर्थाया अक्षतयोन्याः शूद्रजातीयमृतभर्तृकबालायाः पात्रान्तरेण सह पुनर्विवाहः पुनर्भवनरूपविधवाधर्म्मत्वेन शास्त्रसिद्ध एव यथाविधि संस्कृतायाश्च तस्या द्वितीयभर्तृभार्य्यात्वं सुतरां शास्त्रसिद्धं भवतीति धर्म्मशास्त्रविदाम्मतम्।

अत्र प्रमाणम्। मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्य्यं तदन्वारोहणं वेति शुद्धितत्त्वादिधृतविष्णुवचनम्। या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया। उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥ इति सा चेदक्षतयोनिः स्यात् गतप्रत्यागताऽपि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हतीति च मनुवचनम्। सा स्त्री यद्यक्षतयोनिः सत्यन्यमाश्रयेत् तदा तेन पौनर्भवेन भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हतीति कुल्लूकभट्टव्याख्यानम्। नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनरिति वचनन्तु। देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया। प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ इति नियोगमुपक्रम्य लिखनान्नियोगाङ्गविवाहनिषेधपरं न सामान्यतो विधवाविवाहनिषेधकमन्यथापुनर्भवनप्रतिपादकवचनयोर्निर्विषयत्वापत्तिरिति। दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं परस्य चेत्युद्वाहतत्त्वधृतवृहन्नारदीयवचनम्। देवरेण सुतोत्पत्तिर्दत्ता कन्या प्रदीयते। इति तद्धृतादित्यपुराणवचनञ्च। समयधर्मप्रतिपादकतया न नित्यवदनुष्ठाननिषेधकम्। सत्यामप्यत्र विप्रतिपत्तौ प्रकृतेऽक्षतयोन्याः पुनर्विवाहस्य प्रस्तुतत्वात् देवरेण सुतोत्पत्तिर्वानप्रस्थाश्रमग्रहः। `दत्तक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य वै॥ इतिमदनपारिजातधृतवचनेन सह तयोरेकवाक्यत्वेऽक्षतयोन्या बालायाः पुनर्विवाहं न ते प्रतिषेद्धुं शक्नुतः प्रत्युत क्षतयोन्या विवाहनिषेधकतया व्यतिरेकमुखेनाक्षतयोन्याः पुनर्विवाहमेव द्योतयते इति।

जगन्नाथ:शरणम्	रामचन्द्र:शरणम्
श्रीकाशिनाथशर्म्मणाम् ।	श्रीमुक्तारामशर्म्मणाम् ।
श्रीविश्वेश्वरो जयति	श्रीहरि:शरणम्
श्रीभवशङ्करशर्म्मणाम् ।	श्रीठाकुरदासशर्म्मणाम् ।
श्रीराम:शरणम्	काशिनाथ:शरणम्
श्रीरामतनुदेवशर्म्मणाम् ।	श्रीमधुसूदनशर्म्मणाम् ।
श्रीराम:	श्रीशङ्करो जयति
श्रीठाकुरदासदेवशर्म्मणाम् ।	श्रीहरनाथशर्म्मणाम् ।
श्रीहरिनारायणदेवशर्म्मणाम् ।	

व्यवस्था का अनुवाद

प्रश्न—(इसका हिन्दी अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है)

उत्तर । मनुसंहिता आदि शास्त्रों में स्त्रियों के पति के मरने के बाद ब्रह्मचर्य, सहमरण और पुनर्विवाह, ये तीन विधवा-धर्म्म कहे गये हैं । अतएव जो शूद्र जाति की अक्षतयोनि विधवा ब्रह्मचर्य और सहमरण में असमर्थ हो उसका फिर ब्याह होना अवश्य शास्त्रसिद्ध है । विधिपूर्वक विवाहसंस्कार होने पर उस स्त्री का द्वितीय पति की स्त्री होना भी शास्त्रसिद्ध है । धर्म्मशास्त्र के जाननेवाले पण्डितों की यह सम्मति है ।

इस बारे में प्रमाण—मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा ।

(शुद्धितत्त्व में उद्धृत विष्णु का वचन)

पति के मरने पर ब्रह्मचर्य या सहगमन करना ।

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागताऽपि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

—(मनु)

जो स्त्री पति के छोड़ देने पर या विधवा होकर अपनी इच्छा से पुनर्भू होती है, अर्थात् फिर दूसरे आदमी से विवाह करती है उसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र पौनर्भव कहलाता है। यदि वह स्त्री अक्षतयोनि अथवा गत-प्रत्यागता होती है, अर्थात् प्रथम पति को छोड़कर अन्य पुरुष को ग्रहण करने के बाद फिर पति के घर आती है तो फिर उसका ब्याह हो सकता है।/

सा स्त्री यद्यक्षतयोनिः सत्यन्यमाश्रयेत् तदा तेन पौनर्भवेन भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हतीति।

(कुल्लूक भट्ट की व्याख्या)

वह स्त्री यदि अक्षतयोनि रहकर अन्य पुरुष का आश्रय ग्रहण करे तो उस दूसरे पति के साथ उस स्त्री का फिर ब्याह हो सकता है।

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥

—(मनु)

विवाह-विधि के मन्त्रों में कहीं पर नियोग का उल्लेख नहीं है। और, विवाहविधि में कहीं पर विधवा के विवाह का उल्लेख नहीं है।

यह जो वचन है, उसके द्वारा नियोग के अङ्गीभूत विवाह का ही निषेध किया गया है। क्योंकि नियोगप्रकरण को शुरू करके यह वचन लिखा गया है। साधारणतः विधवाविवाह का निषेध करने के लिए यह वचन नहीं है। यदि इसे तुम विधवाविवाह का निषेधक समझोगे

तो फिर ऊपर जिन दो श्लोकों में पुनर्विवाह की विधि का उल्लेख किया गया है उनकी ठीक सङ्गति नहीं लगती, वे व्यर्थ हुए जाते हैं।

दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च ।

(उद्वाहतत्त्व में उद्धृत बृहन्नारदीयवचन)

दी हुई कन्या को फिर दूसरे को देना।

देवरेण सुतोत्पत्तिर्दत्ता कन्या प्रदीयते ।

(उद्वाहतत्त्व में उद्धृत आदित्यपुराण का वचन)

देवर के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराना और दी हुई कन्या का फिर दान। ये दोनों वचन समय, धर्म्म के बोधक हैं। इनसे एकदम विधवाविवाह का निषेध नहीं पाया जाता। यदि इस मीमांसा में आपत्ति हो तो मदनपारिजात में उद्धृत—

देवरेण सुतोत्पत्तिर्वानप्रस्थाश्रमाग्रहः ।
दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य वै ॥

देवर के द्वारा पुत्र उत्पन्न करना, वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण, विवाहिता क्षतयोनि कन्या को दूसरे वर के साथ व्याहना—

इस वचन के साथ सङ्गति मिलाने से उक्त दोनों वचन अक्षतयोनि कन्या के पुनर्विवाह को रोक नहीं सकते। बल्कि मदनपारिजात का वचन क्षतयोनि विधवा के विवाह का निषेध करके अक्षतयोनि विधवा के पुनर्विवाह का बोधक ही होता है।

यह व्यवस्थापत्र संस्कृत-कालेज के अध्यापक मुक्ताराम विद्यावागीश की रचना और उन्हीं के हाथ का लिखा हुआ है। कुछ दिनों बाद सर राजा राधाकान्त देव बहादुर के घर में एक सभा हुई। उसमें बहुत से पण्डितों के सामने नवद्वीप से आये हुए स्मार्त्त व्रजनाथ विद्यारत्न से शास्त्रार्थ हुआ। उसमें, व्यवस्था-पत्र में

हस्ताक्षर करनेवाले भवशङ्कर विद्यारत्न ने विधवाविवाह के पक्ष का समर्थन करने में विजय पाई। इसका पुरस्कार उन्हें एक बढ़िया दुशाला मिला था। किन्तु काम के समय भवशङ्कर विद्यारत्न ने वही पुरस्कार में प्राप्त दुशाला ओढ़कर विधवाविवाह के विरोधियों की सहायता की। मुक्ताराम विद्यावागीश भी विद्यारत्न के दिखलाये मार्ग में फिसल पड़े। विद्यासागर ने अपने विधवाविवाह-सम्बन्धी ग्रन्थ की भूमिका में बड़े दुःख के साथ लिखा है कि "श्रीयुत बाबू श्यामाचरण दास गृहस्थ आदमी हैं; शास्त्रज्ञ नहीं। उन्होंने श्रीयुत भवशङ्कर विद्यारत्न आदि पण्डितों को धर्म-शास्त्र का जानकार जानकर उनसे शास्त्रानुकूल व्यवस्था माँगी थी और उन्होंने भी व्यवस्था दी थी। यदि विधवाविवाह वास्तव में शास्त्र-विरुद्ध है, ऐसी धारणा रहते भी उक्त महापुरुषों ने विधवाविवाह को शास्त्रसङ्गत बतलाकर व्यवस्था दी है तो उन्होंने भले आदमी का काम नहीं किया। और यदि विधवाविवाह को यथार्थ शास्त्र-सम्मत समझकर वैसी ही व्यवस्था दी थी तो भी अब विधवाविवाह को शास्त्र-विरुद्ध बतलाना और उसका विरोध करना भले आदमियों का काम नहीं है। जो हो, आक्षेप की बात यही है कि जिनकी रीति-नीति ऐसी है वे महापुरुष ही इस देश में धर्म-शास्त्र के मीमांसक समझे जाते हैं और उन्हीं के वाक्य व व्यवस्था पर आस्था स्थापित करके देश के लोगों को चलना पड़ता है।"

धर्म-शास्त्र की व्याख्या करनेवाले अध्यापकों के ऐसे आचरण देखकर पिछले ज़माने में विद्यासागरजी बड़े दुःख के साथ कहते थे कि "मैं जंगल में रो रहा हूँ। मुझे विश्वास था कि इस देश के लोग शास्त्र को मानकर चलते हैं, किन्तु अब देखता हूँ कि इस देश के लोग शास्त्र को नहीं मानते; लोकाचार ही इनका धर्म्म है।" फिर भी विद्यासागर अपने कर्त्तव्य पर डटे ही रहे।

सन् १८५३ में विद्यासागर की विधवाविवाह-सम्बन्धी पुस्तक छपते ही भारत भर में सर्वत्र हलचल मच गई। सेना-सहित नेपोलियन के यात्रा करने से जैसे सारा यूरोप हिल उठा था वैसे ही विद्यासागर के इस संस्कार-संग्राम की आयोजना से भारत में एक तूफ़ान सा आ गया। सर्वत्र विद्यासागर और विधवाविवाह की आलोचना होने लगी। कितने ही प्रतिवाद हुए और कितने ही लोग ग्रन्थ लिखकर विद्यासागर के शास्त्रसिद्ध प्रमाणों में भ्रम दिखाने की चेष्टा करने लगे। किन्तु विद्यासागर की प्रतिभा से उत्पन्न शास्त्र की सुसङ्गत व्याख्या के आगे किसी की कोई युक्ति नहीं चली। विरोधियों के किये कूट तर्कों का समाधान करते हुए विद्यासागर ने सन् १८५५ में दूसरी बार विधवाविवाह की पुस्तक छपाई। अबकी पुस्तक का आकार बहुत बढ़ गया।

इस विधवाविवाह-ग्रन्थ के अनेक स्थानों में जो विचार-निपुणता देखकर लोग मुग्ध हैं उसका कुछ अंश यहाँ पर पाठकों की प्रसन्नता के लिए उद्धृत किया जाता है।

> नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
> पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥
> मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता।
> सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः॥
> तिस्रः कोट्योऽर्धकोटिश्च यानि लोमानि मानवे।
> तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्त्तारं याऽनुगच्छति॥

अर्थात् स्वामी के लापता होने पर, मर जाने पर, नपुंसक निश्चित होने पर, संन्यासी या पतित होने पर स्त्रियों का दूसरा पति शास्त्र-विहित है। जो स्त्री स्वामी के मरने पर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती है वह मरने पर ब्रह्मचारियों की तरह स्वर्ग को जाती है। मनुष्य

के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं, जो स्त्री स्वामी के साथ सती हो जाती है वह उतने ही समय तक स्वर्गवास करती है।

कलियुग में पराशरसंहिता ही प्रधान माननीय स्मृतिग्रन्थ है। हिन्दू-धर्म और शास्त्र-विधि के अनुसार पराशरसंहिता का प्रमाण सर्वमान्य होना चाहिए। महात्मा व्यास ने पराशरसंहिता को ही कलियुग में धर्म का सहजसाध्य विधान बतलाया है। मनु आदि धर्माचार्यों की संहिताएँ ख़ास कर पहले के युगों के लिए रची गई हैं। कलियुग के सहजसाध्य धर्म्म-मार्ग को दिखलानेवाले महात्मा पराशर ही हैं। ऊपर जो तीन श्लोक लिखे गये हैं वे पराशर-संहिता के ही हैं। इन श्लोकों का जो सहज और सरल अर्थ निकलता है वह भी ऊपर लिखा जा चुका है। किन्तु इस अर्थ में मनमानी करने के लिए अनेक पण्डितों और गृहस्थों ने बड़े-बड़े ज़ोर मारे। परन्तु पराक्रमी विद्यासागर ने इन सब प्रतिद्वन्द्वी पण्डितों को चुटकी बजाते परास्त कर दिया। उन्होंने हर एक श्लोक को उठाकर मनमानी करनेवालों के कथन का खण्डन कर डाला। उन्होंने यह दिखला दिया कि किसलिए किस श्लोक के बाद कौन श्लोक बनाया गया है। विद्यासागर के समझाने का ढँग ऐसा सहज और सुन्दर है कि जो आदमी लिखना-पढ़ना नहीं जानता उसे भी उस ग्रन्थ के द्वारा सब बातें बड़े मज़े में समझा दी जा सकती हैं। पराशरसंहिता के विवाहविधिप्रकरण में लिखे गये पूर्वोक्त तीनों श्लोकों का दूसरा अर्थ करने के लिए और साधारण लोगों को उनका दूसरा मतलब समझाने के लिए जिसने जितनी अधिक चेष्टा की है उसने उतना ही अधिक विद्यासागर को गालियाँ दी हैं, उनके प्रति विद्रूप और नीच-व्यंग्य किये हैं। किन्तु ऐसे भारी मामले के विचार में जैसे धैर्य्य और शान्ति की आवश्यकता

हुआ करती है उससे विद्यासागर विन्दुमात्र विचलित नहीं हुए। प्रमाण-स्वरूप विद्यासागर की उक्ति का एक अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है —

"खेद की बात है कि जो महाशय उत्तर देने के लिए मैदान में आये हैं उनमें से बहुत से तो इस बात को भी अच्छी तरह नहीं जानते कि ऐसे भारी विषय का विचार किस प्रकार से करना चाहिए। कोई-कोई तो 'विधवाविवाह' शब्द सुनते ही क्रोध से अधीर हो उठे हैं। विचार के समय धैर्य्य न रखने से तत्त्वनिर्णय के समय सूक्ष्मदृष्टि नहीं रहती। इसका प्रमाण अनेक लोगों के दिये उत्तरों में पाया जाता है। किसी-किसी ने इच्छापूर्वक सत्यासत्य के विचार से विमुख होकर कुछ अलीक अमूलक आपत्तियाँ उठाई हैं। उन्होंने जिस अभिप्राय से ऐसा किया है वह एक प्रकार से सिद्ध भी हो गया है। क्योंकि इस देश के अधिकांश लोग ऐसे हैं जिन्हें शास्त्र का ज्ञान नहीं है। इस कारण वे किसी शास्त्र की बात पर विचार होने के अवसर पर दोनों पक्ष के प्रमाण-प्रयोग की सहज़ोरी-कमज़ोरी समझकर स्वयं सत्यासत्य का निर्णय करने में भी असमर्थ हैं। वे किसी प्रकार की आपत्ति उठाते देखकर ही संशय करने लगते हैं। पहले तो अनेक लोगों ने मेरे लिखे विधवाविवाह-विषयक प्रस्ताव को पढ़कर विधवाविवाह शास्त्रसम्मत ठहराया, किन्तु पीछे कुछ लोगों को कई एक आपत्तियाँ उठाते देखकर वे ही विधवाविवाह को शास्त्रविरुद्ध समझ बैठे। ख़ास कर गृहस्थ लोग संस्कृत नहीं जानते, इस कारण वे ख़ुद संस्कृतवचनों के अर्थ को नहीं समझ सकते। उनके समझने के लिए भाषा में अर्थ लिख देना पड़ता है। उसी अर्थ के ऊपर भरोसा करके वे लोग सत्यासत्य का निर्णय करते हैं। इस सुयोग को देखकर

अनेक महाशयों ने अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए, अपने उद्धृत किये श्लोकों का, मनमाना अर्थ लिख दिया है। संस्कृत न जाननेवाले पाठकों ने उनके लिखे अर्थ को ही ठीक अर्थ समझ लिया है। इस बारे में पाठकों को दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि किसी हिन्दू की यह धारणा हो ही नहीं सकती कि कोई आदमी धर्म-शास्त्र के विचार में प्रवृत्त होकर, छल-कौशल के सहारे ऋपिवचनों का मनमाना अर्थ लिखकर, बिना किसी सङ्कोच के सर्व-साधारण को धोखा दे सकता है।

"अधिक खेद की बात यह है कि उत्तर देनेवाले महाशयों में से अनेक महाशय दिल्लगीबाज़ और गाली-गलौज के प्रेमी हैं। इस देश में दिल्लगी और गाली-गलौज भी धर्म-शास्त्र-सम्बन्धी विचार का एक प्रधान अंग समझा जाता है, यह बात पहले मुझे मालूम न थी। सबकी एक तरह की प्रवृत्ति नहीं होती, इसी से सबका एक ढँग नहीं है। प्रकृति-भेद ही प्रवृत्ति-भेद का प्रधान कारण है। किन्तु ऐसे भारी मामले के विचार के समय अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रणालियों का सहारा न लेकर विषयानुरूप प्रणाली का अवलम्बन किया जाना ही अच्छा था। आश्चर्य तो यह है कि जिसके उत्तर में जितना अधिक मसख़रापन और गाली-गलौज है तना ही अधिक उसका आदर अनेक लोगों ने किया है। अनेक लोगों के उत्तर का ऐसा ढँग देखकर पहले मुझे बड़ा क्षोभ हुआ था। किन्तु एक उत्तर पढ़कर मेरा सारा क्षोभ जाता रहा। इस उत्तर में लेखक का नाम नहीं है। 'एक वर' ने यह उत्तर लिखा है। इस वर ने अवस्था में वृद्ध और सर्वत्र सर्व-श्रेष्ठ विज्ञ कहकर प्रसिद्ध होने पर भी उत्तर के लेख में बीच-बीच मसख़रेपन और कटूक्ति-प्रियता का परिचय दिया है। अतएव मैंने यह निश्चय कर

लिया है कि धर्म-शास्त्र के विचार में प्रवृत्त होकर वादी को गालियाँ देना और उससे मसख़रापन करना ही इस देश में विज्ञ का लक्षण समझा जाता है। अगर यह मूर्ख का लक्षण होता तो देश के सब लोग जिसे सर्वोत्तम विज्ञ कहते हैं वह व्यक्ति इस ढँग से उत्तर देने का साहस कभी न करता।

"किन्तु कोई किसी प्रणाली से उत्तर दे, मैं हर एक उत्तरदाता के द्वारा अपने को अत्यन्त उपकृत समझता हूँ और उन लोगों को सहस्र साधुवाद देता हूँ। वे लोग परिश्रम-पूर्वक उत्तर देने के लिए उद्यत न होते तो यही प्रतीत होता कि इस देश के पण्डित और समाज के अगुआ लोगों ने इस विषय को तुच्छ अग्राह्य समझ लिया है। उनके उत्तर देने से कम से कम यह बात अच्छी तरह साबित हो गई कि यह प्रस्ताव ऐसा नहीं है कि एकदम इसकी अवज्ञा या उपेक्षा करके निश्चिन्त बैठा जा सके। वे इस प्रस्ताव को अग्राह्य समझकर कुछ भी उत्तर न देते तो सचमुच मुझे बड़ा क्षोभ होता। उन्होंने मेरे प्रस्ताव को शास्त्र-विरुद्ध साबित करने के लिए, यथा-सम्भव परिश्रम और अनुसन्धान करके, अपने-अपने लेख और पुस्तक में प्रमाण-वाक्य उद्धृत किये हैं। जब अनेक ओर से अनेक व्यक्तियों ने अनेक प्रकार से आपत्ति उठाई है तब यह कहना अनुचित न होगा कि विधवा-विवाह के विरुद्ध जो कुछ कहा जा सकता है वह सब कहा जा चुका। अब उन्हीं प्रतिवाद की युक्तियों का खण्डन या आपत्तियों की मीमांसा हो जाने से यह बात निर्विवाद हो जायगी कि कलियुग में विधवाविवाह शास्त्र-सिद्ध है।"

अब यहाँ पर कुछ इस बात का आभास दिया जाता है कि (पराशरसंहिता के) पूर्वोक्त तीन श्लोकों के कितने भिन्न-भिन्न पाठ बनाये गये हैं और विद्यासागर ने उन सबका कैसा सहज और

सुन्दर समाधान किया है। कलकत्ते के निकटवर्त्ती स्थानों के दस अध्यापकों ने मिलकर यह मीमांसा प्रकाशित की—" 'पराशरसंहिता' के उक्त श्लोक का मतलब यह है कि यदि वाग्दत्ता कन्या का वर व्याह के पहले लापता हो जाय, मर जाय या नपुंसक इत्यादि हो तो उसका अन्य वर के साथ विवाह हो सकता है। इसका यह अभिप्राय कभी नहीं है कि व्याही हुई विधवा का फिर विवाह हो सकता है।" विद्यासागर ने इस आपत्ति का खण्डन करते हुए लिखा है—"पाँच प्रकार की विपत्तियों की अवस्था में व्याही हुई स्त्री के पुनर्विवाह का विधान ही इस श्लोक का स्वाभाविक सरल अर्थ है। कष्ट-कल्पना-द्वारा शब्द के दूसरे अर्थ की कल्पना किये विना इस श्लोक से दूसरा मतलब निकाला नहीं जा सकता। भाष्यकार माधवाचार्य्य स्वयं विधवाविवाह के विरोधी थे। तथापि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि पराशर का यह वचन विवाहिता विधवा आदि के पुनर्विवाह से ही सम्बन्ध रखता है। यथा—

"परिवेदन और पर्य्याधान की तरह प्रसङ्गवश किसी-किसी जगह स्त्रियों के पुनर्विवाह की भी विधि दिखलाते हैं (१)। पुनर्विवाह न करके ब्रह्मचर्य्य-पालन का अधिक फल दिखलाते हैं (२)। सहमरण में ब्रह्मचर्य्य से भी अधिक फल दिखलाते हैं (३)। ये तीनों पराशर-संहिता के श्लोक माधवाचार्य्य के मत से विवाहिता स्त्री के पुनर्विवाह के विधायक न होते तो वे अपनी टीका में परवर्त्ती श्लोक का ऐसा

(१) परिवेदनपर्य्याधानयोरिव स्त्रीणां पुनरुद्वाहस्यापि प्रसङ्गात् क्वचिदभ्यनुज्ञां दर्शयति "नष्टे मृते" इत्यादि।

(२) पुनरुद्वाहमकृत्वा ब्रह्मचर्य्यव्रतानुष्ठाने श्रेयोऽतिशयं दर्शयति 'मृते भर्त्तरि या नारी' इत्यादि।

(३) ब्रह्मचर्य्यादप्यधिकं फलमनुगमने दर्शयति। "तिस्रःकोट्योऽर्धकोटिश्च" इत्यादि॥

आभास न देते। क्योंकि पूर्व-श्लोक के द्वारा विधवा आदि विवाहिता स्त्रियों की विवाह-विधि सिद्ध न होती तो परवर्त्ती श्लोकों का ऐसा आभास कैसे सङ्गत होता कि विवाह न करके ब्रह्मचर्य धारण करने से अधिक फल होता है।"

इसके बाद, वाग्दत्ता के विवाह की विधि यह नहीं है, यह शास्त्र-वचन विधवा आदि विवाहिता स्त्रियों के पुनर्विवाह के लिए है, इस बात का दूसरा प्रमाण देते हुए विद्यासागर ने लिखा है—"नारद-संहिता देखने से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस वचन में कही गई विवाह-विधि वाग्दत्ता के लिए कभी हो ही नहीं सकती। उसमें 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' यह श्लोक पूरा लिख करके लिखा है कि स्वामी लापता हो जाय तो ब्राह्मणी आठ वर्ष तक उसके आने की प्रतीक्षा करे। यदि उसके कोई सन्तान न हुई हो तो केवल चार ही वर्ष उसकी राह देखकर फिर दूसरा ब्याह कर ले।*
इस श्लोक में स्वामी के लापता होने आदि पाँच आपत्कालों में पुनर्विवाह का जो विधान है वह वाग्दत्ता के लिए सम्भव नहीं। क्योंकि आगे साफ़ लिखा है कि सन्तान हुई हो तो आठ वर्ष तक और सन्तान न हुई हो तो चार वर्ष तक उसकी राह देखकर फिर ब्याह कर ले। वाग्दत्ता के लिए सन्तान का नियम हो ही नहीं सकता। जब तक ब्याह नहीं हुआ तब तक सन्तान कैसी?"

कुछ लोग यहाँ पर यह आपत्ति उठा सकते हैं कि नारदसंहिता और पराशरसंहिता एक ही समय के शास्त्र नहीं हैं। एक सत्ययुग

---

* नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥
अष्टौ वर्षाण्यपेक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम्।
अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रयेत्॥

का और दूसरा कलियुग का शास्त्र है। अतएव पराशरसंहिता के श्लोक के अर्थ की संगति, नारदसंहिता के श्लोक के अर्थ के साथ करना ठीक नहीं। इसके उत्तर में विद्यासागर ने लिखा है—"इस बारे में मेरा वक्तव्य यही है कि यह बात सच है कि नारदसंहिता सत्ययुग का शास्त्र है। किन्तु नारद के उक्त वचन में जितने शब्द हैं वे ही शब्द पराशर के वचन में भी हैं। अतएव नारद के वचन से जो अर्थ निकलेगा वही अर्थ पराशर के वचन से भी निकलेगा। यह तो कोई सिद्ध कर ही नहीं सकता कि युग के भेद से शब्द का अर्थ भी बदल जाता है। सत्ययुग में जिस शब्द का जो अर्थ था वही अर्थ कलियुग में भी बना रहेगा। इस कारण नारदसंहिता और पराशरसंहिता के 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इस श्लोक में बिन्दु-विसर्ग का भी जब अन्तर नहीं है तब अर्थ में भी कुछ अन्तर नहीं हो सकता। कहने का मतलब यह है कि 'नष्टे मृते' यह वचन दोनों संहिताओं में एक सा है; अतएव दोनों जगह एक ही अर्थ का प्रतिपादक है। इस विषय में विप्रतिपत्ति करने के लिए उद्यत होना केवल अप्रतिपत्ति पाने का प्रयास है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि 'नष्टे मृते' वचन में विवाहिता विधवा के लिए ही पुनर्विवाह की विधि है।"

हमारे एक मित्र ने एक सभा में एक लेख पढ़ते समय एक बड़ी हँसी की बात कही थी।—एक आदमी राह में छाती पीट-पीटकर रो रहा था। दूसरे राहगीर ने उससे पूछा, क्यों भाई, क्यों रो रहे हो? उसने कहा—ग़रीब हुसैना मर गया। यह सुनकर वह भी रोने लगा। राह में और एक आदमी मिला और वह भी ग़रीब हुसैना की मौत पर रोता हुआ चला। एक होशियार आदमी ने इन रोनेवालों में से एक से पूछा—क्यों रोते हो? उत्तर मिला—ग़रीब हुसैना मर गया। पहले आदमी ने पूछा—हुसैना तुम्हारा कौन था?

उत्तर मिला—हुसैना मेरा कोई नहीं है। आख़िर को पूछते-पूछते पता लगा कि हुसैना एक बैल था। उसी के मरने पर बेवक़ूफ़ों ने मातम मचा रक्खा था। वर्तमान समय में हिन्दू-धर्म, हिन्दू-शास्त्र और हिन्दू-आचार-व्यवहारों से बिलकुल अनभिज्ञ हिन्दू नामधारी बहुत से लोग, धर्मशास्त्र और सदाचार के विपरीत मार्ग में चलकर भी गर्व के साथ अपने को धर्मशास्त्र का ज्ञाता कहते हैं, और लोग उनका आदर भी करते हैं।

शास्त्र अनेक हैं। व्याकरण, काव्य-साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, पुराण, संहिता, उपनिषद्, वेद आदि अनेक शास्त्र हैं। किसी शास्त्र का अच्छा ज्ञान प्राप्त करके उसके यथार्थ सत्य का प्रचार करना ही विद्वान् का काम है। जिसको तत्त्वज्ञान की इच्छा हो उस निष्ठावान् सज्जन का कर्त्तव्य है कि सब बातों का सच्चा ज्ञान प्राप्त करके उसके द्वारा समाज की भलाई, उपकार, करने की चेष्टा करे। जो लोग कीर्त्ति की इच्छा न करके शास्त्र का आशय समझते और उसके द्वारा किसी अनीति को हटाकर लोक का उपकार कर जाते हैं वे ही संसार के सच्चे पथप्रदर्शक या आदर्श कहलाते हैं। विद्यासागर भी इसी श्रेणी के एक महापुरुष थे। उन्होंने केवल अबलाओं के पक्ष का समर्थन करने के लिए निःस्वार्थभाव से एक सत्य का आविष्कार करने की चेष्टा की है। जो लोग लोकरक्षा और वर्णाश्रमधर्म के हित की अपेक्षा शास्त्र की गूढ़ता और कूटता बनाये रखना अधिक आवश्यक समझते हैं वे विद्यासागर को भले ही 'कृपा का पात्र' समझें, परन्तु जो लोग शास्त्र को समाज का गुरु समझकर उसकी आज्ञा पर चलना-चलाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जो सत्य के प्रचार से कल्याण का मार्ग खोल देने के लिए उद्यत रहते हैं, वे विद्यासागर को अपना शिरोमणि ही समझेंगे।

विद्यासागर ने विधवाविवाह की पुस्तक में और एक जगह पर लिखा है कि "बृहन्नारदीय और आदित्यपुराण के वचनों का जैसा तात्पर्य बतलाया गया है उसके अनुसार इन वचनों से किसी तरह कलियुग में विधवाविवाह का निषेध नहीं होता। यदि निषेधवादी लोग इस व्याख्या से सन्तुष्ट न होकर विधवाविवाह के शास्त्रसिद्ध होने पर झगड़ा मचावें, अर्थात् यह आग्रह दिखलावें कि बृहन्नारदीय और आदित्यपुराण के ये वचन विधवाविवाह का निषेध करते हैं तो अब यह विचारणीय हो जाता है कि जब पराशरसंहिता में विधवा-विवाह का विधान है और बृहन्नारदीय व आदित्यपुराण में विधवा-विवाह का निषेध है तब इनमें कौन शास्त्र प्रबल है? अर्थात् पराशर की विधि के अनुसार विधवाविवाह कर्त्तव्य समझा जायगा अथवा बृहन्नारदीय और आदित्यपुराण के निषेध के अनुसार विधवाविवाह अकर्त्तव्य ठहराया जायगा? इस विषय की मीमांसा करने में पहले यह पता लगाने की आवश्यकता है कि शास्त्रकारों ने ऐसे शास्त्र-विरोध के अवसर पर क्या फ़ैसला किया है? भगवान् वेदव्यास की संहिता में इस विषय की मीमांसा है। यथा—

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणन्तु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥

"जिस जगह पर वेद, स्मृति और पुराण में परस्पर विरोध हो वहाँ वेद का ही प्रमाण मुख्य है। स्मृति और पुराण के परस्पर विरोध में स्मृति का ही प्रमाण मान्य है।

"वेद, स्मृति और पुराण के परस्पर विरुद्ध होने पर स्मृति और पुराण के अनुसार न चलकर वेद के अनुसार चलना चाहिए; और स्मृति और पुराण में परस्पर विरोध देख पड़ने पर पुराण के अनुसार न चलकर स्मृति के अनुसार चलना चाहिए। पुराणकर्त्ता व्यास

ने स्वयं व्यवस्था दी है कि पुराण के आगे स्मृति मान्य है। अतएव यदि वृहन्नारदीय और आदित्यपुराण के अनुसार विधवाविवाह निषिद्ध हो तो भी उसको न मानकर पराशरसंहिता के अनुसार काम करना चाहिए।"

विद्यासागर ने इस भारी समस्या के हल करने में हाथ डाल-कर किसी बात की उपेक्षा नहीं की; कोई तर्क छिपाया नहीं। वे फिर भी, उसी पुस्तक में, लिखते हैं—"अतएव कलियुग में विधवा-विवाह का शास्त्रविहित कर्त्तव्य होना निर्विवाद सिद्ध हो गया। अब एक आपत्ति यह की जा सकती है कि कलियुग में विधवाविवाह शास्त्र के अनुसार कर्त्तव्य कर्म होने पर भी शिष्टाचार के विरुद्ध है; इसलिए वह ग्राह्य नहीं हो सकता। इस आपत्ति का निराकरण करने के लिए यह देखना चाहिए कि किस जगह शिष्टाचार की प्रधानता माननी चाहिए? भगवान् वसिष्ठ ने अपनी संहिता में इस विषय की मीमांसा कर दी है।

लोके प्रेत्य वा विहितो धर्म्मः।
तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्॥

"लौकिक और पारलौकिक, दोनों तरह के मामलों में धर्म्म-शास्त्र के अनुसार ही चलना चाहिए। वही धर्म्म है। शास्त्र का कुछ विधान जिस मामले में न मिले उसमें शिष्टाचार को प्रमाण मानना उचित है।

"इस वसिष्ठसंहिता में शास्त्र-विधान के न होने पर शिष्टाचार को प्रमाण बतलाया है। अतएव कलियुग में विधवाविवाह के शास्त्र-सम्मत कर्त्तव्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह गया। इस विषय में अब कोई और आपत्ति नहीं उठाई जा सकती।"

आदित्यपुराण, पराशरभाष्य में उद्धृत क्रतुवचन, बृहन्नारदीय पुराण, आदिपुराण आदि कई ग्रन्थों में विवाहिता के पुनर्विवाह का निषेध पाया जाता है। किन्तु कलियुग के ख़ास धर्म-शास्त्र पराशर-संहिता में "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस वचन के द्वारा विवाहिता के पुनर्विवाह को विहित बतलाया है। कात्यायन और वसिष्ठ भी अपनी-अपनी संहिता में किसी ख़ास युग का निर्देश न करके साधारणतः पति के पतित, लापता, कुल-शील-हीन, यथेच्छाचारी, चिर-रोगी, सगोत्र, दास और अन्यजातीय निश्चित होने या मरने पर विवाहिता स्त्री के पुनर्विवाह की आज्ञा देते हैं। इन सब विरोधी-कूटतर्कों से उत्पन्न संशय काटने के लिए विद्यासागर ने लक्ष्य स्थिर कर जो शरसञ्चालन किया है वह देखने ही लायक़ है। जिन्होंने विद्यासागर के विधवा-विवाह के सुविस्तृत समालोचना-ग्रन्थ को मन लगाकर आदि से अन्त तक नहीं पढ़ा वे शायद इस संक्षिप्त समालोचना से विशेष तृप्त होने का सुयोग न प्राप्त कर सकेंगे। स्थान कम है और विषय बड़ा भारी है, तथापि यथासम्भव विद्यासागर की बहुज्ञता और शास्त्रज्ञान का आभास देने की चेष्टा की जायगी। यह समालोचना पढ़कर अगर किसी के मन में विधवाविवाह-ग्रन्थ को पढ़ने की इच्छा हो तो हम समझेंगे कि हमारा उद्देश्य सफल हो गया। विद्यासागर ने पूर्वोक्त शास्त्र-विरोध का निराकरण करने के लिए लिखा है "इस समय सब लोग विचार कर देखें, पहले तो कात्यायन आदि संहिताकार मुनियों के वचनों में कई जगह पर साधारणतः सभी युगों के लिए विधवा स्त्री के पुनर्विवाह की आज्ञा थी। उसके बाद आदिपुराण आदि में साधारण रूप से कलियुग में विवाहिता के पुनर्विवाह का निषेध किया गया। तदनन्तर पराशर-संहिता में, कलियुग में, "नष्टे मृते" आदि पाँच आपत्ति-

स्थलों पर विवाहिता के पुनर्विवाह की विशेष विधि बताई गई। सामान्य और विशेष विधि में विशेष-विधि और निषेध ही प्रबल होता है। अर्थात् जिस जगह विशेष-विधि अथवा विशेष-निषेध रहता है वहाँ सामान्य-विधि और सामान्य-निषेध नहीं माना जाता। पहले तो कात्यायन आदि मुनियों ने साधारणतः किसी युग का उल्लेख न करके, कई जगह पर, विवाहिता के पुनर्विवाह की व्यवस्था दी है। यह विधि साधारणतः सभी युगों के लिए हो सकती थी। किन्तु आदिपुराण आदि में कलियुग का उल्लेख करके निषेध किया गया है। अतएव यह निषेध कलियुग के लिए विशेष निषेध हुआ। इसी कारण कात्यायन आदि की सामान्य विधि कलियुग को छोड़कर अन्य युगों में माननीय ठहरी और इस प्रकार कलियुग में सर्वत्र विधवाविवाह का निषेध हो गया। किन्तु पराशर 'नष्टे मृते' आदि पाँच प्रकार के अवसरों पर, कलियुग में, विवाहिता और विधवा के पुनर्विवाह की विधि देते हैं। यह पराशर की विधि विशेष-विधि मानी जायगी। इस कारण आदिपुराण आदि का सामान्य-निषेध 'नष्टे मृते' आदि पाँच अवसरों को छोड़कर अन्य स्थलों पर माननीय होगा। अर्थात् पति के लापता, मृत, संन्यस्त, नपुंसक और पतित होने पर तो पराशरसंहिता की विशेष-विधि के अनुसार पुनर्विवाह होगा और कुल-शील-हीन, यथेच्छाचारी, चिररोगी, मिर्गी का रोगी, सगोत्र, दास या अन्य-जातीय होने पर आदिपुराण के सामान्य-निषेध के अनुसार पुनर्विवाह न होगा।

"सामान्य और विशेष विधि के निषेध की जगह सर्वत्र ऐसी ही व्यवस्था देख पड़ती है। जैसे—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'। नित्य सन्ध्यावन्दन करे। इस जगह वेद में साधारणतः नित्य सन्ध्या

करने की स्पष्ट विधि है। किन्तु—'सन्ध्यां पञ्चमहायज्ञान् नैत्यिकं स्मृतिकर्म्म च। तन्मध्ये हापयेत्तेषां दशाहान्ते पुनः क्रिया'॥ अर्थात् अशौच में सन्ध्यावन्दन, पञ्चमहायज्ञ और स्मृति-विहित नित्य कर्म्म करना निषिद्ध है। अशौच के बाद इन कर्मों को करने की विधि है। इस स्थल पर जाबालि अशौच के समय सन्ध्यावन्दन का निषेध करते हैं। देखो, वेद में सामान्य रूप से नित्यप्रति सन्ध्यावन्दन की विधि रहने पर भी जाबालि के विशेष-निषेध के द्वारा, अशौच के समय दस दिन तक, सन्ध्यावन्दन बन्द रहने का विधान होता है। अर्थात् यह सिद्ध होता है कि जाबालि के विशेष-निषेध के अनुसार अशौच काल के दस दिनों को छोड़कर सर्वदा सन्ध्यावन्दन करना चाहिए।''

विद्यासागर ने इसी तरह अनेकानेक प्रमाण देकर यह दिखलाया है कि विधवाविवाह की प्रथा सम्पूर्ण रूप से शास्त्र-सम्मत और हिन्दू आचार के द्वारा अनुमोदित है। पराशरसंहिता के पूर्वोक्त तीनों श्लोकों के विरुद्ध जितनी आपत्तियाँ की गई हैं और और भी जितनी की जा सकती हैं उन सबकी शास्त्र-सङ्गत मीमांसा करके विद्यासागर ने पराशर के वचन को प्रबल और अखण्डनीय साबित कर दिखाया है। उनके विधवाविवाह-सम्बन्धी ग्रन्थ को पढ़कर मुझे विश्वास है कि जिस उद्देश से उन्होंने वह पुस्तक लिखी थी वह सिद्ध हो गया। उन्होंने निम्नलिखित बातों के अलग-अलग शास्त्र-सङ्गत प्रमाण दिये हैं—१ पराशर का वचन विवाहिता के लिए है, वाग्दत्ता के लिए नहीं। २ पराशर का वचन कलियुग के लिए है, अन्य युगों के लिए नहीं। ३ पराशर की यह पुनर्विवाह-विधि मनुसंहिता के विरुद्ध नहीं है। ४ पराशर की पुनर्विवाह-विधि वेद-विरुद्ध भी नहीं है। ५ यह पुनर्विवाह को सिद्ध करनेवाला वचन पराशर का है, शंख

स्मृति का नहीं। ६ यह विधवाविवाह-विधायक वचन पराशर का है, बनाया हुआ नहीं है। ७ यह पराशर का वचन पुनर्विवाह की विधि देता है, उसका निषेध नहीं करता। ८ दीर्घतमा का नियम स्थापन करना विधवाविवाह के निषेध का बोध नहीं कराता। ९ बृहत्पराशर-संहिता विधवाविवाह का निषेध नहीं करती। १० पराशरसंहिता में केवल कलियुग के धर्म का निर्णय किया है, अन्य युगों के धर्मों का नहीं। ११ पराशरसंहिता में आदि से अन्त तक, केवल पहले के दो अध्यायों को छोड़कर, कलियुग के धर्मों का ही निर्णय किया गया है। १२ पराशर ने केवल कलियुग का धर्म लिखा है, अन्य युगों का नहीं। १३ पराशरसंहिता में चारों युगों के धर्मों का उपदेश किया गया है, यह बात साबित नहीं की जा सकती। १४ 'कलौ पाराशरी स्मृतिः' यह पराशर का वाक्य प्रशंसासूचक नहीं है। १५ मनुसंहिता में चारों युगों के धर्मों का अलग-अलग निरूपण नहीं किया गया। १६ पराशरसंहिता में पतिता भार्या के त्याग और पतित पति के प्रति अवज्ञा का निषेध नहीं है। १७ स्मृति-शास्त्र में अर्थवाद का प्रमाण माना जाता है। १८ वाग्दान के बाद वर के लापता आदि होने पर कन्या का फिर दान निषिद्ध नहीं है। १९ पराशर ने केवल नीच जातिवालों के लिए यह पुनर्विवाह की विधि नहीं दी है। २० पिता विधवा कन्या का फिर दान कर सकता है। २१ विधवा के विवाह के समय पिता के गोत्र का उल्लेख करके दान किया जायगा। २२ प्रथम बार के विवाह-मन्त्र ही द्वितीय बार पढ़े जायँगे। २३ ब्याही हुई स्त्री का पुनर्विवाह ब्याहे पुरुष के पुनर्विवाह की तरह प्रशस्त-कल्प नहीं है। २४ देशाचार शास्त्र की अपेक्षा प्रबल प्रमाण नहीं है।

विद्यासागर ने इन विषयों की बहुविस्तृत समालोचना करके शास्त्रों से प्रमाण देते हुए यह दिखलाया है कि विधवाविवाह सोलहों

आने शास्त्र-सम्मत हैं। केवल मुझ क्षुद्रबुद्धि और थोड़े ज्ञानवाले पुरुष ने ही ऐसा नहीं समझा, शास्त्रज्ञ पण्डितों की राय भी मेरी इस धारणा को पुष्ट करती है। पण्डित रामगति न्यायरत्न अपने "बँगला-भाषा और बँगला-साहित्य-विषयक प्रस्ताव" में लिखते हैं— "यह पुस्तक पढ़कर हिन्दू-समाज में एकदम हलचल मच गई। प्राचीन हिन्दू विद्यासागर को नास्तिक, कृस्तान कहकर गालियाँ देने लगे। अनेक भट्टाचार्य्य लोग और उनकी सहायता से अनेक धनी लोग विधवाविवाह-निषेधक प्रमाणों को खोज-खोजकर विद्यासागर की पुस्तक के उत्तर में छोटी-छोटी पुस्तकें और लेख प्रकाशित करने लगे। किसी-किसी पुस्तक में शिष्टाचार के विरुद्ध गालियों की वर्षा भी की गई थी। लगभग सभी अख़बार विद्यासागर के ऊपर पत्थर बरसाने लगे। किन्तु महामना विद्यासागर के चित्त में कुछ भी विकार नहीं आया; उन्होंने वह सब सह लिया। उन्होंने उसी साल विधवाविवाह-सम्बन्धी दूसरी पुस्तक छपाकर प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने ऐसे पाण्डित्य और गम्भीरता के साथ प्रतिपक्षियों की सब आपत्तियों का खण्डन किया, ऐसी निपुणता के साथ शास्त्रार्थ की मीमांसा की और कठिन शास्त्र-सम्बन्धी विचारों को ऐसी सरल मधुर भाषा में प्रकट करके सहज बना दिया कि उसे पढ़कर लोग विद्यासागर को अद्वितीय पुरुष समझने लगे। + + + मतलब यह कि विद्यासागर ने इस पुस्तक में विद्या, बुद्धि, कौशल, बहुदर्शिता, सारग्राहिता, मीमांसकता, विनय, गाम्भीर्य आदि सब गुणों की पराकाष्ठा दिखला दी है। हमारे एक सुविज्ञ आत्मीय कहते थे कि विधवाविवाह पुस्तक के हेडिंग की पंक्तियाँ,—यथा 'पराशर का वचन विवाहिता के लिए है, वाग्दत्ता के लिए नहीं' इत्यादि,—इटालिक (अँगरेज़ी) अक्षरों की तरह टेढ़े अक्षरों में छपनी चाहिएँ। कारण

पूछने पर उन्होंने कहा—'अँगरेज़ी जिओमेट्री की प्रतिज्ञाएँ इटालिक अक्षरों में छपी रहती हैं।' इसका अभिप्राय यह है कि ज्यामिति की प्रतिज्ञाएँ जैसे भ्रान्तिरहित सत्य हैं, अकाट्य युक्तिपरम्पराओं से प्रमाणित की हुई हैं, वैसे ही विधवाविवाह-पुस्तक के ऊपर की पंक्तियां, परवर्त्ती विचार के द्वारा निश्चित रूप से सिद्ध हो चुकी हैं। अतएव दोनों पुस्तकों के ऊपर की प्रतिज्ञाएँ (मोटो) एक ही तरह के अक्षरों में छापी जानी चाहिएँ।"

इसके बाद उस समय की तत्त्वबोधिनी पत्रिका (चतुर्थ कल्प, १०४ पृष्ठ) में उक्त ग्रन्थ के सम्बन्ध में जैसी राय ज़ाहिर की गई है वह भी नीचे उद्धृत की जाती है।—"श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अब से पहले विधवाविवाह को शास्त्रसम्मत सिद्ध करनेवाली जो पुस्तक प्रकाशित की थी, उसके प्रकाशित होने के बाद से हिन्दू-समाज में घोर हलचल मची हुई है। इस देश के अनेक पण्डितों और गृहस्थों में यह प्रथा अप्रचलित बनाये रखने के लिए बहुत लोगों ने पुस्तकें लिखी हैं और विधवाविवाह का विरोध किया है। उनके इस विरोध को, उनके सब तर्कों को बिलकुल ही भ्रमपूर्ण सिद्ध करने के लिए विद्यासागर ने हाल में इसी विषय की पुस्तक का दूसरा बड़ा संस्करण निकाला है और उसमें प्रतिवादियों की सब शङ्काओं का समाधान किया गया है। + + + इसका उपक्रमभाग पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इस देश के पण्डितों की विचारप्रणाली अत्यन्त दूषित है। वे तत्त्वनिर्णय की ओर विशेष ध्यान न देकर अमूलक आपत्तियाँ उपस्थित करने के लिए ही उद्यत रहते हैं। इस पुस्तक के उपसंहारभाग में यह बात अच्छी तरह बतला दी गई है कि देशाचार और कुसंस्कार इस देश के कैसे भयङ्कर शत्रु बन गये हैं। इस अंश को पढ़ने से पत्थर का हृदय भी मोम बन जाता है।

"विधवा स्त्रियों का पुनर्विवाह होना चाहिए, यह बात युक्ति से सिद्ध ही थी। किन्तु अब यह भी निश्चित हो गया कि भारतवर्ष के धर्म्मशास्त्र में विधवा के पुनर्विवाह का विधान है। अतएव अब विधवाविवाह को प्रचलित करके उनकी असह्य वैधव्य-यन्त्रणा को मिटाने में क्षण भर की देर न करनी चाहिए।

"जो लोग विद्वेषबुद्धि को छोड़कर विद्यासागर महाशय की लिखी बहुविस्तृत गवेषणापूर्ण विधवाविवाह की पुस्तक को पढ़ेंगे वे केवल विधवाविवाह की आवश्यकता और शास्त्रीयता का पूर्ण अनुभव करके तृप्त ही न होंगे, बल्कि उसके साथ ही विद्यासागर की निष्ठा के साथ शास्त्र-सम्बन्धी आलोचना की पद्धति और कटूक्तिपूर्ण प्रति-वाद-पुस्तकों की शान्तिपूर्ण समालोचना देखकर उन्हें असाधारण धैर्यशाली, क्षमताशाली और अद्वितीय पण्डित समझकर सिर झुकावेंगे।"

जब विद्यासागर ने अपने मिलनेवाले और मित्रों को यह विश्वास करा दिया कि विधवाविवाह सब तरह शास्त्रसिद्ध और सदाचार-सङ्गत है, तब किसकी शक्ति थी जो उस आग्रह और उत्साह के प्रवाह को रोक सकता? विधवाविवाह की तैयारियों की चारों ओर धूम पड़ गई। इसी समय विधवाविवाह करने के पक्षवाले लोगों के आगे और एक भारी समस्या आकर उपस्थित हुई। समस्या यह थी कि विधवा के पुनर्विवाह के बाद उसके गर्भ के बच्चे शायद वर्तमान दायभाग के अनुसार पैतृकसम्पत्ति के अधिकारी न समझे जायँ। इस आशङ्का को दूर करने के लिए सबसे पहले गवर्नमेंट के निकट एक आवेदनपत्र भेजना निश्चित हुआ। कलकत्ते के राजा राधाकान्तदेव आदि कई प्रतिष्ठित लोगों के अलावा बहुत-से आदमियों ने उस आवेदनपत्र पर हस्ताक्षर किये थे। उस आवेदनपत्र का अनुवाद

नीचे दिया जाता है। हस्ताक्षर करनेवालों में से कुछ प्रसिद्ध पुरुषों के नाम भी उसके नीचे दिये गये हैं।—

बहुसम्मानास्पद भारतवर्षीय व्यवस्थापक-सभा की सेवा में नीचे हस्ताक्षर करनेवाले बङ्गाली हिन्दुओं का विनीत निवेदन यह है—

१। बहुत दिनों की सामाजिक-प्रथा के द्वारा हिन्दू-समाज में विधवाविवाह निषिद्ध समझा जाने लगा है।

२। हम आवेदनपत्र भेजनेवालों का मत और दृढ़ विश्वास यह है कि यह विधवाविवाह न होने की रीति अत्यन्त निष्ठुर और अस्वाभाविक है। समाजनीति का सामञ्जस्य बनाये रखने में यह एक प्रबल विघ्न है और समाज के लिए अन्य कई कारणों से इसका फल विषम विषमय हो रहा है।

३। बहुत ही बचपन में ब्याह कर देने की रीति प्रचलित होने के कारण अकसर ऐसी बालिकाएँ भी विधवा हो जाती हैं जो न चल-फिर सकती हैं और न बातचीत कर सकती हैं। इससे विधवा के लिए उसका जीवन विशेष कष्टदायक होता है।

४। हम प्रार्थना करनेवालों का मत और दृढ़ विश्वास यह है कि यह विधवाविवाह के निषेध की चाल हिन्दू-शास्त्र या हिन्दू-व्यवस्था के द्वारा अनुमोदित नहीं है।

५। प्रार्थना करनेवाले और अन्य बहुत-से हिन्दू विधवाविवाह को धर्मविरुद्ध नहीं समझते, और सामाजिक आचार-व्यवहार या हिन्दू-धर्म की भ्रमपूर्ण व्याख्या के कारण यदि किसी प्रकार की आपत्ति हो तो वे बिना किसी बाधा के उसकी उपेक्षा करने के लिए तैयार हैं।

६। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और माननीया महारानी के द्वारा स्थापित विचारालयों में इस समय हिन्दुओं के दायभाग की व्याख्या

और मीमांसा हुआ करती है। उसके अनुसार ऐसा विधवाविवाह असिद्ध हो सकता है और ऐसे विवाह से उत्पन्न बच्चे अपनी पैतृक-सम्पत्ति का हिस्सा पाने के अधिकारी नहीं समझे जा सकते हैं।

७। जो हिन्दुओं की धर्म्म-बुद्धि इस प्रकार के विधवाविवाह का सम्पूर्ण अनुमोदन करती है और जो लोग धर्म्म और सामाजिक संस्कार से उत्पन्न बाधाओं की उपेक्षा करके इस प्रकार का विधवा-विवाह करने के लिए सम्मत हैं उनके विधवाविवाह में आईन की पूर्वोक्त व्याख्या बाधा डाल रही है।

८। प्रार्थना करनेवालों की समझ में यह आता है कि शास्त्र का उलटा अर्थ करने के कारण जो सामाजिक बाधा बड़े भारी रूप में आगे खड़ी है उसे दूर करना व्यवस्थापक-सभा का कर्त्तव्य है।

९। विधवाविवाह में जो यह क़ानूनी बाधा है उसे दूर करना बहुत-से निष्ठावान और विश्वासी हिन्दुओं की इच्छा और भाव के द्वारा पूर्ण-रूप से अनुमोदित है। और, जो लोग इस कार्य्य को शास्त्रविरुद्ध समझते हैं और इस कारण विधवाविवाह से जिनके प्राचीन संस्कारों में धक्का लग सकता है अथवा जो लोग सामाजिक सुविधा के लिए विधवाविवाह का प्रतिवाद करते हैं, ऐसे लोगों का विधवा-विवाह प्रचलित होने से किसी प्रकार का अशुभ नहीं हो सकता।

१०। पृथ्वी पर और कहीं अन्य किसी जाति में विधवाविवाह इस प्रकार के आईन के द्वारा निषिद्ध नहीं है और यह कार्य्य मनुष्यों की साधारण प्रकृति के विरुद्ध भी नहीं जान पड़ता।

११। इन सब कारणों की मौजूदगी में हम आवेदनकारियों की प्रार्थना यह है कि माननीय व्यवस्थापक-सभा शीघ्र ही इस विधवा-

विवाह का वैध होना स्वीकार करके निम्नलिखित रूप से एक व्यवस्था बनाकर प्रचारित करें कि हिन्दू-विधवा के विवाह की सब बाधाएँ दूर हो जायँ और विधवाविवाह से उत्पन्न बच्चे वैध-सन्तान माने जायँ।

जयकृष्ण मुखोपाध्याय (उत्तरपाड़ा)	काशीनाथ दत्त (हाटखोला)
तारानाथ तर्कवाचस्पति	नीलमणि मित्र (इंजिनियर)
प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी	द्वारकानाथ मित्र (जज)
श्रीनाथ दास	देवेन्द्रनाथ ठाकुर (जोड़ासाँको)
विमलाचरण दे	हरचन्द्र घोष (जज)
हरिश्चन्द्र तर्कालङ्कार	सोमनाथ मुखोपा० (सं० का०)
क्षेत्रमोहन चट्टोपाध्याय	जगन्मोहन शर्म्मा (तर्कालङ्कार)
देवेन्द्रनाथ ठाकुर (पाथुरिया घाटा)	गिरिशचन्द्र विद्यारत्न (सं० का०)
कालीकुमार मल्लिक राय	श्यामाचरण वसु (सुकिया स्ट्रीट)
दक्षिणारञ्जन मुखोपाध्याय	कृष्णचन्द्र राय (हिन्दू स्कूल)
कालीकृष्ण दत्त (निवाँधाई)	रामगोपाल घोष
अक्षयकुमार दत्त (तत्त्वबोधिनी)	ईश्वरचन्द्र घोषाल (हं० मा०)
कैलासचन्द्र मुखोपा० (रायबहादुर)	माधवचन्द्र तर्कसिद्धान्त
नवीनकृष्ण मुखो० (तत्त्वबोधिनी)	श्रीशचन्द्र विद्यानिधि
हरिश्चन्द्र शर्म्मा (डाकृर)	अन्नदाप्रसाद वन्द्यो० (भवानीपुर)
राजेन्द्रनाथ मित्र (रायबहादुर)	रामरत्न विद्यालङ्कार
मुरलीधर सेन (कलूटोला)	त्रैलोक्यनाथ विद्याभूषण
ईश्वरचन्द्र गुप्त (प्रभाकर)	रामचन्द्र विद्यावागीश
द्वारकानाथ भट्टाचार्य (रायबहादुर)	ईश्वरचन्द्र शर्म्मा (विद्यासागर)
तिलकचन्द्र तर्कालङ्कार	दुर्गादास चूड़ामणि
नीलकमल वन्द्योपाध्याय	केशवचन्द्र न्यायरत्न
राजकृष्ण वन्द्योपाध्याय	राजाराम न्यायरत्न

हीरालाल शील और उनके भाई	प्रियनाथ सिद्धान्तपञ्चानन
कन्हाईलाल दे (रायबहादुर)	राममाणिक्य तर्कालङ्कार
भोलानाथ चन्द्र	राजनारायण वसु (देवघर)
प्रेमचाँद बड़ाल (रायबहादुर)	ईश्वरचन्द्र मित्र (हे०मा०)
दुर्गाचरण लाहा (महाराज)	डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार
तारिणीचरण चट्टोपाध्याय	राधाचरण विद्यारत्न
श्रीशचन्द्र विद्यारत्न	ईश्वरचन्द्र न्यायरत्न
जयगोपाल सिद्धान्तशेखर	दिगम्बर न्यायवागीश
श्यामाचरण दे	सीतानाथ सिद्धान्त
श्यामाचरण लाहा	रामशङ्कर वाचस्पति
जयगोविन्द लाहा	गिरीशचन्द्र चूड़ामणि
गौरदास बसाक	गणेशचन्द्र विद्यारत्न
गोविन्दचन्द्र तर्कालङ्कार	श्यामाचरण मुखोपाध्याय (उत्तर-पाड़ा स्कूल)
व्रजमोहन विद्यावागीश	गिरीशचन्द्र मित्र (झामापुकुर)

इत्यादि इत्यादि ।

इस आवेदनपत्र पर एक हज़ार से ऊपर आदमियों के हस्ताक्षर थे । उनमें से कुछ प्रसिद्ध प्रतिष्ठित पुरुषों के नाम यहाँ पर दिये गये हैं । यह प्रार्थनापत्र और इसके साथ विधवाविवाह को वैध सिद्ध करनेवाला एक मसविदा भारतवर्षीय व्यवस्थापक-सभा में भेजा गया था । इस तरह के और भी कई आवेदनपत्र अलग-अलग भेजे गये थे । हमने जिस प्रार्थनापत्र का अनुवाद यहाँ पर उद्धृत किया है उसमें सबसे पहले उत्तरपाड़ा के सुप्रसिद्ध ज़मींदार बाबू जयकृष्ण मुखोपाध्याय ने दस्तख़त किये थे । प्रसन्नकुमार ठाकुर, प्यारीचरण सरकार, कालीकृष्ण मित्र, राजा प्रतापचन्द्र और राजा

ईश्वरचन्द्र आदि बहुत से प्रतिष्ठित महाशयों ने बहुत से हस्ताक्षर कराकर और एक प्रार्थनापत्र भेजा था। इसके सिवा बर्दवान के महाराज महताबचन्द बहादुर ने अलग एक आवेदनपत्र भेजा था। नदिया के महाराज श्रीशचन्द्र, ढाके के ज़मींदार और अन्यान्य धनी हिन्दुओं ने तथा मयमनसिंह के ज़मींदारों में से कई एक ने अलग-अलग आवेदनपत्र भेजे थे।

महाराज महताबचन्द बहादुर की सहायता और सहानुभूति का उल्लेख करके विद्यासागर महाशय ने भारतवर्षीय व्यवस्थापक-सभा के सुयोग्य मेम्बर माननीय जे० पी० ग्रान्ट साहब को जो पत्र लिखा था उसका अधिकांश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

THE HON'BLE J. P. GRANT.

MY DEAR SIR,

You will no doubt be glad to hear that His Highness the Maharaja of Burdwan has promised his assistance to the furtherance of the sacred cause of the marriage of Hindu Widows. * * * It is really a matter for congratulation that the first man of Bengal is going to take up the cause. * * He entertains such enlightened views that we have every reason to hope for substantial assistance from him. The Maharaja is not a hasty man, nor does he consent to be led by others, but always thinks for himself and forms his opinions of things after mature deliberation. Now that His Highness is convinced of the goodness of the cause, I have no doubt that he will be its staunch friend and champion.

(Sd.) ISHVAR CHANDRA SHARMA.

अर्थात् "प्रिय महाशय, आप यह सुनकर अवश्य सुखी होंगे कि बर्दवान के राजा महाराज महताबचन्द बहादुर भी विधवाविवाह के पक्ष का समर्थन करने के लिए अग्रसर हुए हैं। + + + यह सचमुच ही बड़े आनन्द की बात है कि बङ्गाल के एक सर्वप्रधान

पुरुष इस कार्य के लिए अग्रसर हुए हैं। + + + महाराज की रुचि परिमार्जित है, इसलिए इस काम में उनसे यथेष्ट सहायता मिलेगी। महाराज चञ्चल-प्रकृति के आदमी नहीं हैं। वे दूसरे की राय पर चलनेवाले भी नहीं जान पड़ते। वे स्वतन्त्रता के साथ अपने लिए सोचते हैं। क्या कर्त्तव्य है और क्या नहीं कर्त्तव्य है, इसका निश्चय वे स्वयं करते हैं। इस समय महाराज ने विधवाविवाह की आवश्यकता को समझा है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि वे इस कार्य के चिर-सुहृद् और विशेष पक्षपाती होंगे।"

पचीस हज़ार के लगभग लोगों ने मिलकर उल्लिखित आईन बनाने की प्रार्थना जताकर आवेदन किया था। बङ्गाल में भारी आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। पहले लिखा जा चुका है कि बङ्गाल भर में बालक-बूढ़े-जवान सबके मुँह से विधवाविवाह और विद्यासागर की चर्चा सुन पड़ती थी। ऐसे आदमी, अख़बार या पुस्तक को लोग बड़े आग्रह की दृष्टि से देखते थे जो विधवाविवाह की ख़बर सुनाता था। बङ्गाल के विख्यात गायक दासू राय ने विधवाविवाह के सम्बन्ध में कुछ गीत भी बनाये थे। विधवा-विवाह का एक नाटक भी कलकत्ते में खेला गया था। शान्तिपुर के जुलाहों ने बहुमूल्य कपड़ों के किनारों में विधवाविवाह के गान बुनकर ख़ूब रुपया कमाया था। विद्यासागर के चलाये विधवाविवाह के गीत ऐसे बहुव्यापी हो गये थे कि अपढ़ लोग भी सर्वत्र उन्हें गाते देख पड़ते थे।

विधवाविवाह का नियम बनने के समय भी ख़ूब आन्दोलन हुआ था। आईन का मसविदा जिस दिन व्यवस्थापक-सभा में सुना गया उस दिन आईन का प्रस्ताव करनेवाले माननीय ग्रान्ट साहब ने जो युक्ति दिखलाकर उसे उपस्थित किया था उसका शेष अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"The Bill now presented will wipe out that blot in the Municipal Law of India. At the same time, it will leave all those Hindus, who do not agree in the opinion of the petitioners, precisely as they are now. It does not pretend to say what is the right interpretation of the directions for conduct in respect of marriage in the text-books; or which of the conflicting authorities ought to be followed by a Hindu. It will interfere with the tenets of no human being; but it will prevent the tenets of one set of men from inflicting misery and vice upon the families of their neighbours, who are of a different and more humane persuasion."

अर्थात् इस आईन के द्वारा भारतवर्ष के हिन्दुओं के स्वाधीन-भाव से सामाजिक जीवन बिताने का विघ्न दूर हो जायगा। किन्तु जो लोग ऐसे आईन की आवश्यकता नहीं समझते वे पहले की तरह अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकेंगे। विवाह के सम्बन्ध में शास्त्रीय विधि के अनुसार कौन न्याय है, कौन अन्याय है, अथवा हिन्दुओं को ऐसे मतविरोध की जगह क्या ग्रहण करना चाहिए, इस बारे में यह आईन कुछ नहीं कहता। इसके द्वारा किसी व्यक्ति के कामों में बाधा नहीं होगी। केवल जो लोग कुछ भिन्न प्रकार की रीतिनीति और उदार सामाजिक भाव के अनुवर्त्ती हैं उनके सामाजिक जीवन बिताने के मार्ग में जो कुछ बाधा थी उसे दूर करना ही इस क़ानून का उद्देश है।

ग्रान्ट साहब की वक्तृता के अन्य स्थान का कुछ अंश यह है—

"After his honourable and learned friend to his right (Sir James Colville) had left Calcutta, Pandit Iswar Chandra Vidyasagar, the learned and eminent Principal of the Sanskrit College, who was the chief mover in the agitation, out of which the Bill had arisen, and was one of the subscribers to the Petition, which had been presented to the Council a few

weeks ago, praying for the measure, called upon him and consulted him on the propriety of asking the Council for such a law as the Bill now brought in."

अर्थात् उनके दक्षिणपार्श्वस्थ माननीय मित्र सर जेम्स कालविली के यहाँ न रहने के कारण इस विधवाविवाह आईन के प्रार्थी और प्रार्थनापत्र पर हस्ताक्षर करनेवालों में प्रधानतम, संस्कृतकालेज के सुयोग्य और सुपरिचित अध्यक्ष, पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने खुद मुझसे मिलकर इस आईन के औचित्य या अनौचित्य पर विशेष रूप से विचार करने के लिए अनुरोध किया है।

ग्रान्ट साहब अपनी वक्तृता में और एक जगह कहते हैं—

"Between three and four hundred years ago, in Bengal, Raghunandan, a very learned and celebrated Pandit, who had written a Digest of the Hindu Law, which formed, he believed, in Bengal, a text-book to this day, made a resolute attempt of this kind. He had at one time firmly resolved that his own widowed daughter re-marry; but the attempt failed. Raja Rajbullab, of Dacca, about the middle of the last century, made a similar attempt, which seems to have been almost successful. He obtained *Vyavastha* or law opinion of a large body of learned Pandits; but finally his attempt also failed. About the same time, the Chief of Kotah made a similar attempt, with no better success. Sir Thomas Strange, in his work on Hindu Law, alludes to an instance in which a large assembly of Pandits at Poona actually gave permission to the widow daughter of a Hindu of high caste to re-marry, and the permission was acted upon. Several similar attempts by Hindus to alter this inveterate custom had been made of late years. He had observed, amongst the papers of the Law Commission, a paper written by a learned Brahmin of Madras, nearly twenty years ago, praying that a Law to the effect of the present Bill might be passed. He had already mentioned

the essay of a Maratha Brahmin of Nagpur, published about the same time. In Calcutta, there was a great agitation on the subject about ten years ago, which was repeated two years ago. It was in consequence of the failure of this last attempt that Isvar Chandra had taken up the subject; and the petition lately presented was the result."

अर्थात् तीन-चार सौ वर्ष के लगभग हुए, तब हिन्दू-ला के संग्रह-कार सुप्रसिद्ध रघुनन्दन भट्टाचार्य्य ने अपनी विधवा कन्या का पुनर्विवाह करने के लिए प्राणपण से प्रयत्न किया था; पर वे उसमें कृतकार्य्य नहीं हो सके। ढाके के राजा राजवल्लभ ने गत शताब्दी के मध्य भाग में विधवाविवाह में बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त कर ली थी। उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों के बहुत से पण्डितों से व्यवस्था भी मँगा ली थी। किन्तु अन्त को उनका मनोरथ पूरा नहीं हुआ। कोटा के राजा ने भी विधवाविवाह चलाने का उद्योग किया था, किन्तु अन्त को वे भी इस काम के लिए सुभीता नहीं पा सके। सर टामस स्ट्रेंज ने हिन्दू-दायभाग के विषय का उल्लेख करते समय कहा है कि पूने के एक उच्चजाति के प्रतिष्ठित पुरुष की विधवा कन्या के विवाह में बहुत से पण्डितों ने व्यवस्था दी थी और उसी के अनुसार उसका पुनर्विवाह हुआ था। हिन्दू लोग इस कठिन सामाजिक प्रथा को बदलने के लिए इधर बहुत दिनों से चेष्टा करते आते हैं। पूर्वोक्त साहब ने नागपुर के महाराष्ट्र ब्राह्मण के प्रबन्ध की बात का उल्लेख पहले ही किया है। उन्होंने आईन-सम्बन्धी कमीशन के काग़ज़-पत्रों में देखा है कि मदरास के एक सुपण्डित ब्राह्मण ने बीस बरस पहले विधवाविवाह के लिए एक ऐसा ही क़ानून बनाने की प्रार्थना की थी।

विधवाविवाह का क़ानून पास होने के समय भारतगवर्नमेन्ट की व्यवस्थापक-सभा में जो आलोचना हुई थी उसका कोई-कोई अंश

पढ़ने से सहृदय पुरुष विधवा-जीवन के दारुण दुःख पर आँसू बहाये बिना नहीं रह सकता। यथा—

The paper from which he was quoting proceeded to say:—
"All amusements are strictly prohibited to her. She is not to be present where there is singing or dancing, or at any family rejoicing; she is not even to witness any festive procession."

अर्थात् जिस प्रबन्ध से उन्होंने कोई-कोई स्थान उद्धृत किया है उसी में एक जगह पर लिखा है कि विधवा के लिए सब तरह की ख़ुशी निषिद्ध है। वह नाच देखने या गाना सुनने नहीं जा सकती। वह किसी प्रकार के परिवार के शुभ काम में शरीक नहीं हो सकती। किसी उत्सव में बहुत लोगों के जमा होने का आनन्द-दृश्य देखना भी उसके लिए मना है।

इसके बाद और एक स्थान पर ग्रान्ट साहब कहते हैं—

"If he knew certainly that but one little girl would be saved from the horrors of Brahmacharya by the passing of this Act, he would pass it for her sake. If he believed, as firmly as he believed the contrary, that the Act would be wholly a dead letter, he would pass it for the sake of the English name."

अर्थात् यदि वे समझ सकें कि इस दुरूह ब्रह्मचर्य्य के पालन में असमर्थ एक बालिका भी ब्रह्मचर्य्य के बोझे से बच जायगी तो केवल उसी के लिए यह आईन पास करना उचित होगा। यदि उनको यह विश्वास होता कि यह आईन पास होने से किसी काम नहीं आवेगा, योंही पड़ा रहेगा, तो भी केवल अँगरेज़ नाम के गौरव की रक्षा के लिए यह आईन पास होना उचित है।

बहुत से लोगों के यत्न और चेष्टा से सन् १८५६ की २६ जुलाई को भारतगवर्नमेन्ट की व्यवस्थापक-सभा में विधवाविवाह का आईन

पास हो गया। बङ्गाल गवर्नमेन्ट के गज़ट से उस आईन का कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"Act XV of 1856, dated 26th July, 1856. I.—No marriage contracted between Hindoos shall be invalid, and the issue of no such marriage shall be illegitimate by the reason of the woman having been previously married or betrothed to another person, who was dead at the time of such marriage, any custom and any interpretation of Hindoo Law to the contrary notwithstanding."

(१ धारा। स्त्री के पहले ब्याह होने के कारण, या विवाह होने के समय जो मर गया है ऐसे अन्य व्यक्ति के साथ पहले वाग्दान होने के कारण, हिन्दुओं में कोई विवाह असिद्ध न समझा जायगा। और ऐसे विवाह होने पर जो सन्तान होगी वह अवैध सन्तान न समझी जायगी। किसी रीति और शास्त्र का चाहे जैसा अर्थ किया जाय वह इस विवाह के विरुद्ध, होने पर भी, न होगा।)

"VI. Whatever words spoken, ceremonies performed or engagements made on the marriage of a Hindoo female, who has not been previously married, are sufficient to constitute a valid marriage, shall have the same effect, if spoken, performed or made on the marriage of a Hindoo widow; and no marriage shall be declared invalid on the ground that such words, ceremonies or engagements are inapplicable to the case of a widow."—*Government Gazette*, 1856.

(६ धारा। जिस हिन्दू स्त्री का पहले विवाह नहीं हुआ उसके विवाह के समय जिन बातों का कहना, जिन कामों का करना, जिन नियमों का होना उस विवाह को सिद्ध करता है वे ही सब बातें हिन्दू-विधवा के विवाह के समय कही जाने, वे ही काम किये जाने और वे ही नियम होने से उनका वही फल होगा। और वे बातें,

वे काम या वे नियम विधवा के लिए नहीं काम में लायें जा सकते, यह कहने से कोई विवाह असिद्ध नहीं किया जा सकेगा।)

राजा राधाकान्त देव आदि हिन्दुओं ने इस विधवाविवाह-विधि के मंजूर होने के विरुद्ध एक अलग आवेदन-पत्र भेजा था। इस आवेदन-पत्र में कलकत्ते के प्रतिष्ठित पुरुषों के उतने हस्ताक्षर न थे। इस पर अन्यान्य स्थानों के कोई ३०००० आदमियों के हस्ताक्षर थे। किन्तु व्यवस्थापक-सभा ने इस आवेदन-पत्र की युक्तियों को उतना प्रबल नहीं समझा। केवल यही नहीं, उसका कोई-कोई अंश बहुत ही आमोदजनक और हास्योद्दीपक समझा गया। ग्रान्ट साहब ने कहा था, "विरोधियों के ३०००० हस्ताक्षरों की तुलना में विधवा-विवाह का पक्षसमर्थन करनेवालों के थोड़े हस्ताक्षर होने पर इन्हीं का मूल्य अधिक है। ऐसे संस्कार के मार्ग में साहस करके अग्रसर होना कैसा कठिन काम है, इस पर विचार करने से हर एक आदमी मेरे कहने का तात्पर्य समझ सकता है।" इधर बर्दवान के राजा महताबचन्द बहादुर और नदिया-समाज के अधिपति महाराज श्रीश-चन्द्र की सहायता से विद्यासागर का पक्ष प्रबल और प्रतिष्ठित हो गया था। क़ानूनन् विधवाविवाह सिद्ध हो जाने पर इस आन्दोलन ने देश में और भी ज़ोर पकड़ा। व्यवस्थापक-सभा के सदस्य माननीय जे० पी० ग्रान्ट महोदय के विशेष आग्रह और परिश्रम से विधवाविवाह का आईन पास हुआ था। विधवाविवाह के पक्षपाती दल ने मिलकर ग्रान्ट साहब को कृतज्ञतासूचक एक अभिनन्दनपत्र दिया था। उस अभिनन्दनपत्र में कृष्णनगर के राजा श्रीशचन्द्र, राजा प्रतापचन्द्र, बाबू रामगोपाल घोष, पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति आदि अनेक प्रतिष्ठित लोगों ने हस्ताक्षर किये थे। समाजपति महाराज श्रीशचन्द्र ने अपने हाथ से वह अभिनन्दनपत्र ग्रान्ट साहब को दिया था।

विधवाविवाह के मार्ग में दायभाग की जो भारी बाधा थी वह मिट गई। अब विद्यासागर महाशय विधवाविवाह के उद्योग में लग गये। जिस समय वे इस कार्य में लगे हुए थे उस समय उनके पूजनीय अध्यापक प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने विद्यासागर से मिलकर जो अच्छी सलाह दी थी वह नीचे उद्धृत की जाती है।

पहले विधवाविवाह के अनुष्ठान के समय कुछ दिन ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उसी में लगे रहते थे। एक दिन तर्कवागीशजी ने विद्यासागर से मिलकर कहा—"ईश्वर, यह ख़बर बहुत गर्म है कि विधवा के विवाह की तैयारी हो रही है। मालूम नहीं, क्या-क्या हो चुका है। अब पूछना यह है कि देश के विज्ञ और वृद्ध लोगों को तुम अपने मत से सहमत बना सके हो या नहीं?" इसके उत्तर में विद्यासागर ने कहा—"आप शायद विज्ञ और वृद्ध कहकर राजा राधाकान्त देव आदि की ओर इशारा कर रहे हैं। मैंने इन लोगों की बड़ी उपासना की है। मैंने सबको हिला-डुलाकर देखा है। मुझे ये सब वीर्य-हीन और धर्म का ढोंग रचनेवाले देख पड़े। जिन्होंने पहले मुक्त-कण्ठ होकर सहानुभूति दिखलाई थी, इस समय, उनके आचरण देखकर मेरे विस्मय का ठिकाना नहीं है। मैं अब बहुत आगे बढ़ आया हूँ। मुझे लौटाने की बात न कहिएगा।" तर्क-वागीश ने फिर कहा—"ईश्वर, बचपन से तुम्हारी प्रकृति और अदम्य मानसिक शक्ति की ओर मेरा बराबर ध्यान रहा है। मेरा यह इरादा कभी नहीं है कि मैं तुमको इधर से लौटाऊँ। तुम जिस काम में लोगों की भलाई समझते हो और जिसके लिए दिन-रात सोचा करते हो वह कार्य आरम्भ में ही नष्ट न हो जाय, उसकी जड़ मज़बूत हो, यही मेरा उद्देश्य है। केवल कलकत्ते के कुछ वृद्धों की ही बात मैं नहीं कहता। उत्तर-पश्चिम प्रदेश, बम्बई, मदरास आदि स्थानों में, जहाँ

हिन्दू-धर्म प्रचलित है, कोशिश करनी होगी। जो लोग समझते हैं कि इस कार्य के द्वारा धर्म का नाश और लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन किया जाता है उनको अच्छी तरह समझाना होगा। विधवा का लड़का पैतृक-सम्पत्ति का अधिकारी होगा, यह क़ानून ही काफ़ी है। जब तुम राजपुरुषों की सहायता से यह आईन पास करा सके हो तब पूर्वोक्त स्थानों के समाजपतियों की सहायता और सहानुभूति पाना मुझे कुछ कठिन नहीं मालूम होता।"

इस अंश को पढ़ने से स्पष्ट मालूम होता है कि राजा राधाकान्त देव के परमपूजनीय तर्क-वागीशजी भी विधवाविवाह का शास्त्र-सिद्ध होना स्वीकार करते थे और उसके चलन के पक्षपाती थे। उन्होंने ईश्वरचन्द्र को इस उद्योग के लिए उत्साहित किया था कि केवल बङ्गाल में ही नहीं, सारे भारत में विधवाविवाह प्रचलित हो जाय।

विद्यासागर ग़रीब ब्राह्मण के लड़के थे। पिता ने मामूली लिख-पढ़कर कष्ट के साथ गुज़र करते हुए ईश्वरचन्द्र को लिखाया-पढ़ाया। ईश्वरचन्द्र के बाबा और परबाबा दोनों ही प्रसिद्ध अध्यापक और विद्वान् थे। ईश्वरचन्द्र बङ्गाल के संस्कृत-व्यवसायी अध्यापक-वंश में पैदा हुए थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋषिवंश में, वेद के पढ़ने-वाले पूजनीय गुरुवंश में या उसके समान साधु-सज्जन-वंश में जन्म लेना परम गौरव की बात और बड़े पुण्य का फल है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि बङ्गाल के वर्तमान समय के ब्राह्मण-पण्डितों में वैसा तप का प्रभाव नहीं देख पड़ता। उनके कार्य और आचार और ही तरह के हो गये हैं। पूर्व-पुरुषों का धार्मिक वैभव अब उनके सम्मान को नहीं बढ़ाता। अब वे न्याय-निष्ठा को पसन्द नहीं करते। सत्यवादीपन की कान्ति अब उनके मुखमण्डल की शोभा नहीं बढ़ाती। आज वे प्रभाहीन मुरझाये हुए देख पड़ते हैं।

अतीत की स्मृति को हृदय में धारण किये आज वे छाया की तरह भारत के निर्जन स्थानों में छिपे हुए हैं। उनके पूर्ववैभव पर जर्मनी के ज्ञान-पिपासु अनुसन्धान-प्रिय एकनिष्ठ विद्वान् अपना अधिकार जमाते जा रहे हैं। हमारे आस्फालन और आडम्बर के द्वारा समाज की नींव शिथिल होती जा रही है। जातीय जीवन-वृक्ष की जड़ जो अध्यापक-मण्डली है वह रस-शून्य मृतप्राय हो रही है। उनमें से अधिकांश विद्वान् धनी लोगों के तावेदार बने हुए हैं।

विद्यासागर ने ऐसी विषम अवस्था में उत्पन्न होकर भी अपनी भारी शक्ति का परिचय दिया। पराई नौकरी छोड़कर, आत्मनिर्भर होकर और उसके द्वारा समाज की भलाई करके, उन्होंने अध्यापक-मण्डली का मुख उज्ज्वल किया। जीवन का उच्च आदर्श दिखाकर उन्होंने सारे देश की कृतज्ञता प्राप्त की। यह उनके लिए कम प्रशंसा की बात नहीं है। जिस भारी उद्यम और भारी तैयारी के साथ उन्होंने इस समय विधवाविवाह का उद्योग किया उसमें उन्हें सम्पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त हुई। उन्हें शीघ्र ही विवाह की इच्छा रखने-वाली विधवा और उसे अङ्गीकार करनेवाला वर मिल गया। वर तो खाटुरा-ग्राम-निवासी सुप्रसिद्ध रामधन तर्कवागीश के पुत्र श्रीश-चन्द्र विद्यारत्न थे, और विधवा वर्दवान ज़िले के अन्तर्गत पलासडाँगा गाँव के रहनेवाले ब्रह्मानन्द मुखोपाध्याय की दस वर्ष की कन्या काली-मती देवी थी। इस विधवाविवाह में मदनमोहन तर्कालङ्कारजी का भी कुछ उद्योग था। उनके जीवनचरित में लिखा है—पण्डित श्रीश-चन्द्र विद्यारत्न एक ख़ाली जज-पण्डित के पद के लिए पसन्द किये गये। × × × तर्कालङ्कारजी के साथ उनकी गहरी मित्रता थी। तर्कालङ्कार ने उनके विवाह का सब ठीकठौर करा दिया। उन्होंने पहले पहल विधवा का पुनर्विवाह कराया। यह विधवा

बालिका माता के साथ तर्कालङ्कारजी की सुसराल में प्रायः नित्य ही आया-जाया करती थी। उन्हीं के विशेष प्रयत्न से माता और कन्या दोनों कलकत्ते भेजी गईं।

सन् १८५६ की २६ जुलाई को विधवाविवाह का आईन पास हुआ और तीन महीने के भीतर ही, अगहन के तेईसवें दिन, पहला विधवाविवाह हो गया। इस बात की हम लोग अच्छी तरह धारणा ही नहीं कर सकते कि कैसे आग्रह और अनुराग के साथ उद्योग करने से—जीवन अर्पण करके किस तरह शुभ काम को पूर्ण करने के लिए अग्रसर होने से—शीघ्रता के साथ ऐसा कठिन काम सुसम्पन्न हो सकता है। हमारा क्षुद्र ज्ञान इस बात को समझने में एक प्रकार से असमर्थ ही है कि सैकड़ों प्रकार की बाधाओं को हटाने में, राजा राधाकान्तदेव के समान विरोधी के विरोध की उपेक्षा करने में, सैकड़ों लोगों के तीव्र व्यङ्ग्यों और गाली-गलौजों को सहने में कैसी कठिन सहिष्णुता और निष्ठा की ज़रूरत है। केवल विद्यासागर के समान व्यक्ति ही ऐसे कार्य के सच्चे गौरव और ऐसे कार्य करनेवाले की योग्यता तथा यथार्थ मर्यादा को समझ सकता है। क्षुद्रपुरुष में महान् कार्य का मूल्य जाँचने की शक्ति नहीं होती। टीका-टिप्पणी करनेवाले, छिद्रान्वेषण करनेवाले, अनेक मिलेंगे, पर किसी कार्य को कर्त्तव्य समझकर प्राणपण से सुसम्पन्न करनेवाले पुरुष हज़ार, दो हज़ार में एक ही दो होते हैं। उदारता की उच्चभूमि में खड़े होकर सार्वभौमिक भाव की प्रेरणा से समाज की भलाई सोचने के लिए हृदय में आग्रह उत्पन्न होने पर अन्तःकरण में जो धर्मभाव से उत्पन्न कर्त्तव्य-ज्ञान की बिजली पैदा होती है और उस प्रकाश से उज्ज्वल मानसिक दृष्टि के आगे जो विधाता का अङ्गुलिसङ्केत प्रतीत होता है उसे देखने और उस मार्ग पर चलने का जो
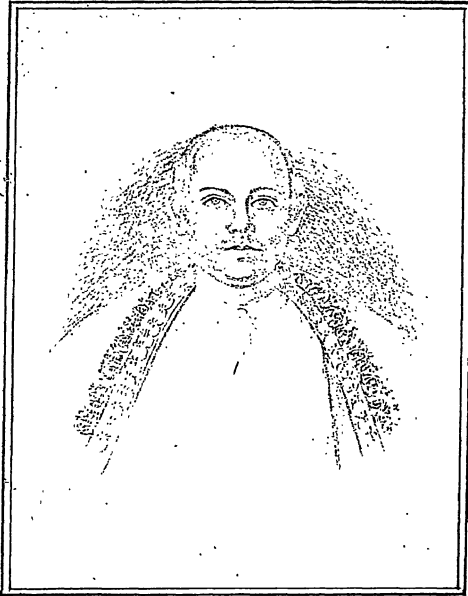
श्रीश्रीशचन्द्रशर्मणः ।

लोग यत्न करते हैं वे ही विद्यासागर के कार्यों की प्रकृति और तात्पर्य को समझ सकते हैं। विधवाविवाह का आईन पास हो जाने पर प्रथम विधवाविवाह की तैयारी के समय विद्यासागर को एक अलौकिक तृप्ति हुई थी। पुण्य क्षेत्र भारतवर्ष के भाग्यचक्र के फेर से जो कूड़ा-कर्कट ढेर हो गया था और जिसे उठाकर फेंक देने के लिए वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में राजा राममोहन राय कमर कसकर खड़े हुए थे (किन्तु वह काम पूरा भी न होने पाया और वे चल बसे) उसी काम को पूरा करने के लिए, समाज-क्षेत्र की सफ़ाई के लिए, विधाता ने ईश्वरचन्द्र को भेजा था।

बङ्गला सन् १२६३ (१७७८ शकाब्द) के अगहन के तेईसवें दिन बङ्गाल में विद्यासागर के विजय का डङ्का पिट गया। बङ्गाल के सामाजिक इतिहास में यह दिन सदा स्वर्णाक्षरों से अङ्कित रहेगा। आगे की पीढ़ी के लोग अपने हृदयपटल में विद्यासागर-मूर्त्ति के फैले हुए दाहने हाथ की तर्जनी के अग्रभाग में "**सन् १२६३ के अगहन का तेईसवाँ दिन**" प्रकाश-मय अक्षरों से लिखा हुआ देखेंगे।

कन्या कालीमती देवी अपनी माता सहित सुकियास्ट्रीट में बाबू राजकृष्ण बन्द्योपाध्याय के घर में रहती थी। वर श्रीशचन्द्र विद्यारत्न कलकत्ते में आकर सुप्रसिद्ध रामगोपाल घोसजी के घर ठहरे थे। २३ अगहन को रविवार के दिन शाम के पहले अनेक स्थानों के पण्डित और प्रतिष्ठित पुरजन विवाह-भवन में पधारे। स्त्रियाँ कन्या को विवाह के योग्य वस्त्रालङ्कार पहनाकर वर के आने की राह देखने लगीं। सुकियास्ट्रीट और उसके आसपास की सड़कों में भीड़ का ओर-छोर न था। खोपड़ियाँ ही खोपड़ियाँ दिखलाई पड़ती थीं। परिचित-अपरिचित, उच्च-नीच, सब एक से एक भिड़े हुए खड़े थे। विद्यासागर को पहले ही यह ख़याल था कि बड़ी भीड़ होगी और

प्रबन्ध न किया जायगा तो गड़बड़ हो जायगी; इसलिए पहले ही से पुलीस के पहरे का पूरा प्रबन्ध हो गया था। सुकियास्ट्रीट में और वर जिस राह से आनेवाला था उसमें, दो-दो हाथ के फ़ासले पर, एक-एक सिपाही तैनात था। जब बरात सहित वर विवाह-भवन में आ रहा था तब उसे देखने के लिए, राह में इतनी भीड़ भिड़ गई कि वर की पालकी का आगे बढ़ना कठिन हो गया। वर एक नई बात का पथ-प्रदर्शक होकर आया था। इतनी भीड़ देखकर उसका घबराना स्वाभाविक ही था। इसलिए रामगोपाल घोष, हरचन्द्र घोष, पण्डित शम्भुनाथ, द्वारकानाथ मित्र आदि विद्यासागर की मित्र-मण्डली वर की पालकी के दाहिने और बायें उसे उत्साहित और प्रसन्न करती जाती थी। ऐसे समारोह और भीड़ के भीतर होकर बरात के साथ वर विवाह-भवन में पहुँचा। विवाह की सभा में संस्कृत-कालेज के अध्यापक सुप्रसिद्ध जयनारायण तर्कपञ्चानन, भरत-चन्द्र शिरोमणि, प्रेमचन्द्र तर्कवागीश, तारानाथ तर्कवाचस्पति और अनेक अन्यान्य पाठशालाओं के अध्यापक-पण्डित उपस्थित थे। विवाहसभा, विवाह का निमन्त्रण और तैयारी का वर्णन पुरानी तत्त्व-बोधिनी पत्रिका से यहाँ उद्धृत किया जाता है—

विधवा-विवाह।

हम बड़ी प्रसन्नता के साथ सूचित करते हैं कि हमारा चिर-वाञ्छित विधवाविवाह अब समाज में प्रचलित हो चला। गत २३ अगहन रविवार को देशविख्यात श्रीयुत रामधन तर्कवागीशजी के पुत्र श्रीशचन्द्र विद्यारत्न भट्टाचार्य्य के साथ पलासडाँगा गाँव के रहनेवाले भद्रवंशोद्भव ब्रह्मानन्द मुखोपाध्याय की दस बरस की विधवा कन्या का विवाह हो गया। यह कन्या जब चार बरस की थी तब इसका विवाह नदिया के राजा के गुरुवंश में उत्पन्न रुक्मिणीपति भट्टाचार्य्य

के पुत्र हरमोहन भट्टाचार्य्य के साथ हुआ था। विवाह के दो वर्ष बाद, अर्थात् केवल ६ वर्ष की अवस्था में, यह कन्या विधवा हो गई थी। यह कन्या विधवा होने पर भी पति के घर में रहती थी। कन्या की माता से उनकी असीम वैधव्ययन्त्रणा नहीं देखी गई। उसने अपने आत्मीय लोगों की सम्मति के अनुसार अपनी कन्या का फिर विवाह करने का उद्योग किया। इस कन्या के पिता के मर जाने पर माता लक्ष्मीमणि देवी ने हिन्दू शास्त्र और देशप्रचलित प्रथा के अनुसार उक्त वर को कन्या का पुनर्दान किया है। ब्राह्मण वर्ण के विवाह के अवसर पर इस देश में वृद्धिश्राद्ध और कुशकण्डिका आदि जो-जो कृत्य होते हैं वे सब विधिपूर्वक किये गये। इस विवाह में ८०० के लगभग निमन्त्रणपत्र छपे थे। इनके सिवा अध्यापक-मण्डली के लिए, संस्कृत कविता में, अलग निमन्त्रणपत्र छपे थे। पाठकों के जानने के लिए दोनों तरह के निमन्त्रणपत्रों की नकल नीचे दी जाती है।

(१)

श्रीलक्ष्मीमणिदेव्याः विनयं निवेदनम्।

२३ अगहन रविवार को मेरी विधवा कन्या का शुभ विवाह होगा। महाशय अनुग्रह करके कलकत्ते के अन्तर्गत सुकिया स्ट्रीट के १२ नं० के मकान में अपने शुभागमन से इस शुभ कार्य्य को सम्पन्न करें। पत्र-द्वारा निमन्त्रण दिया जाता है। इति। २१ अगहन, शकाब्दाः १७७८।

(२)

अन्त्ये भौमे निशान्ते विलसति नितरां पद्मिनीप्राणकान्ते।
स्वाहाकान्ते चणांशे दिनकिरणदिने शास्त्रमार्गानुसारी॥
भूयो भावीविधानात् परिणयनविधिर्भर्तृहीनात्मजायाः।
पूर्य्यो वर्य्यार्य्यविज्ञैरिह सदसि गतैर्म्मत्कृपापारतन्त्र्यात्॥

इसी के दूसरे दिन पानीहाटीग्रामनिवासी प्रसिद्ध कुलीन कायस्थ श्रीयुत बाबू हरकाली घोष के भाई कृष्णकाली घोष के पुत्र मधुसूदन घोष के साथ कलकत्तानिवासी निमाईचरण मित्र के पोते श्रीयुत बाबू ईशानचन्द्र मित्र की बारह बरस की विधवा कन्या का विवाह हुआ। इस कन्या का दान उसके पिता ने ही किया। यह विवाह भी कायस्थों के कुलाचार के अनुसार ही हुआ।

उल्लिखित महान् कार्य्य के अवसर पर बड़ा समारोह हुआ था। विवाह की सभा में प्रायः कलकत्ते के सभी प्रधान-प्रधान पुरुष उपस्थित हुए थे। अनेक भले आदमियों ने मन-वाणी-काया से परिश्रम करके इस कार्य में सहायता की थी। इस अवसर पर इतने लोगों का जमाव हुआ था कि सब लोगों को बैठने के लिए अच्छी तरह स्थान नहीं मिला और विवाहभवन के पास की सड़कों में गाड़ियाँ ही गाड़ियाँ देख पड़ती थीं। विशेष बात यह थी कि अनेक शास्त्रज्ञ पण्डित भी सभा में उपस्थित थे। यह भारी काम होते देखकर बंगाल में भारी आन्दोलन मचा हुआ है। कोई-कोई भारी आनन्द से पुलकित होकर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं और कोई-कोई शोक के मारे लम्बी साँसें लेते हैं। कोई-कोई इस घटना को अपने देश के चिर-कल्याण का कारण समझकर इसके उद्योगियों को हार्दिक साधुवाद देते हैं और कोई-कोई इसे भारत का कलङ्क और हिन्दूधर्म के मिटने का कारण समझकर इसके उद्योगी उत्साही पुरुषों को तरह-तरह की गालियाँ देते हैं। जिन ज्ञानी देशहितैषी बुद्धिमान् लोगों का लक्ष्य बहुत दिनों से इस ओर था, जो यह शुभ दिन देखने के लिए दिन गिन रहे थे, जो लोग यह आनन्दमय सुख का दिन पाने के लिए आशा-लता की जड़ में यत्न का जल सींच रहे थे, जिन लोगों ने इस विधवा-विवाहरूपी पुण्य-वृक्ष को जन्मभूमि में रोपने के लिए अनेक प्रकार से शारीरिक

और मानसिक परि म करते हुए अनेक स्वदेशी बन्धुबान्धवों के हृदय-क्षेत्र में इस कार्य का बीज बोया था, उनको आज बड़ा ही हर्ष है। यह चिरवाञ्छित सुखमय शुभ दिन उपस्थित होने से वे लोग खुशी से फूले नहीं समाते। इस कल्याणकर पुण्य-वृक्ष को सफल देखकर आज वे अपने सारे परिश्रम और यत्न को सार्थक समझते हुए आनन्द के आँसू बहा रहे हैं। वे देख रहे हैं कि जगदीश्वर की अनुपम करुणा के प्रसाद से, भारतवर्ष से, क्रमशः अज्ञान का अन्धकार दूर होता जाता है। ज्ञान के प्रकाश के प्रभाव से भारतवर्ष के अनेक सन्तान जननी जन्मभूमि का अधर्म-कण्टक निकालने के लिए अग्रसर देख पड़ते हैं। वे उसे पुण्यकर्मरूपी शोभनीय अलङ्कार से अलङ्कृत करने के लिए मन-वाणी-काया से यत्न कर रहे हैं। वे देख रहे हैं कि पाप के बोझ से दबी हुई भारतभूमि अनेक साधु पुरुषों के उद्योग से, इतने दिनों के बाद, उस पाप के बोझ से छुटकारा पा रही है, भुवन-प्रसिद्ध हिन्दू जाति का बहुत दिनों का कलङ्क दूर किया जा रहा है और अवनत मस्तक हिन्दुस्तान फिर अपना महत्त्व प्रकाशित करता हुआ सिर ऊँचा कर रहा है। वे इन सब शुभ चिह्नों को देखकर हिन्दुस्तान की श्रीवृद्धि और हिन्दुओं की गौरव-वृद्धि की आशा से पुलकित हो रहे हैं। किन्तु जो ज्ञानहीन पाण्डित्याभिमानी लोग अपने सुदृढ़ कुसंस्कार के कारण इस शुभ कार्य को अकारण निन्दित कर्म समझकर इसके सुसम्पन्न होने के मार्ग में तरह-तरह की बाधाएँ डालते हैं, धर्माधर्म का कुछ विचार न कर इस शुभ दिन के आने की शङ्का से व्याकुल रहते हैं और इस शुभकार्य के उद्योगियों की कार्यवाही पर पानी फेरने के लिए मन-वाणी-काया से यत्न करते हैं, वे ही इस कार्य की प्रत्यक्ष सफलता से हताश और अचेत होकर व्यर्थ हाहाकार कर रहे हैं; जो ज्ञानदृष्टि

को बिलकुल बन्द करके, बुद्धि, युक्ति और विचार को विदा करके, देश-प्रचलित व्यवहार को ही सर्वोपरि समझते हैं और उसके विरुद्ध कुछ होते देखकर कोलाहल मचाने लगते हैं, वे ही इस शुभ सङ्कल्प के सिद्ध होने से शोकसागर में गोते खा रहे हैं और इस सन्तापहारी शीतल धर्म-वृक्ष को सफल होते देखकर हताश और अचेत होकर अनर्थक हाहाकार कर रहे हैं। वे ही समझते हैं कि क्रमशः कलियुग के प्रबल होने के कारण धर्म का प्रवाह एकदम बन्द हो गया, शास्त्र का मान समाज से उठ गया, भारत में दिन-दिन अधर्म का अधिकार अधिक होने लगा। वे कहते हैं कि आज हिन्दुओं का नाम लुप्त हो रहा है और भारत की भूमि अधर्म के बोझ से दबी जा रही है। वे इस प्रकार अमूलक अमङ्गल की आशङ्का करके अपने भावी सौभाग्य की आशा को दिन-दिन क्षीण बनाते जा रहे हैं। किन्तु इस विधवा-विवाह की प्रथा के जारी होने से भारत के सौभाग्य का सूर्य चौगुनी चमक से प्रकाशमान हुआ है और हिन्दू-जाति का गौरव बढ़ गया है। यदि इसी तरह क्रमशः भारत की सब कुप्रथाएँ दूर कर दी जायँ, यहाँ सब सुरीतियाँ प्रचलित हो जायँ तो भारतभूमि फिर सर्वोत्तम धर्मक्षेत्र के नाम से परिचित हो सकती है और हिन्दू-जाति निष्कलङ्क तथा निष्पाप समझी जा सकती है। जो लोग विधवा-विवाह के जारी होने से मन ही मन उदास होकर देश के भाग्य की अकारण निन्दा करते हैं वे कुछ विचार कर देखें तो उनका वह विषाद दूर हो जाय और वे स्वदेश को सौभाग्यशाली समझें। इस देश में विधवा अनाथ बालिकाओं के पुनर्विवाह की चाल न होने से गर्भपात, स्त्रीहत्या, व्यभिचार आदि अनेक प्रकार के उत्कट पापों का मार्ग खुला हुआ था। अनेक पण्डितों ने बारम्बार अनेक प्रकार की युक्तियों से यह बात प्रमाणित कर दी है; और जिसमें ज़रा भी समझ है वह

अनायास ही इस बात की सचाई का अनुभव कर सकता है। विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित होने से उस पातक के घट जाने की बात निर्विवाद है। इसके लिए हिन्दू-धर्माभिमानी को उत्साह की जगह विषादवश होना उचित नहीं। हाँ, यदि ऐसा करनेवाले लोग केवल अभिमान के वश होकर, यथार्थ धर्म पर ध्यान न देकर, बहुकाल से प्रचलित वंशपरम्परागत देशाचार के उच्छेद और अप्रचलित आधुनिक प्रथा का प्रचार देखकर दुःखित होते हैं तो कोई उपाय नहीं। किन्तु जो लोग मन ही मन बुद्धिमान् होने का अभिमान करते हैं, पण्डित कहकर अपना परिचय देते हैं, धर्मात्मा होने का दावा रखते हैं उन्हें ऐसे माङ्गलिक कार्यों में उत्साहित न होकर दुःखित होना कदापि उचित नहीं। बहुत दिनों के बाद शरीर का कोई पुराना रोग दूर हो जाय तो उसके लिए खेद करना जैसे असङ्गत होगा वैसे ही देश-प्रचलित किसी प्राचीन कुप्रथा का मूलोच्छेद देखकर अप्रसन्न होना भी नासमझी है। ख़ैर, जब विरोधी लोगों का चित्त सावधान होगा, द्वेष की आग बुझ जायगी, अभिमान जाता रहेगा, तब वे आप ही देख पावेंगे कि इस देश में विधवा-विवाह जारी होने से बुराई नहीं, भलाई ही हुई है।

इस कार्य को जिन असाधारण पुरुषों ने महान् प्रयत्न करके सुसम्पन्न किया है, जिनके उत्साह से इस चिरवाञ्छित प्रथा का प्रचार हुआ है उनकी शक्ति और दृढ़ता की प्रशंसा करना तो मानो सूर्य्य को दीपक दिखाना है। इस काम में कई एक बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषों की सहायता और सहानुभूति से सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु उनमें महामान्य और सबके अगुवा श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागरजी के नाम को इस देश का हर एक आदमी आदर के साथ स्मरण करता रहेगा। उनका नाम अपनी कीर्त्ति के साथ पृथ्वीतल पर

अमर बना रहेगा। इस काम के लिए उन्होंने अवर्णनीय परिश्रम और यत्न किया है। उनका असाधारण अध्यवसाय, अलौकिक सहनशीलता और प्रखर प्रतिभा ही इस महान् कार्य के सम्पादन का प्रधान कारण है। उन्होंने अपनी विशेष बुद्धि के बल से हिन्दुओं के सब धर्म्मशास्त्रों को जाँचकर—छानबीन कर—यह निर्णय किया कि हिन्दू-विधवा का विवाह मर्म्मविरुद्ध नहीं है। उन्होंने अपने विचार-कौशल से सबको यह बात समझा दी। उन्हीं के प्रभाव से हिन्दू-शास्त्र का कलङ्क दूर हुआ, उन्हीं के प्रसाद से हिन्दू-विधवाओं को असह्य यन्त्रणा से छुटकारा मिला। उन्होंने इस शुभसङ्कल्प को सिद्ध करने में निन्दा, अपमान, उपहास और गाली-गलौज की परवा नहीं की। उन्होंने जब पहले विधवा-विवाह-सम्बन्धी पुस्तक प्रचारित की तब उनके प्रतिपक्षियों ने गालियाँ सुनाईं, निन्दा की और अनेक महाशय शत्रु बन गये। किन्तु वे हिमाचल के समान अचल-अटल बने रहे। वज्र जैसे पहाड़ पर गिरकर आप ही तेजोहीन हो जाता है वैसे ही शत्रुओं और विरोधियों का हर एक काम निष्फल होता गया। विद्यासागरजी यदि इन नासमझ लोगों के वैर-व्यवहार से खीझकर इस शुभ कार्य को छोड़ बैठते तो भारतवर्ष की विधवाओं के हृदय की आग बुझाने का कोई उपाय न होता और गर्भपात, व्यभिचार आदि पातक दिन दूने रात चौगुने बढ़ते जाते।

भगवन्! जगदीश्वर! इन सब कल्याणकर शुभ कार्य्यों में हमको तुम्हारी ही महिमा—तुम्हारा ही प्रसाद—देख पड़ता है। तुम किस उपाय से, किस कौशल से, जीव का कल्याण करते हो, इस रहस्य को कोई नहीं समझ सकता। कौन जानता था कि अन्धकार-पूर्ण भारतवर्ष में हिन्दू-विधवा के विवाह की प्रथा प्रचलित होगी—कौन समझता था कि लोग स्त्रियों के भी अधिकार को स्वीकार

करेंगे। विधवाओं की दशा का स्मरण करके इस समय भी हमारी आँखों से आँसू टपक पड़ते हैं। हमको भी यह विश्वास न था कि वे फिर सौभाग्यवती बन सकेंगी। भगवन्! यह सब तुम्हारी ही कृपा है। भारतभूमि सदा से धर्मभूमि कहलाती आती है और भारत-सन्तान धर्मपुत्र कहलाते थे। उनके दारुण देशाचार ने उनको अधर्म की ओर बहका दिया था। आप फिर उन्हें उनकी राह पर ले आये। हम आपको प्रणाम करते हैं। अन्त में आपसे हमारी यही प्रार्थना है कि उस महापुरुष की कीर्त्ति पृथ्वी पर सदा आपकी महिमा को बढ़ावे, जिसके प्रयत्न से विधवाओं की दुर्दशा दूर हुई है।

(तत्त्वबोधिनी पत्रिका, ९ पौष, सोमवार, सं० १९१३)

इसी अवसर पर बँगला के प्रसिद्ध लेखक अक्षयकुमार दत्त ने प्रयाग से विद्यासागर को जो चिट्ठी लिखी थी वह भी यहाँ पर उद्धृत की जाती है—

परमश्रद्धास्पदेषु,

सविनयमिदं निवेदनम्—

मैं ६ पौष को इलाहाबाद पहुँचा। ९ पौष को कीटगंज में लाला वंशीधर की सिफ़ारिश से श्रीयुत रामचन्द्र मिश्र के बाग़ में ठहरा हूँ। मेरे सिर का दर्द तो कुछ-कुछ कम जान पड़ता है किन्तु पेट की गड़बड़ी किसी तरह नहीं जाती। अम्लरोग (Acidity) अत्यन्त प्रबल है। इस कारण अच्छी तरह भोजन आदि नहीं कर सकता। मैं नहीं समझता था कि यहाँ भी मन्दाग्नि और अम्लरोग प्रबल रहेगा।

मुझे यहाँ पहुँचते ही विधवाविवाह का शुभ समाचार प्राप्त हुआ। भारतवर्ष के सर्व-साधारण लोग इस काम के लिए चिरकाल तक आपके ऋणी और कृतज्ञ रहेंगे। मैं उस समय वहाँ उपस्थित रहकर आप लोगों के साथ अपने मन के उल्लास को प्रकाशित न कर सका। मेरा

यह दुःख कभी जानेवाला नहीं। यह बात मैंने सुनी थी कि माघ के महीने में कई एक विधवाविवाह होने की सम्भावना है। सो क्या हुआ? कृपा कर लिखिएगा कि इस शुभ संवाद में कहाँ तक सचाई है कि प्राट साहब शीघ्र ही विलायत जायँगे और उनकी जगह पर आप काम करेंगे? श्रीयुत बाबू श्यामाचरण विश्वास और प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी महाशय से मेरा नमस्कार कहिएगा। इति।

श्री अक्षयकुमार दत्त।

इस विधवाविवाह के मामले में पड़ने से विद्यासागर को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा था। किसी-किसी ने छिपकर उन्हें मार डालने तक की चेष्टा की थी। विद्यासागर के वृद्ध पिता ठाकुरदास ने वीरसिंह (गाँव) में सुना कि उनके पुत्र ईश्वरचन्द्र को मार डालने के लिए कुछ लोग लगा दिये गये हैं। इस ख़बर से वे बहुत ही घबराये। उन्होंने अपने घर के दरवान श्रीमन्त सरदार को विद्यासागर की रक्षा के लिए कलकत्ते भेज दिया। जिन दिनों बङ्गाल भर में विधवाविवाह की हलचल मची हुई थी, उन्हीं दिनों एक दिन आधी रात को, संस्कृत कालेज से घर आते समय, ठनठनिया में विद्यासागर ने देखा कि कई आदमी उन पर चोट करने के लिए आगे बढ़ रहे हैं। विद्यासागर उन लम्बे-तड़ंगे शत्रुओं को देखकर न तो डरे और न चिन्तित हुए। उन्होंने केवल एक बार अपने नौकर श्रीमन्त को पुकारा। श्रीमन्त ने पीछे से कहा—"तुम चलो न, कौन आता है, मैं देख लूँगा।" श्रीमन्त के उत्तर का ढँग देखकर आक्रमण करने की नीयत से आनेवाले समझ गये कि विद्यासागर अकेले नहीं हैं। वे फिर आगे नहीं बढ़े, चुपचाप चले गये। इस दिन से रात को विद्यासागर अकेले कहीं नहीं जाते थे। सिपाही-विद्रोह के समय भी श्रीमन्त कलकत्ते में विद्यासागर के पास रहता

था। इस समय संस्कृतकालेज में सेना को ठहरने के लिए स्थान दिया गया था। एक दिन श्रीमन्त दिन को किसी प्रयोजन से विद्यासागर के पास गया। वह कालेज में घुसने लगा। गोरों ने आकर रोका। वे रास्ता रोके खड़े थे और श्रीमन्त भीतर जाने के लिए अड़ा था। श्रीमन्त के शरीर में जैसा ज़ोर था वैसा ही साहस भी था। गोरों के बल की परीक्षा लेने के लिए श्रीमन्त लाठी हाथ में लिये उसी ओर आगे बढ़ा। गोरों ने पहले मना किया, पीछे पकड़कर उसे हटाने चले। किन्तु वे श्रीमन्त को हटा न सके। श्रीमन्त ने दोनों हाथों से दोनों गोरों को इधर-उधर हटा दिया और उधर ही से आगे बढ़ा। गोरों ने अपमानित होकर बन्दूक़ उठाई। श्रीमन्त ने भी लाठी तानी। लकड़ी से बन्दूक़ की गोली रोकने के लिए श्रीमन्त तैयार था। इसी समय गोरों का अफ़सर वहां आ गया। वह गोरों को गोली चलाने के लिए तैयार देखकर फ़ौरन् बीच में आकर खड़ा हो गया और बोला—"यह क्या करते हो? यह पण्डितजी का आदमी है।" गोरे सकपकाकर हट गये। विद्यासागर इतने में आ गये और श्रीमन्त को डाँटने लगे। तब श्रीमन्त ने गर्व के साथ कहा—"देशी लोगों का बल बहुत बार देखा था, आज गोरों की आज़माइश कर रहा था।" विद्यासागर ने कहा—"अभी तेरी जान गई थी।" श्रीमन्त ने कहा—"मेरे हाथ में लाठी के रहते कोई मेरे बदन में हाथ नहीं लगा सकता।" विद्यासागर ने कहा—"तेरे बदन में हाथ लगाने की ज़रूरत ही क्या थी: गोरे गोली मार देते।" श्रीमन्त ने उत्साह के साथ कहा—"हाथ में लाठी है तो गोली का खटका कैसा? बन्दूक़ में गोली भरनी पड़ती है, और मेरी लाठी बराबर चलती है।" विद्यासागर को श्रीमन्त की वीरता का हाल पहले ही से मालूम था।

बँगला सन् १२६३, ११ फाल्गुन, में चौबीस परगने के अन्तर्गत बोड़ाल-ग्राम-निवासी सुप्रसिद्ध राजनारायण वसु के चचेरे भाई दुर्गा-नारायण वसु और सगे भाई मदनमोहन वसु ने विधवा बालिकाओं से विवाह किये। इन दोनों विवाहों में भी विद्यासागर का बहुत सा धन खर्च हुआ था। इस प्रकार लगातार रुपया खर्च करने से विद्यासागर को रुपये की कमी का सामना करना पड़ा। जिनके उत्साहपूर्ण मुख को देखकर विद्यासागर उत्साहित और इस मार्ग में अग्रसर हुए थे वे शुक्ल प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह उदय होते ही अदृश्य हो गये। ग़रीब ईश्वरचन्द्र के सामने निराशा का घना अन्ध-कार छा गया। बीच-बीच में केवल उनके अँगरेज़ मित्रों में से कोई-कोई उन्हें आश्वासन देते रहते थे। स्वदेशी मित्रों में भी कुछ सज्जन ऐसे थे जो उन्हें धन की सहायता करते जाते थे और उसी आमदनी से विद्यासागर का विधवाविवाह कार्य जारी था। विद्यासागर को अपने कष्ट या कमी की चिन्ता कभी नहीं हुई। उन्हें अगर चिन्ता थी तो यह कि विधवाविवाह का काम कहीं अर्थाभाव से बन्द न हो जाय। उस समय विद्यासागर के सबसे बड़े सहायक श्रद्धेय राज-नारायण वसु थे। विद्यासागर ने राजनारायण बाबू से सहायता पाकर सहानुभूति और कृतज्ञता से भरा जो पत्र लिखा था उसका कुछ अंश यह है—"आप असाधारण साहस दिखलाकर विधवा-विवाह के मङ्गल कार्य में प्रवृत्त हुए हैं। आपने × ×. जो पत्र लिखा था उसे जबसे पढ़ा है तबसे समय-समय पर स्मरण हो आने पर आपको सैकड़ों साधुवाद दिया करता हूँ। वास्तव में आपने महात्माओं का काम किया है। इस काम में प्रवृत्त होने से आपको जैसा मानसिक क्लेश प्राप्त होता है वैसा और किसी को नहीं।"

हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध वकील स्वर्गीय बाबू दुर्गामोहन दास जब वरीसाल में थे, तब उन्होंने अपनी बालिका विधवा विमाता के पुनर्विवाह की बहुत कुछ चेष्टा की थी; परन्तु बड़े भाई कालीमोहनदास वकील के कारण उनकी चेष्टा सफल नहीं हो सकी। उस समय उन्होंने विद्यासागर को पत्र भेजा था। उसके उत्तर में विद्यासागर ने जो सुन्दर सान्त्वनापूर्ण पत्र भेजा था वह नीचे उद्धृत किया जाता है।

अशेषगुणाश्रय श्रीयुक्त बाबू दुर्गामोहन दास महाशय
परमकल्याणभाजनेषु,

सादरसम्भाषणमावेदनम्—

मैंने अन्नदाचरण को जिस दिन अन्तिम पत्र लिखा था उसी दिन आपको अलग पत्र लिखने की बड़ी इच्छा थी। किन्तु उस दिन नहीं लिख सका। सोचा कि दूसरे दिन लिख दूँगा। दूसरे दिन कई कय हो जाने से तबीयत बे-चैन हो गई। कई दिन तक कमज़ोरी नहीं गई। उसके बाद और कई दिनों तक किसी विशेष कारण से ऐसा अवकाश नहीं मिला कि आपको पत्र लिख सकता। इस विलम्ब के लिए क्षमा करना।

आपने इच्छित कार्य्य की सिद्धि के लिए ऐसा आन्तरिक यत्न और परिश्रम किया, लेकिन अन्त को काम पूरा नहीं हुआ। यह ख़बर पाकर सचमुच ही मुझे बड़ा खेद हुआ। आपको इससे कैसा क्षोभ और मनस्ताप हुआ है, सो मैं ख़ूब समझ रहा हूँ। यह क्षोभ सहसा मिटनेवाला नहीं है। किन्तु दुनिया के कामों का ऐसा ही नियम है। अच्छे कामों में सदा सफलता नहीं प्राप्त होती। "श्रेयांसि बहुविघ्नानि;" शुभकार्यों में अनेक विघ्न उठ खड़े होते हैं। मुझे जब से यह ख़बर मालूम हुई थी तबसे यही खटका था कि आपके भाई

को ख़बर लग जाने से सब खेल बिगड़ जायगा। अन्त को वही हुआ। जो हो, इस चेष्टा के विफल होने से बिलकुल उत्साह-हीन न हो जाना। कितने ही कामों के लिए चेष्टा और उद्योग करते हैं; किन्तु उनमें से अधिकांश काम सिद्ध नहीं होते। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रशंसनीय और अच्छे इरादेवाले लोग बहुत कम हैं। इसके विरुद्ध शुभ और श्रेयस्कर कामों में बाधा डालनेवाले आदमी हज़ारों देख पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में चेष्टा करके जितनी सफलता प्राप्त हो उसे ही सौभाग्य समझना चाहिए। यह काम पूर्ण होने पर मैं जैसी श्रद्धा और प्रशंसा करता वैसी ही श्रद्धा और प्रशंसा अब भी करूँगा। क्योंकि काम पूरा हो या न हो, आपने अपने साहस और मानसिक महत्त्व का यथेष्ट परिचय दिया है। यह स्पष्ट है कि अगर आप सर्वथा स्वतन्त्र होते तो यह काम अवश्य हो जाता। आप जिस काम में प्रवृत्त हुए थे वह काम करने के लिए हर एक का साहस नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह कि मुझे आपके एक सच्चे पुरुष होने पर दृढ़ विश्वास है। प्रार्थना करता हूँ कि आप दीर्घजीवी हों। आपके दीर्घजीवी होने से आपके द्वारा अनेक लोगों की भलाई होने की सम्भावना है।

मैंने अनेक बार अनेक प्रामाणिक लोगों के मुँह से आपका गुणानुवाद सुना है। मुझे निश्चय है कि आप एक सदाशय, सरल-हृदय, अकुतोभय, उदारचरित, परहितैषी और परोपकारी व्यक्ति हैं।

मेरा शरीर अभी तक नीरोग नहीं हुआ। बीच-बीच में आपके कुशल-मङ्गल की ख़बर पाने से मुझे बड़ा सन्तोष होगा।

भवदीयस्य

श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

जब अनेक लोगों ने पीठ दिखाई, तब विधवाविवाह का होना एक प्रकार से बन्द सा हो गया। चारों ओर लोग यह कहकर हँसी उड़ाने लगे कि दैवयोग से दो-चार ब्याह हो गये थे; अब नहीं हो सकते। जिस समय बङ्गाल भर में विधवाविवाह का आन्दोलन मचा हुआ था उसी समय "सिपाही-विद्रोह" की सूचना हुई। विधवाविवाह के विरोधियों ने मौक़ा पाकर यह कहना शुरू किया कि "हिन्दू-धर्म्म का मर्म समझे बिना अँगरेज़ों ने विधवाविवाह का क़ानून बनाया है, इसी से आज वे विपत्ति में पड़े हैं। विधवाविवाह का आईन बनने ही के कारण आज सिपाही बिगड़ खड़े हुए हैं।" किन्तु असल बात यह थी कि सिपाही-विद्रोह में शामिल लोगों में से कोई भी विधवाविवाह के बारे में कुछ नहीं जानता था। मतलब यह कि इस ग़दर के समय में कुछ दिनों के लिए विधवाविवाह का काम बन्द रहा। साल-डेढ़ साल के बाद फिर जब देश में शान्ति हो गई तब विधवाविवाह का काम शुरू हो गया। जिन्होंने समझा था कि सिपाही-युद्ध की गड़बड़ में विधवाविवाह भी गड़बड़ा जायगा वे अब चुप हो रहे। फिर विधवाविवाह धड़ाके के साथ होने लगे। इस पर तत्त्वबोधिनी पत्रिका में जो लिखा गया था वह यहाँ पर उद्धृत किया जाता है।

"गत २८ अगहन शनिवार की रात को एक विधवा बालिका का पुनर्विवाह हुआ है। इस कन्या के पिता मौजूद हैं और उन्होंने ख़ुद कन्यादान किया है। लड़का सुशिक्षित और अच्छे घराने का है। उसकी अवस्था १८ वर्ष की होगी। कन्या बहुत ही छोटी है, आठ वर्ष की अवस्था होगी। इतनी ही अवस्था में विवाह हुआ और विधवा भी हो गई। डेढ़ वर्ष की अवस्था में ही यह बालिका विधवा हो गई थी! इतनी छोटी अवस्था के ब्याह को ब्याह कहना मानों

उसका उपहास करना है। जो हो, देशाचार के अनुसार लोग ऐसे ब्याह को भी ब्याह मान लेते हैं और इस नाम-मात्र के ब्याह के बाद वर के मर जाने पर कन्या विधवा समझी जाती है और उसे यावज्जीवन वैधव्य-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। जन्म भर वैधव्य-यन्त्रणा भोगना कैसा कठिन काम है, इस बात को हर एक समझदार आदमी अच्छी तरह जानता है। अतएव शास्त्र के अनुसार चलकर अबला जाति को दुःसह वैधव्य-यन्त्रणा से छुड़ाना बुद्धिमान् पुरुष को उचित है या नहीं, इस बारे में अधिक कहना ही व्यर्थ है।

"इस देश के आदमी चिरकाल से चले आ रहे कुसंस्कारों के बड़े ही अनुगत हैं। जो कुछ पुरुष-परम्परा से चला आता है, वह अनेक अनर्थों का मूल और अनेक उत्पातों का कारण होने पर भी, उसे ही श्रेयस्कर समझकर वही करने का हमारा स्वभाव सा हो गया है। इन प्रथाओं के प्रबल और प्रचलित रहने से कितने ही प्रकार के अनिष्ट होते जाते हैं। अनिष्टों को साक्षात् देखकर भी केवल कुसंस्कार के कारण इस देश के लोगों को चेत नहीं होता। कुसंस्कार मनुष्य का बड़ा भारी शत्रु होता है। विधवाविवाह प्रचलित होने से अनेक अनर्थों का मिट जाना सर्वथा सिद्ध है। किन्तु इधर बहुत दिनों से विधवाविवाह का चलन नहीं रहा था। हमारे कुछ पूर्वपुरुषों ने इस रीति को छोड़ दिया था। इस कारण इस समय के लोगों के हृदय में इस कुसंस्कार ने जड़ जमा ली है कि विधवा-विवाह बहुत बुरा काम है। परन्तु विधवाविवाह शास्त्रसिद्ध काम है। इस बारे में संशय करने की अब जगह ही नहीं रही। किन्तु इस देश में शास्त्राचार की अपेक्षा लोकाचार का अधिक सम्मान देखा जाता है। शास्त्रसम्मत होने पर भी देशाचार-विरुद्ध होने के कारण

अब तक विधवाविवाह का वैसा आदर नहीं हुआ। किन्तु जब यह श्रेयस्कर रीति प्रचलित हो गई है तब यह किसी तरह सम्भव नहीं कि इसका आदर न हो।

"अनेक लोग यह आपत्ति किया करते हैं कि यह चाल अगर सचमुच ही श्रेयस्कर होती तो हमारे कुछ पूर्वपुरुष इसे क्यों छोड़ देते ? इस विषय में यह वक्तव्य है कि यह प्रथा सत्ययुग, त्रेता, द्वापर श्रौर कलियुग के कुछ समय तक प्रचलित थी। स्मृति श्रौर पुराण इस बात के साक्षी हैं। उसके बाद यह प्रथा धीरे-धीरे कम होने लगी श्रौर अन्त को उठ गई। इसके उठ जाने का यही प्रधान कारण है कि पूर्व युगों की अपेक्षा कलियुग में सहमरण की प्रथा उत्तरोत्तर ज़ोर पकड़ती गई। अनेक अथवा प्राय: सभी विधवाएँ पति के साथ जलती हुई चिता में अथवा विदेश से स्वामी के मरने की ख़बर पाकर अकेले ही चिता पर चढ़कर सती हो जाती थीं। इस कारण आज-कल की तरह उस समय विधवाश्रों की संख्या अधिक नहीं थी। कन्या, बहन, बहू आदि की दुःसह वैधव्य-यन्त्रणा श्रौर अनर्थ बहुत कम देखने को मिलते थे। जब विधवाश्रों की संख्या कम रह गई, वैधव्य-यन्त्रणा श्रौर वैधव्य-जनित अनर्थों की मात्रा कम हो गई, तब विधवाविवाह की वैसी आवश्यकता नहीं रही। जान पड़ता है, इसी कारण धीरे-धीरे विधवाविवाह की प्रथा उठ गई। किन्तु इस समय राजा की आज्ञा से सती होने की प्रथा उठा दी गई है। इस कारण व्यभिचार आदि अनर्थों की मात्रा भी बढ़ती ही जाती है। इस समय इस अनर्थ को कम करने श्रौर विधवाश्रों की वेदना दूर करने का यही उपाय था कि विधवाश्रों का पुनर्विवाह प्रचलित किया जाय। बड़े ही आनन्द की बात है कि १२ श्रौर २८ आषाढ़ को हुगली ज़िले के अन्तर्गत रामजीवनपुर गाँव में दो विधवाश्रों के

व्याह हुए हैं। कलकत्ते में अबसे पहले पाँच विधवाविवाह हो चुके हैं। देहात में पहले पहल ये ही दोनों व्याह हुए हैं।

"बहुतों की धारणा थी कि कलकत्ते में यह काम शुरू होने पर भी सहसा देहात में किसी तरह नहीं हो सकता। कलकत्ते के अधिकांश लोग सुशिक्षित और ज्ञानी हो चुके हैं; इस कारण वे कुसंस्कारों से छुटकारा पा गये हैं। ऐसी जगह पर ऐसी रीति का चलन होना अधिकतर सम्भव है। देहात के अधिकांश लोग अभी तक चिरसञ्चित कुसंस्कारों के वशीभूत हैं। ऐसी जगह विधवाविवाह का विरोध ही सम्भव है। यह बात पहले तो यथार्थ जान पड़ती है, किन्तु कुछ मन लगाकर विचारने से बिलकुल इसके विपरीत लक्षण देख पड़ते हैं। इस समय कलकत्ते के बहुत लोग शिक्षित हो गये हैं, किन्तु उनमें से अधिकांश लोगों को उस शिक्षा का ठीक-ठीक फल नहीं प्राप्त हुआ। इस शिक्षा का यही फल देख पड़ता है कि अनेक शिक्षित स्वदेशी आचार-व्यवहार को निन्दित समझकर छोड़ बैठे और यूरोपियनों के आचार-व्यवहार के अनुगामी बन गये हैं। किन्तु जिन गुणों के कारण यूरोप के लोग प्रशंसनीय हुए हैं उनका इनमें लेश भी नहीं पाया जाता। आचार-व्यवहार के अनुकरण से कुछ विशेष फल नहीं है। यदि इस देश के सुशिक्षित लोग सहसा देश-हितैषिता आदि सद्गुणों का अनुकरण कर सकते तो इतने दिनों में इस देश की न जाने कितनी श्रीवृद्धि हो जाती। जब तक नौजवान लोग कालेजों में पढ़ते हैं तब तक उनके उस समय के भाव को देखकर सभी समझते हैं कि ये लोग बहुत कुछ देश की दुर्दशा दूर कर सकेंगे। किन्तु वे युवक कालेज छोड़कर जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं तब उनमें यह बात नहीं देख पड़ती।"

(त० बो० प०, ४ पौष, शुक्र, सं० १९१४)

यह पहले ही कहा जा चुका है कि विधवाविवाह के मामले में जिन लोगों ने मन-वाणी-काया से विद्यासागर की सहायता की थी उनमें राजनारायण बाबू एक प्रधान पुरुष थे। अतएव उनके अपने लिखे "आत्मचरित" से कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"सन् १८५१ में मैं मेदिनीपुर गया। सन् १८५६ में विधवा-विवाह का आन्दोलन उठा। श्रीयुत पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के 'विधवाविवाह उचित है कि नहीं ?' यह छोटी सी पुस्तक लिख-कर प्रकाशित करने से इस आन्दोलन की उत्पत्ति हुई। हिन्दू-समाज-रूपी सुविस्तृत सरोवर शान्त था। इस पुस्तक के प्रकाशित होने से समाज-सरोवर तूफ़ान के समय के सागर की तरह अत्यन्त चञ्चल हो उठा; उसमें भयानक लहरें उठने लगीं। जिन्होंने इस आन्दो-लन को अपनी आँखों देखा है वे ही इसकी भयानकता का अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं। विद्यासागर ने इसी सम्बन्ध की दूसरी पुस्तक जब प्रकाशित की तब यह आन्दोलन बढ़कर चौगुना हो गया। इस पुस्तक के वाग्दान-सम्बन्धी अध्याय पर विशेष आन्दोलन हुआ। विद्यासागर ने अपनी पुस्तक में बहुत ही सन्तोषजनक रीति से इस विषय पर विचार किया है। इस समय विद्यासागरजी संस्कृत-कालेज के प्रिन्सिपल थे। एक दिन बहुत रात गये तक बैठकर उन्होंने जो कुछ लिखा वह उन्हें पसन्द नहीं आया। कालेज से बहूबाज़ार के घर जाते समय रास्ते में उन्हें उक्त विषय की सन्तोष-जनक मीमांसा सूझ पड़ी। वे उसी दम कालेज लौट गये और बैठकर लिखने लगे। लिखते-लिखते सारी रात बीत गई।

"अँगरेज़ी पढ़े-लिखे सब बङ्गाली विद्यासागर के पक्ष में थे। पुनर्विवाहित विधवा के गर्भ से उत्पन्न बच्चा जिसमें पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी समझा जाय, इसलिए उन लोगों ने गवर्नमेंट के पास

प्रार्थनापत्र भेजा था। सर जान पीटर ग्रान्ट साहब ने, जो पीछे से बङ्गाल के लाट हो गये थे, व्यवस्थापक-सभा में यह प्रस्ताव उपस्थित करते समय जो वक्तृता दी थी उसमें उन्होंने कहा था कि 'दूसरे पक्ष-वाले जैसे हिन्दू हैं, वैसे ही ये भी हिन्दू हैं'। + + और इसी वक्तृता में उन्होंने कहा था कि 'जब सतीदाह की प्रथा उठा दी गई है तब विधवाविवाह होने देना ही उचित है। चिरकाल तक वैधव्य-यन्त्रणा भोगने की अपेक्षा एकदम जलकर मर जाना ही अच्छा था। जैसे ही विधवाविवाह का आईन पास हुआ वैसे ही काम शुरू हो गया। + + + जिस दिन विधवाविवाह हुआ उस दिन कलकत्ते में लोग ऐसे चौंके कि मानों युग पलटने की ऐसी कोई विशेष घटना हुई हो। महामना रामगोपाल घोष आदि कलकत्ते के अधिकांश अँग-रेज़ी पढ़े-लिखे लोग वर की पालकी के साथ पैदल गये थे। दूसरा विधवाविवाह पानीहाटी के मधुसूदन घोष ने किया। तीसरा और चौथा विधवाविवाह मेरे चचेरे भाई दुर्गानारायण वसु और मेरे सहो-दर मदनमोहन वसु ने किया। इस विधवाविवाह के होने पर मेरे चाचा ने बोड़ाल से मुझे लिखा कि तुम्हारी करनी से हमें जातिच्युत होना पड़ा। दुर्गानारायण जिस समय विधवाविवाह करने जा रहे थे उस समय गाँव के मुखिया ईश्वरचन्द्र मुखोपाध्याय ने भी पालकी के भीतर सिर डालकर कहा—'दुर्गा, तेरे मन में यही था, एकदम सब डुबा दिया।' मेदिनीपुर में भी कम आन्दोलन नहीं हुआ था। मेदिनीपुर के तत्कालीन सरकारी वकील हरनारायण दत्त ने कहा था कि 'राजनारायण बाबू नहीं जानते कि वे बँगले में रहते हैं।' इसका मतलब यह था कि वे बँगले में रहते हैं और बँगला अनायास ही जला दिया जा सकता है। मैं और स्कूल के सेकिंडमास्टर उत्तर-पाड़ानिवासी बाबू यदुनाथ मुखोपाध्याय, जो पीछे से संस्कृत-कालेज

के हेडमास्टर हो गये थे, दोनों एक दिन जङ्गल में जाकर दो मोटी लाठियाँ इस नीयत से काट लाये थे कि अगर दंगा-फ़साद होगा तो हम लोग इन लाठियों से अपनी रक्षा करेंगे। घोड़ाल गाँव के लोग कहते थे कि 'राजनारायण बाबू गाँव में आवेंगे तो हम ईंटें मारेंगे।' इस पर मैंने कहा था कि 'अगर दंगा होगा तो मुझे ख़ुशी होगी। मैं बङ्गालियों की जाति को एक उदासीन जाति समझता हूँ। ऐसी घटना होगी तो मुझे विश्वास होगा कि इस समय विधवाविवाह से वे जैसे चिढ़े हुए हैं वैसे ही जब विधवाविवाह को अच्छा समझेंगे तब उसके लिए प्रबल चेष्टा भी करेंगे।'

"इस समय महर्षि देवेन्द्रनाथ पछाँह में थे। मैंने उन्हें विधवा-विवाह की ख़बर दी तो उन्होंने मुझे लिखा—'इस विधवाविवाह-रूपी समुद्रमन्थन से जो विष उठेगा वह तुम्हारे कोमल हृदय को अस्थिर कर देगा। किन्तु कुछ चिन्ता नहीं है, जिसका इरादा अच्छा है उसकी सहायता ईश्वर करता है'।"

जब किसी विधवा का विवाह होता था तब विद्यासागरजी प्रायः कन्या की ओर से ख़ूब समारोह के साथ सब काम करते थे। उनके इस काम को सब लोग जान भी न सकते थे। वे स्वयं तो एक धोती पहनते और एक मोटी चादर ओढ़े हुए बिलकुल ग़रीब या संयमी पुरुष की तरह गुज़ारा करते थे, किन्तु और के लिए यह बात न थी। विधवाविवाह के अवसर पर कन्या को बहुमूल्य वस्त्रालङ्कार पहनाकर दान करने के लिए विवाह-मण्डप में उपस्थित करते थे। इसमें, और विवाह की और-और तैयारियों में, उनका काफ़ी रुपया ख़र्च हो जाता था। विधवाविवाह के लिए जिन्होंने सहायता देना शुरू किया था उनमें से अधिकांश लोग एक-एक करके अदृश्य होने लगे। इस कारण सारे ख़र्च का बोझ विद्यासागर के सिर पड़ा।

जिस समय इस काम में उन्होंने अपना सर्वस्व लगा दिया उस समय उनके परम मित्र सुप्रसिद्ध मधुसूदन स्मृतिरत्न ने एक दिन दिल्लगी के तौर पर विद्यासागर से कहा—"अच्छा विद्यासागर, देश में इतने आदमियों के रहते अकेले तुम्हीं क्यों इस कार्य के लिए अग्रसर हुए ?" विद्यासागर ने इस दिल्लगी का बहुत ही आमोदजनक और सरल उत्तर दिया। उन्होंने कहा—"जब काम शुरू किया था तब मैं ही अकेला न था। अनेक लोगों ने मिल-जुलकर इस काम में हाथ डाला था। किन्तु जो मा के बेटे थे वे चुपके-चुपके घर खिसक गये, मा के लड़के मा की गोद में गये। और मैं बाप का बेटा हूँ, इस कारण नहीं फिर सका।" विद्यासागर का सारा धन बहुत शीघ्र ख़र्च हो जाने से उन्हें फिर ग़रीबी का सामना करना पड़ा। किन्तु वे तो 'बाप के बेटे' थे; इसलिए शुरू किये हुए काम को छोड़कर पीछे नहीं हट सके। उनकी धर्मबुद्धि बहुत ही प्रबल थी। न्यायकार्य में वे बड़ी ही निष्ठा के साथ तत्पर रहते थे। उन्होंने अपमान या गालीगलौज का ख़याल न करके इस काम में सर्वस्व लगा दिया और वे प्राणनाश की सम्भावना से भी विचलित नहीं हुए।

प्रसिद्ध वक्ता श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के पिता प्रसिद्ध डाकृर दुर्गाचरण बनर्जी विद्यासागर के बड़े भारी मित्र थे। विद्यासागर ने विधवाविवाह के ख़र्च के लिए उनसे कुछ रुपया उधार लिया था। कुछ दिन बाद दुर्गाचरण बाबू ने अर्थाभाव से कष्ट पाने पर विद्यासागर को एक पत्र लिखा था। उसका कुछ अंश यह है—

"You will learn from the same that my debt-affair is about to come to a crisis which does not admit of further delay* *."

अर्थात्, तुम इसके साथ भेजे हुए पत्र से जान सकोगे कि मेरे ऋण ने कैसा विपत्ति का आकार धारण किया है। और विलम्ब होने से काम नहीं चल सकता + +।

इस पत्र के उत्तर में विद्यासागर ने जो पत्र लिखा था उनकी नक़ल नीचे दी जाती है। उसे पढ़कर पाठकों को मालूम हो जायगा कि विद्यासागर को ऋण के मारे कैसी विपत्ति का सामना करना पड़ा था और वे अपनी दशा और उत्साहदाता मित्रों के व्यवहार से कैसे दुःखित थे। वह पत्र यह है—

"मैंने बराबर कई दिन तक चेष्टा करके देखा, किन्तु तुम्हारा रुपया अदा करने का कोई उपाय नहीं देख पड़ता। तुम अच्छी तरह जानते हो कि मैंने अपने प्रयोजन के लिए तुमसे रुपये नहीं लिये। विधवाविवाह का काम चलाने के लिए यह काम किया था। केवल तुम्हीं से नहीं, और-और लोगों से भी मैंने उधार लिया है। यह ऋण इसी भरोसे पर लिया था कि विधवाविवाह के पक्ष के लोगों ने जो सहायता देनी स्वीकार की है उसके द्वारा अनायास ही सब अदा कर दूँगा। किन्तु उनमें से अधिकांश लोग इस समय स्वीकृत सहायता देना नहीं चाहते। इधर दिन-दिन इस काम में ख़र्च बढ़ता जाता है और उधर आमदनी घटती जाती है। इस कारण मैं ऋण के जाल में जकड़ा जा रहा हूँ। जिन लोगों ने सहायता देना स्वीकार किया था वे अगर अपने वचन को निबाहते तो मुझे इस तरह के सङ्कट का सामना न करना पड़ता। किसी ने माहवारी, किसी ने एकमुश्त और किसी ने दोनों तरह सहायता देने का वचन दिया था। उनमें से कोई तो कुछ कारण दिखाकर और कोई यों ही विमुख हो गये हैं। अन्यान्य व्यक्तियों की तरह तुमने भी माहवारी और एकमुश्त सहायता देना स्वीकार किया था। एकमुश्त दान की आधी रक़म तुमने दी है और आधी अब तक पड़ी हुई है। कुछ दिनों से मासिक सहायता भी तुमने बन्द कर दी है। इस प्रकार आमदनी बहुत घटती

जाती है और ख़र्च पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है। यही कारण है कि इस बार में जो ऋण हुआ है वह एकदम चुकाया जाना सर्वथा असम्भव हो रहा है। जो हो, मैं इस ऋण को अदा करने के लिए पूरी तौर से चेष्टा करूँगा। और किसी तरह न होगा तो अन्त को अपना सर्वस्व देकर ऋण चुकाऊँगा। किन्तु यह मुझे बड़ा दुःख है कि तुम्हारी ज़रूरत के समय तुमको तुम्हारा रुपया नहीं दे सका। मैं अगर पहले जानता कि देश के लोग ऐसे असार और अपदार्थ हैं तो मैं कभी विधवाविवाह के मामले में हाथ न डालता। उस समय सब लोगों ने बड़ा ही उत्साह दिखाया था और उसी पर साहस करके मैंने इस काम को अपने हाथ में लिया था। नहीं तो विधवाविवाह स्वयं करके अथवा इस सम्बन्ध का आईन पास कराकर ही चुप रह जाता। देशहितैषी और अच्छे कामों में उत्साह दिखानेवाले लोगों की बातों पर विश्वास करने से ही मैं मारा गया। धन देकर सहायता करने की कौन कहे, इस समय उनमें से कोई भूलकर भी इस मामले की ख़बर नहीं लेता। + + +"

भवदीयस्य

श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

विधवाविवाह की तैयारी में आनन्दमग्न होनेवाले और लोकबल तथा आर्थिक सहायता देने का वादा करके विद्यासागर को इस मार्ग में अग्रसर होने के लिए उत्साहित करनेवाले एक महाधनी का पिछला पत्र यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"The contribution you speak of, would have been made ere this, were it not for a difference of opinion between myself and brothers, who contend by urging that as no practical benefit has hitherto resulted, as had been expected by the advocates of the cause of widow marriage, further

contributions to that end are needless, and though my argument was in favour of a perseverance in it for a time when a better result might ensue, it has failed to be of any avail with them. Being thus restricted in the use of my own discretion in the matter, and indisposed as I feel to act independently of them. I am really sorry that my further co-operation with you in this respect should cease, and I trust the reasons, I have mentioned, will plead for my excuse."

Yours sincerely,

* * *

अर्थात्, आपने जो चन्दे के बारे में लिखा सो अब तक मैं उसे भेज देता; मुझमें और मेरे भाइयों में मत-विरोध होने के कारण वह भेजा नहीं जा सका। वे कहते हैं कि विधवाविवाह की जैसी मन्द गति है उससे किसी प्रकार के सुफल की प्रत्याशा नहीं की जा सकती। यद्यपि मैंने उनको यह समझाने की चेष्टा की कि ऐसे कामों में बहुत दिनों तक लगे रहने की ज़रूरत होती है, किन्तु उसका कुछ फल नहीं हुआ। इस विषय में मैं अपनी इच्छा के अनुसार चलने नहीं पाता, और उनको छोड़कर अकेले इस कार्य में अग्रसर होने में प्रवृत्ति नहीं होती। इस कारण मैंने भारी दुःख के साथ विधवाविवाह के मामले से हाथ खींच लिया है। आशा है, मेरी युक्तियाँ यथेष्ट समझी जायँगी।

इस पत्र के उत्तर में विद्यासागर ने जो बहु-विस्तृत पत्र लिखा था उसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

"As the intimation came too late, I naturally counted upon receiving your donation, and I made arrangements accordingly. I have, in consequence, been placed in a very difficult position."

अर्थात्, इस विधवाविवाह के मामले में सहायता देने के बारे में आपके इरादा बदलने की ख़बर यथासमय न मिलने के कारण मुझे इस सहायता के ऊपर पूरा भरोसा था और इस प्रकार की आर्थिक सहायता की सम्भावना रहने पर जैसी व्यवस्था होनी चाहिए वह भी कर चुका था। और, उसी के कारण इस समय भारी मुसीबत में पड़ा हूँ।

विधवाविवाह के मामले में विद्यासागर को कैसी मुसीबत का सामना करना पड़ा था, इसका कुछ आभास पाठकों को मिल गया होगा। इस मुसीबत का भारीपन और भी अनेक प्रमाणों से प्रमाणित किया जा सकता है। कृष्णनगराधिपति महाराज सतीशचन्द्र विद्यासागर को लिखते हैं—

"My dear Vidyasagar mohashya, I have received through my dewan, Kartic Chunder Roy, the eighteen hundred rupees (Rs. 1,800), which my late father deposited in your care in his lifetime, and for which I am much obliged. Hoping you are quite well."

I remain, sincerely yours,
Satish Chunder Roy.

अर्थात्, मेरे परलोकगत पिता ने आपके पास जो १८००) रुपये अमानत के तौर पर रक्खे थे उन्हें अपने दीवान कार्त्तिकचन्द्र राय की मार्फ़त पाकर मैं अत्यन्त अनुगृहीत हुआ। आशा है, आप कुशलपूर्वक होंगे।

आपका विश्वासपात्र
सतीशचन्द्र राय।

विद्यासागर के परम मित्र प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी और उनके भाई इस काम में विद्यासागर की सदा सहायता करते रहे। सर्वाधिकारीजी के छोटे भाई पेट्रियट-सम्पादक रायबहादुर श्रीयुत राज-

कुमार सर्वाधिकारी जब लखनऊ के कैनिङ्ग कालेज में अध्यापक का काम करते थे तब उन्होंने विद्यासागर को जो पत्र लिखा था उसकी नक़ल नीचे दी जाती है—

"महाशय, १० वीं अपरेल का आज्ञापत्र अभी मिला। यह सुनकर मुझे बड़ा ही दुःख हुआ कि आप विधवाविवाह के कारण ऋणग्रस्त हो गये हैं। मुझे ख़याल था कि अनेक धनी लोग इस मामले में आपकी सहायता करते हैं। मुझे स्वप्न में भी यह ख़याल न था कि सब ख़र्च आप ही के मत्थे है। मैं इस समय एक सौ रुपये का नोट भेजता हूँ। इससे अगर कुछ भी काम निकलेगा तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। जहाँ तक हो सकेगा वहाँ तक सहायता देने में कसर न होगी। किन्तु प्रति मास मुझको क्या देना होगा, इसका निश्चय मुझ पर न रखिएगा। दादा से सलाह करके आप जो मुझे आज्ञा देंगे उसे ही मैं शिरोधार्य समझूँगा। हम लोगों से किसी बात में सङ्कोच करना उचित नहीं है।

आशीर्वादाकांक्षी—

श्रीराजकुमार सर्वाधिकारी।

इसके बाद राजकुमार बाबू ने दूसरा पत्र अँगरेज़ी में लिखा था। वह यह है—

"My dear Sir,—

"Dada's letter of the 18th September just reached me. I am glad to hear that first half of the currency note of Rs. 100 has reached you. I enclose the second half.

"Dada tells me to send you Rs. 15 every month as my contribution to the widow marriage fund. If you have no objection, I will send my subscription in advance for six months, this will be more convenient to me than sending it every month. * * * As I shall remain very anxious till

I hear from you, kindly let me know of the safe delivery of this letter enclosing the second half of the currency note.

"I remain, yours affectionately,

"Raj Kumar Sarbadhikary."

अर्थात्, दादा का १८ तारीख़ का पत्र मिला। उससे मालूम हुआ कि सौ रुपये के नोट का पहला अद्धा आपको मिल गया। अब उसका दूसरा अद्धा भेजता हूँ। दादा ने मुझको लिखा है कि मुझे हर महीने विधवाविवाह-फण्ड में पन्द्रह रुपये देने पड़ेंगे। आपको यदि कुछ आपत्ति न हो तो मैं पन्द्रह रुपये महीने के हिसाब से छः महीने का चन्दा पेशगी भेज सकता हूँ। महीने-महीने भेजने की अपेक्षा इस तरह भेजने में मुझे सुभीता होगा। + + + दूसरे अद्धे के साथ यह पत्र भेजता हूँ। पहुँच लिखिएगा।

आपका स्नेहपात्र

राजकुमार सर्वाधिकारी।

विद्यासागरजी मित्रों से सहायता न पाने के कारण इतने लाचार हो गये कि उन्होंने फिर सरकारी नौकरी करने का विचार किया। हम जिस समय की बात लिख रहे हैं उस समय सर सिसिल बीडन बङ्गाल के छोटे लाट थे। वे विद्यासागर पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। विद्यासागर के सब कामों से बीडन साहब को सहानुभूति थी। इसी समय एक दिन बातों बातों में बीडन साहब को मालूम हुआ कि धन की कमी से विद्यासागर को बड़ा कष्ट मिल रहा है। बीडन साहब ने उसी प्रसङ्ग में विद्यासागर से पूछा कि उनके योग्य अगर कोई नौकरी हो तो उसे स्वीकार करने के लिए वे तैयार हैं या नहीं? इसके उत्तर में विद्यासागर ने कहा कि अभी तक नौकरी करने का विचार तो नहीं किया। किन्तु सोचकर इस बारे में मैं

कुछ कह सकता हूँ। लाट साहब को ऐसा उत्तर देकर उस समय तो विद्यासागर ने टाल दिया; किन्तु अन्त को उन्हें अर्थाभाव से ऐसी असुविधा का सामना करना पड़ा कि छोटे लाट के कहने पर विशेष-रूप से विचार करना पड़ा। अन्त को सोच-विचारकर उन्होंने छोटे लाट साहब को यह पत्र लिखा—

" Hon'ble Cecil Beadon.

My dear Sir,—

A change in circumstances compels me to trouble you with a request to do something for me, if possible. I am in difficulties, and I find it almost impossible for me to get over them without a fresh source of income. About this time, in the last year, you were pleased to ask me whether I was willing to re-enter the public service. I think I expressed my unwillingness at the time, but what was then a matter of choice has now become a matter of necessity.

Trusting to be excused for the trouble.

I remain, etc ,
Isvar Chandra Sharma "

अर्थात्, प्रिय महाशय, अपनी दशा के परिवर्त्तन के कारण अपने लिए कुछ करने के वास्ते, लाचार होकर, आपको विरक्त करता हूँ। मैं भारी विपत्ति में पड़ा हूँ और कोई नई आमदनी की सूरत हुए बिना मेरी इन असुविधाओं का दूर होना असम्भव-सा हो पड़ा है। आपने अनुग्रह करके गत वर्ष इसी समय मुझसे पूछा था कि मैं फिर सरकारी नौकरी करने के लिए तैयार हूँ या नहीं। मुझे जान पड़ता है कि उस समय मैंने अनिच्छा प्रकट की थी। किन्तु उस समय जिसे स्वीकार या अस्वीकार करना मेरी रुचि पर निर्भर था वहीं इस समय मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है। आशा है, इस प्रकार कष्ट देने के लिए आप क्षमा करेंगे।

इस बारे में बीडन साहब और विद्यासागर से जो पत्र-व्यवहार हुआ था वह सिलसिलेवार नीचे उद्धृत किया जाता है।

"My dear Pundit,

I will bear your wishes in mind. But I do not, at present, see any way in which I could find you suitable employment in public service.

Yours truly,
C. Beadon."

अर्थात्, प्रिय पण्डित महाशय, मैं आपके अनुरोध को स्मरण रक्खूँगा। किन्तु इस समय आपको नियुक्त करने के लायक किसी काम का सुभीता नहीं देख पड़ता।

"The Hon'ble Sir Cecil Beadon.

"About three years ago, I communicated to you my willingness to re-enter the public service on account of the difficulty I was in, and solicited you to do something for me, if practicable; you were pleased to say in reply that you would bear my wishes in mind. Since that time my difficulty has gradually assumed a far more serious aspect and I am compelled, though most unwillingly, to trouble you again with the request for doing something for me, if practicable.

"In March last, you expressed, in the course of conversation, a wish for appointing a professor of Sanskrit in the Presidency College. If you still entertain that wish, and, if you see no objection to my being selected for the appointment, kindly give it to me. But I must say candidly that notwithstanding the serious nature of the difficulties I am in, my vanity would not permit me to serve if the salary, which European Professors of that Institution draw, is not allowed to me. The grant of such an indulgence would not be an altogether unprecedented one. The native Judge of the High Court

can be pointed out as an instance. With every sentiment of respect and esteem.

Yours sincerely,
Isvar Chandra Sharma."

अर्थात्, प्रिय महाशय, तीन साल के लगभग हुए, जब मैंने दुरवस्था के फेर में पड़कर आपसे फिर नौकरी करने का इरादा ज़ाहिर किया था। इस सम्बन्ध में आपसे कुछ करने के लिए अनुरोध भी किया था। आपने मेरे पत्र के उत्तर में कहा था कि आप मेरे अनुरोध का ख़याल रक्खेंगे। तब से मेरी सांसारिक असुविधाएँ इतनी बढ़ गई हैं कि बिलकुल इच्छा न रहने पर भी फिर मैं आपसे यह कहने के लिए लाचार हुआ हूँ कि आप मेरे लिए कुछ उपाय कीजिए।

गत मार्च मास में एक दिन बातचीत के समय आपने कहा था कि प्रेसीडेन्सी कालेज में आप एक संस्कृत का अध्यापक रक्खेंगे। यदि आपकी वह इच्छा अभी तक हो और उस जगह मुझे रखने में कुछ बाधा न हो तो आप वह जगह मुझको ही दीजिएगा। किन्तु यह बात मैं स्पष्ट करके कहे देता हूँ कि यद्यपि मुझे इस समय धनाभाव से भारी कष्ट है, तथापि यदि मुझे उक्त कालेज के अँगरेज़ प्रोफ़ेसरों के बराबर तनख़्वाह न मिलेगी तो मैं, आत्मसम्मान के अनुरोध से, नौकरी न करूँगा। यह व्यवस्था बिलकुल नई नहीं है। दृष्टान्त के तौर पर हाईकोर्ट में देशी जज का पद और उसकी अँगरेज़ जजों के बराबर तनख़्वाह का उल्लेख किया जा सकता है।

"My dear Pundit,

I should be glad if I could in any way forward your wishes, but I see great difficulty in the matter. I am sure the Government of India would not listen to a proposal for founding a Sanskrit Professorship in the Presidency College

on so high a salary. But I shall consult Mr. Atkinson on the general question without mentioning your name.

Yours truly,
C. Beadon."

अर्थात्, प्रिय पण्डित महाशय, मैं किसी प्रकार आपकी इच्छा पूर्ण होने में सहायता कर सकता तो मुझे बड़ा आनन्द होता। किन्तु उसके सुसिद्ध होने में भारी वाधा देख पड़ती है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि प्रेसीडेन्सी कालेज में इतने अधिक वेतन का संस्कृत-अध्यापक का पद भारत-गवर्नमेन्ट को स्वीकृत न होगा। मैं आपके नाम का उल्लेख न करके साधारण भाव से मिस्टर एटकिन्सन से इस बारे में सलाह करूँगा।

"When I wrote to you about the Sanskrit Professorship, I was under the impression that the creation of such an appointment had been settled, and that the place was entirely in your gift. But as it appears from your favour of the 9th ultimo that there is likely to be a great difficulty in the matter, and as it is farthest from my wish to put you to any sort of inconvenience on my personal account, I most gladly withdraw my request. You need not trouble yourself any further on the subject."

अर्थात्, प्रिय महाशय, प्रेसीडेन्सी कालेज के संस्कृत-अध्यापक के पद के बारे में जिस समय मैंने आपको लिखा था उस समय मेरी यह धारणा थी कि इस पद के बारे में भारत-गवर्नमेन्ट की मंजूरी हो चुकी है और उस पद पर किसी आदमी को रखने का काम आपके हाथ में है, किन्तु आपका पत्र मिलने से मालूम हुआ कि इस बारे में विशेष असुविधा की सम्भावना है। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए आप ऐसी असुविधा भोगें, यह मैं बिलकुल नहीं चाहता। मैं ख़ुशी

के साथ अपने प्रस्ताव को वापस लेता हूँ। इस मामले के लिए अब आप कष्ट न उठावें।

बीडन साहब के प्रस्तावानुसार फिर विद्यासागर ने नौकरी-चाकरी की चिन्ता की थी। जान पड़ता है, उन्होंने यह आशा भी की थी कि उनके लिए गवर्नमेन्ट कुछ कर सकती है। किन्तु आत्मसम्मान के ख़याल ने उनको, ऐसे अर्थाभाव के समय में भी, सम्मानशून्य थोड़ी तनख़्वाह की नौकरी नहीं करने दी।

छल और स्वार्थपरता आदि को विद्यासागर हृदय से घृणा करते थे। इन्हीं का पग-पग पर सामना होने पर भी विधवाविवाह के मामले में कभी उनका उत्साह कम नहीं हुआ। केवल यही नहीं, वे दिन-दिन अधिक आग्रह के साथ अभीष्टसिद्धि के लिए प्रयत्न करते रहे। विद्यासागर के इकलौते पुत्र श्रीयुत नारायणचन्द्र विद्यारत्न ने भी विधवा से विवाह किया था। यह काम उन्होंने विद्यासागर की प्रेरणा से नहीं, बल्कि अपनी इच्छा से किया था।

पहले लोग कहते थे कि पराई विधवा लड़की का ब्याह कराकर पराये लड़के जातिभ्रष्ट करके समाजसंस्कार करना सहज काम है। इसी से विद्यासागर "पराये सिर पर कटहल फोड़कर" नाम कमा रहे हैं। असार लोग अगर महापुरुष को अपने समान असार समझें तो उसमें आश्चर्य ही क्या है। चन्दन की सुवास दूसरी चीज़ में बस सकती है; किन्तु बाँस कभी चन्दन की सुवास नहीं प्राप्त कर सकता। इसका कारण यही है कि वह पोला है। इसी तरह विद्यासागर की ऊँचे दर्जे की नीति समझने की सामर्थ्य जिनमें नहीं थी वे अपनी ही तरह उन्हें भी समझते थे। विद्यासागर के कार्यों का यथार्थ तात्पर्य समझने की योग्यता उनमें नहीं थी; इसी से वे लोग उनकी अकारण निन्दा करने को ही अपना परम कर्त्तव्य समझे

हुए थे। विद्यासागर के पुत्र नारायणचन्द्र ने बँगला सन् १२७७ के २७ सावन को इक्कीस वर्ष की अवस्था में थानाकुल, कृष्णनगर, के रहनेवाले शम्भुचन्द्र मुखोपाध्याय की ग्यारह वर्ष की विधवा कन्या के साथ विवाह किया। विद्यासागर के बड़े दामाद गोपालचन्द्र समाजपतिजी ने विद्यासागर के निकट इस विवाह का प्रसङ्ग चलाया तो पुत्र के इस सत्सङ्कल्प की ख़बर से प्रसन्न होकर विद्यासागर ने कहा—"मेरे लिए इससे बढ़कर सौभाग्य की बात और कोई नहीं हो सकती। तुम इसमें मेरी सम्मति की बात क्या पूछ रहे हो?" विवाह के समय नारायणचन्द्र ने पिता से कहा—"दादी तो सदा से विधवाविवाह के पक्ष में हैं। वे और माताजी क्या नहीं आवेंगी?" विद्यासागर ने उत्तर दिया—"पुत्र के ऊपर पिता की अपेक्षा माता का अधिक अधिकार होता है। तुम्हारी माता की अगर इस विवाह में सम्मति न होगी तो मैं इसमें शामिल न हो सकूँगा।" इस विवाह में विद्यासागर की माता और स्त्री की सम्पूर्ण सहानुभूति थी। नारायणचन्द्र के इस विवाह से विद्यासागर कितने सुखी हुए थे, वे विधवाविवाह के कैसे पक्षपाती थे, उनकी बात और काम में कैसा मेल था, ये सब बातें उस पत्र से अच्छी तरह प्रकट होती हैं जो उन्होंने उल्लिखित विवाह के उपरान्त अपने तीसरे भाई शम्भुचन्द्र विद्यारत्न को लिखा था। उस पत्र की नक़ल नीचे दी जाती है—

श्री श्री हरिःशरणम्।

शुभाशिषः सन्तु।

माताजी वग़ैरह को इस शुभ संवाद की सूचना देना कि २७ सावन बृहस्पतिवार को भवसुन्दरी के साथ नारायण का विवाह हो गया।

इसके पहले तुमने लिखा था कि नारायण अगर यह ब्याह करेगा तो कुटुम्ब के लोग हम लोगों के साथ आहार-व्यवहार करना

छोड़ देंगे; अतएव नारायण का यह ब्याह रोकना आवश्यक है। इस बारे में मेरा वक्तव्य यह है कि नारायण ने अपनी इच्छा से यह ब्याह किया है। इसमें मेरी इच्छा या अनुरोध से कोई काम नहीं हुआ। जब मैंने सुना कि उसने विवाह पक्का कर लिया है और कन्या भी मौजूद है तब उस मामले में सम्मति न देकर, रुकावट डालना किसी तरह उचित काम न होता। मैं विधवाविवाह का प्रवर्त्तक हूँ। हम लोगों ने उद्योग करके अनेक विधवाओं के विवाह कराये हैं। ऐसी अवस्था में मेरा पुत्र अगर विधवाविवाह न करके कुमारी-विवाह करता तो मैं लोगों को मुँह न दिखा सकता, भद्रसमाज के लोग मुझे बिलकुल अश्रद्धेय और हेय समझते। नारायण ने स्वयं प्रवृत्त होकर यह विवाह किया है, इससे मेरा मुँह उजियाला हो गया। उसने लोगों के निकट यह कहकर अपना परिचय देने का द्वार खोल दिया है कि मैं विद्यासागर का लड़का हूँ। विधवा-विवाह जारी करना मेरे जीवन का सबसे बढ़कर सत्कर्म है। इस जन्म में इससे बढ़कर शुभकर्म होने की मुझे सम्भावना नहीं है। इसके लिए मैंने सर्वस्व अर्पण कर दिया है और आवश्यक होने पर प्राण देने में भी मुझे इनकार न होगा। इसके आगे कुटुम्बियों को छोड़ देना महज़ मामूली बात है। कुटुम्बियों के खानपान छोड़ देने के भय से अगर मैं पुत्र को उसके अभीष्ट विधवाविवाह से निवृत्त करता तो मुझसे बढ़कर नराधम और कौन होता। अधिक क्या कहूँ, उसने स्वतः प्रवृत्त होकर यह विवाह किया है, इससे मैं अपने को कृतार्थ समझता हूँ। मैं देशाचार का ग़ुलाम नहीं हूँ। अपने या समाज के कल्याण के लिए जो उचित या आवश्यक जान पड़ेगा वह करूँगा। उसके करने में संसार या कुटुम्ब के लोगों का मुझे कुछ भी संकोच न होगा।

अन्त को मेरा वक्तव्य यह है कि खानपान बनाये रखने का जिन्हें साहस या प्रवृत्ति न हो वे ख़ुशी से उसे छोड़ दें। इसके लिए शायद नारायण को कुछ भी दुःख न होगा और उसके लिए मैं भी असन्तुष्ट न होऊँगा। मेरी समझ में, ऐसी बातों में हर एक को अपनी इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। मेरी इच्छा के अनुसार या अनुरोध के वशवर्त्ती होकर चलना किसी के लिए उचित नहीं। इति। ३१ सावन।

शुभाकांक्षी
श्रीईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

इस पत्र में विद्यासागरजी के हृदय और मन का स्पष्ट आभास मिलता है। इस पत्र के हर एक अक्षर में यह बात अङ्कित है कि विद्यासागर विधवाविवाह को किस दृष्टि से देखते थे, उसकी सिद्धि के लिए उन्होंने कितना स्वार्थत्याग स्वीकार किया था और उसके लिए और भी कितना स्वार्थत्याग कर सकते थे। तीसरे भाई शम्भुचन्द्र विद्यारत्न ही विद्यासागर को विशेष प्यारे थे। इस बात को विद्यासागर और विद्यारत्न दोनों ने सबके आगे सदा स्वीकार किया है। विद्यारत्नजी बहुत दिनों तक विद्यासागर के अनुष्ठान में सम्मिलित रहे और विद्यासागर के जीवन का बहुत कुछ हाल उनको मालूम था। लेकिन बड़े ही खेद की बात है कि वे उन्हें पहचान नहीं सके। यदि वे पहचान सकते तो पहले विद्यासागर जी के विधवा-विवाह के उद्योग में सहकारिता करके अन्त को नारायणचन्द्र का विवाह रोकने के लिए विद्यासागर को क्यों लिखते? जब बहुत दिनों तक विद्यासागर के साथ रहकर भी विद्यारत्न उनको नहीं पहचान सके तब देश के और लोग विद्यासागर की मर्य्यादा को न जानें, अथवा तरह-तरह से उनकी निन्दा करें तो आश्चर्य्य ही क्या है?

विधवाविवाह के मामले में भी कई आदमियों ने विद्यासागर के साथ छल का व्यवहार किया। विद्यासागरजी बहुविवाह के बड़े विरोधी थे। किन्तु किसी-किसी ने दगा करके, विद्यासागर को धोखा देकर, एक से अधिक विधवाविवाह करने में भी सङ्कोच नहीं किया। ऐसे लोगों के आचरण से समय-समय पर विद्यासागर को बड़ा क्लेश हुआ। लोगों के ऐसे कपट-व्यवहार से विद्यासागर को कैसा क्लेश होता था और उसके रोकने के लिए वे कितने चिन्तित रहते थे, यह बात निम्नलिखित वर्णन से स्पष्ट मालूम पड़ जायगी।

विद्यासागर बहुविवाह को घृणा की दृष्टि से देखते थे। लोभ के कारण किसी-किसी ने एक से अधिक विधवा के साथ ब्याह कर लिया। यह जानकर उनको बड़ा ही क्षोभ हुआ। लोगों को ऐसा न करने देने के लिए उन्होंने बहुत कुछ सोचा था। निम्नलिखित पत्र की कुछ पंक्तियाँ और इकरारनामे का कुछ अंश इस बात के प्रमाण में यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"दूसरे दिन यदुनाथ मुझे एक सूने घर में ले गया और कुछ देर चुपके खड़े रहकर, आँखों में आँसू भरकर, उसने मुझसे कहा—'मुझे क्षमा कीजिए। मैंने बहुत बुरा काम किया है।' फिर व्याकुल भाव से वह रोने लगा। थोड़ी देर बाद कुछ स्वस्थ होकर उसने कहा—'मैंने बहुत बुरा काम किया है; क्या आप मुझे क्षमा करेंगे?' मैं इस मामले को कुछ भी समझ न सका। मैंने उसे धीरज दिलाते हुए कहा—'तुमने क्या किया है, कहो तो सही। सुनकर, सोचकर मैं कुछ कह सकता हूँ।' तब उसने कहा—'गत अगहन के महीने में + + + मैंने और एक विधवा से ब्याह किया है। + + +'। विशेष रूप से सब सुनकर और उसकी व्याकुलता देखकर मैंने कहा—इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि काम तुमने बहुत बुरा किया है। दुःख

की बात तो यह है कि जो तुम कर चुके वह अन्यथा नहीं हो सकता। और, इसी कारण अब कोई उपाय नहीं है।"

विद्यासागर ने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि लोग ऐसे समाज-संस्कार के काम में शामिल होकर ठगविद्या से काम लेंगे। जब उन्होंने देखा कि लोग धोखा देने लगे हैं तब से वे विधवाविवाह करनेवाले से इस आशय का एक इक़रारनामा लिखवा लेने लगे—

"विधवाविवाह शास्त्रसिद्ध और सरकारी नियम के अनुकूल काम है, यह जानकर अपनी इच्छा से शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मैं तुमसे ब्याह करता हूँ। आज से हम दोनों में परस्पर स्त्री और पति का सम्बन्ध स्थापित हो गया; अर्थात् तुम मेरी स्त्री हुई और मैं तुम्हारा पति हुआ। मैं धर्म्म को साक्षी देकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं उचित रूप से पति के धर्म्म का पालन करूँगा। अर्थात् तुम्हें ज़िन्दगी भर, अपनी शक्ति भर, सुख और आराम से रक्खूँगा। तुमसे कभी अनादर या अपमान का व्यवहार न करूँगा। यह भी अङ्गीकार करता हूँ कि तुम्हारे जीते जी और विवाह न करूँगा। यदि अपनी दुर्बुद्धि से अथवा दूसरों की बुरी सलाह से तुम्हारी ज़िन्दगी में दूसरा ब्याह करूँ तो तुमको दण्डस्वरूप एक हज़ार रुपये दूँगा। और यदि मेरे फिर ब्याह करने से असन्तुष्ट होकर या अन्य बुरे व्यवहार से खीझकर तुम मेरे पास रहना न चाहो तो दूसरी जगह भी रह सकोगी। मैं हर महीने के आरम्भ में तुम्हारे खाने-कपड़े के लिए १०) रु० मासिक देता रहूँगा। + + + मेरे न रहने पर तुम्हारे लड़की-लड़के प्रचलित शास्त्रविधि के अनुसार मेरी और मेरी पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होंगे। इसमें कोई किसी तरह की रुकावट न डाल सकेगा। और, यदि मैं तुमको या तुम्हारे लड़की-लड़कों को धोखा देने के इरादे से वसीयतनामे आदि के द्वारा

अपनी सम्पत्ति की और तरह की व्यवस्था करूँ तो वह नाजायज़ और नामंजूर होगी। इसके लिए अपनी इच्छा से, होश-हवास की हालत में, मैंने यह इक़रारनामा लिख दिया है।"

एक रुपये के स्टैम्प पर यह इक़रारनामा लिखा है और उस पर चार प्रतिष्ठित लोगों की गवाहियाँ हैं। उनमें वारासात-निवासी सुप्रसिद्ध कालीकृष्ण मित्र और शम्भुचन्द्र विद्यारत्न की भी गवाहियाँ हैं।

विद्यासागरजी बहुविवाह के ऐसे विरोधी थे कि उनका बहुमूल्य जीवन जब थोड़ा ही बाक़ी था तब उन्होंने बहुविवाह का प्रतीकार करने के विचार से मुझे बुला भेजा था। उनके चरणों के दर्शन के लिए जब मैं उनके पास गया तब उन्होंने मुझसे कहा—"सुनता हूँ, सन् १८७२ का ३ नं० आईन संशोधित और परिवर्त्तित होगा।" मैंने कहा—"गवर्नमेंट ने ब्राह्मसमाज के लीडरों से पूछा है कि सन् १८७२ के ३ नं० आईन के द्वारा कैसा काम हो रहा है और उसमें किसी प्रकार के परिवर्त्तन की आवश्यकता है या नहीं?" इस पर विद्यासागर ने कहा—"मैंने इसी लिए तुमको बुलाया है। तुम मेरा नाम लेकर शिवनाथ और आनन्दमोहन बाबू आदि सब से कहना कि इस आईन में ऐसा परिवर्त्तन होना चाहिए जिसमें उससे ब्राह्मसमाज की सुविधा के साथ-साथ विधवाविवाह-प्रार्थी हिन्दुओं को भी सहायता प्राप्त हो। इस आईन से बहुविवाह रोका गया है, इसी से मैं इससे बहुत प्रसन्न हूँ। किन्तु इसका 'किम्भूत-किमाकार' भाव यदि मिट जाय तो मैं फिर धोखेबाज़ी के हाथ से छुटकारा पा जाऊँ।" मैंने यह विद्यासागर की इच्छा उस समय पं० शिवनाथ शास्त्री, आनन्द-मोहन वसु, उमेशचन्द्र दत्त आदि अनेक महाशयों के आगे प्रकट की थी। किन्तु अब तक उक्त आईन के संशोधन की चेष्टा सफल नहीं हुई।

बहुत से लोग यह गुरुतर प्रश्न किया करते हैं कि विद्यासागर की सबसे बड़ी कीर्त्ति विधवाविवाह चलाने की चेष्टा अच्छी तरह सफल क्यों नहीं हुई ? इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देना तो बहुत कठिन काम है; तथापि यथासम्भव इसका उत्तर देने की चेष्टा की जायगी। वह उत्तर विद्यासागर के ही शब्दों में यह है—"मैंने आशा की थी कि किसी सामाजिक कार्य को शास्त्रसिद्ध साबित कर देने से ही इस देश के लोग उसे शिरोधार्य्य समझेंगे। किन्तु अब मेरा वह विश्वास जाता रहा। इस देश में शास्त्र और देशाचार की एक राह नहीं है। दोनों की परस्पर विरुद्ध राहें हैं।" शास्त्रविरुद्ध होने से क्या होता है; सोलहों आने शास्त्र पर विश्वास और उसके अनुरूप समाजशासन न होने से ही समाज में शास्त्रविरुद्ध काम बिना किसी बाधा के जारी हैं। वीर्य-विक्रय या मोल-तोल करके लड़के का ब्याह करना निन्दनीय कार्य है। धर्म्म-शास्त्रों में कहीं इसका अनुमोदन नहीं किया गया। किन्तु यह भयानक अनीति ऐसे चुपके-चुपके समाज की तह तक घुस गई है कि समाज को कुछ भी खबर नहीं हुई और अब वह शरीर में चुभे काँटे की तरह खटक रही है। जिस समाज में शास्त्र की उपेक्षा करके पुत्र का पिता, विवाह-सम्बन्ध उपस्थित होते ही, कन्या के पिता को कङ्गाल बनाने की कोशिश में लग जाता है; जिस समाज में दो-एक कन्या हो जाने से घोर चिन्ता का सामना करना पड़ता है और ऋण लेते-लेते कन्या के पिता का सर्वस्व स्वाहा हो जाता है; जिस समाज में नातेदारी के माने सर्वस्व हड़प जाना और नातेदार को सदा के लिए दुखी बनाना है; वह समाज शास्त्रसम्मत समझकर विधवाविवाह के प्रचार में कैसे अग्रसर हो सकता है ? मदिरा पीने का शास्त्र में निषेध है। अच्छा, मदिरा पीनेवाले चरित्रहीन पुरुष की अपेक्षा

बालिका विधवा से विवाह करनेवाला सज्जन क्या लाख गुना आदर का पात्र नहीं है? किन्तु समाज क्या करे? गले में जिसका दम अटका हुआ है ऐसे समाज की स्थिति-शीलता और उदासीनता का यही स्वाभाविक परिणाम है कि वह ऐसे बुरे कामों को आश्रय दे और शास्त्रसम्मत परिवर्त्तन में बाधा डाले। विधवाविवाह-प्रचार के मार्ग में देशाचार ही प्रबल बाधा है। इस बारे में सुप्रसिद्ध संस्कारक श्रद्धेय शिवनाथ शास्त्री के कुछ वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"इस देश के एक भद्र पुरुष ने एक बार मुझसे यह प्रश्न किया था कि 'राममोहन राय ने जब बङ्गाल में ब्राह्मधर्म का प्रचार किया था तब उन्होंने सम्पूर्ण रूप से प्राचीन शास्त्र की सहायता ली थी। वेद-वेदान्त आदि का अनुवाद करके और बहुत से शास्त्रीय वचन उद्धृत करके उन्होंने यह सिद्ध किया था कि एकेश्वरवाद इस देश के प्राचीन शास्त्रों से विरुद्ध नहीं है। आप लोगों ने क्यों वह राह छोड़ दी? आप लोग शास्त्रीय वचन उद्धृत करके अपने मत के प्रचार की चेष्टा क्यों नहीं करते?' उस समय मैंने उनको यह उत्तर दिया था कि शास्त्र का अर्थ विचारने में जितने समय और परिश्रम का प्रयोजन है उतना समय लगाने और परिश्रम करने को जी नहीं चाहता। क्योंकि अगर मैं यह जानता कि देश के लोग शास्त्रीय वचनों की अपेक्षा में बैठे हुए हैं, शास्त्रीय वचन पाते ही वे अपने पुराने भ्रम को छोड़कर नवीन सत्य ग्रहण कर लेंगे तो मैं क्लेश स्वीकार करके शास्त्र-सागर को मथता और अनेकानेक ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक वचन निकालकर उनके आगे रखता। किन्तु जब देखता हूँ कि लोग विचार के समय चाहे जितनी शास्त्र की दोहाई दें और चाहे जो करें, मगर काम के समय देशाचार को ही मानकर चलते हैं

तब शास्त्रीय वचनों की खोज करने के लिए प्रवृत्ति नहीं होती। मेरे इस कथन का प्रमाण विद्यासागरजी हैं। विधवा के पुनर्विवाह को शास्त्रसिद्ध साबित करने के लिए उन्होंने कितना परिश्रम किया और क्लेश उठाया! उनकी लिखी विधवाविवाह की पुस्तक उनके असाधारण परिश्रम और अद्भुत शास्त्र-विचार की शक्ति का सजीव प्रमाण है। ऐसी शास्त्रीय छानबीन राममोहन राय के बाद और किसी ने नहीं की। विद्यासागर ने आशा की थी कि उनके देश के लोगों को प्राचीन शास्त्रों पर बड़ा अनुराग है; इसलिए वे शास्त्रीय वचनों के द्वारा विधवाविवाह के वैध सिद्ध कर देने पर बिना किसी सङ्कोच के उनकी दिखलाई राह पर चलेंगे। किन्तु उनकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई। तर्क-युद्ध में प्रबल प्रतिद्वन्द्वी पण्डितों को उन्होंने परास्त कर दिया, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु कार्य के समय बहुत कम लोग ही उनके दिखाये मार्ग में अग्रसर हो सके। इससे देख पड़ता है कि केवल शास्त्र के वचन उद्धृत कर देने से काम नहीं चल सकता। और भी कुछ ऐसी युक्ति होनी चाहिए जिससे लोग देशाचार का भय छोड़कर कर्त्तव्यपालन की ओर अग्रसर हों।"

इस बातचीत के बाद अनेक बार मैंने इस बारे में विचार किया है। एक दिन विद्यासागरजी के लिखे विधवाविवाह-ग्रन्थ के उपसंहार की निम्नलिखित कई पंक्तियाँ मैंने देखीं—'धन्य रे देशाचार! तेरी कैसी अनिर्वचनीय महिमा है! तू अपने अनुगत भक्तों को दुश्छेद्य दासत्व-शृङ्खला में बाँधे हुए एकाधिपत्य कर रहा है। + + +'

देशाचार के प्रति विद्यासागरजी के इस गम्भीर मर्म्मभेदी आक्रोश का कारण यही है कि उन्हें थोड़े ही दिनों में इस बात का अनुभव हो गया कि देशाचार ही उनके समाज-संस्कार के मार्ग में पत्थर की दीवार बना खड़ा है।

यह तो हुआ एक कारण। दूसरा, कारण यह है कि किसी समाज में कोई परिवर्त्तन करने के समय समाज के बह रहे प्रवाह में अपनी चेष्टा को छोड़ देने से वह बह जाती है। क्योंकि जिस बहुत दिनों के अभ्यास से उत्पन्न प्रकृतिगत आलस्य और अनुदारता ने समाज-शरीर की अस्थिमज्जा में प्रवेश करके उसे जड़ बना दिया है उसे दूर किये बिना—समाज-शरीर में आग्रह और उत्साह का ताज़ा ख़ून दौड़ाये बिना—उस समाज में नवीन विचारों की प्रबल बढ़िया लाये बिना—किसी प्रकार सफलता की सम्भावना नहीं की जा सकती। इस प्रकार की नये विचारों की बढ़िया लाने के लिए केवल शास्त्र के वचनों की सहायता लेना ही यथेष्ट नहीं है। सूक्ष्म, किन्तु सुदृढ़, ताँबे की सलाई बिजली के तीव्र प्रकाश के सञ्चालन का कार्य करती है। वैसे ही धर्म को मध्य-बिन्दु बनाकर, धर्म को प्राण-रूप से स्थापित कर, समाजसंस्कार का काम शुरू करना चाहिए। धर्म की नींव पर जो समाजसंस्कार स्थापित हो वही सुसिद्ध होता है। विद्यासागर का समाजसंस्कार सर्वथा शास्त्रसम्मत और शास्त्रकथित धर्म-व्याख्या के अनुकूल हुआ, इस बारे में कोई त्रुटि नहीं हुई। किन्तु उनका समाजसंस्कार धर्म-संस्कार से उत्पन्न न था और इसी कारण वह विशेष भाव से स्थायी नहीं हो सका। इस सम्बन्ध में बम्बई-हाईकोर्ट के माननीय जज महादेव गोविन्द रानाडे ने मलाबारी महाशय को जो पत्र लिखा था उसका कुछ अंश, प्रमाण के तौर पर, यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"Our deliberate conviction, however, has grown upon us with every effort, that it is only a religious revival that can furnish sufficient moral strength to work out the complex social problems which demand our attention. Mere consideration of expediency or economical calculations of gains or losses can never nerve a community to undertake and carry

through social reforms, specially with a community like ours, so spell-bound by custom and authority. The truth is, the orthodox society has lost its power of life, it can initiate no reform, nor sympathise with it. Only a religious revival, a revival not of forms, but of sincere earnestness which constitute true religion, can effect the desired end."—The Hon'ble Justice M. G. Ranade of Bombay High Court, wrote in reply to Mr. Malabari's note.

अर्थात्, इतने दिनों तक काम करने से मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि जिसमें मन लगाना हमारा सब प्रकार से कर्त्तव्य है उस जटिल सामाजिक प्रश्न की सम्पूर्ण रूप से सुन्दर मीमांसा धर्म-सम्बन्धी आन्दोलन की सहायता के बिना कभी नहीं हो सकती। सुविधा या लाभ-हानि का विचार समाज-शरीर में संस्कार करने के लायक़ बल नहीं ला सकता। हमारा समाज शास्त्र की आज्ञा और देशाचार का सोलहों आने ग़ुलाम हो रहा है। + + असल बात यह है कि रक्षणशील समाज की जीवनी शक्ति लुप्त हो गई है। इसके द्वारा कोई संस्कार का कार्य्य सिद्ध नहीं हो सकता और वैसे कार्य्य में इसकी सहानुभूति भी नहीं है। बाहरी अनुष्ठानों और कार्यों से परिवर्त्तन सुसिद्ध नहीं होता। सजीव अनुराग-रञ्जित नवीन धर्म-जीवन के प्रवाह में ये सब संस्कार के काम सुसिद्ध हो सकते हैं।

इस देश में एक कहावत प्रचलित है कि "चार जने मिल कीजै काज। हारे जीते न आवै लाज॥" किन्तु हिल-मिलकर काम करना हमारे देश में सम्भव नहीं। धर्मशास्त्र के जाननेवाले महापुरुष एक दूसरे से हेलमेल नहीं रखते थे, इसी से एक-एक करके बीस धर्मशास्त्र* यहाँ बने और उनका प्रचार हुआ। इनके सिवा और भी

* मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती॥

कई धर्मशास्त्र यहां मौजूद हैं। इन धर्मशास्त्रों की विधि ने साधारणतः लोकव्यवहार के काम में सहायता करने पर भी परस्पर में भारी भेद की सृष्टि करके भारतवर्षीय हिन्दुओं के छोटे-छोटे अनेक दल बना दिये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाजशृङ्खला बनाये रखने के काम में यह मतभेद भारी विघ्न है। भारत में शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य तथा नानकपन्थी, कबीरपन्थी आदि छोटे-छोटे दलों ने उत्पन्न होकर सामाजिक जीवन को क्षीण कर डाला है। "चार जने मिल कीजै काज। हारे जीते न आवै लाज॥" वाली कहावत का चरितार्थ होना हमारे भाग्य में बदा ही नहीं है। अनेक मुनियों के अनेक मतों ने ही हमारे देश का सर्वनाश किया है। राजा राजवल्लभ ने विधवाविवाह की चेष्टा की थी तब राजा कृष्णचन्द्र ने बाधा डाली। स्मार्त्त भवशङ्कर विद्यारत्न और मुक्ताराम विद्यावागीश आदि ने पहले विधवाविवाह के अनुकूल व्यवस्था दी और पीछे उससे विमुख होकर विरोधियों के दल में मिल गये। इस प्रकार विद्यासागर की प्राणपण-चेष्टा को विपक्षियों के विरोध ने बहुत कुछ निष्फल कर दिया। विधवाविवाह का प्रचार कम होने का यह तीसरा कारण है।

चौथा कारण यह है कि वे जैसे आग्रह के साथ जीवन की अन्तिम घड़ी तक इस काम में लगे रहे वैसे, उनके बाद, इस काम को करते रहनेवाला दूसरा आदमी नहीं था। हाँ, प्रेमचन्द्र तर्कवागीश के कहने के अनुसार कि "पश्चिमोत्तर प्रदेश, बम्बई, मदरास आदि स्थानों में, जहाँ हिन्दू-धर्म प्रचलित है, दौड़ लगानी पड़ेगी" उन्होंने विधवाविवाह-पुस्तक का जो अँगरेज़ी-संस्करण निकाला उससे

पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्म्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

अवश्य कुछ सफलता प्राप्त हुई। विद्यासागर के मरने पर भी बङ्गाल के बाहर भारत के अन्य अनेक स्थानों में विधवाविवाह प्रचलित करने की चेष्टा में लगे हुए लोगों की संख्या कम नहीं है। बङ्गालियों का सौभाग्य तो यह है कि सब प्रकार के सामाजिक शुभ कार्यों का सूत्रपात बङ्गाल में ही होता है। और, दुर्भाग्य यह है कि उनका प्रचार या विस्तार अन्य स्थानों में होता है, यहाँ नहीं होता। निम्न-लिखित विवरण इस बात का साक्षी है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश, पञ्जाब, बम्बई और मदरास में विधवाविवाह का विशेष प्रचार करने के लिए इस समय भी खूब चेष्टा की जा रही है। बरोदा के राजा महाराज सयाजीराव गायकवाड़ ने सन् १८८६ की १५ वीं जुलाई के पत्र में मलाबारी महाशय को लिखा था—

"I think there has already been too much writing and lecturing on the subject and that such activity, however useful and necessary, must have a limit. Evils like these call loudly for action, and action alone can remedy them. It is not very pleasant to reflect that so many of our learned young men, who have such ample opportunities of doing good to their country, do not, when occasion offers, show the truth of the old adage 'example is better than precept,' by boldly coming forward, may be, at some personal sacrifice, to respond to what they, from their otherwise secure position, would lend weight and like to be recognised as the aristocracy of intelligence. Nothing is rarer in this world than the courage which accepts all personal responsibilities and carries its burden unbending to the end."—Maharaja Gackwar of Baroda.

अर्थात्, "मुझे जान पड़ता है कि लेखों और वक्तृताओं के द्वारा इस विषय की यथेष्ट आलोचना हो चुकी और इस तरह की आलोचना के लिए एक सीमा का रहना आवश्यक है। ये सामाजिक दुर्नीतियाँ

ज्यों की त्यों मौजूद रहकर हम से काम में लगने के लिए कहती हैं। कार्य के द्वारा इन मामलों में अग्रसर हुए बिना इनका प्रतीकार नहीं होगा। सुशिक्षित युवक लोग सब तरह का सुभीता रहते भी कार्य के समय यदि ऐसे शुभ कार्य में अग्रसर न हों—उपदेश देना छोड़-कर आप लोग कुछ हानि स्वीकार करते हुए इन संस्कारों को कार्य्य-रूप में परिणत करने की चेष्टा न करें—और, इन सब कार्यों में सहायता न करके निर्लिप्त भाव से विचार के विषय में समाज के शिरोमणि बनने का प्रयास करें, तो समाज की उस अवस्था को सोचने से हृदय में आनन्द का उदय नहीं होता। जीवन के अन्तिम दिन तक सत्साहस के अनुगत होकर पूर्णरूप से जीवन की सब तरह की ज़िम्मेदारियों को अदा करने से बढ़कर संसार में श्रेष्ठ सम्पत्ति और क्या हो सकती है?"

मैसूर के हिन्दू राजा ने अपने राज्य में यह नियम कर दिया है कि पचास साल का आदमी चौदह वर्ष से कम अवस्थावाली बालिका से ब्याह न कर सकेगा। बाल्य-विवाह-निवारण और विधवाओं की संख्या कम करने के काम में यह नियम बहुत सहायता करेगा। महाराजा बरोदा और महाराजा मैसूर आदि का इन सब संस्कार-कार्यों की पृष्ठपोषकता करना और उस प्रान्त के बहुत से मध्यवित्त परिवारों का स्वतः प्रवृत्त होकर इस मङ्गलकारी परिवर्त्तन की ओर अग्रसर होना यह सिद्ध करता है कि कुछ समय में विद्यासागर की चेष्टा अच्छी तरह सफल हो जायगी। उनकी मृत्यु के कुछ दिन पहले नलडाँगा के राजा प्रमथभूषण देव राय ने बहुत धन ख़र्च करके विधवाविवाह की तैयारी की थी, और एक-एक करके कई विधवाओं के ब्याह करा दिये थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाज में विधवाविवाह का चलन जारी कर गये हैं। इन सब कार्यों में

अग्रसर होने के मार्ग में जो सामाजिक अत्याचार बाधा बने हुए हैं वे सुशिक्षा के द्वारा शिथिल हो चले हैं। अतएव अब विधवाविवाह का चलन कुछ सहज हो जायगा। सम्पन्न और साहसी व्यक्ति के यहां जब ऐसे अनुष्ठान की आवश्यकता होगी तब वह बिना किसी उज्र के उसे कर डालेगा। डाकृर राजेन्द्रलाल मित्र ने सन् १८८४ के सितम्बर महीने में मलाबारी महाशय को एक पत्र लिखा था। उसमें वे लिखते हैं—

"I yield to none in advocating widow marriage, but I advocate it on the broad ground of individual liberty of choice and not on account of immorality, possible or contingent. * * I have no daughter, but if I had the misfortune to have a young widowed one in my house, I would have certainly tried my utmost to get her re-married." Rajendra Lal Mitra.

अर्थात्, विधवाविवाह के पक्ष का समर्थन करने में मैं किसी की अपेक्षा कम नहीं हूँ। किन्तु सब प्रकार की सामाजिक दुर्नीतियों के प्रश्रय पाने की आशङ्का से मैं विधवा का व्याह करने की अपेक्षा विधवा के व्यक्तिगत अधिकार का अधिक पक्षपाती हूँ। + + + मेरे लड़की नहीं है, किन्तु दुर्भाग्यवश अगर मेरे घर में विधवा कन्या होती तो मैं निश्चय ही उसके पुनर्विवाह के लिए विधिपूर्वक चेष्टा करता।

देशाचार ने शास्त्र के प्रतिकूल होकर विद्यासागर के समाज-संस्कार में बड़ी रुकावट डाली, विद्यासागर का इतना भारी आन्दोलन भी उस रुकावट को बिलकुल दूर नहीं कर सका। तथापि धर्म और शास्त्र के अनुकूल होने के कारण विद्यासागर अपने ख़र्च से सौ से अधिक विधवाविवाह कराने में समर्थ हुए। इनमें से अनेक विवाह उच्च कुल के ब्राह्मणों और कायस्थों की विधवाओं के ही हुए। विधवा-विवाह की जो दो सूची हमारे हाथ लगी हैं उन्हीं में एक सौ से

अधिक विधवाविवाहों का उल्लेख है। इनके सिवा और भी ऐसे अनेक विधवाविवाह हुए थे जिनसे विद्यासागर का साक्षात् सम्बन्ध नहीं था। विद्यासागर के विधवाविवाहों के साथ ही साथ ब्राह्म-समाज में भी बहुत से विधवाविवाह हुए हैं। उनमें से अधिकांश विवाहों का विद्यासागर की सूची में उल्लेख नहीं है। विद्यासागर की सूची में उन्हीं विधवाविवाहों का उल्लेख है जो हिन्दूशास्त्र की विधि से हुए थे। किन्तु इतना ही यथेष्ट नहीं है। देशाचार के सुदृढ़ जाल ने उनके संस्कार-कार्य की गति रोक दी थी, और इस बात का अनुभव उन्हें अच्छी तरह हो गया था। इसी कारण विधवा-विवाह-सम्बन्धी पुस्तक के शेष भाग में उन्होंने बड़े खेद के साथ इस विषय में अपने हृदय के उद्गार निकाले हैं। हम उस स्थल का कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत करते हैं—

"धन्य रे देशाचार! तेरी कैसी अनिर्वचनीय महिमा है! तू अपने अनुगत भक्तों को दुश्छेद्य दासत्व की शृङ्खला में बाँधकर कैसा एकाधिपत्य कर रहा है! तूने क्रमशः अपना आधिपत्य फैला-कर शास्त्र के सिर पर पदार्पण किया है, धर्म के मर्म पर चोट पहुँ-चाई है, हिताहित-बोध की गति रोक दी है, न्याय-अन्याय के विचार का मार्ग रूँध दिया है। तेरे प्रभाव से शास्त्र को भी लोग अशास्त्र समझते हैं और अशास्त्र को भी शास्त्र मानते हैं; लोग धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने लगते हैं। किसी भी धर्म को न मानने-वाले, स्वेच्छाचारी, कुचरित्र लोग भी तेरे अनुगत रहकर केवल लोकाचार के हिमायती होने के कारण सर्वत्र आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं—पुजते हैं। जो लोग जाति-बहिष्कृत धर्मनाशक कार्य करके भी लोकाचार का दम भरते हैं उनके साथ खान-पान बनाये रखने में धर्म नहीं जाता; किन्तु यदि कोई निरन्तर अच्छे आचरण से रहकर

भी केवल लोकाचार की परवा नहीं करता तो उसके साथ, खाना-पीना कैसा, बात करने में भी पातक लग जाता है!

"हा धर्म! तुम्हारा मर्म समझना कठिन है! किस तरह तुम्हारी रक्षा होती है और किस तरह लोप, सो तुम्हीं जान सकते हो!

"हा शास्त्र! तुम्हारी कैसी दुर्दशा देख पड़ती है। तुम जिन कर्मों को बारम्बार धर्म और जाति से भ्रष्ट करनेवाला बतलाते हो उन्हीं कर्मों के करनेवाले सर्वत्र साधु पुरुष और धर्मपरायण कहलाकर आदर पाते हैं; और तुम जिन कर्म्मों को विधेय बतलाते हो उनको करना कैसा, उनकी चर्चा उठानेवाला भी पुरुष बड़ा भारी नास्तिक, अधर्मी और नीच समझा जाता है! इस पुण्यभूमि में अनेक अनिवार्य पापों का प्रवाह क्यों उमड़ रहा है, इसकी खोज करने से यही जान पड़ता है कि तुम्हारे प्रति अनादर और लोकाचार के प्रति आस्था ही उसका मूल-कारण है।

"हा भारतवर्ष! तुम कैसे अभागे हो! तुम अपने पहले के सपूतों के कारण पुण्यभूमि कहकर पृथ्वी पर परिचित थे, किन्तु तुम्हारी इस समय की सन्तानों ने स्वेच्छाचार करके तुमको जैसी पुण्यभूमि बना दिया है उस पर ध्यान देने से सारे शरीर का ख़ून सूख जाता है। नहीं मालूम, कितने दिनों में तुम्हारी यह दशा दूर होगी।

"हा भारतवर्ष के मनुष्यो! और कितने दिनों तक तुम आलस्य के पलँग पर मोहनिद्रा से अचेत पड़े रहोगे! एक बार ज्ञान की आँखें खोलकर देखो, तुम्हारी पुण्यभूमि भारतवर्ष में व्यभिचार और गर्भहत्या का पाप कैसे वेग से बढ़ रहा है। बस, अब यथेष्ट हो गया। अब एकाग्र होकर शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य और मर्म को समझने में मन लगाओ और उसके अनुसार काम करो। ऐसा

करने ही से अपने देश का कलङ्क दूर कर सकोगे। किन्तु दुर्भाग्य-वश तुम चिरसञ्चित कुसंस्कार के ऐसे वशीभूत हो रहे हो, देशाचार के ऐसे दास हो रहे हो, लौकिक आचार की रक्षा में ऐसे दृढ़ हो रहे हो कि सहसा तुमसे यह आशा नहीं की जा सकती कि तुम कुसंस्कार और देशाचार का अनुसरण छोड़कर यथार्थ सन्मार्ग के पथिक बन सकोगे। अभ्यास के दोष से तुम्हारी बुद्धि और धर्म-प्रवृत्ति ऐसी कलुषित हो गई है कि अभागिनी विधवाओं की दुर्दशा देख तुम्हारे चिरशुष्क हृदय में कारुण्यरस का सञ्चार होना कठिन है। देश में व्यभिचार और भ्रूणहत्या का प्रबल प्रवाह देखकर भी तुम्हारे हृदय में उस पर घृणा का होना असम्भव सा है। तुम प्राण-प्यारी कन्याओं को वैधव्य की आग में जलाने के लिए राज़ी हो, वे अजेय इन्द्रियों के वशीभूत होकर व्यभिचार-दोष से दूषित हों तो उसमें तुम्हें लज्जा नहीं आवेगी। धर्मलोप के भय को विलाञ्जलि देकर केवल लोकलज्जा के भय से उनकी भ्रूणहत्या में सहायता करके स्वयं सपरिवार पापपङ्क में कलङ्कित होना तुमको पसन्द है। किन्तु कैसे आश्चर्य की बात है, शास्त्रविधि के अनुसार बालिका विधवा का पुनर्विवाह करके उसे वैधव्ययन्त्रणा से बचाना और आप भी सब आपत्तियों से छुटकारा पाना तुमको पसन्द नहीं। तुम समझते हो कि पति के मरते ही स्त्रियों का शरीर पत्थर का हो जाता है, उन पर दुःख और यन्त्रणा का प्रभाव नहीं पड़ता, उनके अजेय शत्रु इन्द्रिय एकदम निर्मूल हो जाते हैं। किन्तु तुम्हारा यह सिद्धान्त बिलकुल भ्रान्त है। इस बात के प्रमाण तुमको पग-पग पर प्राप्त होते हैं। सोचकर देखो, इसी ध्यान न देने के कारण कैसा विषमय फल भोग रहे हो। हाय, कैसे खेद की बात है! जिस देश के पुरुषों में दया नहीं है, धर्म नहीं है, न्याय-अन्याय का विचार नहीं है, हिता-

हित की समझ नहीं है, सत् विवेचना नहीं है, और वे लोकाचार की रक्षा को ही प्रधान कर्म और परम धर्म समझते हैं, उस देश में, हे ईश्वर, अबला स्त्रियों को पैदा ही मत करो।

"हा अबलाओ! तुम किस पाप से भारतवर्ष में जन्म ग्रहण करती हो!"

विधवाविवाह और उसके सम्बन्ध में सरकारी आईन पास होने के आन्दोलन से जिस समय सारा बङ्गाल व्याप्त हो रहा था; कोई विद्यासागर के पक्ष में था और कोई विपक्ष में, ठीक उसी समय विद्यासागर एक और शुभ कार्य में लगे हुए थे। बङ्गाल के कुलीन ब्राह्मण एक साथ बहुत से विवाह कर लिया करते थे, एक प्रकार से यही उनकी जीविका थी। इस बहुविवाह-प्रथा को रोकने के लिए, बहुत लोगों के हस्ताक्षर कराकर, विद्यासागर ने एक प्रार्थनापत्र गवर्नमेंट के पास भेजा। बङ्गाल के कुलीन ब्राह्मणों में जिस प्रकार बहुविवाह की प्रथा प्रचलित है उस (निष्ठुर कार्य) का अनुमोदन हिन्दू-शास्त्रों में कहीं नहीं है। शास्त्र में कुछ विशेष अवस्थाएँ बतलाई गई हैं, जिनमें पुरुष एक स्त्री के रहते दूसरा विवाह कर सकता है। किन्तु वैसी विशेष आवश्यकता विरले ही को होती है। वैसे बहु-विवाह से बहुविस्तृत हिन्दूसमाज की विशेष क्षति नहीं हो सकती थी। उस विशेष आवश्यकता के अवसर पर मनुष्य दस, बीस, तीस, या इनसे भी अधिक व्याह नहीं कर सकता। इस प्रकार बहुत से विवाह करना निन्दनीय और युक्ति तथा धर्म्म के विरुद्ध है। विद्या-सागर ने अपने बहुविवाह-विषयक बहुविस्तृत ग्रन्थ में इस बात को बहुत साफ़ तौर से दिखलाया है कि युक्ति और धर्म के विरुद्ध निन्द-नीय बहुविवाह की चाल ने बङ्गाल के कुलीन ब्राह्मणों में कहाँ तक ज़ोर पकड़ा था और उसके द्वारा देश का कैसा सर्वनाश हुआ है।

उन्होंने उक्त पुस्तक में बङ्गाल के ब्राह्मणों की उत्पत्ति, उन्नति और अवनति का धारावाहिक ऐतिहासिक विवरण लिखा है और यह भी प्रमाणित कर दिखाया है कि मध्यकाल में बङ्गाल के कुलीन ब्राह्मण अपने परिवार की स्त्रियों को पालतू पशुओं से अधिक नहीं समझते थे। किसी-किसी जगह इससे भी अधिक हीन दशा में स्त्रियों को अपनी ज़िन्दगी के दिन बिताने पड़ते थे और इस समय भी यह विश्वास नहीं होता कि स्त्रियों को इस दुःख से छुटकारा मिल गया है।

सर्वश्रेष्ठ संहिताकार महात्मा मनु ने जो दूसरी स्त्री से व्याह करने की व्यवस्था दी है उसके द्वारा इस प्रकार के दुराचार का समर्थन कदापि नहीं होता। मनु लिखते हैं—

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा॥

स्त्री यदि मद्य पीनेवाली, व्यभिचारिणी, स्वामी के प्रतिकूल काम करनेवाली, चिररोगिणी, अत्यन्त क्रूर स्वभाव की और धन का नाश करनेवाली हो तो अधिवेदन अर्थात् दूसरा व्याह कर लेना चाहिए।

वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याऽब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥

स्त्री वन्ध्या हो तो व्याह के आठवें वर्ष, पुत्र हो-होकर मर जाते हों तो दसवें वर्ष, केवल कन्याएँ ही पैदा होती हों तो ग्यारहवें वर्ष और अगर स्त्री कर्कशा हो तो तुरन्त दूसरा व्याह करना चाहिए।

ऊपर लिखे कारणों में से कोई भी कारण उपस्थित होने पर एक स्त्री के रहते भी दूसरी स्त्री से व्याह करने की व्यवस्था इन दोनों श्लोकों में दी गई है।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मनु के समय में बङ्गाल के कुलीन थे ही नहीं। अतएव मनुसंहिता में उनके लिए उक्त विषय की व्यवस्था नहीं है; बङ्गाल के कुलीनों के लिए यह व्यवस्था लागू नहीं हो सकती। यह हो सकता है, किन्तु गृहस्थी के निर्वाह के लिए साधारणतः जो अवस्थाएँ असुविधाजनक हो सकती हैं उन सबका उल्लेख करके मनु ने उन अवसरों पर समाजहित के लिए दूसरा ब्याह करने की विधि बना दी है। इसके सिवा और एक बात यह है कि मनुप्रणीत सनातन सुव्यवस्था के अनुगामी होकर चलते-चलते समाज की धारा विपथगामिनी हो गई है। यह न होता तो बल्लाल सेन की कौलीन्यप्रथा और देवीवर घटक का मेल-बन्धन किस तरह ब्राह्मण-धर्म और आचार-व्यवहार के ऊपर आधिपत्य कर सकता? मनुसंहिता आदि के निर्देश को नांघकर यह प्रथा बङ्गाल में प्रचलित हुई है। यह प्रथा सारे अमङ्गल, अनाचार और अन्याय का कारण है। इसी से स्त्रीजाति के हितैषी कोमल-हृदय विद्यासागर जीवन के अन्तिम समय तक विधवाविवाह-प्रचार की तरह बहुविवाह-निवारण की भी चेष्टा करते रहे। वे बहुविवाह-निषेध के ग्रंथ की भूमिका में लिखते हैं—

"स्त्रीजाति पुरुषजाति की अपेक्षा निर्बल और सामाजिक नियम के दोष से पुरुषजाति के बिलकुल अधीन है। इस दुर्बलता और अधीनता के कारण स्त्रियों को पुरुषों के आगे अवनत और अपदस्थ होकर जीवन बिताना पड़ रहा है। प्रभुत्व को प्राप्त प्रबल पुरुषगण स्त्रियों के साथ मनमाना अत्याचार और अविचार किया करते हैं और स्त्रियाँ निपट निरुपाय होने के कारण उन सब अत्याचारों को चुपचाप सहती हुई अपनी ज़िन्दगी काटती हैं। पृथ्वी के प्रायः सभी देशों में स्त्रियों का यही हाल है कि उन्हें पुरुषों की इच्छा के

अनुसार ज़िन्दगी वितानी पड़ती है। किन्तु इस अभागे देश में पुरुषों की निर्दयता, स्वार्थपरता और वेसमझे काम करने की आदत इतनी वढ़ी-चढ़ी है कि यहाँ की स्त्रियों की बहुत ही बुरी हालत है। अन्य किसी देश की स्त्रियों को ऐसी दुर्दशा का सामना नहीं करना पड़ता। यहाँ के पुरुष कई एक अत्यन्त निन्दित प्रथाओं को जारी रखकर अभागिनी स्त्रियों को सब प्रकार कष्ट दे रहे हैं। उन प्रथाओं में से वहुविवाह की प्रथा इस समय यहाँ वड़ा भारी अनर्थ कर रही है। इस निन्दनीय नृशंस प्रथा के प्रचलित रहने के कारण स्त्रियों की असीम दुर्दशा हो रही है। इस प्रथा की प्रवलता के कारण यहाँ की स्त्रियों को जैसे क्लेश और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं उन पर विचार करने से हृदय फट जाता है। मतलव यह कि वहुविवाह का अत्याचार वङ्गाल में इतना अधिक और असह्य हो उठा है कि जिसको कुछ भी हिताहित का वोध और सत्-असत् की विवेचना-शक्ति है वही इस प्रथा का भारी शत्रु वन बैठा है। ऐसे लोगों की आन्तरिक इच्छा है कि इसी घड़ी यह प्रथा उठा दी जाय। आजकल इस देश की ऐसी अवस्था हो गई है, यहाँ का समाजशासन ऐसा शिथिल हो गया है, कि राजा की आज्ञा के विना ऐसे देशव्यापी दोष को रोकने का दूसरा उपाय नहीं देख पड़ता। इसलिए अनेक लोगों ने उद्योग करके सम्पूर्ण दोषों की खान इस वहुविवाह की प्रथा को रोकने के लिए सरकार में आवेदन पत्र भेजा है। इस वारे में कुछ लोग कुछ आपत्तियाँ उठाते हैं। यथाशक्ति उन सब आपत्तियों का उत्तर दिया जाता है।"

विद्यासागर ने इस वहुविवाह-सम्बन्धी पुस्तक में अत्यन्त विस्तृत-भाव से वङ्गाली ब्राह्मणों का इतिहास और कौलीन्य-प्रथा के कारण होनेवाली दुर्घटनाओं का हाल लिखा है। साथ ही यह भी दिख-

लाया है कि इस अनाचार को सदाचार बनाने के कारण समाज में कितनी कमज़ोरी और ओछापन आ गया है। इस ग्रन्थ में भी विद्यासागर का शास्त्रज्ञान, सूक्ष्मदृष्टि और लोकहितैपणा का पूरा परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने पूर्ववङ्ग और पश्चिमवङ्ग के बहुविवाह करनेवाले कुलीनों की फ़ेहरिस्त बनाई थी। उसे देखने से हृदय पर गहरे विषाद की छाया छा जाती है। बहुविवाह-निवारण का पहला उद्योग विधवा-विवाह के पहले आन्दोलन में दब गया। उस समय गवर्नमेंट ने भी विधवाविवाह की बाधा दूर करके ही चुप रहना उचित समझा। विद्यासागर के भेजे बहुविवाह-निवारण के आवेदनपत्र का समर्थन करने के लिए कई और आवेदनपत्र भेजे गये थे। उनमें बर्दवान के राजा महताबचन्द बहादुर, कृष्णनगर के महाराज श्रीशचन्द्र और उनके बाद उनके पुत्र सतीशचन्द्र का आवेदनपत्र ही विशेष भाव से उल्लेख के योग्य है। महाराज महताबचन्द बहादुर के सुतीव्र-समालोचना-पूर्ण और बहुविस्तृत आवेदनपत्र का थोड़ा सा अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"The Coolins marry solely for money and with no intention to fulfil any of the duties which marriage involves. The women who are thus nominally married, without the hope of ever enjoying the happiness which marriage is calculated to confer particularly on them, either pine away for want of object on which to place the affections which spontaneously arise in the heart or are betrayed by the violence of their passions and their defective education into immorality. * * *

"That the remedy, though obvious and perfectly consistent with the Hindu law, cannot, in the present disorganised state of Hindu Society, be applied by the force of public opinion, or any other power than that derived from the Legislature."—27th December, 1855.

अर्थात्, कुलीन लोग रुपये के लोभ से व्याह करते हैं। वैवाहिक जीवन के किसी कर्त्तव्य को सम्पन्न करने के इरादे से वे व्याह नहीं करते। दाम्पत्य-सुख की आशा को तिलाञ्जलि देकर जिन स्त्रियों को इस नाममात्र के विवाह-बन्धन में अपना गला फँसाना पड़ता है वे अपने हृदय की प्रीति को अर्पण करने का पात्र न पाकर या तो धीरे-धीरे सूखकर मुर्दा सी हो जाती हैं और या सुशिक्षा के अभाव से प्रवृत्ति की प्रवल उत्तेजना के वशीभूत होकर पाप के मार्ग में पैर रखती हैं। + + +

इस सामाजिक व्याधि का प्रतीकार यद्यपि सहज समझ में आ जानेवाला और शास्त्रसम्मत है, तथापि हिन्दू-समाज की वर्त्तमान विशृङ्खला के कारण आईन की सहायता के विना सर्वसाधारण की इस दुर्नीति को रोकने की इच्छा या अन्य कोई उपाय किसी तरह सफल नहीं हो सकता।

वहुविवाह की प्रथा को उठा देने के लिए नदिया के राजा, दिनाजपुर के महाराज और कलकत्ता, हुगली, मेदिनीपुर, वर्द्धवान, नदिया, यशोहर आदि अनेक स्थानों के वहुत से प्रतिष्ठित पुरुषों ने गवर्नमेंट के निकट प्रार्थना की थी। ढाके के ज़मींदार वावू राजमोहन राय ने ख़ास कर वहुविवाह और साधारणत: विवाह-सम्वन्धी अनेक प्रकार के कुसंस्कार मिटाने के लिए जो आवेदन-पत्र भेजा था उस पर वहुत से विद्वानों और पण्डितों ने हस्ताक्षर किये थे। इस आवेदनपत्र में एक जगह पर लिखा है —

"That female children, married under the circumstances, commonly continue after marriage to live with their parents, their nominal husbands generally taking no notice of them and having no communication with them; but that, in the event of the death of their husbands, they are subject to all

the disabilities which law and custom impose upon Hindu widows."—22nd July, 1856.

अर्थात्, बालिकाएँ उल्लिखित प्रकार के वृद्ध, असमर्थ, जीविका-हीन और हीन-चरित्र के आदमियों के साथ विवाह-बन्धन में बँध-कर अन्त को जन्म भर क्लेश सहती हुई पिता के घर रहती हैं। इन्हें केवल पति का नाम सुन लेने का ही सौभाग्य प्राप्त होता है। वे पति इनके साथ न कोई सम्बन्ध रखते हैं और न इनकी खबर ही लेते हैं। किन्तु इस प्रकार लोगों के मुँह से सुने हुए अपरिचित स्वामी के मरने पर इन स्त्रियों को आईन और समाज-शासन के भय से वैधव्य-जीवन के सब प्रकार के दुख-कष्ट भोगने के लिए लाचार होना पड़ता है!

विद्यासागर ने अपने बहुविवाह-विषयक ग्रन्थ में हुगली ज़िले के रहनेवाले बहुविवाह करनेवाले कुलीन ब्राह्मणों की जो सूची दी है उसे देखने से जान पड़ता है कि ८६ गाँवों के १९७ कुलीन-सन्तानों ने उस समय बहुविवाह किये थे। इन्होंने सब मिलाकर १२८८ स्त्रियों से विवाह करके उनमें से अधिकांश को सदा के लिए दुःख की आग में जलने के लिए लाचार कर दिया था। हुगली ज़िले में एक जनाई गाँव है। उसमें बहुत से प्रतिष्ठित प्रसिद्ध भद्र पुरुष रहते हैं। वहाँ के ६४ कुलीनों ने १६२ ब्याह किये थे। इनमें सबसे अधिक ब्याह करनेवाले दो महात्मा थे। उन्होंने दस-दस विवाह किये थे। सारे हुगली ज़िले में बहुविवाह से विपन्न स्त्रियों का हिसाब लगाने से हर एक महात्मा के हिस्से में ग्यारह से अधिक स्त्रियों की औसत पड़ती है। इनमें सबसे अधिक विवाह करके जिन महाशय ने अपने कौलीन्य की रक्षा की थी वे जब ५५ वर्ष के थे तब बीस विवाह कर चुके थे। मालूम नहीं, जीवन के अवशिष्ट

भाग में शेष अस्सी विवाह करके ये अपने पौरुष का परम परिचय देने में समर्थ हुए या नहीं। विद्यासागरजी की उक्त पुस्तक के अन्तर्गत यह सूची देखने से जान पड़ता है कि ऐसे बहुविवाह करनेवालों में जो अवस्था में सबसे छोटे महापुरुष थे वे, अट्ठारह वर्ष की अवस्था में, ग्यारह स्त्रियों के सौभाग्य का कारण बन चुके थे। ऐसे ही अन्य एक महात्मा ने बीस वर्ष की अवस्था में सोलह स्त्रियों को सनाथ करने का पुरुषार्थ दिखाया था। विद्यासागर ने विक्रमपुर-प्रान्त के बहुविवाह की दो सूचियाँ बड़े परिश्रम से बनाई थीं। वे अभी छपी नहीं हैं। उनको पढ़ने से पाठकों को बड़ा ही विस्मय होता। यहाँ पर उन अप्रकाशित सूचियों से कई एक विस्मयमयी घटनाओं का हाल उद्धृत किया जाता है। ढाका, बरीसाल श्रौर फ़रीदपुर ज़िलों के १७७ गाँवों की ये सूचियाँ हैं। इन गाँवों के बहुविवाह करनेवाले महाशयों की संख्या ६५२ है। इन्होंने सब मिलाकर ३५८८ विवाह किये। हर एक के हिस्से में साढ़े पाँच-पाँच श्रौरत की श्रौसत पड़ती है। इनमें सबसे अधिक कौलीन्य-मर्यादा की रक्षा करके बङ्गाल के सामाजिक इतिहास में अक्षय-कीर्त्ति की घोषणा करनेवाले महाशय का नाम ईश्वरचन्द्र मुखोपाध्याय है। ये बरीसाल ज़िले के अन्तर्गत कलसकाटी गाँव में रहते थे। जिस समय उल्लिखित सूचियाँ बनी थीं उस समय इनकी अवस्था पचपन वर्ष की थी श्रौर ये केवल १०७ ब्याह कर चुके थे! उसके बाद जीवन की अन्तिम घड़ी तक इन्होंने श्रौर कितनी स्त्रियों को सनाथ किया होगा, सो परमेश्वर ही जाने।

एक बार, जब मैं लखनऊ में था, वाजिदअली शाह का राज-भवन क़ैसरबाग़ देखने गया। मैंने चारों श्रोर अनेक दोमंज़िले मकानों का सिलसिला देखकर अपने साथियों से पूछा—इतने सुग-

ठित सुन्दर मकान एक ही सिलसिले में क्यों बने हैं? उत्तर मिला कि इनमें बादशाह की बेगमें रहती थीं। बादशाह के सैकड़ों स्त्रियाँ सुनकर उस नई जवानी की अवस्था में जो विषाद हुआ था वह आज तक मुझे नहीं भूला। किन्तु आज अधेड़ अवस्था में, अपने देश में, अपने समाज में, आत्मीय स्वजनों के द्वारा इस निन्दनीय कर्म्म (बहुविवाह) का होना देखना पड़ता है। इसको देखकर आश्चर्य तो होता ही है, किन्तु उसके साथ ही इस दुष्कर्म के परिणाम को सोचकर गहरी ग्लानि और क्षोभ से हृदय हिल उठता है। आज मेरी समझ में यह बात आती है कि नवाब की सब माफ़ है; क्योंकि वे नवाब ही थे। नवाबी मामले ही जुदे होते हैं। उनके सुखभोग के माफ़िक़ उनका ऐश्वर्य और सम्पत्ति थी। फिर उनकी बेगमें जो चाहे सो कर सकती थीं, मनमाना खा-पी-पहन सकती थीं। किन्तु जिनको पग-पग पर पराया मुँह ताकना पड़ता हो, ऐसी स्त्रियों को ब्याहकर जो लोग धर्म, कर्म या सुखभोग की लालसा से किसी दिन भूलकर भी उस स्त्री के घर जानेवाले नहीं, उनको क्या अधिकार है कि वे सुकोमल बालिकाओं के सुख के सपने को मिटाकर उन्हें दारुण मानसिक ताप और यन्त्रणा के अग्निकुण्ड में डालकर जन्म भर जलावें? स्त्री या उसके आत्मीय स्वजनों के सञ्चित धन को पैर धुलाने की दक्षिणा में लेना और धन मिलने की आशा न होने पर प्रतिपदा के चन्द्र की तरह अदृश्य होना जिनका काम है उन पाषाण-हृदय मनुष्यों को क्या अधिकार है कि वे सहिष्णुता की साक्षात् मूर्त्ति स्त्रियों के हृदय पर निराशा का दारुण वज्र चलावें? इस अमानुषिक निष्ठुर आचरण को अपनी आँखों से देखकर अबलाओं के सुहृद् विद्यासागर ने बङ्गाल-व्यापी आन्दोलन में शामिल होकर यह प्रश्न किया था कि जिन्हें जीवन भर में एक दिन

के लिए भी पतिदर्शन का सौभाग्य प्राप्त करना असम्भव है उनकी दुःख-दुर्दशा बढ़ाने का तुमको क्या अधिकार है ? यदि दैवसंयोग से केवल एक ही आदमी १०७ ब्याह करता तो वह दूसरी बात थी। किन्तु जब देखते हैं कि और एक आदमी ने पचास वर्ष की अवस्था तक ५० ब्याह किये, एक आदमी ने पैंतीस वर्ष की अवस्था तक ४० ब्याह किये, एक आदमी ने पैंतीस वर्ष की अवस्था तक ३५ ब्याह किये तथा और एक आदमी ने सत्ताईस वर्ष की अवस्था तक १४ ब्याह किये तब आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। किन्तु यदि इतना ही होता तो चाहे मन के क्लेश को मन में ही रखकर इस सामाजिक नीति की सहस्रमुख होकर स्तुति भी करते। परन्तु हाय! यहीं पर इस निष्ठुर आचरण की इतिश्री नहीं हुई। और भी जो कुछ है वह लिखते लज्जा लगती है। एक बारह वर्ष का बालक कुलमर्य्यादा की रक्षा के लिए दो विवाह कर चुका था! आशा है, इतने से पाठकों को देशाचार की शक्ति मालूम हो गई होगी। विद्यासागर की इस उक्ति का मतलब उनकी समझ में अच्छी तरह आ गया होगा कि "हा अबलाओ! किस पाप से तुम भारतवर्ष में पैदा होती हो!" सूची देखने से ज्ञात होता है कि और एक बारह वर्ष के लड़के के पाँच ब्याह और एक दूसरे बारह वर्ष के लड़के के छः ब्याह हो चुके थे। एक पाँच वर्ष के बालक के दो ब्याहों की बात सुनकर पाठकों को शायद विश्वास न होगा; किन्तु उक्त सूची में नाम-धाम सहित स्पष्ट अक्षरों में उल्लिखित बालक का परिचय दिया हुआ है। इतनी थोड़ी अवस्था में जनेऊ होना भी कठिन है, किन्तु धन्य है बङ्गदेश की कौलीन्य-प्रथा कि उसके दो-दो ब्याह भी हो गये! बङ्गाल के कुलीन ब्राह्मणों ने धन के लोभ से ऐसे धर्मविरुद्ध और नीति-निन्दित कार्य किये हैं कि उनका ख़याल आते ही शरीर में

रोमाञ्च हो आता है; क्षोभ और ग्लानि से हृदय हिल उठता है और संसार के आगे मुख दिखाने को जी नहीं चाहता। देव-भूमि भारत में ऐसे दारुण निर्मम व्यवहार का होना देखकर किस समझदार की छाती न फटने लगेगी? जहाँ मनु के इस वचन को माननेवाले लोग रहते हों कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।" वहाँ स्त्रियों की ऐसी दुर्दशा! स्त्रियों के इस अपमान और दुर्दशा पर ध्यान देने से लज्जा के मारे सिर नीचा हो जाता है, घूमने-फिरने और हँसने-बोलने को जी नहीं चाहता। इसी से शायद विद्यासागर ने अपना जीवन इस स्त्रियों के ऊपर घोर अत्याचार को रोकने में ही लगा दिया। उन्होंने स्वयं जिस घटना का उल्लेख करके अपने हृदय के आर्त्तभाव का परिचय दिया है वह घटना, उन्हीं के शब्दों में, यहाँ पर पाठकों को सुनाई जाती है।

"भंगकुलीन (जिनका कौलीन्य घट गया है) के चरित्र के सम्बन्ध में यहां पर एक अपूर्व घटना का वर्णन किया जाता है। एक व्यक्ति* दोपहर को अपने घर में भोजन करने गया। उसने देखा कि भोजन के चौके के पास दो अपरिचित स्त्रियाँ बैठी हुई हैं। उनमें एक ६० वर्ष के लगभग और दूसरी १८-१९ वर्ष की होगी। उनके आकार और कपड़े से उनकी दुर्दशा का दृश्य स्पष्ट झलक रहा था। उस व्यक्ति ने अपनी मा से पूछा—"अम्मा, ये कौन हैं? किस लिए यहाँ आई हैं?" माता ने बुढ़िया की ओर उँगली उठाकर कहा कि ये चटर्जी की स्त्री हैं और वह उनकी लड़की है। ये तुमसे अपना दुःख कहने आई हैं और इसी से यहाँ बैठी हैं।

"चटर्जी दो पुश्त के भंगकुलीन हैं। ५-६ ब्याह कर चुके हैं। वे अमुक स्त्री के मायके से मासिक वृत्ति पाते हैं, इसलिए उसका

* यह एक व्यक्ति स्वयं विद्यासागर ही थे।

यथेष्ट आदर करते हैं। चटर्जी के यहाँ उनकी बहन, भानजे और भानजियाँ रहती हैं। कोई स्त्री कभी उनके घर नहीं आई।

"उन दोनों स्त्रियों के आकार और कपड़े देखकर उस व्यक्ति को बड़ा दुःख हुआ। उसने खाना छोड़कर उन स्त्रियों की राम-कहानी सुनना शुरू कर दिया। बुढ़िया ने कहा—मैं चटर्जी की स्त्री हूँ। यह उनकी कन्या मेरे पेट से पैदा हुई है। मैं मायके में रहती थी। कुछ दिन हुए, मेरे लड़के ने कहा—'माँ, मैं अब तुम दोनों को खाना-कपड़ा न दे सकूँगा।' मैंने कहा—'बेटा, कहते क्या हो? मैं तुम्हारी माँ हूँ और यह तुम्हारी बहन है। तुम खाने-पहनने को न दोगे तो हम किसके पास भीख माँगने जायँगी? तुम एक (स्त्री) को अन्न दोगे और एक को न दोगे, इसका क्या कारण है? बेटा, पृथ्वी पर हमको भोजन-वस्त्र देनेवाला और कौन है?' यह सुनकर पुत्र ने कहा—'तुम मा हो; तुमको, जिस तरह होगा, मैं खाना-कपड़ा दे सकता हूँ। किन्तु उस (बहन) के भरण-पोषण का भार मैं नहीं उठा सकता।' मैंने क्रोध करके कहा—'तो क्या तुम उसे + + + हो जाने के लिए कहते हो?' पुत्र ने कहा—'मैं यह नहीं जानता; तुम उसका अलग प्रबन्ध करो।' इसी कारण पुत्र के साथ दिन-दिन खटकती गई और अन्त को लाचार होकर लड़की को साथ लेकर मुझे वहाँ से निकल जाना पड़ा।

"कुछ दिन पहले सुना था कि मेरी मौसेरी बहन के यहाँ एक रसोई बनानेवाली की ज़रूरत है। वही काम करने के इरादे से हम मा-बेटियाँ वहाँ पहुँचीं। किन्तु हमारे अभाग्य से दो-चार दिन पहले ही उनके यहाँ एक महराज़िन नौकर हो चुकी थी। तब तो बड़ी मुशकिल का सामना हुआ। क्या करें, कहाँ जायँ, इसी सोच में पड़ गई। मैंने सोचा कि अमुक गाँव में मेरे पति की एक स्त्री

है। उनके गर्भ से उत्पन्न लड़के के पास ख़ूब धन है। वह ख़ुद कारोबारी है। वह दयालु और धर्मात्मा भी है। मैंने अपने मन में कहा कि यद्यपि मैं विमाता हूँ और यह वैमात्र बहन है, तथापि उसकी शरण में जाकर अपना दुःख सुनाने से अवश्य वह सहायता करेगा। यह सोचकर अन्त को मैं उसके पास गई। सब हाल सुनाकर रोते-रोते मैंने कहा—बेटा, तुम दया न करोगे तो फिर हमको और कहीं ठिकाना नहीं है।

"मेरा दुख देखकर उस सौत के लड़के को दया आ गई। उसने बड़े स्नेह और दया के साथ कहा—'जब तक तुम जिओगी; मैं तुम्हारा भरण-पोषण करूँगा।' इस धीरज बँधाने से मैं प्रसन्नता से गद्गद हो गई। मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। यथोचित आदर से उसने हमें रक्खा। किन्तु उस लड़के के घर की औरतें वैसे मिज़ाज की न थीं। वे हर घड़ी 'यह आफ़त कहाँ से आ गई?' कहकर हमारा अनादर और अपमान करने लगीं। उस लड़के को धीरे-धीरे सब हाल मालूम हो गया; मगर वह किसी तरह उन स्त्रियों के अत्याचार को न रोक सका। एक दिन मैंने उसके पास जाकर सब हाल कहा। उसने कहा—मा, मैं सब जानता हूँ, किन्तु इसका कोई उपाय मुझे नहीं सूझता। आप किसी और जगह जाकर रहें। महीने-महीने मेरे पास आदमी भेज देना, मैं आपको कुछ सहायता दिया करूँगा।

"इस प्रकार जवाब मिलने पर मैं लड़की को लेकर वहाँ से भी चल दी। पृथ्वी पर अन्धकार ही अन्धकार सूझने लगा। अन्त को सोचा, स्वामी मौजूद हैं, उनके पास चलूँ, शायद वे दया करें। यह सोचकर ५-७ दिन हुए, यहाँ आई हूँ। आज उन्होंने साफ़ जवाब दे दिया कि मैं तुमको न तो यहाँ रख सकता हूँ और न

भोजन-वस्त्र हा दे सकता हूँ। कई आदमियों ने कहा कि तुम्हारे पास आकर दुख रोने से कोई उपाय हो सकता है। इसलिए हम यहाँ आई हैं।

"उक्त व्यक्ति यह सुनकर क्रोध और दुःख से अत्यन्त अधीर होकर आँसू बहाने लगे। कुछ देर बाद वे चटर्जी के घर गये और उन्हें ख़ूब फटकारकर कहा कि 'आपका यह आचरण देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है? आप क्या समझकर इन अबलाओं को घर के बाहर निकाले देते हैं? स्पष्ट बतलाइए कि आप इन्हें रक्खेंगे या नहीं?' इस व्यक्ति के रँग-ढँग देखकर चटर्जी कुछ डरे। उन्होंने कहा—तुम घर चलो, मैं सोच-विचार कर तुम्हारे पास आता हूँ।

"तीसरे पहर चटर्जी ने उस व्यक्ति के पास आकर कहा कि 'अगर तुम हर महीने इनके लिए कुछ वृत्ति दो तो मैं इन्हें रख सकता हूँ।' उस व्यक्ति ने उसी समय चटर्जी का कहना मान लिया और तीन महीने की वृत्ति उसी समय चटर्जी के हाथ में रखकर कहा कि 'इसी तरह तिमाही तिमाही पर आप पेशगी वृत्ति ले लिया कीजिए। इसके सिवा इनके पहनने के लिए कपड़े मैं देता रहूँगा।' चटर्जी अब कुछ उज़्र न कर सके। लाचार उन्हें स्त्री और कन्या को घर ले जाना पड़ा। चटर्जी ख़ुद बुरे मिज़ाज के आदमी न थे, किन्तु उनकी बहनें भारी डकैत थीं। उन्हीं के डर और सलाह से उन्होंने पहले स्त्री और कन्या को सूखा जवाब दे दिया था। जब बहनों ने यह सुना कि जिस पुरुष से कुछ वृत्ति मिलती है वे ख़फ़ा हुए हैं और उन्हीं से मासिक कुछ और बढ़ा दिया है तब वे भी लाचार राज़ी हो गईं। चटर्जी अगर कभी किसी स्त्री को घर में लाकर रखने का इरादा ज़ाहिर भी करते थे तो बहनें नाराज़ होती थीं।" इस कारण वे कभी अपना इरादा पूरा नहीं कर सके।

भंगकुलीनों के यहाँ वहनें, भानजे और भानजियाँ परिवार में गिने जाते हैं और स्त्री, पुत्र, कन्या आदि के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

"जो हो, उक्त व्यक्ति उन दोनों मा-वेटियों की इस प्रकार व्यवस्था करके दूसरी जगह चले गये, और समय-समय पर मासिक सहायता भेजने लगे। कुछ दिनों वाद घर जाने पर उक्त व्यक्ति ने उन दोनों स्त्रियों के वारे में जाँच की तो मालूम हुआ कि चटर्जी और उसकी वहनों ने यह निश्चय किया कि वृत्तिदाता ने जो नई सहायता शुरू की है वह पुरानी सहायता में शामिल हो गई। इसलिए अव वह किसी तरह वन्द नहीं हो सकती। इसी निश्चय के अनुसार वहनों के उपदेश से चटर्जी ने फिर स्त्री और कन्या को घर के वाहर कर दिया है। वे और कोई उपाय न देखकर दूसरी जगह रहती हैं। कन्या सुन्दर और सयानी है + + + + !! और माता के साथ मज़े में रहती है।"

इन वातों पर विचार करने से यह प्रश्न आप ही होता है कि इतनी दुर्दशा क्यों हुई? विद्यासागरजी ने स्वयं इसका कारण दिखाया है। वह अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"कौलीन्य-मर्यादा स्थापित होने के वाद, दस पीढ़ी गुज़र जाने पर, देवीवर घटक ने कुलीनों में तरह-तरह की विश्रृङ्खलाएँ उपस्थित होते देखकर 'मेलवन्धन' के द्वारा नई प्रणाली स्थापित की। अव मेलवन्धन के समय से दस पीढ़ियाँ गुज़र गई हैं। अतएव फिर कोई नई प्रणाली स्थापित करने का समय उपस्थित हुआ है। पहले ब्राह्मणों में विश्रृङ्खला उपस्थित देखकर वल्लाल सेन ने उसे ठीक करने के इरादे से कौलीन्य-मर्यादा स्थापित की थी। उसके वाद कुलीनों में विश्रृङ्खला उपस्थित देखकर देवीवर ने उसे ठीक करने के

लिए मेल-बन्धन की सृष्टि की। इस समय कुलीनों में जो तरह-तरह की विशृङ्खलाएँ उपस्थित हो गई हैं उन्हें ठीक करने का सिर्फ़ एक ही उपाय है कि सब लोग व्यर्थ का कुलाभिमान छोड़ दें। यदि वे अपने को सुबोध, धर्म से डरनेवाला और अपना मङ्गल चाहनेवाला समझते हों तो उन्हें चाहिए कि तुच्छ कुलाभिमान को छोड़कर कुलीन नाम के कलङ्क को मिटा दें। और, यदि वे कुलाभिमान के छोड़ने को असाध्य या अविधेय समझते हों तो उनके लिए कोई नई व्यवस्था करना आवश्यक है। इस अवस्था में, शायद फिर 'सर्व्व-द्वारी' विवाह प्रचलित होने के सिवा कुलीनों की बचत का और कोई उपाय न होगा। ऐसा हो तो फिर किसी कुलीन को अकारण अनेक विवाह करने की आवश्यकता नहीं रहेगी; कोई कुलीन-कन्या जन्म भर या बहुत दिनों तक कुमारी रहकर पिता को नरकगामी न बनावेगी। साथ ही सरकारी नियम बनवाकर बहुविवाह की प्रथा बन्द कर दी जायगी तो कोई हानि या असुविधा न होगी। इस बारे में कुलीनों और उनके पक्षपातियों को ध्यान देकर यत्न करना चाहिए। अनर्थ और अधर्म की जड़ ऐसे कुलाभिमान की रक्षा के लिए अन्धे और अबोध की तरह सहायता करने की अपेक्षा, जिनके द्वारा कुलीनों का धर्मनाश और घोर अनर्थ होता है उन दोषों को दूर करने की चेष्टा करना बुद्धि, विवेचना और धर्म्म का काम होगा।"

यह तो सब पाठकों ने सुना, लेकिन अभी इससे भी बढ़कर कुछ सुनना बाक़ी है। किसी को विश्वास ही न होगा कि मनुष्य से ऐसा काम हो सकता है। किन्तु निम्नलिखित बातें बिलकुल सच हैं।

दूध पीना भी जिसने शायद न छोड़ा होगा ऐसे चार वर्ष के बालक का ब्याह हो चुका था! ऐसे ही एक बालक के दो ब्याह हो चुके थे!! और एक बालक ऐसा भाग्यशाली था कि चार वर्ष की

अवस्था में पाँच बालिकाओं का स्वामी बन चुका था !!! पहले बहुत सी अपूर्व कहानियाँ सुनी थीं, किन्तु ऐसी विचित्र कहानी भी कभी नहीं सुनी। इस बात पर विचार करने से अपनी उदासीनता पर घृणा और समाज की स्वार्थपरता पर क्रोध हुए बिना कभी नहीं रह सकता। जी चाहता है कि ऐसे देशाचार का मूलोच्छेद किये बिना जल ग्रहण न करें। पाठक, ज़रा अपने मन में सोचकर देखिए, सौन्दर्य की कान्ति से सुशोभित नौजवान सुन्दरी जब घृणा और सन्ताप के आँसुओं से वक्षःस्थल को भिगाते हुए पाँच वर्ष के बालक के साथ भाँवरी फिरी होगी तब उसकी गर्म साँसों से समाज का कल्याण नष्ट हुआ होगा या नहीं ? कौन कह सकता है कि पाँच वर्ष के बालक की पाँचवीं स्त्री जवानी में चूर न थी और उसके सन्तप्त हृदय की आग से गर्म आँसुओं से विवाहमण्डप की भूमि नहीं भीगी थी ? देशाचार के ग़ुलाम बङ्गाली क्या नहीं जानते कि नारी-हृदय-सुलभ संसार-सुख भोगने की कामना के कुसुम जिस समय पूर्ण-रूप से खिले होते हैं, उस समय उस सुखस्मृति के मलयपवन के झकोरों से विषाद की आग सुलगाकर पूर्णयौवना बङ्गललनाएँ अस्सी बरस के बुड्ढे की मृत्युशय्या को अपनी विवाहशय्या बनाती हैं ! वृद्ध कुलीन महाशय मृत्यु के मुख में जाते-जाते अनेक कन्याओं की आशा पर पानी फेर जाते हैं ! स्त्रियों के हृदय से निकली हुई इस दारुण मर्मवेदना ने विद्यासागर के हृदय में सहानुभूति का सञ्चार किया था। इसी से उन्होंने स्त्रियों पर होनेवाले अत्याचार को रोकने में अपना जीवन लगा दिया। धन्य हैं विद्यासागर !

अनेक लोग यह कह सकते हैं कि जिस समय यह सूची बनाई गई थी तब से तो बहुत दिन बीत गये। उसे भूल जाना ही अच्छा है। ऐसे पुराने आचारों की आलोचना करने से कोई लाभ नहीं। इसके

उत्तर में हमारा वक्तव्य यह है कि विद्यासागर की बनाई सूची की बात जाने दीजिए। वह बे-शक पुरानी है। लेकिन बहुविवाह की एक नई सूची भी है, उससे यह मालूम होता है कि यह दुराचार अभी तक वैसा ही बना हुआ है। बहुत थोड़े दिन हुए, बँगला सन् १२-६८ में, 'सञ्जीवनी' पत्रिका में असंख्य वङ्ग-रमणियों की दुःख-कहानी लगातार कई अङ्कों में प्रकाशित हुई थी। हम यहाँ पर उसका सारांश उद्धृत किये देते हैं। बर्दवान, बाँकुड़ा, वीरभूम, हुगली, मेदिनीपुर, चौबीस परगना, कलकत्ता, नदिया, यशोहर, बरीसाल, फ़रीदपुर, ढाका आदि बङ्गाल के प्रायः सभी ज़िलों के २७६ गाँवों के बहुविवाह करनेवाले महाशयों की जो सूची इस लेख में दी गई है उसे देखने से जान पड़ता है कि इन गाँवों के १०१३ कुलीनों ने ४३२३ कुलीन-कन्याओं के साथ विवाह किया है। हर एक के हिस्से में साढ़े चार-चार स्त्री की औसत पड़ती है। उल्लिखित ईश्वरचन्द्र मुखोपाध्याय को छोड़ देने से भी १०, १२, १५, २०, २५, ३०, ३५, ४०, ४५, ५० ब्याह करनेवालों की कमी नहीं है। ६०, ६५, ६७ ब्याह करनेवाले महापुरुष भी हैं। ऐसे लोगों के नाम-धाम का उल्लेख करने के लिए स्थानाभाव है। केवल इतना ही मैं कहना चाहता हूँ कि इस समय भी ऊपर लिखे हुए विवाहों की तरह छोटे-छोटे बच्चों के कई-कई विवाह होते चले जाते हैं। इस बारे में लोगों की रुचि में विशेष परिवर्त्तन नहीं देखा जाता। एक महाशय ने ३४ वर्ष की अवस्था में ३५ स्त्रियों को सनाथ करने की बहादुरी दिखलाई है। २७ वर्ष की अवस्था के एक पुरुष ने १२, २५ वर्ष की अवस्था के एक पुरुष ने ७, २२ वर्ष की अवस्था के एक पुरुष ने ८, और २० वर्ष की अवस्था के एक पुरुष ने ८ ब्याह किये हैं! तब कैसे कहा जा सकता है कि इस बारे में लोगों ने विशेष ध्यान दिया या कुछ प्रतीकार किया है? अच्छा,

अगर इतना ही होता तो कहते कि कुछ परिवर्त्तन हुआ है। किन्तु इतना ही नहीं है, इससे भी अधिक चिन्ता की एक बात है। वह चिन्ता की बात यह है कि वर्त्तमान समय के सामाजिक नेता लोग विद्यासागर के स्वर्गवास के बाद यदि उनके आदर्श पर दयापूर्वक इन बातों की खोज करते और इस दुर्नीति को दूर करने का कुछ उपाय सोचते तो आशा की जाती कि किसी समय यह कुप्रथा निर्मूल हो जायगी। किन्तु यहाँ तो धड़ाधड़ बहुविवाह हो रहे हैं, और कोई चूँ तक नहीं करता; स्त्रियों का दुःख दूर करने के लिए, उनके आँसू पोंछने के लिए, कोई भी कुछ यत्न नहीं करता! आज विद्यासागर नहीं हैं तो क्या यह सूची देखकर आँसू बहानेवाला कोई भी नहीं है? इस समय भी देख पड़ता है कि १४, १५, १६, वर्ष के बालक अनेक स्त्रियों के साथ ब्याह करके प्राचीन पद्धति की रक्षा करते जाते हैं। एक सोलह वर्ष के बालक के ३, एक पन्द्रह वर्ष के बालक के २ और एक दूसरे बालक के ३ विवाह हो चुके हैं। एक चौदह वर्ष के बालक ने दूसरा ब्याह किया है। 'सञ्जीवनी' में प्रकाशित तालिका में भी चार वर्ष के बालक के तीन विवाहों का उल्लेख पाया जाता है। हम समझते हैं कि हमारे लम्बे-चौड़े लेक्चरों और लेखों से देश की और समाज की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होती जाती है। किन्तु हमको यह नहीं सूझता कि देश के सर्वनाश का कारण जो इस प्रकार की कुप्रथाएँ हैं वे इसी तरह जारी हैं। स्त्रियों की दुःख-कहानी सुनकर दुःखित होनेवाला भी कोई नहीं देख पड़ता; कुछ यत्न करने की बात तो बड़ी दूर है। क्या राममोहन राय या विद्या-सागर फिर बङ्गाल में न पैदा होंगे? विद्यासागर की ओजस्विनी भाषा क्या बङ्गालियों के हृदय को इन कुप्रथाओं के विरुद्ध उत्तेजित न करेगी? भाइयो, आओ, हम सब मिलकर इन अनीतियों को

समाज से उठा देने की चेष्टा करें। विद्यासागरजी का परलोकवासी पवित्र आत्मा हमारे उद्यम और आग्रह को देखकर आशीर्वाद देगा।

सबसे बढ़कर दुःख की बात तो यह है कि इस बहुविवाह की अनीति को आश्रय देनेवाले लोगों की सूची में १०-१२ उच्च शिक्षित पुरुषों के नाम भी पाये जाते हैं। इनमें ३ एम० ए० बी०-एल्०, १ बी०-एल्० और बी० ए० हैं। ये ही अगर ऐसी कुरीति को आश्रय देंगे तो फिर प्रतीकार की आशा कहाँ? यह देखकर जी चाहता है कि ख़ूब जी खोलकर रोवें और कहें—माता जन्मभूमि, तुम्हारे भाग्य में अभी और भी दुःख भोगना बदा है। तुम्हीं अपने किसी सपूत को पुकारकर इस अन्याय को मिटाने के काम में अग्रसर करो। हम सहज में उठकर खड़े होनेवाले नहीं हैं। तुम्हारे पुकारने से शायद हमें कुछ चेत हो।

बल्लालसेन ने अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिए कौलीन्यप्रथा चलाई थी। देश के दुर्भाग्य से उनकी वह आशा सफल नहीं हुई। जिस ढँग से काम करने पर कौलीन्य-मर्यादा सुरक्षित रहती और कल्याणकारिणी होती उसकी आलोचना का प्रयोजन नहीं है। जैसा कुछ हुआ है, उसी का उल्लेख करना हमारा उद्देश्य है। देवीवर घटक ने मेलबन्धन स्थापित करके बङ्गाल के कुलीन ब्राह्मणों का और भी सर्वनाश कर डाला। कौलीन्यप्रथा की देवीवर के हाथों और भी अधोगति हो गई। कुलीनों में सर्वद्वारी विवाह की प्रथा उठ जाने से ये तरह-तरह के अनिष्ट हुए हैं। विद्यासागर इस कौलीन्य की संकीर्णता को दूर करने के लिए बहुत दिनों तक आन्दोलन करते रहे। सन् १८५६ ई० में उन्होंने बहुविवाह-सम्बन्धी आन्दोलन शुरू किया था। यह आन्दोलन अनेक प्रकार से बीस वर्ष तक जारी रहा। गवर्नमेंट के निकट दुबारा आवेदनपत्र भेजने के समय भी २१००० के

लगभग हस्ताक्षर हुए थे। यह आवेदन कौलीन्यप्रथा उठा देने के लिए किया गया था। इस प्रार्थनापत्र में कृष्णनगर के महाराज सतीशचन्द्र राय आदि बहुत से प्रतिष्ठित पुरुषों ने हस्ताक्षर किये थे। उनमें से कुछ प्रतिष्ठित और सुपरिचित लोगों के नाम नीचे दिये जाते हैं। यथा—महाराज सतीशचन्द्र, रायबहादुर, नदिया। सत्यशरण घोषाल, भूकैलास। प्रतापचन्द्र सिंह, कान्दी। जयकृष्ण मुखोपाध्याय, उत्तरपाड़ा। पूर्णचन्द्र राय, सेवड़ापुरी। शारदाप्रसाद राय, चकदीघी। यज्ञेश्वरसिंह, भास्ताड़ा। राजकुमार राय चौधरी, बारीपुर। शिवनारायण राय, जाड़ा। उमाचरण राय चौधरी, राधानगर। राय प्रियनाथ चौधरी, ढाका। विजयकृष्ण मुखोपाध्याय, उत्तरपाड़ा। पण्डित शम्भुनाथ। देवेन्द्रनाथ ठाकुर। रामगोपाल घोष। हीरालाल शील। श्यामाचरण मल्लिक। राजा राजेन्द्र मल्लिक। राजेन्द्र दत्त। नरसिंह दत्त। कालीप्रसन्न सिंह। कालिदास दत्त। राजेन्द्र दत्त। गोविन्दचन्द्र सेन। हरिमोहन सेन। रामचन्द्र घोषाल। माधवेन्द्र सेन। ईश्वरचन्द्र घोषाल। कृष्णकिशोर घोष। जगदानन्द मुखोपाध्याय। द्वारिकानाथ मित्र। अन्नदाप्रसाद बन्द्योपाध्याय। दयालचन्द मित्र। डा० राजेन्द्रलाल मित्र। प्यारीचाँद मित्र। महाराज दुर्गाचरण लाहा। द्वारकानाथ मल्लिक। नेत्रमोहन चट्टोपाध्याय। शिवचन्द्र देव। गिरीशचन्द्र घोष। भरतचन्द्र शिरोमणि, संस्कृत-कालेज। तारानाथ तर्कवाचस्पति, संस्कृत-कालेज। व्रजनाथ विद्यारत्न, नदिया। प्रसन्नचन्द्र तर्करत्न। श्यामाचरण सरकार। देवेन्द्र मल्लिक। मुरलीधर सेन। रामनाथ लाहा। माधवकृष्ण सेठ। श्यामाचरण दे। प्रियनाथ सेठ। कालीकृष्ण मित्र। प्यारीचरण सरकार। प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी। कृष्णदास पाल। कृष्णकमल भट्टाचार्य्य। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। इत्यादि।

सन १८६६ को १९ वीं मार्च को तत्कालीन बङ्गाल के लाट सर सिसिल बीडन के पास यह आवेदनपत्र ले जाने के लिए जो मण्डली बनी थी उसके मेम्बरों के कथन का सारांश यहाँ पर लिखा जाता है। यथा—"इस अत्यन्त घृणित और अनिष्टकारी बहुविवाह की प्रथा को उठा देने के लिए नव बरस पहले २५००० आदमियों के हस्ताक्षर कराकर एक आवेदन-पत्र व्यवस्थापक-सभा में भेजा गया था। इस बुरी प्रथा के अनिष्टकारी होने के बारे में नये सिरे से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इससे पहले जो आवेदन-पत्र भेजा गया था उसमें अत्यन्त विस्तार के साथ इन बातों की आलोचना की जा चुकी है और हम हस्ताक्षर करनेवालों में से अनेक लोगों ने उस आवेदनपत्र पर हस्ताक्षर किये थे। सुयुक्ति और धर्म-शास्त्र इस सामाजिक कुरीति के उठा देने का अनुमोदन करते हैं। आप भी इसे उठा देने का यत्न करेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। ख़ासकर ऐसे संस्कार के काम के गौरव का अनुभव करके जब इतने लोग प्रार्थना कर रहे हैं तब इसकी आवश्यकता और इसमें हस्तक्षेप करने का युक्तियुक्त होना और भी प्रबलरूप से प्रमाणित होता है।"

राजा सत्यशरण घोषाल ने यह आवेदनपत्र और महाराज महताबचन्द बहादुर ने एक और आवेदनपत्र लाट साहब को दिया था। बङ्गाल के चुने हुए बीस-बाईस आदमी और भी साथ में थे। उनमें पण्डित भरतचन्द्र शिरोमणि, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, द्वारकानाथ मित्र, प्यारीचरण सरकार, प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी, कृष्णदास पाल, जगदानन्द मुखोपाध्याय, महाराज दुर्गाचरण लाहा आदि के नामों का उल्लेख देख पड़ता है।

राजा सत्यशरण घोषाल इस डेप्यूटेशन के मुखिया थे। उनके आवेदनपत्र पढ़ने के बाद छोटे लाट सर सिसिल बीडन ने उसके

उत्तर में आशाप्रद वाक्य सुनाकर कहा था—"सन् १८५७ में सिपाहीविद्रोह न होता तो सर जान ग्रान्ट ही इस काम को पूरा कर जाते। मैंने उस समय भी इसके लिए यथाशक्ति चेष्टा की थी, और अब भी करूँगा।" किन्तु खेद की बात है कि इस बार भी, विद्यासागर के बहुत चेष्टा करने पर भी, बहुविवाह की प्रथा नष्ट नहीं हुई। तब उन्होंने अन्य उपाय से यह कार्य सिद्ध करने का उद्योग किया। विद्यासागर ने यह पता लगाना शुरू किया कि कुलीन लोग इस प्रथा का मूलोच्छेद करने के लिए सहमत होते हैं कि नहीं। विद्यासागर की चेष्टा से सब होना सम्भव था और उन्होंने चेष्टा करने में कुछ कसर नहीं रक्खी। तारापाशा-निवासी बाबू रासविहारी मुखोपाध्याय देवीवर के मेलबन्धन को तोड़कर सर्वद्वारी विवाह प्रचलित करने के लिए सहमत हो गये थे। विद्यासागर ने उस समय के प्रतिष्ठित समाज के मुखियों को जो पत्र भेजा था उसकी नक़ल नीचे दी जाती है।

जयदेवपुर, भावाल, ढाका।

"नानागुणालङ्कृत

श्रीयुक्त राजा कालीनारायण रायबहादुर महाशय

मदनुग्राहकेषु—

विनयबहुमाननमस्कारपुरस्सरं निवेदनमिदम्। तारापाशा-निवासी श्रीयुत रासविहारी मुखोपाध्याय कलकत्ते में आये हैं। उनसे सुना कि कुलीनों में सर्वद्वारी विवाह प्रचलित करने के लिए वे उद्योग कर रहे हैं। उन्होंने स्वयं सबसे पहले इस प्रथा से ब्याह करना-कराना अङ्गीकार किया है। वे कहते हैं कि इस मामले में महाशय का पूरा यत्न, उत्साह और मनोयोग है। इस काम को पूर्ण करने के लिए महाशय विशेष यत्न करेंगे। इसमें मुझे रत्ती भर सन्देह नहीं है।

मुखोपाध्यायजी की इच्छा है कि उल्लिखित कार्य्य सम्पन्न होने के समय में उपस्थित रहूँ। मैं उनके इस अनुरोध को मानने के लिए राज़ी हूँ। किन्तु महाशय का पत्र पाये विना मुझे वहाँ जाने का साहस न होगा। महाशय अनुग्रह-पूर्वक इस मामले में जैसा कहेंगे वैसा ही मैं करूँगा। मैं और दस-बारह दिन कलकत्ते में हूँ। उसके बाद एक काम से अन्यत्र जाऊँगा। मेरी अभिलाषा यह है कि यहाँ से जाने के पहले मुझे महाशय का पत्र मिल जाय।

मैं आषाढ़ में बहुत बीमार था। अब तब की अपेक्षा अच्छा हूँ। अपने कुशल-समाचार लिखने की कृपा कीजिएगा। किमधिकमिति १-६ पौष, सन् १२८२ (बँगला)।

अनुग्रहाकांक्षिणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।"

जाजिपाड़ानिवासी बाबू ताराप्रसन्न राय, माहुतटोली-ढाका के रहनेवाले बाबू रासविहारी राय और कालीपाड़ा ढाका के रहनेवाले बाबू श्यामाकान्त बन्द्योपाध्याय चौधरीजी को भी विद्यासागर ने इस पत्र की एक-एक प्रतिलिपि भेजी थी। इन सब पत्रों की इबारत और अन्तर एक हैं। नहीं कहा जा सकता कि कुलीन ब्राह्मणों में यह सर्वद्वारी विवाह की प्रथा प्रचलित करने का उद्योग कार्य में परिणत हुआ था या नहीं। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय भी अनेक स्थानों में कुलीनों की कन्याएँ पूर्वोक्त अवस्था में पड़कर दुःख और कष्ट भोग रही हैं। फिर यदि कोई पुण्यात्मा सहृदय पुरुष प्रकट होकर विद्यासागर के पदाङ्क का अनुसरण करे और दुःखदायक बहुविवाह के प्रवाह को रोक सके तो इसमें सन्देह नहीं कि बङ्गाल की असंख्य बालिकाएँ अपनी जवानी का सुख भोगती हुई

उस महापुरुष की पूजा करेंगी और अपने हृदय की कृतज्ञता के जल से स्नान कराकर उसे भक्ति की पुष्पाञ्जलि चढ़ायेंगी।

इन सब सामाजिक विषमताओं और इनके द्वारा होनेवाले स्त्री-जाति के क्लेशों को दूर करने के लिए विद्यासागर का हृदय क्यों व्याकुल रहता था, इसका गूढ़ कारण उन्होंने खुद अपने लिखे अस-माप्त और अप्रकाशित आत्मचरित में इस तरह लिखा है—"जिस व्यक्ति ने राईमणि की दया, सौजन्य आदि को देखा है और उनके इन सद्गुणों का सुख उठाया है वह यदि स्त्री-जाति का पक्षपाती न हो तो उसके बराबर कृतघ्न और नीच पृथ्वीमण्डल भर में और नहीं हो सकता।" विद्यासागर बचपन में स्त्रियों की सहिष्णुता, कोमलता और दया आदि गुणों का अनुभव प्राप्त कर चुके थे; इसी से वे जन्म भर स्त्री-जाति के कृतज्ञ और हितैषी रहे। उन्होंने स्त्री-जाति पर जहाँ जितना अत्याचार देखा वहाँ उतना ही पराक्रम प्रकट करते हुए उन्होंने स्त्री-जाति की हिमायत और दुःख दूर करने की चेष्टा की। वे अबलाओं का बल थे। उन्होंने अपने बहुविवाह-सम्बन्धी ग्रन्थ में एक जगह पर भारी खेद के साथ स्त्रियों के कष्ट का करुण चित्र खींचा है। उसका कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"सुना जाता है कि भारत के भूतपूर्व गवर्नर-जनरल लार्ड बेंटिंक ने सती की चाल उठाने के लिए दृढ़-सङ्कल्प होकर उस बारे में प्रधान-प्रधान राज-पुरुषों से उनकी राय माँगी थी। सब राज-पुरुषों ने स्पष्ट कह दिया कि इस मामले में हाथ डालने से भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सब लोग नाराज़ होंगे और निस्सन्देह विद्रोह मचा देंगे। महामति महापराक्रमी बड़े लाट यह सुनकर न तो डरे और न उन्होंने अपने उत्साह को ही कम किया। उन्होंने कहा—यदि इस प्रथा को उठा देने के बाद एक दिन भी हम लोगों

का राज्य रहे तो भी अँगरेज़ जाति के नाम का यथार्थ गौरव और राज्याधिकार सार्थक हो जायगा। लाट साहब ने प्रजा का दुःख देखकर दया के मारे आप ही से यह महान् कार्य्य पूरा कर डाला। इस समय भी हम उसी अँगरेज़-जाति के राज्य में बसते हैं। किन्तु अवस्था में कितना परिवर्त्तन हो गया है। जिस अँगरेज़-जाति ने स्वयं प्रवृत्त होकर, राज्य न रहने की आशङ्का को अग्राह्य करके, प्रजा का दुःख दूर किया था वह इस समय आपसे प्रवृत्त होना कैसा, प्रजा के बार-बार पुकारने पर भी ध्यान नहीं देती। हाय! 'ते हि नो दिवसा गताः', वे दिन चले गये।

"जो हो, इस आशङ्का से कि आवेदनकारी लोगों की इच्छा के अनुसार नियम बनाने से गवर्नमेंट इस प्रदेश के मुसलमान अथवा अन्यान्य प्रदेश के हिन्दू-मुसलमान दोनों तरह की प्रजा के निकट अपराधी होगी, या प्रजागण असन्तुष्ट होंगे, गवर्नमेंट का उक्त विषय से विमुख रहना कदापि माननीय नहीं हो सकता। अँगरेज़-जाति इतनी निर्वोध, इतनी असार, इतनी कायर नहीं है। सुना जाता है कि उन लोगों ने राज्यभोग के लोभ से इस देश पर अधिकार नहीं जमाया। इस देश की सर्वाङ्गीन उन्नति ही उनके यहाँ अधिकार जमाने का प्रधान उद्देश्य है।

"यहाँ पर एक कुलीन महिला के खेदपूर्ण वचनों का उल्लेख किये बिना जी नहीं मानता। इस कुलीन महिला के एक छोटी बहन भी थी। दोनों बहनों से मुझसे मुलाक़ात हुई तो बड़ी ने पूछा—'क्या फिर बहुविवाह की चाल उठा देने की चेष्टा हो रही है?' मैंने कहा—'केवल चेष्टा ही नहीं हो रही है, इस बार अगर तुम्हारी तक़दीर ने ज़ोर मारा तो हम लोगों को अवश्य सफलता प्राप्त होगी।' उस रमणी ने कहा—'यदि और कोई ज़ोर न हुआ तो तुम लोग

कृतकार्य्य न हो सकोगे। कुलीनों की लड़कियों की तक़दीर बहुत बुरी है। उस तक़दीर के ज़ोर से जितनी सफलता हो सकती है उसे हम ख़ूब जानती हैं।' इसके बाद वह स्त्री कुछ देर तक चुपचाप अपनी गोद में लेटी हुई लड़की का मुख निहारती रही। फिर आँसूभरी आँखों से मेरी ओर देखकर उसने कहा—'बहुविवाह की चाल उठा दी जाय तो भी हम लोगों को कोई लाभ नहीं। हम इस समय जो सुख भोग रही हैं वही सुख उस समय भी भोगेंगी। हाँ, जो अभागिनी लड़कियाँ हमारे गर्भ से पैदा हुई हैं या पैदा होंगी वे अगर हमारी तरह सदा के लिए दुखिया न बनें तो भी हम लोगों का कष्ट और दुःख बहुत कुछ कम हो जायगा।' इस प्रकार खेद प्रकट करके उस कुलीन स्त्री ने फिर कहा—'सब कहते हैं कि हमारे देश का राज्य एक स्त्री के हाथ में है। किन्तु हमें इस बात पर विश्वास नहीं होता। स्त्री के राज्य में स्त्रियों की दुर्दशा क्यों है?' यह बात कहते समय उसके मलिन चेहरे पर विषाद और निराशा की झलक ऐसी स्पष्ट देख पड़ने लगी कि उसे देखकर शोक के मारे मैं अधीर हो उठा! मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली।

"हाय विधाता, तुम क्या कुलीन-कन्याओं के कपाल में लगातार क्लेश भोगने के सिवा और कुछ लिखना जानते ही नहीं? उल्लिखित कुलीन-कन्या के हार्दिक खेद से भरे हृदय-विदारक वचन अगर हमारी महारानी करुणामयी विक्टोरिया के कानों तक पहुँचते तो वे अवश्य अत्यन्त लज्जित और दुःखित होतीं।

"इन दोनों कुलीन महिलाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।—ये दो पीढ़ी के भंग-कुलीन की कन्या और अपने ही डौल से भंग-कुलीन की स्त्री हैं। बड़ी २०-२१ वर्ष की और छोटी १६-१७ वर्ष की होगी। बड़ी के स्वामी की अवस्था ३० वर्ष की और छोटी

के स्वामी की अवस्था २५-२६ वर्ष की होगी। बड़ी के पति ने अब तक केवल १२ ब्याह किये थे और छोटी के पति ने २५ ब्याह तक नम्बर पहुँचाया था।"

सुना जाता है, विद्यासागर का यह इरादा था कि बहुविवाह-विषयक ग्रन्थ का अँगरेज़ी में अनुवाद किया जाय और वे एक बार इँगलेंड जाकर करोड़ों प्रजा की माता महारानी विक्टोरिया के सामने उपस्थित होकर उनको बङ्गाल की असंख्य दुखिया स्त्रियों के दुख का हाल सुनावें। भारतेश्वरी से यह बात पूछने की भी उनको बड़ी इच्छा थी कि जिस देश में महारानी ऐसे रमणी-रत्न का राज्य है वहाँ स्त्री-जाति की इतनी दुर्दशा क्यों है? किन्तु विधाता को ऐसा मञ्जूर ही न था। यह सब बङ्ग-देश का दुर्भाग्य है। बङ्गाली समाज कितने दिनों तक इस विषम-बुद्धि के विभ्राट् में पड़कर पीड़ित होगा, इसका कुछ निश्चय नहीं। असंख्य बङ्गबालाओं के दुर्भाग्य से ऐसे सुव्रत साधना-निरत पराक्रमशाली महात्मा पुरुष का सत्सङ्कल्प पूरा होने के पहले ही निठुर काल उनको संसार से उठा ले गया। यह शुभ सङ्कल्प कल्पना के रूप में ही रह गया; कली खिलने के पहले ही मुरझाकर गिर गई। आँसू बहाते हुए सहृदय पुरुष कहते हैं कि जब तक विधाता की कृपा न हो—जब तक और किसी महापुरुष का अभ्युदय न हो—तब तक हे बङ्गबालाओ, तुम अपने दुःख के गीत बन्द करो, हृदय का सन्ताप हृदय में ही लुका रक्खो, अपने सारे क्लेशों को अन्तःपुर के निर्जन कोने में कूड़े की तरह ढेर रक्खो। जिनके हृदय नहीं है, जो तुम्हारे मर्म की वेदना को कुछ नहीं समझ सकते, बल्कि गला साफ़ करके अपनी सत्कीर्ति और तुम्हारी सुख-समृद्धि की घोषणा करने ही में लगे रहते हैं उनके आगे अपने दुःख की कहानी मत कहो।

विद्यासागरजी केवल विधवाविवाह के प्रचार और बहुविवाह के रोकने की चेष्टा करके ही चुप नहीं रहे। वे तो समाज की सर्वाङ्गीन उन्नति करना चाहते थे। उन्होंने समाजसंस्कार और सामाजिक उन्नति के लिए एक प्रतिज्ञापत्र बनाया था। वह नीचे उद्धृत किया जाता है। उससे उनके उद्देश्य और इच्छा का पूरा परिचय प्राप्त होता है।

प्रतिज्ञापत्र।

हम धर्म्म को साक्षी करके प्रतिज्ञा करते हैं कि—

(१) कन्या को लिखावें-पढ़ावेंगे।

(२) ग्यारह वर्ष पूरे हुए विना कन्या का व्याह न करेंगे।

(३) कुलीन, वंशज, श्रोत्रिय अथवा मौलिक इत्यादि का ख़याल न करके अपनी जाति के सत् पात्र को कन्या देंगे।

(४) कन्या के विधवा होने पर, उसकी सम्मति होने पर, उसका पुनर्विवाह करेंगे।

(५) अट्ठारह वर्ष पूरे हुए विना पुत्र का व्याह न करेंगे।

(६) एक स्त्री के रहते दूसरा व्याह न करेंगे।

(७) जिसके एक स्त्री मौजूद है उसे कन्या न देंगे।

(८) जिस काम से इन प्रतिज्ञाओं में विघ्न पड़ सकता है उसे न करेंगे।

(९) महीने-महीने अपनी मासिक आमदनी का पचासवाँ हिस्सा बराबर देते रहेंगे।

(१०) इस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने के बाद किसी भी कारण से इन प्रतिज्ञाओं से विमुख न होंगे।

इस प्रतिज्ञापत्र पर १२५ लोगों के नाम लिखे हैं। उनमें कोई-कोई बङ्गाल के प्रसिद्ध लोग हैं। उनमें से कोई-कोई स्वर्गवासी हो

गये हैं और कोई-कोई अभी जीवित हैं। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें से किस-किसने इन प्रतिज्ञाओं का पालन किया था। हाँ, विद्यासागरजी ने जीवन के अन्तिम दिन तक इन प्रतिज्ञाओं का पूर्णरूप से पालन किया, इसमें सन्देह नहीं है।

अँगरेज़ी अमलदारी के सूत्रपात के साथ-साथ बङ्गाली भद्रपुरुषों ने धीरे-धीरे मद्यपान करना सीखा। जब इस विष के पीने से नशे के अलीक आमोद में लोग उन्मत्त होने लगे और उस आमोद के प्रलोभन में पड़कर इस बुरे व्यसन की ओर लोग दिन-दिन अधिक आकृष्ट होने लगे; जब मदिरा पीने से लोगों के धन, मान, प्रतिष्ठा और अन्त को जीवन का नाश होने लगा, जब बङ्ग-भूमि के पुत्ररत्न अकाल ही में अतीत के अन्धकार में छिपने लगे, तब बङ्गाली समाज के और एक हितैषी प्यारीचरण सरकार मदिरा-सेवन को रोकने के लिए अग्रसर हुए। वे बुद्धिमान्, ज्ञानी और विद्वान् पुरुष थे। उनके उद्योग से सन् १८६४ ई० के आरम्भ में "बङ्गदेशीय मादक-सेवन-निवारिणी सभा" (Bengal Temperance Society) की स्थापना हुई। इस सभा की स्थापना के काम में देश के अनेक बड़े आदमियों ने सहायता की थी। राजा राधाकान्त देव ने सभा के सेक्रेटरी को लिखा था—

"Hailed with joy the inauguration of their Society, promised to take the deepest interest in its progress, and to give his cordial concurrence to all measures it may adopt for the eradocation of the dreadful vice, and the reclaiming of those who have succumbed to its influence."—Taken from Raja Radhacanta Deb's letter to the Secretary, Bengal Temperance Society.

अर्थात्, ऐसी सभा की स्थापना के लिए मैं गहरा आनन्द प्रकाशित करता हूँ। मैं इसकी उन्नति की कामना करता हूँ। इस

भयङ्कर पापों के आश्रय-स्वरूप मद्यपान को रोकने की चेष्टा में—इस विष का सेवन करके जो लोग अपना नाश कर रहे हैं उनको इस विषम विपत्ति से छुड़ाने में—मैं सदा सब तरह सहायता करने को तैयार हूँ।

इस मादक-सेवन-निवारिणी सभा की पहली बैठक के दिन बहुत से सुशिक्षित बङ्गाली और अनेक प्रतिष्ठित अँगरेज़ उपस्थित हुए थे। उस आरम्भ के दिन से लेकर जन्म भर विद्यासागरजी इस सभा के पृष्ठ-पोषक रहे। पहली बैठक के दिन पादरी डाल साहब और इन्स्पेक्टर उड्रो आदि लोग भी उपस्थित थे। अनेक व्याख्यान होने के बाद प्यारीचरण सरकार ने चुपके से विद्यासागर से कुछ कहने के लिए अनुरोध किया। विद्यासागर ने इशारे से अपनी अनिच्छा प्रकट की। अन्त को डाल साहब, उड्रो साहब, शम्भुनाथ पण्डित आदि माननीय पुरुषों ने भी विद्यासागर से कुछ कहने के लिए अनुरोध किया; लेकिन स्थिर-प्रतिज्ञ विद्यासागर का विचार नहीं बदला। सबके आगे हाथ जोड़कर हँसते-हँसते विद्यासागर ने उनका कहना न मानने के लिए माफ़ी माँग ली। कोई उन्हें व्याख्यान देने के लिए उठा न सका। इतने लोग अनुरोध करके भी उनको उठा न सके, इसका कारण यह था कि और लोग उन्हें जितना समझते थे उससे कहीं अधिक विद्यासागर अपने को पहचानते थे। यह बात विद्यासागर को अच्छी तरह मालूम थी कि सभा में खड़े होकर व्याख्यान देना मेरा काम नहीं। अपनी क्षमता जान-बूझकर भी किसी क्षमता के बाहर कार्य में अग्रसर होने का उन्हें अभ्यास न था। उनके जीवन की विशेषता ही यह है कि वे जिस काम को अपने करने योग्य न समझते थे उसको करने के लिए आगे बढ़कर अपने को हँसाने का अभ्यास उन्हें नहीं था। उस काम के लिए उपयुक्त

प्यारीचरण सरकार ।

विद्यासागरजी औरों के लिए सब तरह के सुख-भोग का सामान कर देने के वास्ते सदा तैयार रहते थे, लेकिन उन्होंने ख़ुद माता-पिता की रुचि के अनुसार चलना ही पसन्द किया। उन्होंने कभी शौक़ की चीज़ खाने-पीने या पहनने की अभिलाषा को अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। औरों के लिए अच्छा कपड़ा, अच्छी खाने-पीने की चीज़, छाँट-छाँटकर बाज़ार से लाते थे, किन्तु आप मारकीन की धोती, मोटी चादर, स्लीपर और साधारण भोजन से ही सदा सन्तुष्ट रहते थे। उन्होंने ज़िन्दगी भर में जितना रुपया कमाया उससे दूसरा आदमी धनी और वैभवशाली बन सकता था, लेकिन उन्होंने अपनी कमाई का सारा रुपया ग़रीबों की सहायता में लगाकर आप, बाप-दादे की तरह, ग़रीब की तरह, गुज़र किया। यही विद्यासाग़र के व्यक्तिगत जीवन की विशेषता है। उन्होंने एक दिन के लिए भी कभी रईसों की रहन-सहन का अनुकरण नहीं किया। वे ग़रीब समाज में ग़रीब भाई की तरह सदा रहे।

एक बार स्कूल का मोआयना करने के लिए हुगली ज़िले के अन्तर्गत एक गाँव में विद्यासागर को जाना पड़ा। इसके पहले ही उस गाँव के बालक, जवान, बूढ़े सब विद्यासागर के नाम को अच्छी तरह सुन चुके थे। गाँव की लड़की, जवान और बूढ़ी औरतें, सब विद्यासागर के दर्शन पाने के लिए उत्कण्ठित थीं। दस बजे के पहले ही स्कूल के आसपास रहनेवाले गृहस्थों के घरों में औरतों के ठट बँध गये। घरों की खिड़कियों में, दरवाज़ों के पास, छतों के ऊपर, यहाँ तक कि बूढ़ी औरतें राह तक में खड़ी थीं। विद्यासागर के आने में बहुत देर हो गई। छत पर और राह में खड़ी हुई स्त्रियों को घाम से बड़ा क्लेश मिल रहा था। विद्यासागर को देखने की लालसा ने सूर्य के तीक्ष्ण ताप को भी परास्त कर दिया। इसी समय विद्यासागर के आने

की अवस्था में भी, व्याकुल होकर विद्यासागर ने डाक्टर भुवनमोहन सरकार को जो पत्र लिखा था वह नीचे उद्धृत किया जाता है—

My dear Bhooban Mohun,

I regret exceedingly that in the present state of my health, of which you are aware, I am unable to attend this evening's meeting of the Bengal Temperance Society. None knows better than yourself the profound grief with which the lamented death of my beloved friend, Babu Pyary Charan Sircar, has filled me. We knew each other from early youth, and we were so closely attached that in him I have lost a dear and affectionate brother. To the public the loss cannot be easily replaced. His great ability, high character and single-minded zeal in works of humanity rendered him highly useful to society at large, while his devotedness to the cause of temperance, which was manifested in the Bengal Temperance Society, in the publication of very many valuable tracts in English and Bengali and in other acts, will doubtless be long cherished in grateful remembrance by all lovers and promoters of temperance in this country.

I remain, yours affectionately,
(Sd.) ISWAR CHANDRA SARMA."

27th November, 1875.

अर्थात्, प्रिय भुवनमोहन, मुझे भारी दुःख यही है कि शारीरिक अस्वस्थता के कारण मैं आज बङ्गाल टेम्परेन्स सोसायटी के अधिवेशन में उपस्थित न हो सकूँगा। मेरे अभिन्न-हृदय मित्र की शोक-पूर्ण मृत्यु से मेरे हृदय में जो दारुण क्षोभ उत्पन्न हुआ है उसका अनुभव तुम्हारे सिवा और कोई नहीं कर सकता। हम दोनों मित्र जवानी के आरम्भ से ही एक दूसरे को जानते थे। हम दोनों में ऐसी निगूढ़ घनिष्ठता हो गई थी कि प्यारी बाबू के मरने से मुझे यह मालूम

पड़ता है, मेरा कोई सगा भाई नहीं रहा। उनके मरने से सर्व-साधारण की जो हानि हुई है वह सहज में पूरी होनेवाली नहीं। उनकी योग्यता, आदर्श-चरित्र, समाज का हित करने में निष्ठा-पूर्ण एकाग्रता और मद्यपान-निवारण की चेष्टा बुद्धिमान् नीतिज्ञ पुरुषों की मण्डली में चिरस्मरणीय बनी रहेगी। बङ्गाल टेम्परेन्स सोसायटी उन्हीं के परिश्रम का फल है। अँगरेज़ी और बँगला की बहुत सी छोटी-छोटी पुस्तकें आदि अनेक अनुष्ठान विद्यमान रहकर उनकी कीर्त्ति का परिचय देंगे। तुम्हारा स्नेहशील—ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

विद्यासागर सदा समाजसंस्कार के पक्षपाती रहे। समाज की उन्नति और कल्याण करना उनके जीवन का महाव्रत था। उनके स्वर्गवास के कुछ दिन पहले सारे बङ्गाल में व्याप्त हो रहे आन्दोलन से जब हिन्दूसमाज में हलचल मच गई थी, जब लोगों ने उस बारे में आईन बनने की आवश्यकता का अनुभव करके भी नासमझी के कारण लाट साहब के द्वार पर 'आईन न चाहिए, आईन न चाहिए' कहकर चिल्लाहट मचाई थी, तब शरीर के अस्वस्थ और कमज़ोर तथा मन के शिथिल होने पर भी धर्म्मबुद्धि और बहुत लोगों के अनुरोध की उपेक्षा न कर सकने के कारण विद्यासागर सर फ़िलिप ह्याचिन्स से मिलने गये और सम्मति-आईन के बारे में उन्होंने जो छोटा सा मन्तव्य लिखा था उसके अनुसार कार्य्य करने के लिए विशेष रूप से अनुरोध किया। उस अनुरोध का कुछ फल नहीं हुआ, इस कारण आधुनिक समय की भारतीय राजकार्य-सञ्चालन की व्यवस्था पर उन्हें अश्रद्धा भी हो गई थी। विद्यासागर ने भारतीय दण्डविधि आईन के नवीन परिवर्त्तन के सम्बन्ध में सुयुक्ति और धर्म्मबुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण-रूप से अनुमोदित मन्तव्य प्रकाशित किया था। समाज का कल्याण करनेवाली उक्तियों से पूर्ण और असहाय

स्त्री-जाति के साथ सहानुभूति का परिचय देनेवाले उनके उक्त अन्तिम व्यवस्थापत्र का कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"Though on these grounds I cannot support the Bill as it is, I should like the measure to be so framed as to give something like an adequate protection to child-wives, without in any way conflicting with any religious usage. I would propose that it should be an offence for a man to consummate marriage before his wife has had her first menses. As the majority of girls do not exhibit that symptom before they are thirteen, fourteen or fifteen, the measure I suggest would give larger, more real, and more extensive protection than the Bill At the same time, such a measure could not be objected to on the ground of interfering with a religious observance."

अर्थात्, इन सब कारणों के रहते वर्त्तमान आकार में उपस्थित आईन का समर्थन मैं नहीं कर सकता। मैं चाहता हूँ कि यह आईन ऐसा बनाया जाय जिसमें हिन्दू के धर्म-कर्म में हस्तक्षेप भी न हो और बालिकाएँ उपयुक्त रूप से निरापद की जा सकें। मैं प्रस्ताव करना चाहता हूँ कि द्वितीय संस्कारकाल (मासिक धर्म) उपस्थित होने के पहले किसी स्वामी का बालिका स्त्री से सहवास, आईन के अनुसार, दण्डनीय हो। अधिकतर १३-१४ या १५ वर्ष के पहले बालिकाओं का द्वितीय संस्कार-काल उपस्थित नहीं होता। मेरी सलाह के अनुसार आईन बनने से, उसके द्वारा, अधिकांश बालिकाएँ उक्त विपत्ति से बचाई जा सकेंगी। और, धर्म-लोप का बहाना करके कोई आपत्ति न कर सकेगा।

इसके बाद शास्त्रीय प्रमाण आदि दिखलाकर अन्त में विद्यासागर लिखते हैं—

"From every point of view, therefore, the most reasonable course appears to me to make a law declaring it penal for a man to have intercourse with his wife, before she has first menses.

"Such a law would not only serve the interests of humanity by giving reasonable protection to child-wives, but would, so far from interfering with religious usage, enforce a rule laid down in the Sastras. The punishment, which the Sastras prescribe for violation of the rule, is of a spiritual character, and is liable to be disregarded. The religious prohibition would be made more effective, if it was embodied in a penal law. I may be permitted to press this consideration most earnestly on the attention of the Government. * * *"

—Note on the Bill to amend the Indian Penal Code and the Code of Criminal Procedure, 1882.

अर्थात्, सब ओर देखकर विचार करने पर बालिकाओं का द्वितीय संस्कार-काल उपस्थित होने से पहले के सहवास का अपराध गिना जाना सर्वथा संगत ही जान पड़ता है।

इस प्रकार का आईन बनाने से केवल बालिकाओं को अन्याय-अत्याचार से बचाकर समाज का कल्याण ही न किया जायगा, बल्कि शास्त्र में इस बारे में जो आज्ञा है उसकी फिर से स्थापना भी की जायगी। शास्त्र में ऐसे अन्याय के लिए जो दण्ड की व्यवस्था है वह शारीरिक नहीं, आध्यात्मिक है। इस कारण सहज ही लोग उसकी परवा नहीं करते। मेरे प्रस्ताव के अनुसार व्यवस्था करने से दण्डविधि आईन के द्वारा धर्म का निर्देश अधिकतर फलप्रद होगा। मैं गवर्नमेंट से इस विषय में विशेषभाव से विचार करने के लिए प्रार्थना करता हूँ।

विद्यासागर ने इस सम्बन्ध में और भी बहुत सी बातें कही हैं, किन्तु यहाँ पर उन सबके उल्लेख का प्रयोजन नहीं। जान पड़ता

है, इस समय के राजकर्मचारी विद्यासागर को अच्छी तरह जानते न थे। अगर वे विद्यासागर के दीर्घकालव्यापी समाजसंस्कार और लोकसेवा के गौरव और विस्तार को जानते होते तो केवल विद्यासागर के आग्रह और सलाह से ही अपने इरादे को कुछ बदलकर आईन की उपकारिता और उपयोगिता प्रमाणित कर सकते। उस प्रकार की व्यवस्था न करने से आईन बनाने का उद्देश्य अच्छी तरह सिद्ध नहीं हुआ। इस कानून के बारे में विद्यासागर की सहानुभूति के पूर्ण अभाव और परिवर्त्तित आकार में इस कानून को विधिबद्ध करने की प्रार्थना से प्रकट होता है कि विद्यासागरजी. जब-तब, ऐसे-वैसे परिवर्त्तन की प्रार्थना लेकर सर्वसाधारण या सरकार की सेवा में उपस्थित नहीं हुए। सुयुक्ति और समाज-धर्म्म की सीमा के भीतर रहकर जहाँ तक परिवर्त्तन होना सम्भव है, उतना ही समाज-संस्कार करने की उन्होंने जन्म भर चेष्टा की। उनके जीवन के इस अन्तिम संस्कार करने की प्रार्थना से भी यही बात झलकती है। सन् १८९१ ई० की २९ वीं जुलाई को विद्यासागर की मृत्यु हुई और इसी सन् की १६ वीं फरवरी को उल्लिखित प्रार्थनापत्र लाट साहब की सेवा में भेजा गया था। इससे यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है कि परलोक-गमन के समय तक वे लोकहित करने में लगे रहे।

कोई-कोई कहते हैं कि विद्यासागर की बुद्धि विकृत हो गई थी। वे सनातन हिन्दू-धर्म्म को न मानते थे। ऐसा था या नहीं, इसका सबसे बढ़कर प्रमाण यह व्यवस्थापत्र है। हिन्दूभाव और हिन्दू-धर्म्म की रक्षा करने में वे अन्य किसी आस्थावान् हिन्दू से कम न थे। कोई-कोई महाशय दयापूर्वक उन्हें 'भ्रान्त हिन्दू' कहते हैं। इससे बढ़कर जातीय असारता और अधोगति का परिचय क्या हो सकता है? जातीय अधःपात की पराकाष्ठा न हो गई होती तो देश

के श्रादमी ऐसी लज्जा की वात न कभी लिखते श्रौर न कहते। हमारे अभाग्य हैं कि हम ऐसे महापुरुष का महत्त्व श्रौर उसके कार्यों का गौरव समझ नहीं पाते, या समझने की चेष्टा नहीं करते। उन्होंने खान-पान श्रौर चाल-चलन में वरावर हिन्दूपन का निर्वाह किया; भूलकर भी अखाद्य नहीं खाया श्रौर अपेय नहीं पिया। जो लोग न खाने-पीने लायक़ चीज़ें खा-पीकर पले हैं या जो जान-बूझकर अपनी ख़ुशी से ऐसा करते हैं उन हिन्दुश्रों से क्या विद्यासागर लाख दर्जे अच्छे नहीं हैं? जिस देश के विद्वान् बुद्धिमान् लोग वाग़ की तितली की तरह तरह-तरह के फ़ैशन वनाकर निकलते हैं, जिस देश के अध्यापक पण्डित भी टसर, गर्दा आदि रेशमी श्रौर शाल-दुशाले आदि ऊनी वस्त्रों के व्यवहार का अभ्यास रखते हैं उस देश में सदा धोती पहनकर श्रौर मोटी चादर ओढ़कर गुज़र करनेवाले विद्यासागर का क्या मनु, पराशर, वशिष्ट, विश्वामित्र, वाल्मीकि श्रौर व्यास की तरह सम्मान श्रौर पूजन न होना चाहिए? इस समय जिनको संसार में सम्मान श्रौर सम्पत्ति प्राप्त है उनके दर्शन मिलने ही दुर्लभ हो जाते हैं। उनके दर्शन करना चाहें तो वहुत से विघ्नों श्रौर वाधाश्रों का सामना करने में जान ओठों पर आ जाती है। किन्तु असंख्य जन-समूह से परिपूर्ण महा-नगरी कलकत्ते में रहने पर भी विद्यासागर के दर्शन सवको सुलभ थे। वे निर्जन जङ्गल के छोर पर स्थित तपोवन की पर्णकुटी में रहनेवाले तपस्वी की तरह रहते थे। वे आडम्वर-शून्य एकान्त एक छोटे से कमरे में रहते थे। कमरे के आसपास फूलों के चमन थे। जव जो कोई उनसे मिलने गया वह लौटाया नहीं गया। चाहे आरोग्य हों चाहे वीमार, चाहे छुट्टी हो चाहे न हो, वे आनेवाले से अवश्य मिलते थे। सम्पत्ति श्रौर सम्मान पाकर उन्होंने अपना जातीय भाव या ब्राह्मण-पण्डित के लक्षण खो

नहीं दिये थे। मैंने उनके पास उपस्थित रहकर अपनी आँखों से देखा है कि मामूली आदमी भी, चाहे जिस समय, बिना रोक-टोक के, विद्यासागर के पास पहुँच सकता था। वह आदमी भी, जो कभी उनके पास नहीं आया, पूर्व-परिचित की तरह उनके पास जाकर अपने सुख-दुख की बात कहने लगता था और उसे वे आग्रह के साथ सुनते थे। उस न जाने कहाँ के रहनेवाले के सन्ताप की आग को विद्यासागर अपने आँसुओं से बुझा देते थे। वे उसके दुःख दूर करने का उपाय भी यथासाध्य करते थे। इस तरह की घटनाएँ मैंने सैकड़ों बार देखी हैं। इस समय हिन्दू-सन्तान के जीवन का ऐसा उच्च आदर्श बहुत कम देखने को मिलता है! एक बार एक अध्यापक, जो बङ्ग-देशीय अध्यापक-मण्डली में मुख्य माने जाते थे, किसी सामाजिक कार्य की व्यवस्था लेकर विद्यासागर के पास गये। विद्यासागर ने सुन रक्खा था कि इन महाशय ने दोनों दलवालों को व्यवस्था दी है, और इस तरह दोनों पक्षों को शास्त्र-सम्मत बतलाया है। अतएव विद्यासागर ने वज्र-गम्भीर स्वर में उनसे कहा—"आप क्या चाहते हैं? आप तो बड़े मज़े के आदमी हैं। पहले जिस व्यवस्था पर आप अपनी सम्मति दे चुके हैं उसी को आज शास्त्र-विरुद्ध बतलाने बैठे हैं! आपने भी कुछ लिखा-पढ़ा है, और मैंने भी कुछ लिखा-पढ़ा है। आप यदि अपने को पण्डित कह सकते हैं तो मैं भी कह सकता हूँ। किन्तु पण्डित कहकर परिचय देना कैसा, यदि मुझे कोई केवल ब्राह्मण समझता है तो उसे भी मैं अपना भारी अपमान समझता हूँ। आप लोगों के आचरण से ब्राह्मण जाति का मान नहीं रहा।" ब्राह्मण का प्रधान गुण है स्वाधीन-प्रकृति और उदारता; विद्यासागर में ये दोनों बातें पूर्ण-रूप से थीं। उनके द्वारा, लुप्त सम्पत्ति का उद्धार होते

देखकर वङ्ग-देश की अध्यापक-मण्डली को क्या प्रसन्न न होना चाहिए? उन्हें क्या विद्यासागर की जीवनी से इस उच्च नीति की शिक्षा न प्राप्त करनी चाहिए? जो हिन्दूपन उच्च आदर्श का मेरुदण्ड है वह विद्यासागर में पूर्ण मात्रा से मौजूद था। आजकल के लोग उस हिन्दूपन का आदर न कर सकें तो यह उनकी अयोग्यता है।

विद्यासागर का समाजसंस्कार सर्वथा धर्म-शास्त्र के अनुकूल था। इस बात का अनुभव प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणोचित शास्त्रचर्चा की आवश्यकता है। जो लोग इस प्रकार शास्त्र-चर्चा न करके केवल प्रचलित आचार-विचार के अनुसार आचरण करते हैं और जो लोग उस अवस्था को वैसी ही बनाये रखने का प्रयास करते हैं वे ही देश का भारी अनिष्ट कर रहे हैं और वे विद्यासागर के महान् और उदार उद्देश्य को कभी नहीं समझ सकते।

चाहे कोई कुछ कहे, विचारशील आस्थावान् हिन्दू सदा सम्मान के साथ विद्यासागर को सिर झुकाते रहे हैं। सामाजिक कार्य या शास्त्रसम्बन्धी कोई जटिल प्रश्न उपस्थित होने पर विद्यासागर की दी हुई व्यवस्था ही श्रेष्ठ समझी जाती थी। पाइकपाड़ा के राजपरिवार में एक श्राद्ध बड़ी धूम से हुआ था। उसके अध्यक्ष विद्यासागर ही बनाये गये थे। उन्हीं की व्यवस्था के अनुसार तारानाथ तर्कवाचस्पति आदि को विशेष-विशेष कार्य सौंपे गये थे। वङ्गदेशीय अध्यापक-मण्डली वहाँ यथायोग्य सम्मान पाकर परम सन्तुष्ट हुई थी। इस कार्य में उनकी प्रधानता का प्रमाण-स्वरूप एक पत्र यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

श्रीयुक्त बाबू रामेश्वर मालिया,

विनयनमस्कारपुरस्कृतं निवेदनमिदम्—

इस समय श्रीयुक्त भुवनमोहन विद्यारत्नजी नदिया के प्रधान नैयायिक पण्डित हैं। इस बारे में मुझे रत्ती भर सन्देह नहीं है।

कृष्णनगर के राजभवन में इस विषय का आन्दोलन हुआ था। वहाँ उन्हीं की प्रधानता निर्विवाद-रूप से स्वीकृत हो चुकी है। अतएव आपके यहाँ से नदिया के प्रधान नैयायिक को जो वार्षिक वृत्ति दी जाती है वह वृत्ति श्रीयुक्त भुवनमोहन विद्यारत्न जी को ही मिलनी चाहिए। मैं बीमारी के मारे रोगशय्या पर पड़ा हुआ हूँ, इसी से उत्तर देने में विलम्ब हुआ। इति २८ आश्विन, सन् १२९०।

श्रीईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

सातक्षीरा के ज़मींदार बाबू प्राणनाथ चौधरी के श्राद्ध के अवसर पर एक यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि वृद्ध के दो पोतों में कौन श्राद्ध का अधिकारी है? वृद्ध के दो पुत्र थे और दोनों मर चुके थे। एक पुत्र के ख़ास लड़का था और दूसरे पुत्र के गोद लिया हुआ लड़का था। कुलगुरु जानकीजीवन न्यायरत्न ने बड़े और गोद लिये हुए लड़के को श्राद्ध का अधिकारी बतलाया। दूसरे पक्ष ने व्रजनाथ विद्यारत्न से अपने अनुकूल व्यवस्था प्राप्त करके उस पर आपत्ति उपस्थित की। इसके विचार का भार विद्यासागर के ऊपर आ पड़ा। विद्यासागर ने कुलगुरु जानकीजीवन की व्यवस्था को ही श्रेष्ठ बतलाया। उसी के अनुसार कार्य्य हुआ।

विद्यासागर के स्वर्गवास के समय माननीय श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त सी० एस०, सी० आई० ई० ने एक शोकोच्छ्वास-पूर्ण लेख लिखा था। उसका कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"आज तक कुसंस्कार जब इतना प्रबल है तब तीस बरस पहले उसका कैसा बल होगा, यह सहज ही समझ में आ सकता है। साधारण आदमी होता तो ऐसी अवस्था में हताश हो जाता, किन्तु दृढ़-सङ्कल्प ईश्वरचन्द्र हताश होनेवाले आदमी नहीं थे। एक ओर स्वार्थपरता, जड़ता और मूर्खता थी, और दूसरी ओर ईश्वरचन्द्र

विद्यासागर थे। एक ओर विधवाओं पर समाज का अत्याचार, पुरुषों की हृदयहीनता और निर्जीव जाति की निश्चलता थी और दूसरी ओर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे। एक ओर सैकड़ों वर्षों के कुसंस्कार और कुरीति का फल था और दूसरी ओर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे। एक ओर निश्चल निर्जीव तेजोहीन वङ्ग-समाज था और दूसरी ओर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे।

"हमारे निर्जीव वङ्ग-समाज में ऐसी घटनाएँ बहुत कम देखने को मिलती हैं। पवित्रात्मा राममोहन राय के बाद ऐसा तीव्र युद्ध, ऐसा सामाजिक आन्दोलन, ऐसा सङ्कल्प, ऐसा अनुष्ठान, ऐसा सिंह का-सा पराक्रम नहीं देखा गया। पुरुष-सिंह के सामने समाज की मूर्खता और स्वार्थपरता न टिक सकी। सामाजिक सुभट खड्ग हाथ में लिये रास्ता साफ़ करता हुआ आगे बढ़ता गया; विधवाविवाह का आईन पास करा लिया। विद्यासागर के गौरव से देश परिपूर्ण हो गया। विद्यासागर के विजय से सच्चे हिन्दुओं का उपकार हुआ।"

इतने प्रमाण मौजूद रहते भी उनके एक जीवनी-लेखक ने उन्हें अहिन्दू साबित करने की चेष्टा करके अपने सिर कलङ्क की गठरी लादी है।

आज समाज-संस्कार का मैदान सूनसान पड़ा हुआ है। जिसमें घोड़े जुते हुए हों ऐसा रथ जैसे सारथी के बिना कुपथ में जाता है, सञ्चालक-हीन सेना जैसे परस्पर शस्त्र चलाकर अपना विनाश और जातीय बल का क्षय करती है वैसे ही आज वङ्ग-समाज राममोहन ऐसे सुयोग्य सारथि के न होने से इधर-उधर कुपथगामी होकर भटक रहा है—समाजसंस्कारक लोग ईश्वरचन्द्र ऐसे महापराक्रमी सेनापति के न होने से उच्छृङ्खल सेना की तरह तितर-बितर हो रहे हैं। देवेन्द्र-नाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के समान प्रतिभाशाली सञ्चालक के

न होने से, छोटे-छोटे दलों में बँटकर, ब्राह्म-समाज भी धीरे-धीरे क्षीण और हीन-बल होता जाता है। बङ्गाल की धर्म्म-चिन्ता, धर्म-तृष्णा, समाजसंस्कार और लोगों की अन्यान्य भलाइयां करने का प्रवाह मानो धीरे-धीरे शिथिल होता जाता है। यह सच है कि गुणी और कर्म्मनिष्ठ लोगों की संख्या अधिक न होने पर भी कुछ लोग ऐसे मौजूद हैं जो अपने जीवन का बूँद-बूँद रक्त देकर समाज के बुझ रहे दीपक को किसी तरह बनाये हुए हैं; किन्तु यह भी सच है कि राजा का काम प्रजा करे तो जैसे वह अच्छा नहीं मालूम पड़ता और काम भी ठीक नहीं होता वैसा ही हाल हमारे काम का है। वीर का काम अगर कायर करे तो उसमें जैसे वीरता नहीं रहती, शेर का काम अगर सियार करे तो उसमें जैसे चतुरता ही केवल प्रकट होती है वैसा ही इस समय हो रहा है। धर्म, कर्म, समाजसंस्कार और अन्यान्य सभी अच्छे कामों में अपने को लगाकर कृतार्थ समझनेवाले लोग बहुत ही कम हैं। आत्मोत्सर्ग करके अन्तिम घड़ी तक जीवन के महाव्रत को निबाहनेवाले ईश्वरचन्द्र के अनुगामी सबल तेजस्वी पुरुष के सहसा आने की सम्भावना नहीं है। हमको सुमार्ग में चलानेवाला विद्यासागर-सदृश महापुरुष न जाने कब समाज में देख पड़ेगा। सब जीवों के आश्रय-स्वरूप भगवान् ने राममोहन राय के बाद जैसे ईश्वरचन्द्र को भेजकर हमें सच्चा आदर्श और उत्तम मार्ग दिखलाया था वैसे ही क्या ईश्वरचन्द्र के बाद वे किसी ऐसे पुरुष-सिंह को न भेजेंगे जो आश्रय, अवलम्ब और पथ-प्रदर्शक बनकर समाज के आगे विजयपताका हाथ में लिये वीरवेश से कर्त्तव्य की ओर हमें ले चले? संकीर्णता और स्थिर-भाव की रक्षा करने में समाज का जीवन नष्ट हो जाता है। घर का सामान पात्र आदि सदा धोये-माँजे जाते हैं, कपड़े धोये जाते हैं, देह को सबल-सुस्थ और सुन्दर

बनाये रखने के लिए सफ़ाई करनी पड़ती है, वैसे ही समाज की सफ़ाई भी यथासमय होती रहनी चाहिए। यह कैसे हो सकता है कि सामाजिक जीवन के मार्ग में कूड़ा जमा होता रहे और समाज भी दिन-दिन उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता रहे ? संस्कार ही सबको उन्नति के मार्ग में अग्रसर करता है। बिना संस्कार के समाज का उन्नति से विमुख हो रहना—जहाँ के तहाँ डँटे रहना—कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। समाज के कूड़े के ढेर में आग लगा दो, मैल जल जायगा। समाज तपे हुए खरे सोने की तरह चमककर सबके मन को मोह लेगा। विद्यासागर जीवन के अन्तिम दिन तक इसी काम में लगे रहे। जिनके ऋण को बङ्ग-समाज कभी चुका नहीं सकता उन महापुरुषों में विद्यासागर को पहला स्थान दिया जा सकता है। देशवासियों का दुख दूर करके उन्हें सुखी बनाने में अपना सारा समय, अपनी सारी आमदनी, अपनी सारी विद्या-बुद्धि और परिश्रम लगाकर वे मनुष्य-जीवन का महान् आदर्श दिखला गये हैं। अब हम समाजसंस्कार के मैदान में उनके सच्चे उत्तराधिकारी के शुभागमन की आशा लगाये हुए बैठे हैं।

विद्यासागर जी की विधवाविवाह चलाने की चेष्टा का समर्थन करते हुए अनेक गण्य-मान्य अध्यापकों ने ग्रन्थ और लेख लिखे हैं। उनमें महामहोपाध्याय पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न का प्रबन्ध ही विशेष रूप से उल्लेख के योग्य है। उस प्रबन्ध का सारांश इस पुस्तक के परिशिष्ट में पाठकों को पढ़ने को मिलेगा।

विद्यासागर और ज्ञान व शिक्षा का प्रचार

आज बङ्गाल में बहुत-सी ब्राह्मणेतर जातियां हिन्दू-धर्म, हिन्दू-शास्त्र और समाजतत्त्व की आलोचना करके अपनी-अपनी आत्मा का कल्याण करती हुई मानसिक तृप्ति प्राप्त करती हैं और ज्ञानोपार्जन करके कृतार्थ हो रही हैं। इसकी सूचना और श्रीवृद्धि का श्रेय महात्मा राममोहन राय के बाद विद्यासागर को ही प्राप्त हो सकता है। बङ्गाल का गौरव बढ़ानेवाले राममोहन ने अपना सर्वस्व खर्च करके वैदिक धर्म—उपनिषद् के धर्म, परम-पूजनीय ऋषियों की साधना से प्राप्त ब्रह्मज्ञान—के प्रचार में अपना जीवन अर्पण कर दिया। उन्होंने सबसे पहले वेदान्त-सूत्र का बँगला अनुवाद प्रकाशित किया। उन्होंने शास्त्र का रोज़गार करनेवाले ब्राह्मणों के लिए धर्म-शास्त्रों का बँगला अनुवाद नहीं प्रकाशित किया। उन्होंने सर्वसाधारण का ज्ञान बढ़ाने के लिए ही इन ग्रन्थों के अनुवाद को प्रकाशित किया था। इस काम में अपना सर्वस्व लगा देने के कारण अन्त को धनाभाव से इँगलैंड में अत्यन्त कष्ट पाकर उन्होंने प्राण त्याग किया। राममोहन राय की मृत्यु के बाद पूज्य-पाद महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी जन्म भर उन्हीं महापुरुष के अभीष्ट को सिद्ध करने की चेष्टा की। विद्यासागरजी ने भी उसी मार्ग में चलकर लोक-शिक्षा बढ़ाने में अपना जीवन अर्पण कर दिया; लोक-शिक्षा के लिए ही उन्होंने विधवाविवाह और बहुविवाह के सम्बन्ध

की पुस्तकें लिखीं। वे उनकी अक्षय-कीर्ति बनकर सदैव बँगला के साहित्य की शोभा बढ़ावेंगी। किन्तु लोक-शिक्षा के लिए वे इतना ही करके चुप नहीं हो गये। वे बहुत अधिक ज्ञान फैलाना चाहते थे। शिक्षा-प्रचार के लिए यत्न करनेवाला उनके समान और कोई हुआ ही नहीं, यह कहना भी अनुचित न होगा। वे सर्वसाधारण में शिक्षा-प्रचार के कैसे पक्षपाती थे, पहले-पहल नौकरी करने के समय ही उन्होंने इस बात का बहुत अच्छा परिचय दिया था। उन्होंने गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंज से अनुरोध करके १०१ बङ्ग-विद्यालय स्थापित कराये। उन्होंने बहुत से विरोधियों के सामने अकेले खड़े होकर संस्कृत-कालेज में सर्वसाधारण के लिए संस्कृत पढ़ने का द्वार खोल दिया। विरोधियों के सब तर्कों का ठीक उत्तर देकर उन्हें चुप कर देना और ब्राह्मणेतर जातियों के लड़कों को धर्म-शास्त्र छोड़कर और सब संस्कृत-ग्रन्थों के पढ़ने का अधिकार दिलाना विद्यासागर ऐसे मनस्वी पुरुष का ही काम था। वे जब मेदिनीपुर, हुगली, वर्द्धवान और नदिया, इन चार ज़िलों के अतिरिक्त इन्स्पेक्टर थे तब छोटे लाट हालिडे साहब की ज़बानी आज्ञा पर उन्होंने एक सौ से अधिक लड़कियों के स्कूल खोले थे। अन्त को यही शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर के साथ मनोमालिन्य का कारण हुआ। इसी के कारण उन्हें पराधीनता की बेड़ियों से छुटकारा भी मिला। विद्यासागर ने अपनी दशा सुधारने के साथ ही अपनी जन्मभूमि वीरसिंह गाँव में लोगों को शिक्षा देने की व्यवस्था कर दी थी। वे एक बार स्कूलों का मोआयना करने के लिए अनेक स्थानों में घूमते हुए अपनी जन्मभूमि वीरसिंह गाँव में पहुँचे। घर में उपस्थित होकर उन्होंने सबसे पहले पिता और माता के चरण छूकर उनको एक सुसमाचार सुनाया। पहले किसी अध्याय में कहा जा चुका है कि बाल्यकाल

में पढ़ने की अवस्था में ही विद्यासागर ने छात्रवृत्ति के रुपये से गाँव की पाठशाला के लिए हस्त-लिखित संस्कृत-पुस्तकें और कुछ सम्पत्ति ख़रीदी थी। अब तक अच्छी तरह हाथ-पैर न चलने के कारण उस इरादे के माफ़िक़ काम नहीं हो सकता था। घर में पहुँचते ही विद्यासागर ने पिता से कहा—"वीरसिंह और उसके आसपास के गाँवों के लड़कों को सुशिक्षा प्राप्त करने का सुभीता कर देने के लिए अपने गाँव में एक अँगरेज़ी स्कूल खोलने का मेरा इरादा है।" ईश्वरचन्द्र के पिता-माता दोनों पुत्र के इस प्रस्ताव से बहुत प्रसन्न हुए। जिस दिन शाम को यह बातचीत हुई उसके दूसरे ही दिन विद्यालय के लिए जगह भी ठीक हो गई और शीघ्र ही विद्यालय का काम भी शुरू हो गया। स्कूल का घर बनाने का आरम्भ जिस दिन होनेवाला था उस दिन कोई मज़दूर नहीं मिला। अच्छे कामों में विद्यासागर को ऐसा अनुराग था कि मज़दूर न मिलने से काम रुका नहीं रहा। विद्यासागर अपने भाइयों के साथ ख़ुद मिट्टी खोदने का काम करने लगे! वीरसिंह-विद्यालय का यह परम सौभाग्य है कि किसी शुभकार्य के अवसर पर जिस महात्मा की उपस्थिति और शुभ-दृष्टि पाने के लिए कितने ही देश-विदेश के आदमी अनेक चेष्टाएँ करते थे उसी महात्मा के हाथों उसके भवन की नींव पड़ी। इधर घर बनने लगा उधर दूसरे स्थान में विद्यालय का कार्य्य शुरू हो गया। उस स्कूल में गाँव के और आसपास के गाँवों के बालक पढ़ने आने लगे और इस प्रकार उन्हें अपनी उन्नति करने का सुअवसर सुलभ हो गया। विद्यासागर ने वीरसिंह में एक स्कूल लड़कों के लिए और एक स्कूल लड़कियों के लिए खोला। इतना ही करके वे चुप नहीं रहे। उन्होंने वीरसिंह और निकटवर्ती अन्य ग्रामों के श्रमजीवियों, चरवाहों और किसानों (बालकों) के पढ़ने के लिए एक रात का

स्कूल भी खोल दिया। इस स्कूल के ग़रीब विद्यार्थी दिन को खेत में काम करते, और पशुओं को चराते थे; और रात को स्कूल में आकर लिखना-पढ़ना सीखते थे। इन तीनों स्कूलों में विद्यार्थियों से फ़ीस नहीं ली जाती थी। इन स्कूलों में अमीर-ग़रीब सबके लड़के बिना किसी ख़र्च के विद्योपार्जन करने लगे। इन स्कूलों के विद्यार्थियों को पुस्तक, काग़ज़, क़लम, स्लेट, पेंसिल आदि लेने-देने में हर महीने ३००) से अधिक ख़र्च होते थे। विद्यासागर के मित्र प्यारीचरण सरकार अपनी बनाई पुस्तकें वीरसिंह-स्कूल को मुफ़्त देते थे। इसके सिवा इन स्कूलों के मास्टरों की तनख़्वाह और अन्यान्य ख़र्च मिलाकर तीन-चार सौ रुपये के लगभग ख़र्च था। पहले यह सब ख़र्च विद्यासागर ख़ुद करते थे। उसके बाद जब उन्हीं के उद्योग से एडेड् स्कूलों (Grant-in-Aid) की सृष्टि हुई तब कुछ दिनों के लिए वीरसिंह-स्कूल को भी गवर्नमेंट से सहायता मिली थी। यह स्कूल इस समय प्रातः-स्मरणीया विद्यासागर की माता भगवती देवी के नाम से प्रसिद्ध है। विद्यासागर के द्वारा स्थापित वह विद्यालय इस समय भी "भगवती-विद्यालय" के नाम से मौजूद है और वीरसिंह की तरफ़ के बालकों को विद्योपार्जन में सहायता कर रहा है। विद्यासागर के सुयोग्य पुत्र नारायण बाबू इस स्कूल की उन्नति के लिए बराबर यत्न करते रहते हैं।

विद्यासागर अपनी जन्मभूमि में स्कूल खोलकर और उनमें लड़की-लड़कों को मुफ़्त शिक्षा देने की व्यवस्था करके ही चुप नहीं रहे। उनका कोई भी कार्य किसी तरह असम्पूर्ण या अङ्गहीन नहीं रहता था। वे जब जो करना चाहते थे उसे करके ही छोड़ते थे और जो कुछ करते थे वह सर्वाङ्ग-सुन्दर ही करते थे। उन्होंने स्कूल खोला और उसमें मुफ़्त लड़कों के पढ़ने की व्यवस्था कर दी। पुस्तक आदि

की ज़रूरत होती थी तो अपने खर्चे से ख़रीद देते थे। अगर किसी लड़के के भोजन का प्रबन्ध न होता था तो उसे अपने घर में रखकर भोजन भी देते थे। विद्यासागर के पिता ठाकुरदास घर में ही रहते थे। माता भगवती देवी अन्नपूर्णा की तरह अपने हाथ से रसोई करके सबको स्नेहपूर्वक भोजन कराती थीं। घर में सबको एक ही तरह का भोजन मिलता था। नारायण बाबू के मुँह से सुना है कि वे बाबा और दादी के बड़े दुलारे थे; मगर जो आश्रित दीन बालक उनके यहाँ रहते थे वे भी उन्हीं के ऐसे वस्त्र और भोजन पाते थे। हे बङ्गाली गृहस्थो! ज़रा सोचकर देखो, विद्यासागर के एकलौते लड़के—घर भर के दुलारे लड़के—का लालन-पालन उन्हीं लड़कों के समान होता था जो पराये लड़के थे और ग़रीबी के कारण विद्योपार्जन के लिए विद्यासागर के घर में भोजन करते और रहते थे। तुम ऐसा कर सकते हो? अगर नहीं कर सकते, तो ईश्वरचन्द्र को स्वदेशीय स्वजातीय कहने का तुमको अधिकार नहीं है। नारायण बाबू ने जब गौरव-भरे स्वर में कहा था कि दोनों वक्त बहुत से ग़रीब बालकों के साथ मामूली भोजन से पेट भरकर बड़े सुख से मैं बाबा की गोद में सोता था, तब उनके उत्साहपूर्ण मुख की शोभा देखकर और हिन्दू के घर का निःस्वार्थ परोपकार स्मरण करके सचमुच मेरी आँखों से आनन्द के आँसू बह चले थे।

वीरसिंह की तरफ़ कोई डाक्टर न था। विद्यासागर ने विद्यालय की परीक्षा में पास हुए श्रेष्ठ बालकों को अपने खर्चे से कलकत्ते में रखकर डाक्टरी पढ़ाई। इस प्रकार डाक्टर तैयार करके उन्होंने अपनी जन्मभूमि के इस भारी अभाव को भी दूर कर दिया। इस स्कूल के अनेक अच्छे विद्यार्थी विद्यासागर की सहायता से उच्च शिक्षा पाकर इस समय सम्मान और सम्पत्ति प्राप्त करके सुख से गुज़र करते हैं।

किन्तु आजकल के लोग ऐसे असार हैं कि विद्यासागर सरीखे पुरुष से उत्साह और सहायता पाना स्वीकार करने में उनको लज्जा लगती है। अनेक लोगों को अगर आपत्ति न होती और उनका नाम-धाम प्रकाशित करने में उनके ख़फ़ा होने का खटका न होता तो यह अच्छी तरह दिखलाया जा सकता कि केवल वीरसिंह और उसके निकटवर्त्ती स्थानों के ही नहीं, बल्कि बङ्गाल भर के अनेक प्रतिष्ठित पुरुष विद्यासागर से स्नेहपूर्ण उत्साह पाकर उनके अर्थ-साहाय्य और उपदेशों से उपकृत और कृतार्थ हुए हैं और इस समय गण्य-मान्य लोगों की सूची बढ़ाकर अपने को कृतकृत्य समझ रहे हैं। इस देश की शिक्षित-मण्डली पर विद्यादान और ज्ञान-प्रचार के मामले में विद्यासागर का ऐसा भारी ऋण है कि वह चुकाया नहीं जा सकता। इस बात को साधारण बुद्धि का आदमी समझ ही नहीं सकता। विद्यासागर ने केवल अपनी जन्मभूमि (वीरसिंह) की ही सब तरह की श्रीवृद्धि पर ध्यान नहीं दिया; वे जब जहाँ गये तब वहाँ के धनी लोगों के द्वारा कुछ न कुछ अच्छा काम उन्होंने कराया। स्कूलों की देख-भाल के लिए घूमते-घूमते एक बार विद्यासागर बैंची गाँव में पहुँचे। वहाँ एक कन्या-पाठशाला स्थापित कराई और उसके बाद वहाँ के प्रतिष्ठित ज़मींदार बाबू राखालदास मुखोपाध्याय और बाबू बिहारीलाल मुखोपाध्याय को लड़कों के लिए एक अँगरेज़ी स्कूल खोलने पर राज़ी कर लिया। विद्यासागर के अनुरोध से वहाँ जो स्कूल खुला, वह अब तक बिहारी बाबू के ख़र्च से चल रहा है और उसके द्वारा वहाँ के गाँवों का बहुत कुछ उपकार हो रहा है।

विद्यासागर को कुछ दिन राजा ईश्वरचन्द्र और प्रतापचन्द्र की जन्मभूमि काँदी-गाँव में, उनकी मित्रता के कारण, रहना पड़ा था।

उस समय उन्होंने वहाँ राजा के ख़र्च से एक अँगरेज़ी स्कूल खुलवाया। इसी तरह जहाँ वे गये और जहाँ सुभीता मिला वहाँ उन्होंने ज्ञान-प्रचार की चेष्टा करके अपनी स्वाभाविक उदारता का परिचय दिया। इन सब छोटे-छोटे कामों से भी इस बात का पता लगता है कि उनमें लोकहित की प्रवृत्ति और लोगों का अज्ञान दूर करने की कामना कितनी प्रबल थी। वे मनुष्य के उच्च अधिकार पाने के पूर्ण पक्षपाती और सहायक थे। विद्यासागरजी इस बात का आदर्श हैं कि ब्राह्मण कैसा संयमी, निर्लोभ, परोपकारी और लोकवत्सल हो तो हमारे अधःपात को सहज में रोक सकता है। विद्यासागर ज्ञान-प्रचार को ही कुसंस्कार दूर करने का एकमात्र उपाय समझते थे। उन्होंने सब जगह सब कामों में ज्ञान-प्रचार की ही चेष्टा की है। उन्होंने संस्कृतकालेज के प्रिन्सिपल का पद छोड़ते समय कहा था—"स्वदेशी लोगों के सुशिक्षालाभ और उनमें ज्ञान-प्रचार के साथ मेरा साक्षात् सम्बन्ध छूटा जाता है। उस समय वे न जानते थे कि स्वदेशियों में शिक्षा-प्रचार करने का काम उन्हें कितना करना पड़ेगा। वे उस समय यह न समझ सके थे कि विधाता उनके द्वारा एक बड़ा भारी काम करानेवाले हैं। इसी कारण सरकारी नौकरी—पराई तावेदारी—से वे अलग होते हैं। और वे समझ ही कैसे सकते थे? बच्चा कहीं जवानी के बल-वीर्य की धारणा कर सकता है। वर्णपरिचय पढ़नेवाला बालक कहीं कालेज की सर्वोच्च परीक्षा के पुरस्कार पाने की तृप्ति का अनुभव कर सकता है? विद्यासागर ने जब नौकरी छोड़ी थी तब उनकी समझ में बँगला-साहित्य की सेवा ही एक बड़ा भारी काम था। इस कारण उस समय वही उनका ख़ास काम था। उस समय उनको इसका ख़याल भी न था कि वे 'मेट्रोपोलिटन' के स्थापक और इस तरह के

असंख्य स्वदेशी स्कूलों के व्यवस्थापक होंगे। यह सोचने का उस समय अवसर भी न था। उस समय उन्होंने अज्ञातभाव से जो बात कही थी कि "मैं जीवन का बचा हुआ सारा समय इसी पवित्र कार्य में लगाऊँगा और मेरा यह व्रत जीवन के अन्तिम दिन, मेरी चिता की राख में सम्पूर्ण होगा।" सो उनके जीवन में अक्षर-अक्षर सच हुई। इस पर जो कोई विचार करेगा उसी को आश्चर्य हुए बिना न रहेगा।

सन् १८४८-४९ ई० में विद्यासागर और मदनमोहन तर्कालङ्कार ने मिलकर 'संस्कृत प्रेस' नाम से एक छापाख़ाना खोला। इस समय दोनों आदमी संस्कृत-कालेज में नौकर थे। अपने बनाये ग्रन्थों को इसी में छापने के लिए विद्यासागर ने यह प्रेस खोला था। साथ ही अपनी पसन्द के और ग्रन्थों के प्रकाशित करने का भी उनका विचार था। इस सम्बन्ध में विद्यासागर ने स्वयं लिखा है—

"मैं और मदनमोहन तर्कालङ्कार दोनों जिस समय संस्कृत कालेज में नौकर थे, उस समय तर्कालङ्कार के उद्योग से संस्कृत प्रेस नाम से एक छापाख़ाना खोला गया। इस छापेख़ाने में मेरा और उनका बराबर का हिस्सा था।"

इस संस्कृत प्रेस के स्थापित करने में विद्यासागर को ख़ूब असुविधाओं का सामना करना पड़ा था। विद्यासागर ने सुना कि उनके मतलब का एक प्रेस बिकाऊ है। वे उसे देखने गये। पसन्द आ गया, लेकिन विद्यासागर या तर्कालङ्कार किसी के पास रुपया न था। बहुत दिनों तक अपेक्षा करके अन्त को विद्यासागर ने अपने मित्र नीलमाधव मुखोपाध्याय से ६००) रुपये उधार लेकर प्रेस ख़रीद लिया। नीलमाधव बाबू को जिस समय रुपये देने के लिए कहा था उस समय रुपये न पहुँच सकने के कारण विद्यासागर को बड़ी चिन्ता

हुई। इसी समय एक दिन बातचीत में मार्शेल साहब को क़र्ज़ लेकर प्रेस ख़रीदने की बात मालूम हुई तो उन्होंने विद्यासागर से कहा कि फ़ोर्टविलियम कालेज के छात्रों के लिए यदि तुम भारतचन्द्र के अन्नदामङ्गल का एक शुद्ध एडीशन अच्छे काग़ज़ पर निकाल सको तो मैं उसकी १०० कापियाँ ख़रीदकर तुम्हारा ६००) का ऋण चुका दे सकता हूँ। यह आशा पाकर विद्यासागर ने कृष्णनगर के राजभवन से मूल अन्नदामङ्गल की पुरानी प्रति मँगाकर उसका एक नया संस्करण निकाला। उसकी १०० कापियों की बिक्री से प्रेस का ऋण चुकता कर दिया गया। इस प्रकार संस्कृत प्रेस के ऋण से छुट्टी मिली। बाक़ी पुस्तकों की बिक्री का जो रुपया आया उसके द्वारा प्रेस की तरक़्क़ी की जाने लगी। विद्यासागर और तर्कालङ्कार के उद्योग से थोड़े ही दिनों में संस्कृत प्रेस ने अच्छी तरक़्क़ी कर ली और वह शीघ्र ही ग़रीबी से छुटकारा पा गया।

कुछ दिन इस प्रकार उद्योग करने से जब प्रेस अच्छी तरह चलने लगा तब, ठीक उसी समय, पेट के रोग से लाचार होकर तर्कालङ्कार को कलकत्ता छोड़ जाना पड़ा। उनके कलकत्ते से चले जाने पर भी बहुत दिनों तक प्रेस की हालत अच्छी रही, किन्तु अन्त को प्रेस के मामले में विद्यासागर और तर्कालङ्कार के बीच मनोमालिन्य के छोटे-छोटे कारण उपस्थित होने लगे। विद्यासागर इस बारे में ख़ुद लिखते हैं—

"धीरे-धीरे ऐसे कुछ कारण उपस्थित हुए कि तर्कालङ्कार के साथ कुछ भी सम्बन्ध रखना उचित न जान पड़ा। इसलिए मैंने हम दोनों के आत्मीय पटलडाँगा-निवासी बाबू श्यामाचरण दे के द्वारा तर्कालङ्कारजी के पास कहला भेजा कि या तो वे मेरा हिस्सा चुकाकर सारा प्रेस ख़ुद ले लें और या अपने हिस्से का हिसाब

लेकर प्रेस मुझको दे दें। अथवा हम दोनों छापेख़ाने की चीज़ों को आपस में बाँट लें। तर्कालङ्कार ने अपने हिस्से का रुपया लेकर प्रेस दे देने का निश्चय किया। दोनों की राय से बाबू श्यामाचरण दे, पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति और बाबू राजकृष्ण वन्द्योपाध्याय ये तीनों पञ्च बनाये गये। इन्होंने हिसाब-किताब देखकर यह निश्चित कर दिया कि तर्कालङ्कार को कितना रुपया मिलना चाहिए। हिसाब की नक़ल तर्कालङ्कार के पास भेजी गई। उन्होंने बाबू श्यामाचरण दे को पत्र लिखा कि मैं इस समय न आ सकूँगा। अदालत बन्द होने पर कलकत्ते आकर अपना हिसाब समझ लूँगा। कुछ दिन बाद तर्कालङ्कार का स्वर्गवास हो जाने पर उनकी स्त्री कलकत्ते आकर अपने पति के हिस्से का रुपया ले गई।

मित्रों के फ़ैसले के अनुसार आधे हिस्से की क़ीमत देकर विद्यासागर ने सब प्रेस पर अपना अधिकार कर लिया और उसका काम अपनी रुचि के अनुसार चलाने लगे।

संस्कृत प्रेस की छपी पुस्तकों की बिक्री में सुगमता के लिए विद्यासागर ने एक संस्कृत प्रेस का पुस्तकालय भी खोल दिया। इसका अँगरेज़ी नाम है संस्कृत प्रेस डिपोज़िटरी। बहुत दिनों तक प्रेस और पुस्तकालय विद्यासागर की ही सम्पत्ति रहा। ये दोनों चीज़ें किस तरह दूसरे के हाथ में चली गई, इसका विस्तृत विवरण आगे पढ़ने को मिलेगा। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि विद्यासागर केवल पाठ्यपुस्तकों की रचना करके या जगह-जगह रईस लोगों के द्वारा स्कूल खुलवा करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गये प्रत्युत उन्होंने संस्कृत प्रेस और संस्कृत प्रेस डिपोज़िटरी इस उद्देश्य से स्थापित की कि पाठ्य पुस्तकें अच्छी तरह छपें, उन पुस्तकों को मँगाने में लोगों को किसी प्रकार की असुविधा न हो, और उनके साथ ही कुछ लोगों का पालन-पोषण भी हो।

विद्यासागर ने जिस समय नौकरी छोड़कर स्वाधीनभाव से गुज़र की व्यवस्था की थी उस समय भी देश में अँगरेज़ी शिक्षा का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। अँगरेज़ी शिक्षा के सु-प्रचार की सूचना मात्र हुई थी। उस समय गवर्नमेंट ने जो अँगरेज़ी स्कूल स्थापित किये थे उनमें लड़कों को पढ़ाने के मार्ग में दो बाधाएँ थीं। इन स्कूलों में बहुत ख़र्च होने के कारण लड़कों से फ़ीस बड़ी कड़ी ली जाती थी। फ़ीस इतनी अधिक थी कि ग़रीब किसी तरह वह शिक्षा पाने की आशा न कर सकता था। मध्यवित्त श्रेणी के लोग भी अधिक ख़र्च के कारण अपने लड़कों को यह शिक्षा नहीं दिला सकते थे। अतएव यह कहना चाहिए कि गवर्नमेंट के ये स्कूल होने पर भी ग़रीबों, और मध्यवित्त व्यक्तियों के लिए न होने के बराबर ही थे। दूसरी बाधा यह थी कि गवर्नमेंट के स्कूलों में सदा से धर्म-हीन शिक्षा दी जाती है अर्थात् धर्म-सम्बन्धी शिक्षा नहीं दी जाती। भिन्नधर्मावलम्बी राजा के लिए धर्म-शिक्षा देने के बारे में निरपेक्ष रहना ही अच्छा है किन्तु यह निरपेक्षता और सारी प्रजा-मण्डली की धार्मिक उन्नति के बारे में उदासीनता एक ही बात है। जन-समाज अगर शिक्षा-प्रेमी बालकों को बचपन और बाल्यकाल में धर्मोपदेश से वञ्चित रक्खे, परमेश्वर की प्रीति और गुरुजन की भक्ति न सिखलावें, आगे चलकर अनेक प्रकार के पाप के प्रलोभनों में आत्मरक्षा करने की सामर्थ्य देनेवाली शिक्षा देने के बारे में चुप रहें, तो शीघ्र ही उसका विषमय फल देख पड़ने लगता है। इस समय के बाल्यजीवन की विशृङ्खलता और बालकों की ढिठाई से इसका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

एक ओर इस देश के लोगों के जातीय धर्म की उन्नति के मामले में गवर्नमेंट कोई चेष्टा नहीं करती, दूसरी ओर अँगरेज़ी जाति के गौरव ईसाई मिशनरी अँगरेज़ राज्य फैलने के साथ-साथ इस देश में

जगह-जगह धर्म-प्रचार और जन-साधारण की भलाई के लिए बहुत से शुभ कार्यों का सूत्रपात करते जाते हैं। मिशनरियों के कामों में दो काम सबसे बढ़कर हैं। एक तो देशी भाषाओं की चर्चा और श्रीवृद्धि, दूसरे अँगरेज़ी स्कूल खोलकर इस देश के लोगों में पाश्चात्य ज्ञान का प्रचार। पश्चिमी शिक्षा को फैलाने के लिए उन्होंने बङ्गाल में सब जगह स्कूल खोलकर अँगरेज़ी की शिक्षा देना शुरू कर दिया। कलकत्ते में ऐसे मिशनरी स्कूल की पहले पहल स्थापना करनेवाले डाक्टर डफ़ थे। वह स्कूल उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। इन मिशनरी स्कूलों में थोड़ी फ़ीस लेकर या मुफ़्त ही सुशिक्षा दी जाती थी। किन्तु मिशनरियों की ओर से लोगों के बुरे संस्कार होने के कारण विघ्न और बाधाएँ भी बहुत थीं। जो विदेशी राजा भिन्न-जातीय प्रजा की धार्मिक उन्नति के बारे में बिलकुल निश्चेष्ट है उसी की जाति के पुरोहित और धर्मयाजक ईसाई धर्म के भाव का सोलहों आना प्रचार करने की कामना से यहाँ आये और उन्होंने अपना काम शुरू कर दिया। इस पर लोगों को शंका होना स्वाभाविक ही था। इस देश के सर्व-साधारण लोगों को अपने बालकों को अँगरेज़ी सिखलाने का सुभीता कहीं न देख पड़ा। लोगों की ऐसी धारणा हो गई कि गवर्नमेंट स्कूल में पढ़ने से लड़के नास्तिक और मिशनरी स्कूलों में पढ़ने से ईसाई हो जाते हैं।

बङ्गालियों के चलाये स्कूलों में स्वर्गीय गौरमोहन आढ्य के स्कूल की ही विशेष प्रसिद्धि हुई। उस समय इस स्कूल में बालकों को लिखना-पढ़ना सिखाना विशेष सम्मान की बात समझी जाती थी। किन्तु अब धीरे-धीरे उसका वह पहले का गौरव कम हो गया है। इस प्रकार भाव-विकार और सुशिक्षा पाने में तरह-तरह की असुविधाएँ जब दिन-दिन बढ़ रही थीं, उसी समय, सन् १८५९ ई० में, कलकत्ते के कई

प्रतिष्ठित पुरुषों (बाबू ठाकुरदास चक्रवर्ती, बाबू माधवचन्द्र धर, बाबू पतितपावन सेन, बाबू गङ्गाचरण सेन, बाबू यादवचन्द्र पालित और बाबू वैष्णवचरण आढ्य) ने शिमला की शङ्करघोष-लेन में "कलकत्ता-ट्रेनिङ्ग-स्कूल" नाम से एक स्कूल खोला। इस स्कूल की उन्नति के लिए इन लोगों ने और अन्य कई धनी पुरुषों ने काफ़ी रुपया ख़र्च किया था। बाबू श्यामाचरण मल्लिक इसके पृष्ठ-पोषक थे। उन्होंने बहुत सा रुपया ख़र्च करके इस स्कूल के लिए ज़रूरी पुस्तकें ख़रीद दी थीं। स्कूल खुलने के बाद कुछ दिनों तक उल्लिखित महाशयों ने अपना रुपया ख़र्च करके स्कूल चलाया। दो साल के बाद सन् १८६१ में स्कूल के सञ्चालकों ने पण्डितवर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बाबू राजकृष्ण बन्द्योपाध्याय से स्कूल की देख-भाल करने और उसकी उन्नति की ओर ध्यान देने के लिए अनुरोध किया। उनका ख़याल था कि विद्यासागर और राजकृष्ण बाबू को यह काम सौंपने से स्कूल की विशेष उन्नति होगी। विद्यासागर उस समय नौकरी छोड़ चुके थे। विद्यासागर संस्कृत-कालेज की प्रिन्सिपली और इन्स्पेक्टरी का काम कर चुके थे, इस कारण उन्हें स्कूल चलाने की बड़ी अच्छी जानकारी थी। इसी से उक्त स्कूल के सञ्चालकों ने इस काम के लिए विद्यासागर को चुना था। विद्यासागर और राजकृष्ण बाबू को शरीक करके कलकत्ता-ट्रेनिङ्ग-स्कूल के सञ्चालकों ने एक कार्य-कारिणी समिति बनाई। इस सभा की देखरेख में कई महीने तक ख़ूब अच्छी तरह काम चलता रहा। सहसा एक अयोग्य मास्टर को निकाल देने के कारण कमेटी के मेम्बरों में घोर मत-भेद हो गया। इस विरोध के कारण इस स्कूल के दो भाग हो गये। बाबू ताराचन्द्र चक्रवर्ती और बाबू माधवचन्द्र धर ने अलग "ट्रेनिङ्ग एकाडेमी" नाम से और एक स्कूल खोला।

यह स्कूल भी अभी तक मौजूद है। "कलकत्ता-ट्रेनिङ्ग-स्कूल" का वही पहला नाम रहा। स्कूल के सञ्चालकों में ऐसा मनोमालिन्य और विरोध देखकर विद्यासागर को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने भी स्कूल की देखरेख का काम छोड़ दिया। अनेक कारणों से उनको यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि इस देश के आदमियों ने अभी तक स्वार्थ भूलकर दूसरे की सेवा करने में कुछ भी असुविधा भोगना या हानि उठाना नहीं सीखा; इस देश में चार जनों के मिलकर काम करने का समय अभी नहीं आया। बहुत थोड़ी ही अवस्था में उनकी यह धारणा हो गई थी। जीवन में बहुत सी घटनाओं के द्वारा उन्हें निश्चय हो गया कि उनकी यह धारणा बहुत ठीक है। इसी से जीवन के अन्तिम दिन तक वे इसी धारणा के अनुसार चलते रहे। धीरे-धीरे यह हाल हो गया था कि चार आदमियों के साथ मिलकर काम करना उन्हें बिलकुल नापसन्द हो गया था।

इस प्रकार की धारणा के वशवर्त्ती होकर जब विद्यासागर ने स्कूल की देख-भाल का काम छोड़ दिया, तब स्वत्वाधिकारियों में से अवशिष्ट कई आदमी कुछ दिन तक मिलकर काम चलाते रहे। अन्त को अवसर और अभिज्ञता के अभाव से और विद्यासागर का सम्बन्ध न रहने के कारण स्कूल का काम पहले तो शिथिल पड़ गया और पीछे से उसका चलना कठिन हो गया। तब उसके सञ्चालकों को अपनी अयोग्यता का अनुभव हुआ। उन्होंने स्कूल का सारा काम विद्यासागर को सौंप देना चाहा। विद्यासागर ने बहुत सोच-विचार के बाद यह बात मान ली। पूर्व-सञ्चालकों ने सदा के लिए अपना सम्बन्ध छोड़ दिया। पूर्व-सञ्चालकों ने स्कूल का काम विद्यासागर को सौंपते समय इस बात के लिए विशेष अनुरोध किया था कि स्कूल का काम चलाने के लिए एक कमेटी बना ली जाय।

उन लोगों का स्कूल से कोई सम्बन्ध न रहने पर विद्यासागर ने कार्य्य भार ग्रहण किया *। विद्यासागर ने स्कूल का सारा काम अपने हाथ में लेते ही सबसे पहले स्कूल की नेकनामी और उन्नति के लिए एक कमेटी बना दी। उस कमेटी के सभापति राजा प्रतापचन्द्रसिंह बनाये गये। राजा रमानाथ ठाकुर, बाबू हीरालाल शील, बाबू रामगोपाल घोष और हरचन्द्र घोष रायबहादुर आदि मेम्बर हुए। विद्यासागर उसके मन्त्री बने†।

इस प्रकार व्यवस्था करके स्कूल का काम चलाने पर उसकी दिन-दूनी उन्नति होने लगी। विद्यासागर की एकाग्रता, निष्ठा और अनुराग के प्रभाव से जैसे और सब काम सिद्ध होते थे वैसेही यह कार्य भी सफलता की ओर अग्रसर होने लगा। विद्यासागर के कार्य-भार ग्रहण करने पर इस स्कूल के लड़के बहुतायत से पास होने लगे।

विद्यासागर हर एक काम निःस्वार्थ-भाव से करते थे। इसके लिए प्रमाण खोजने की ज़रूरत नहीं। उन्होंने पराये उपकार के इतने काम किये हैं कि उनके किसी कार्य का आर्योचित औदार्य्य प्रमाणित करने के लिए अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। तथापि

---

* After the said disruption, the remaining founders, namely, Patitpabun Sen, Ganga Charan Sen, Jadav Chandra Palit, and Vaishnava Charan Adhya, who had other works to do, having found by experience that Pandit Iswar Chandra Vidyasagar was highly public-spirited and thoroughly disinterested, and was competent to manage the School, entrusted the management thereof to the said Pandit.

† In April 1861 * * a Committee of Management of which Raja Pratap Chandra Singha was the President, and Ramanath Tagore, Hira Lal Sil, Ram Gopal Ghose and Rai Hara Chandra Ghose Bahadur were members and the Pandit its Secretary, was formed.

हर एक बात का प्रमाण देना आवश्यक होता है। विद्यासागर ने स्कूल का काम चलाने के लिए एक कमेटी ही नहीं बनाई, बल्कि स्कूल के चलाने के लिए कुछ नियम भी बनाकर कमेटी से पास करा लिये। उस नियमावली में कुल ३५ नियमों का उल्लेख है। उनमें तीसरा, तीसवाँ, इकतीसवाँ, बत्तीसवाँ और तेंतीसवाँ नियम विशेष रूप से उल्लेख के योग्य है। यथा—

३। हिन्दू बालक अँगरेज़ी और बँगला के साहित्य की प्राथमिक शिक्षा में विशेष भाव से व्युत्पत्ति प्राप्त करें, इसके लिए इस स्कूल की स्थापना की गई है।*

३०। छुट्टी के समय बालकों के खेलने की जगहों पर कम से कम एक मास्टर उपस्थित रहकर उनकी रीति-नीति की देख-रेख करेगा।†

३१। प्रवेशिका परीक्षा में जो विद्यार्थी पास होंगे उनमें सर्वोत्कृष्ट तीन बालकों को दो साल तक दस-दस रुपये की तीन छात्र-वृत्तियाँ इसलिए दी जायँगी कि वे प्रेसीडेन्सी कालेज, मेडिकल कालेज या इञ्जीनियरिङ्ग कालेज में पढ़ने के लिए उत्साहित हों।‡

* The object of the Institution is to give an efficient elementary education to Hindu youths in the English as well as the Bengali language and literature.

† One teacher at least shall be present on each play-ground, during the time of recreation, to watch over the conduct of the pupils.

‡ Scholarships of ten rupees each shall be awarded to three of the most meritorious pupils for two years to enable them to prosecute their studies in a higher educational institution, such as the Presidency, the Medical, or the Civil Engineering College.

३२। स्कूल के ख़र्च से बचा हुआ धन बङ्गाल-बैंक में या और किसी बैंक में मन्त्री या और किसी एक मेम्बर के नाम से जमा रहेगा। *

३३। बचा हुआ धन स्कूल की उन्नति में ही लगाया जायगा।†

सन् १८६८ के पहले तक विद्यालय का नाम था—कलकत्ता ट्रेनिङ्ग-स्कूल। इस साल के आरम्भ से ही इसका नाम बदलकर हिन्दू-मेट्रोपोलीटन-इन्स्टीट्यूशन (Hindu Metropolitan Institution) रख दिया गया। इसके बाद विश्वविद्यालय को एक आवेदन-पत्र भेजा गया। उसमें प्रार्थना की गई कि इस स्कूल से ही यहाँ के विद्यार्थी प्रवेशिका परीक्षा के बाद की परीक्षा दे सकें। इस आवेदन-पत्र में राजा प्रतापचन्द्रसिंह, हरचन्द्र घोष रायबहादुर और पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने हस्ताक्षर किये थे। इन लोगों ने इस आवेदन-पत्र में यह सूचित किया था कि कम से कम पाँच वर्ष के लिए एफ० ए० और बी० ए० की पढ़ाई का ख़र्च और अन्यान्य प्रकार की ज़िम्मेदारी हम अपने ऊपर लेते हैं। विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित मेम्बर राजा रमानाथ ठाकुर और रामगोपाल घोष ने इस आवेदन-पत्र में सेनेट के मेम्बर की हैसियत से दस्तख़त किये थे। इसके कुछ दिन बाद स्कूल जिस किराये के मकान में था उसके मालिक ने मकान का किराया बढ़ाकर एक मामला चला दिया। मालिक-मकान ने पचास रुपये की जगह सौ रुपया मासिक माँगा। विद्यासागर ने

---

* The funds of the School shall be deposited in the Bank of Bengal or in any other Bank, in the name of a member and the Secretary.

† Surplus assets shall be appropriated to the benefit of the Institution, in such manner as the Committee of Management may decide upon.

मंजूर नहीं किया। इस पर मुक़द्दमेबाज़ी हुई। इस अवसर पर विद्यासागर के सिवा और सब कमेटी के मेम्बर उत्साहरहित हो गये। अन्त को स्कूल की भलाई-बुराई की सब ज़िम्मेदारी विद्यासागर के सिर छोड़कर सब अलग हो गये। पिछले समय, सब ज़िम्मेदारी अपने सिर आ पड़ने पर स्कूल की उन्नति के लिए विद्यासागर ने बड़ा परिश्रम किया।

पहले, जब अँगरेज़ी-शिक्षा का प्रचार बहुत कम था, तालाब खुदवाने और धर्म्मशाला बनवाने के समान स्कूल की स्थापना भी एक पुण्य का काम समझा जाता था। थोड़े ख़र्च में या मुफ़्त ही बालकों को ज्ञान प्राप्त करने का मौक़ा मिलेगा, इसी विचार से लोग स्कूल स्थापित करते थे। विद्यासागर आदि ने भी इसी ख़याल से इस बड़े ख़र्च के काम में हाथ डाला था। किन्तु आजकल स्कूल खोलना एक तरह का रोज़गार हो गया है। अपने देश के बालकों को विद्या-दान करना पैसा कमाने का ज़रिया हो गया है। रोज़गार में गड़बड़ होना जैसे अनिवार्य्य है वैसे वही हाल यहाँ भी हुआ। सन् १८६४ ई० में, जब विद्यासागर ने अपने स्कूल से उच्च परीक्षाओं में छात्रों के उपस्थित हो सकने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा था तब उन्होंने यह कभी नहीं सोचा था कि लोग इससे धनोपार्जन करके धनी बनने की चेष्टा करेंगे। विद्यासागर की ज़िन्दगी में ही विद्यादान रोज़गार के रूप में बदल चला था। इस समय भी यह रोज़गार ख़ूब चल रहा है। विद्यासागर ने इस काम में सर्वस्व लगा दिया था और आजकल लोग इस उपाय से अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की चेष्टा कर रहे हैं। विद्यासागर ने विश्वविद्यालय में प्रार्थना-पत्र भेजने के बाद किसी-किसी धनी मेम्बर से सहायता मिलने की यथेष्ट आशा पाकर बिना फ़ीस के कालेज-क्लास खोल दिये थे। काम भी शुरू हो गया था। किन्तु

बड़े ही खेद की बात है कि विश्वविद्यालय ने प्रार्थना नामञ्जूर कर दी। इस प्रकार चेष्टा विफल होने पर भी विद्यासागर ने अपना इरादा नहीं छोड़ा। प्रवेशिका परीक्षा का फल हर साल आशा से कहीं अधिक अच्छा होने के कारण कालेज खोलकर बालकों को उच्च शिक्षा सुलभ बना देने की आकांक्षा उनके मन में बनी ही रही। वे काम करते समय और विश्राम करते समय, स्वजन-मण्डली में बैठने के समय और एकान्त में रहने के समय, सर्वदा इसी का उपाय सोचने लगे।

इसके बाद सन् १८६६ ई० में राजा प्रतापचन्द्रसिंह और हरचन्द्र घोष रायबहादुर का देहान्त होने पर मेट्रोपोलीटन इन्स्टीट्यूशन की सारी ज़िम्मेदारी विद्यासागर के ऊपर आ पड़ी। सन् १८६८ से मेट्रोपोलीटन का सारा खर्च विद्यासागर को उठाना पड़ता था। इस स्कूल में लड़कों की संख्या और परीक्षा का फल सदा सन्तोष-जनक रहा। तथा उसकी श्रीवृद्धि करने में विद्यासागर को सदा अपने पास से रुपया लगाना पड़ता था। स्कूल के कोष में इतना अधिक रुपया हमेशा रहता न था कि विद्यासागर के मन के माफ़िक़ सब काम हो सकें। मेट्रोपोलीटन के मास्टरों को अन्य स्कूलों के मास्टरों की अपेक्षा अच्छी तनख्वाह मिलती थी। विद्यासागर स्कूल के लिए जो सामान बनवाते या ख़रीदते थे वह उनके मन के माफ़िक़ होता था। इसी से उसमें खर्च भी अधिक होता था। उन्होंने पहले और इधर भी अकसर अपना रुपया खर्च करके स्कूल की श्रीवृद्धि की, किन्तु कभी स्कूल का एक पैसा भी अपने काम में लाने की नियत नहीं की। वे कैसे लोभशून्य ब्राह्मण थे, इस बात का यह एक अत्यन्त उज्ज्वल उदाहरण है।*

* The present authorities say in their printed declaration that :— He (the Pandit) never made any profit out of the income

सन् १८७२ ई० को २५ जनवरी को विद्यासागर ने ख़ुद स्कूल के काम में सुभीता करने के लिए माननीय जज द्वारकानाथ मित्र, रायबहादुर कृष्णदास पाल और आप मिलकर एक मैनेजिङ्ग कमेटी सङ्गठित की। एफ० ए०, बी० ए० परीक्षा देने का अधिकार पाने के लिए पूर्वोक्त तीनों सज्जनों ने हस्ताक्षर करके दुबारा एक प्रार्थनापत्र भेजा। इस बार भी विश्वविद्यालय के दो सुपरिचित मेम्बरों, राजा रमानाथ ठाकुर और डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, ने उस प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। यह आवेदनपत्र (इस मामले के काग़ज़पत्र परिशिष्ट में मिलेंगे) भेजकर विद्यासागर बिलकुल निश्चिन्त नहीं हो गये। इसका एक कारण यह था कि उनकी इस चेष्टा के विरुद्ध अँगरेज़ और बङ्गाली दोनों थे। विद्यासागर ने विश्वविद्यालय के तत्कालीन वाइस चैन्सलर (Vice-Chancellor) ई० सी० बेली साहब को जो पत्र लिखा था उसे देखने से यह बात स्पष्ट मालूम पड़ जाती है कि विश्वविद्यालय के अँगरेज़ मेम्बर इस उद्योग के कितने विरोधी थे। वह पत्र यह है—

ई. सी. बेली महोदय की सेवा में—

प्रिय महाशय,

आपको विनीत भाव से सूचित करता हूँ कि अपने स्कूल से एफ० ए० और बी० ए० परीक्षा देने का अधिकार पाने का प्रार्थना-पत्र सिंडिकेट की आज की बैठक में उपस्थित करने के लिए भेजा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अगर आपकी सहायता मिलने की सम्भावना न होती तो मैं कभी इस काम में अग्रसर न होता।

---

of the institution. He did, however, take loans occasionally from the fund of the Institution, but the same was always repaid.

गत वर्ष मैं आपसे मुलाक़ात नहीं कर सका, इसी से इस काम के लिए कोई चेष्टा भी नहीं की। मुझे नहीं मालूम कि सेनेट के अन्यान्य मेम्बरों की इस बारे में क्या राय है। किन्तु आपको यह जता देना मैं उचित समझता हूँ कि मेरे पक्ष के एक सज्जन ने मिस्टर साटक्लिफ़ और मिस्टर एटकिन्सन से मुलाक़ात की थी। एटकिन्सन साहब ने उनसे कहा था कि यद्यपि प्रस्तावित ढङ्ग से उच्च शिक्षा देने की व्यवस्था के बारे में उन्हें आपत्ति है, तथापि वे हम लोगों के प्रार्थनापत्र की मंजूरी में बाधा न डालेंगे। यदि मेम्बर लोग उच्च शिक्षा देने के बारे में देशी अध्यापकों के ऊपर पूरा भरोसा रखने में असम्मति प्रकट करें तो उस दशा में मैं आपको यह स्मरण करा देना चाहता हूँ कि संस्कृत कालेज में बी० ए० तक की पढ़ाई होती है। लेकिन वहाँ सदा से सब अध्यापक देसी ही हैं। हम लोग भी अपने स्कूल में सदा उसी श्रेणी के अध्यापक रखने की चेष्टा करेंगे। मुझे यह विश्वास है कि सुविवेचना और सावधानी के साथ चुनकर अध्यापक नियुक्त करने से देसी अध्यापक उच्चशिक्षा देने के लिए सम्पूर्ण योग्य ठहरेंगे। किन्तु कुछ दिनों की जानकारी से अगर यह जान पड़ेगा कि अँगरेज़ी का साहित्य पढ़ाने के लिए अँगरेज़ प्रोफ़ेसर रक्खे बिना काम न चलेगा तो हम अवश्य ही वैसा कोई लायक़ अँगरेज़ प्रोफ़ेसर नौकर रख लेंगे। स्कूल की सर्वाङ्गीन उन्नति का होना ही हमारा उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई भी उपाय उठा न रक्खा जायगा। मुझे जान पड़ता है, कुछ लोग यह जानने के लिए व्यग्र हैं कि स्कूल के अध्यापकों को कैसी और कितनी तनख़्वाह दी जायगी। किन्तु मेरी समझ से विश्वविद्यालय की नियमावली के अनुसार इन सब भीतरी छोटे-छोटे मामलों में विश्वविद्यालय की नज़र

रहने की कोई आवश्यकता नहीं। इसका विचार नौकर और नौकर रखनेवाले ही कर लेंगे; और यही उचित है। शिक्षकों की योग्यता और स्कूल के रुपये के सद्व्यय पर दृष्टि रखकर हम लोग काम करेंगे। मेरी ज़िन्दगी का गुज़रा हुआ सारा समय स्कूलों के चलाने के काम में ही बीता है। ऐसी अवस्था में, आशा करता हूँ, अध्यापकों को नियुक्त करने और इनकी तनख़्वाह नियत करने का भार मेरे ऊपर रहने से ही अच्छा होगा।

अपने इस स्कूल को हाई स्कूल बनाने की ज़रूरत के बारे में अधिक क्या कहूँ। बिचले दर्जे के गृहस्थ लोग १२) रु० महीना फ़ीस देकर अपने लड़कों को प्रेसीडेन्सी कालेज में पढ़ा नहीं सकते। उधर मिशनरी स्कूलों में भी इस आशङ्का से वे लड़कों को भेज नहीं सकते कि वे वहाँ जाकर ईसाई न हो जायँ। ऐसी अवस्था में अधिकांश बालक प्रवेशिका परीक्षा पास करने के बाद, कालेज में पढ़ने की सोलहों आने इच्छा रहने पर भी, पढ़ना बन्द कर देते हैं। यह स्कूल उनका बड़ा उपकार करेगा।

जज द्वारकानाथ मित्र, बाबू कृष्णदास पाल और मैं, ये तीन इस स्कूल के सञ्चालक हैं। उच्च शिक्षा देने की सुव्यवस्था हम लोग कर सकते हैं। इसका हमें पूरा सुभीता है। लेकिन तो भी अगर किसी तरह का अभाव उपस्थित होगा तो हम आप ही उसकी पूर्त्ति कर लेंगे। हम तीनों आदमी पाँच वर्ष के लिए स्कूल के चलाने की सब तरह की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेते हैं। मुझे विश्वास है कि इससे सन्तुष्ट होकर विश्वविद्यालय कालेज-क्लास खोलने की अनुमति देगा। इति, तारीख़ २७ जनवरी, १८७२।

आपका विश्वासपात्र

ईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

इस प्रकार बहुत वाद-विवाद के बाद इसी वर्ष से मेट्रोपोलीटन इन्स्टीट्यूशन विश्वविद्यालय से शामिल होकर एफ० ए० की परीक्षा में विद्यार्थी भेजने की अनुमति पा गया। सन् १८७३—७४ दो साल में कालेज की पढ़ाई समाप्त हुई। विश्वविद्यालय की अनुमति पाकर कालेज-क्लास खोला गया, विद्यार्थी भी बहुत से जुट गये। किन्तु विद्यासागर को पग-पग पर बाधाओं का सामना करना पड़ा। पहली बाधा तो सर्वसाधारण का यह ख़याल होना था कि इस चेष्टा से कोई फल न होगा। इसका कारण यह था कि मेट्रोपोलीटन का उद्देश्य सिद्ध होने के लायक़ शिक्षकों का मिलना उस समय कठिन था। विद्यासागर के ऐसे उद्योगी पुरुष की चेष्टा से भी मेट्रोपोलीटन के प्रबल होने पर उनके मित्रों को भी विश्वास न था। ऐसी दशा में विद्यार्थियों का उत्साह घट जाना अनिवार्य था। विद्यार्थियों के मन में कृतकार्य होने के बारे में सन्देह होने के कारण वे आप ही कालेज से निकल जाने की चेष्टा करने लगे। परीक्षा में पास होने की आशा बहुत कम होने की अफ़वाह उड़ने के कारण बालकों के माता-पिता भी चिन्तित हो उठे। अनेक लोगों ने समय-समय पर विद्यासागर के पास आकर अपनी आशङ्का का हाल कह भी दिया। विद्यासागर को अफ़वाह की कोई परवा न थी, उसकी वे उपेक्षा कर सकते थे। किन्तु स्वार्थ के कारण कोई आकर अपनी चिन्ता प्रकट करता था तो वे भी चिन्तित हो उठते थे। सबको धीरज बँधाकर वे विदा कर देते थे। किन्तु उनको यह खटका लगा था कि कहीं लोगों की उड़ाई अफ़वाह ही सच न हो जाय, और इस कारण वे तन-मन-धन से स्कूल की उन्नति में लगे हुए थे। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उनको बड़ा परिश्रम करना पड़ा। स्वार्थ-त्याग भी उन्होंने कम नहीं किया। वे बड़े ही आग्रह के साथ नित्य

की कारगुज़ारी की जाँच करते थे। इसके ऊपर उन्हें नित्य अनेक निराशाभरी बातें सुननी पड़ती थीं। इस प्रकार तरह-तरह की विपत्तियों और विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए धीरे-धीरे लक्ष्य की ओर अग्रसर होना उनके सिवा दूसरे आदमी के लिए सर्वथा असम्भव ही था। ऊपर शून्य में टँगे हुए मच्छ की आँख वेधने के लिए अनेक वीर-वेषधारी राजपुत्र उठ खड़े हुए थे, किन्तु ब्राह्मण-वेषधारी अर्जुन ही उस कठिन कार्य में सफलता प्राप्त करके द्रौपदी के हाथ से जयमाला पाने के अधिकारी हुए थे। उन्हीं ने बहुत से विरोधी राजकुमारों को परास्त करके दुर्लभ स्त्रीरत्न द्रौपदी को प्राप्त किया था। वैसे ही विद्यासागर ने भविष्यत् के अज्ञात अन्धकारमय आकाश-मार्ग में स्थित लक्ष्य को वेधकर—बहुत से प्रबल पक्षों के विरोध की उपेक्षा कर—बहुत लोगों के भिड़ाव में विजय प्राप्त कर कीर्त्ति और विजयलक्ष्मी पाई। सन् १८७५ ई० की ८ जनवरी को विजयलक्ष्मी के लाभ से परम सन्तुष्ट विद्यासागर ने जो प्रीति-उपहार दिया था उसका हाल नीचे लिखा जाता है। सन् १८७४ ई० के शेष भाग में जो परीक्षा ली गई थी उसमें गुण के अनुसार विद्यासागर के स्कूल का दूसरा नम्बर रहा था। सन् १८७४ ई० की एफ़० ए० परीक्षा का फल जब प्रकाशित हुआ तब विद्यासागर कलकत्ते में न थे। स्वास्थ्य सुधारने के लिए वे खड़माटाड़ के विश्रामभवन में थे। गज़ट में परीक्षा का फल देखते ही आनन्द से विह्वल विद्यासागर शीघ्र ही कलकत्ते को रवाना हुए। वे पहले अपने घर बादुड़बागान में न जाकर झामापुकुर में परीक्षोत्तीर्ण गुणी युवक के पिता के पास गये। युवक और उसके पिता को बुलवाया। स्नेहपूर्वक योगेन्द्र बाबू (परीक्षोत्तीर्ण युवक) से विद्यासागर ने कहा—"क्यों रे, तू तो डरता था?" इसके बाद उन्होंने योगेन्द्र बाबू को अपने घर बुलाया। योगेन्द्रचन्द्र

वसु के घर आने पर उनको सामने खड़े करके विद्यासागर ने अपनी बहुमूल्य पुस्तकों की आलमारी खोली। बहुत क़ीमती सुवर्णवर्णाङ्कित जिल्दवाली सर वाल्टर स्काट की सारी "वेवर्ली उपन्यासावली" योगेन्द्र बाबू को उपहार में दे दी। ग्रन्थावली की प्रथम पुस्तक वेवर्ली के पहले सफ़े में उन्होंने जो शब्द अपने हाथों से लिख दिये थे वे भी उनके हार्दिक आनन्द का परिचय देनेवाले थे। वे जिस काम को करते थे उसे हृदय से करते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने लिए अपनी पसन्द से बँधाई हुई स्काट की बहुमूल्य ग्रन्थावली पुस्तकालय से निकालकर योगेन्द्र बाबू को उपहार में दे डाली। बाबू योगेन्द्रचन्द्र ने सिर झुकाकर उस पुरस्कार को स्वीकार कर लिया। योगेन्द्र बाबू के मुँह से ही सुना है कि कालेज-क्लास खोलने के बाद विद्यासागर को पग-पग पर बाधाओं का सामना करना पड़ा था। दृढ़संकल्प विद्यासागर ने एक बार बहुत ही खीझकर कालेज के सब लड़कों को बुलाकर कहा—"देखो, रोज़-रोज़ गोलमाल करने की ज़रूरत नहीं। बतलाओ, तुममें से कौन-कौन जाना चाहता है? वह अभी चला जाय। मैं कालेज-क्लास नहीं चाहता। कोई न रहे वह भी अच्छा, लेकिन यह गोलमाल मुझे पसन्द नहीं। आज बतलाओ, कौन कौन जायगा?" सब बालक चुपचाप खड़े रहे। किसी ने कुछ नहीं कहा। तब विद्यासागर ने एक-एक बालक को बुलाकर पूछना शुरू किया। पहले बालक से पूछने पर उसने कहा—"मैं और कहीं न जाऊँगा।" एक-एक करके सभी बालकों ने अन्यत्र जाना अस्वीकार कर दिया। तब विद्यासागर ने ख़ुश होकर कहा—तुम लोगों के लिए क्या मुझे चिन्ता नहीं है। अन्य कालेजों की ऐसी पढ़ाई यहाँ भी हो, इसके लिए मैं कोई बात उठा न रक्खूँगा। तुम किसी के बहकाने में न आओ।

Awarded

to Jogindra Chunder Bose

at the close of his brilliant

Career as a Student

in the Metropolitan Institution

Isvarachandra Sarma

8th January 1875

साटक्लिफ़ साहब ने विद्यासागर के मेट्रोपोलीटन की अद्भुत सफलता देख विस्मित होकर कहा था—Pandit has done wonders. कालेज के पहले साल की परीक्षा का फल ऐसा सन्तोष-जनक हुआ कि मेट्रोपोलीटन बहुत शीघ्रता के साथ उन्नति के मार्ग में अग्रसर होने लगा। मेट्रोपोलीटन का उच्च शिक्षा पाने का सबसे ऊँचा द्वार सन् १८७९ ई० में खुला था जिससे कि मेट्रोपोलीटन की अक्षय कीर्ति का सूत्रपात · बंगदेशीय युवकमण्डली में शिक्षा का अच्छा प्रचार हुआ और जिस कार्य को पूरा करके विद्यासागर ने वर्त्तमान शिक्षा-प्रवाह को बहु विस्तृत आकार में बहुत दूर तक अग्रसर कर दिया। सन् १८८१ ई० में मेट्रोपोलीटन कालेज से बी० ए० की परीक्षा में पहले पहल विद्यार्थी भेजे गये। इस परीक्षा में विद्यासागर के कालेज से जिन विद्यार्थियों ने परीक्षा दी थी उनकी संख्या और परीक्षा का फल विशेष सन्तोषजनक हुआ था। सब मिलाकर सोलह छात्र*परीक्षा में पास हुए थे। परीक्षा का फल अच्छा होने के साथ ही साथ विद्यासागर का आग्रह और उत्साह सौगुना बढ़ गया। इससे पहले विद्यासागर ने अपने ख़र्च से मेट्रोपोलीटन इन्स्टीट्यूशन की लाइब्रेरी स्थापित कर दी थी। इस समय विद्यासागर बचे हुए रुपये से बहुमूल्य और ज़रूरी ग्रन्थ ख़रीदने लगे। विद्यालय का पुस्तकालय, और विद्यालय की अन्यान्य सामग्री यथा-सम्भव सुन्दर और बहुमूल्य ही ख़रीदी जाती थी। शिक्षकों को ऐसी आज्ञा थी कि वे बालकों को मारें नहीं। मीठी बातों से, शान्त भाव

---

* बन्द्योपाध्याय—अन्नदाप्रसाद, कालीपद, कुमुदनाथ, नन्दलाल। भट्टाचार्य—अक्षयकुमार, शिवाप्रसन्न। चक्रवर्त्ती—यदुनाथ, कुञ्जविहारी, पूर्णचन्द्र। चट्टोपाध्याय—गोपालचन्द्र। दत्त—योगेन्द्रनाथ, नवीनचन्द्र। मण्डल—प्राणकृष्ण। मैत्र—हेमचन्द्र। राय—यज्ञेश्वर। रायचौधरी—आशुतोष।

से, सब लड़कों को समझाकर पढ़ाने और राह पर लाने की आज्ञा थी। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि सब शिक्षक इस नियम का पालन न करते थे। मेरे एक श्रद्धेय मित्र उस समय विद्यासागर के स्कूल में मास्टर थे। अन्य मास्टर विद्यासागर की इस आज्ञा का पालन नहीं करते थे, वे भी नहीं करते थे। ज़रूरत के माफ़िक़ बालकों को वे भी मारते थे। विद्यासागर ने जाँच की तो उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली। इस अपराध के कारण उनकी नौकरी छूट गई। मालूम नहीं, अन्यान्य शिक्षक क्या कहकर छुटकारा पा गये थे।

शिक्षकों की तनख़्वाह में विद्यासागर जी खोलकर ख़र्च करते थे। इसका प्रधान कारण यह था कि मेट्रोपोलीटन इन्स्टीट्यूशन से वे अपनी जीविका नहीं चलाते थे। उन्होंने स्कूल की उन्नति के लिए मेहनत की और रुपया भी ख़र्च किया। पर उन्होंने उसका एक पैसा तक कभी नहीं लिया। स्कूल की उन्नति और उसके द्वारा अपने देश के युवकों और बालकों को सुशिक्षा प्राप्त करने के लिए सुभीता कर देने में उन्होंने बहुत कुछ रुपया ख़र्च किया। सबसे बढ़कर महत्त्व की बात यह थी कि स्कूल की उन्नति के लिए अनेक अवसरों पर उन्होंने अपना रुपया ख़र्च कर डाला, और फिर उसके पाने की प्रत्याशा नहीं रक्खी। इसी से वे शिक्षकों के ऊपर सदा अनुग्रह की दृष्टि रख सकते थे। शिक्षकों में से कभी कोई बीमार होकर अगर छुट्टी लेता था, और वह ग़रीब होता था, तो विद्यासागर उसे चार-चार, पाँच-पाँच महीने की तनख़्वाह देने में भी हिचकते न थे। कभी किसी के काम से वे ख़ुश होते थे तो पुरस्कार में उसका वेतन बढ़ा देते थे।

स्कूल चलाने के काम में उन्हें ख़ूब जानकारी थी। कैसे आदमी को नौकर रखने से, किसे क्या काम सौंपने से कैसा काम होगा,

यह वे ख़ूब जानते थे। कैसे योग्य आदमी को कैसी तनख़्वाह देने से काम ठीक होगा, यह वे ख़ूब समझते थे। उनमें एक प्रधान गुण या दोष यह था कि वे जब जिस पर विश्वास करते थे तब उस पर पूरा विश्वास करते थे; विश्वासी पुरुष का उन पर सोलहों आने प्रभुत्व रहता था। ऐसे लोगों के कारण कभी-कभी बिना जाने किसी-किसी के साथ उन्होंने थोड़ा-बहुत अविचार भी किया। किन्तु ऐसे अवि-चार के अवसर पर दण्डित व्यक्तियों में से किसी-किसी ने उन पर अत्यन्त भक्ति और प्रीति के कारण द्विरुक्ति न करके चुपचाप दण्ड भोग कर लिया और किसी-किसी ने स्पष्ट शब्दों में उनके निर्णय का दोष दिखलाकर नौकरी छोड़ दी। विद्यासागर के स्वर्गवास के थोड़े ही दिन पहले उन्होंने एक विशेष घटना के अवसर पर अपने लिखे वक्तव्य में यह बात ज़ाहिर की है। विश्वस्त लोगों पर भरोसा करने के कारण, उनके कहने से, उन्होंने अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों को थोड़े अपराध पर भारी दण्ड देने की या बिना अपराध के दोषी ठहराने की भूल की है। यह हमारे लिए बड़े खेद की बात है। किन्तु उनका स्वभाव ही ऐसा था। उन्होंने ख़ुद मुझसे कहा है—

"पहले मैं सब आदमियों को भला आदमी समझता था। किन्तु सरल भाव से लोगों पर विश्वास करने के कारण इस जीवन में मैंने पग-पग पर धोखा खाया है। अन्त को मैंने देखा 'ठग पकड़ने में गाँव उजाड़' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। सभी दग़ाबाज़ देख पड़े। मैं पहले मोतीलाल शील था, किन्तु अब द्वारकानाथ ठाकुर हो गया हूँ।"

मोतीलाल शील अपरिचित आदमी को अच्छा ही समझते थे और द्वारकानाथ ठाकुर का इससे विपरीत मत था। वे पहले हर एक आदमी को अच्छा न समझ लेते थे। जो अच्छा साबित होता

उसी को अच्छा समझकर उस पर विश्वास करते थे। विद्यासागर की ऊपर की उक्ति से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि विश्वास करके उन्होंने वार-वार धोखा खाया। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि विश्वस्त लोगों के द्वारा वार वार ठगे जाने पर भी वे सहज ही लोगों पर विश्वास कर लेते थे। इसका प्रधान कारण यही है कि वे सहृदय पुरुष थे। लोगों की चुपड़ी-चिकनी वातों में सहज ही फँस जाते थे। इसी से जन्म भर उन्हें क्लेश ही भोगना पड़ा। किसी दिन उनको दुख से विश्राम नहीं मिला।

इस प्रकार निःस्वार्थभाव से कालेज का काम करके विद्यासागर ने उसे धीरे-धीरे उन्नति के मार्ग में अग्रसर कर दिया। कई एक पढ़ाने में निपुण पण्डितों श्रौर प्रतिष्ठा-पात्र शिक्षकों की सहायता से विद्यासागर को इस काम में सफलता प्राप्त हुई थी। इनमें स्वर्गीय प्रसन्नकुमार लाहिड़ी का नाम विशेष भाव से उल्लेख के योग्य है। उनके अध्यवसाय श्रौर परिश्रम के फल से झुण्ड के झुण्ड लड़के भर्ती होने आते थे। इससे स्कूल की आर्थिक दशा भी अच्छी थी श्रौर उसकी प्रतिष्ठा भी ख़ूब थी। हम विद्यालय की स्थापना से सन् १८९२ ई० तक (जब तक विद्यासागर ने विद्यालय का काम किया) विद्यालय की सफलता की सूची यहाँ पर देते हैं। सन् १८८१ ई० में मेट्रोपोलीटन से बी० ए० परीक्षा के लिए पहले पहल विद्यार्थी भेजे गये। इस विद्यालय से, बी० ए० परीक्षा में, १२ वर्ष में ४९८ लड़के पास हुए। एम० ए० परीक्षा में भी ३३ युवक पास हुए। यह सूची देखने से जान पड़ता है कि हर साल श्रौसत हिसाब से बी० ए० में ४१$\frac{६}{१}$ श्रौर एम० ए० में २$\frac{३}{४}$ लड़के पास हुए।

सन् १८८५ ई० से एम० ए० परीक्षा की जगह बी० ए० परीक्षा में ही आनर्स (honours) देने की व्यवस्था हुई। इसके अनुसार

१८८५ से १८९२ तक, आठ वर्ष में, मेट्रोपोलीटन से सब मिलाकर ८९ विद्यार्थी आनर-परीक्षा में पास हुए। गुण के अनुसार इस कालेज ने अँगरेज़ी में एक वार दूसरा, एक वार चौथा और आठवाँ, एक वार पाँचवाँ और सातवाँ और एक वार पाँचवाँ नम्बर पाया था। इसी तरह गणित में एक वार दूसरा, एक वार चौथा और एक वार पाँचवाँ नम्बर पाया था। मनोविज्ञान और दर्शन-शास्त्र में एक वार चौथा और एक वार पाँचवाँ नम्बर पाया था। इतिहास में एक वार अव्वल नम्बर पाया था। सन् १८८२ ई० में विश्व-विद्यालय ने बी० एल० परीक्षा देने के अधिकार की प्रार्थना मंजूर कर ली। उसके अनुसार सन् १८९२ तक दस वर्षों में मेट्रोपोलीटन से ५१३ विद्यार्थी बी० एल० परीक्षा में पास हुए। हर साल पास होनेवाले विद्यार्थियों की औसत ४२३ पड़ी। इनमें से (सन् १८८३, ८५ और ८६ ई० में) तीन विद्यार्थियों ने सर्वोत्तम स्थान प्राप्त किया। उन्हें सौ-सौ रुपये का पुरस्कार भी मिला। इस कालेज की परीक्षा का फल देखने से मालूम पड़ता है कि साधारणतः गवर्नमेंट-कालेज को छोड़-कर और किसी कालेज को ऐसी सन्तोष-जनक सफलता नहीं प्राप्त हुई। आज विद्यासागर इस लोक में नहीं हैं। इस कारण मेट्रोपो-लीटन के लिए वैसा यत्न और परिश्रम करनेवाला कोई आदमी नहीं है। उक्त विद्यालय के तत्कालीन अध्यापक नगेन्द्रनाथ घोष ने विद्या-सागर के स्वर्गवास के अवसर पर शोक-प्रकाश के लिए होनेवाली सभा में कहा था "वे इन दिनों अक्सर बीमारी के कारण पलँग पर पड़े रहते थे। किन्तु यदि कभी उन्हें उठने की ताक़त होती थी तो उनके दोनों दुर्बल पैर सबसे पहले कालेज की ओर उन्हें ले जाते थे!" स्कूल-कालेज को ऐसी प्यारी चीज़ समझकर अपने देश के हित के लिए उसकी सेवा कितने आदमी कर सकते हैं? हम लोगों

के हृदय में ईर्ष्या के कारण अपने देश का हित करने की इच्छा का अङ्कुर ही नहीं उगता। पूर्ण रूप से स्वार्थ को भूलकर परोपकार में तत्पर होने से ही ऐसे सुफल की आशा की जा सकती है। सर रमेशचन्द्र विद्यासागर के उक्त कालेज के वर्त्तमान सञ्चालकों के अगुआ हैं। उनको विद्यासागर के प्रति गहरी श्रद्धा और अनुराग है। उन्हें अवसर भी है। वे बङ्ग-जननी के योग्य पुत्र हैं। वे यदि सुपुत्र की तरह माता के एक सुपुत्र के शुरू किये काम की प्रतिष्ठा और श्रीवृद्धि के लिए यत्न करें तो मेट्रोपोलीटन पहले की तरह गौरव के साथ संसार को अपना परिचय दे सकेगा।

विद्यालय के सम्बन्ध में केवल कुछ ही बातें हमें और कहनी हैं। जब से विद्यासागर ने इस विद्यालय का काम अपने हाथ में लिया तब से बराबर उत्साह और ममता के साथ उसकी उन्नति करते रहे। अपने इस कार्य में विशेष सुविधा होने के ख़याल से उन्होंने सन् १८७६ ई० में तीसरे दामाद बाबू सूर्यकुमार अधिकारी बी० ए० को मेट्रोपोलीटन का सेक्रेटरी बना दिया। इसके बाद धीरे-धीरे उनके काम से ख़ुश होकर उन्हें विद्यासागर ने कालेज का प्रिन्सिपल बना दिया। सूर्यकुमार बाबू ने १३ वर्ष तक मेट्रोपोलीटन की उन्नति में लगे रहकर सन् १८८८ ई० में कालेज से सम्बन्ध छोड़ दिया। इतने दिनों के पुराने कर्मचारी और दामाद के कालेज से अलग होने के समय जैसा व्यवहार करना चाहिए था वैसा व्यवहार विद्यासागर नहीं कर सके। उन्होंने यह काम इच्छा-पूर्वक किया था। उन्होंने इस काम में भी अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का पूर्ण परिचय दिया। वे किसी कारण अगर नाख़ुश होते थे तो पुत्र, कन्या, बहन, भाई, दामाद या अपने-पराये का ख़याल न करते थे। वे सबको एक सा दण्ड देते या सबसे एक सा व्यवहार करते

थे। अन्य कोई आदमी अगर कालेज का प्रिन्सिपल होकर नाराज़गी का काम करता तो उसके साथ विद्यासागर जैसा व्यवहार करते वैसा ही व्यवहार उन्होंने अपने दामाद के साथ भी किया। यह भी इस बात का श्रेष्ठ प्रमाण है कि वे एक असाधारण पुरुष थे।

विद्यासागर की मृत्यु के बाद कुछ लोगों ने यह कहकर गड़बड़ मचाना शुरू किया कि मेट्रोपोलीटन और उसकी सारी सम्पत्ति विद्यासागर के पुत्र नारायणचन्द्र की नहीं है और न उस पर उनका अधिकार होना चाहिए। इस गड़बड़ के निर्णय के लिए गड़बड़ मचानेवाले लोग अदालत तक जाने को तैयार थे। किन्तु नारायण बाबू की समझदारी से ऐसा होने की नौबत नहीं आई। नारायण बाबू ने सर रमेशचन्द्र मित्र आदि बहुत से गण्य-मान्य पुरुषों के हाथ में विद्यालय का प्रबन्ध दे दिया। किन्तु इस समय प्रश्न यह है कि विद्यासागर मेट्रोपोलीटन को अपनी सम्पत्ति समझते थे या नहीं? उन्होंने जिस तरह अपनी और-और सम्पत्तियों का उपयोग किया है उससे यह जान पड़ता है कि वे अपनी किसी सम्पत्ति को ख़ास अपनी नहीं समझते थे। जिस तरह अन्यान्य सम्पत्तियों को वे अपनी चीज़ समझते थे वैसे ही मेट्रोपोलीटन को भी। अन्तर इतना ही था कि अन्यान्य सम्पत्तियों से प्राप्त धन को वे अपने और अपने परिवार के काम में लाते थे, और मेट्रोपोलीटन की सम्पत्ति से उन्होंने कभी एक पैसा भी नहीं लिया। मेट्रोपोलीटन को अपनी सम्पत्ति जानकर भी उन्होंने उससे अन्य दस आदमियों को लाभ पहुँचाया है। जो लोग मेट्रोपोलीटन के और दस स्वत्वाधिकारी खड़े करके विद्यासागर के उत्तराधिकारी को उसके अधिकार से वञ्चित करने के लिए उद्यत हुए थे उन्होंने अपने छपे हुए नोटिस में लिखा था "मेट्रोपोलीटन की बड़ी भारी इमारत बनने के समय विद्यासागर ने

जो ढेर के ढेर रुपये क़र्ज़ लिये थे उनकी अदाई के लिए उन्होंने स्टाम्प में लिख दिया था कि यह ऋण अदा होने के पहले मैं मर जाऊँ तो मेट्रोपोलीटन की ज़मीन और अन्यान्य सब सम्पत्ति बेंच-कर ऋण चुका दिया जायगा। मैं और मेरे उत्तराधिकारी इस लिखा-पढ़ी के अनुसार कार्य्य करने के लिए वाध्य हैं।"*

एक विद्यासागर थे, जिन्होंने देशवासियों की भलाई के लिए स्कूल खोला और उसका मकान वनाने में रुपया ऋण लेकर उसकी अदाई के लिए अपने को और अपने उत्तराधिकारियों को ज़िम्मेदार वना दिया। एक वे पुरुष थे, जिन्होंने उस रुपये की अदाई के लिए विद्यासागर के उत्तराधिकारियों को अदालत ले जाकर ज़ेरवार करना चाहा था। जिस समय शरीर का बूँद-बूँद रुधिर देकर—अपनी विद्याबुद्धि और कमाई का कण-कण जोड़कर—विद्यासागर ने मेट्रोपोलाटन को खड़ा किया और उसकी उन्नति के लिए प्रयत्न करते रहे उस समय कोई भी हितू वनकर पास नहीं खड़ा हुआ! जब स्टाम्प लिखकर उन्होंने अपने को और अपने उत्तराधिकारियों को महाजन के हाथ वेचा उस समय किसी ने वात नहीं पूछी! उस समय मेट्रोपोलीटन के नवीन उत्तराधिकारी लोग लाख रुपया चन्दा जमा करके विद्यासागर का ऋण चुकाने के लिए अग्रसर नहीं हो सके! यदि सारी सम्पत्ति विद्यासागर और उनके उत्तराधिकारी की

* "In this deed the Pandit says that he had not created any other encumbrance upon the land, that he is the absolute proprietor of the same and that the creditor will be entitled to realise the debt from the land pledged and from any other property belonging to him, and that he and his heirs will be bound by the deed."—Extract taken from the statement published by the present authorities.

नहीं है तो नारायण बाबू को मेट्रोपोलीटन की भारी इमारत और ज़मीन का स्वत्वाधिकारी स्वीकार करके कालेज के बाबत हमेशा के लिए १००) महीने की वृत्ति देने की क्या आवश्यकता थी? असल बात यह है कि कई एक नये स्वत्वाधिकारियों के उपस्थित होने पर भी भद्र पुरुषों की मण्डली को उनका दावा उतना ज़बर्दस्त नहीं जान पड़ा। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि विद्यासागरजी मेट्रोपोलीटन को अपनी सम्पत्ति समझते थे। उनकी इच्छा थी कि मृत्यु के पहले एक कमेटी बनाकर उसे कालेज के चलाने का काम सौंप दें। किन्तु अधिक अस्वस्थ हो जाने के कारण वे अपनी इस इच्छा को पूरा नहीं कर सके। मेट्रोपोलीटन के वर्त्तमान सञ्चालकों ने अपनी रिपोर्ट में इस बात का उल्लेख भी किया है! अगर वह कमेटी बन जाती और अगर उसके मेम्बर धर्म का ध्यान रखकर काम करते तो इन नवीन स्वत्वाधिकारियों का आविर्भाव कभी न होता। उस कमेटी के आगे कोई भी इस कार्य में अग्रसर होने का साहस न करता और अगर कोई अग्रसर भी होता तो उसका कुछ फल न होता। इस घटना से स्पष्ट मालूम पड़ जाता है कि यह विद्यालय विद्यासागर की ही सम्पत्ति था और यह बात विद्यासागर ख़ुद समझते थे। किन्तु उन्होंने अपनी यह सम्पत्ति पराये काम में आने के लिए रख छोड़ी थी।

इस देश के युवकों को शिक्षा देने के बारे में जैसी व्यवस्था करने में अधिक सुफल की आशा की जा सकती है वैसी व्यवस्था करने में विद्यासागर ने कोई कसर नहीं रक्खी। किन्तु वे सदा यही कहा करते थे कि "बालकों को सुशिक्षा पिता, माता और घर के आदमियों से ही मिलती है।" इस बारे में एक बार एक जगह बातचीत हो रही थी। प्रसङ्ग-वश एक आदमी ने कहा—"जेनरल एसेम्बिली में आजकल ख़ूब अच्छी पढ़ाई होती है।" विद्यासागर

ने सिर हिलाकर कहा—"ऊँ—हूँ, यह बात ठीक नहीं है।" दूसरे आदमी ने कहा—"क्यों महाशय?" विद्यासागर ने कहा—"मैं जिस समय इन्स्पेक्टरी का काम करता था उस समय एक बार मेदिनीपुर ज़िले में जाते-जाते रास्ते में एक नदी मिली। वहाँ नदी के उस पार जाने की व्यवस्था बहुत अच्छी थी। किनारे एक डोंगी बँधी रहती है। उसमें लग्गी रक्खी रहती है। आप उतराई का पैसा मल्लाह को देकर डोंगी पर बैठ लीजिए। लग्गी चलाकर ठेलते-ठालते हुए डोंगी उस पार ले जाइए और वहाँ फिर उसी तरह उसे बांध दीजिए। उधर से जो कोई आवेगा वह भी इसी तरह चला आवेगा। हमारे देश के इन सब कालेजों का भी यही हाल है। यहाँ भी उसी तरह पैसा फेंक दो और आप लग्गी चलाकर पार चले जाओ।"

एक बार और इसी तरह कालेज की परीक्षाएँ पास किये हुए उपाधिधारियों के बारे में बातचीत हो रही थी कि वे कितनी शिक्षा प्राप्त करते हैं और उन्हें इस पढ़ाई से क्या लाभ और क्या हानि होती है। इस अवसर पर विद्यासागर ने बड़े दुःख के साथ कहा था—"देश में शिक्षा का प्रचार कुछ भी नहीं हुआ! ज्ञान का हाल तो कुछ पूछो ही नहीं। एक बार मैंने सुना था कि विलायत से एक मेशीन आई है। उसमें एक ओर बछिया को खड़ा कर दो और दूसरी ओर कुछ ऊखें रख दो। उसके बाद एक ओर ऊख से रस, रस से गुड़ और गुड़ से चीनी बन जायगी और दूसरी ओर बछिया से गऊ होकर उससे दूध और दूध से खोया बन जायगा। इस प्रकार कुछ ही समय में उस मेशीन की सहायता से मीठे मलाई के लड्डू बन जाते हैं। दूकानों पर कुछ आदमी बैठे हुए तरह-तरह की मिठाइयाँ तैयार कर रहे हैं। मिठाइयों के रङ्ग और छाप

देखकर लोग मोहित हो जाते हैं। मिठाइयों के ढँग भी अनेक प्रकार के हैं। कोई वर्फ़ी, कोई पेड़ा, कोई गुलाव-जामुन और कोई हलवासोहन है। मगर चखकर देखो, सबकी एक ही चाशनी—सबका एक ही स्वाद होगा! यही हाल विश्वविद्यालय की शिक्षा का है। यहाँ के भी किसी माल में एम० ए० की, किसी माल में बी० ए० की, किसी में एफ़० ए० की और किसी में एन्ट्रेन्स की छाप लगी हुई है। जब चखकर देखते हैं तो सब एक ही तरह की चीज़ देख पड़ती है।" जिस शिक्षा को पाकर हमारे देश के लोग ख़ुशी के मारे फूले नहीं समाते, गौरव के गर्व से ज़मीन पर पैर नहीं रखते उस शिक्षा की असारता का उन्हें यथेष्ट अनुभव हो गया था। इस शिक्षा में परिवर्त्तन असम्भव होने के कारण उसके लिए कभी-कभी वे बहुत ही दुःख प्रकट किया करते थे।

इन सब त्रुटियों के रहने पर भी विद्यासागर को विश्वास था कि इसी शिक्षा के प्रचार से देश का कुछ कल्याण होने की सम्भावना है। लोक-समाज के कल्याण का ख़याल करके ही वे निरन्तर इस शिक्षा की उन्नति में लगे रहते थे। वे बिलकुल निःस्वार्थ-भाव से देश में सुशिक्षा का प्रचार कर रहे थे। इस बात का अन्तिम और सबसे श्रेष्ठ प्रमाण देकर हम अब दूसरे विषय को उठावेंगे। बँगला-साहित्य के गङ्गठन और बालकों को बँगला की शिक्षा देने के लायक़ ग्रन्थ बनाने के लिए उत्साहित करने और अच्छी पुस्तकों को चुनने के इरादे से गवर्नमेंट ने जब सबसे पहले सेन्ट्रल टेक्सबुक कमेटी (Central Text-Book Committee) बनाई थी तब उस समय के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर एटकिन्सन साहब ने विद्यासागर को एक पत्र लिखा था। विद्यासागर ने भी उसके उत्तर में एक पत्र लिखा था। दोनों पत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

श्रीयुत पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर :

प्रिय पण्डित महाशय,

विद्यालय की पाठ्य पुस्तकें चुनने के लिए जो कमेटी बनाई जा रही है उसमें अपना नाम रखने के लिए क्या आप अपनी अनुमति देंगे ? बँगला और अँगरेज़ी की पाठ्य पुस्तकों की जाँच और परीक्षा करना ही कमेटी का काम होगा। इस कारण इस कमेटी में योग्य देसी पण्डितों की सहायता बहुत ज़रूरी है। इस कारण आप हमारे इस कार्य में सहायता करने के लिए राज़ी होंगे तो मैं आपका अत्यन्त अनुगृहीत होऊँगा।*

११ जुलाई, १८७३ — आपका विश्वासपात्र

डब्लू० एस० एटकिन्सन।

डब्लू० एस० एटकिन्सन साहब की सेवा में।

प्रिय महाशय,

आपके ११ तारीख़ के पत्र के उत्तर में निवेदन यह है कि विद्यालय की पाठ्य-पुस्तकें चुननेवाली कमेटी में मैं ख़ुशी से शरीक होता। लेकिन दो कारणों से मैं आपके इस अनुरोध को स्वीकार करने में

July 11, 1873.

* To—PUNDIT ISVAR CHANDRA SARMA.

MY DEAR PUNDIT,

Will you allow me to add your name to the Committee upon School Books? The enquiries of the Committee are to be extended to Vernacular School books as well as English, and it is therefore necessary to secure the help of the best native scholars.

I shall be much obliged if you will give us the benefit of your service.

Sincerely yours,

(Sd.) W. S. ATKINSON.

असमर्थ हूँ। यह कमेटी जिन पुस्तकों के गुणों और दोषों पर विचार करेगी उनके ग्रन्थकार की हैसियत से उनसे मेरा लाभ-हानि का सम्बन्ध है। ऐसी अवस्था में विचारक की हैसियत से इस कमेटी में मेरा शरीक होना उचित नहीं। इसके सिवा मेरा यह भी खयाल है कि मैं कमेटी में मेम्बर की हैसियत से उपस्थित रहूँगा तो लोग मेरी पुस्तकों के बारे में खुलकर अपनी राय न दे सकेंगे। ऐसी दशा में किसी तरह अपने को उस कमेटी का मेम्बर बनाने के लिए मैं सम्मति नहीं दे सकता। मेरा अनुरोध है कि आप दया करके इसके लिए मुझको क्षमा करें *।

कलकत्ता, १३ जुलाई, १८७३ } आपका विश्वासपात्र
श्रीईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

यह पत्र ही इस बात का बड़ा भारी प्रमाण है कि देश के लोगों को शिक्षा देने और उनका ज्ञान बढ़ाने के लिए विद्यासागर ने कैसे निःस्वार्थ-भाव से परिश्रम किया था। उन्होंने मेट्रोपोलीटन से तो

---

* To—W.S. ATKINSON, Esqr., M.A.

My dear Sir,

In reply to yours of the 11th instant, I beg to inform you that I would have gladly accepted your invitation to serve on the School Book Committee, but on two considerations I feel constrained to decline it. As an author, I am directly interested in the decision of the Committee, and I do not therefore think it right to take a part in their deliberations. Besides, I am inclined to think that my presence in the Committee may interfere with a free and unreserved discussion of the merits and demerits of the books. I hope you will therefore kindly excuse me if I cannot persuade myself to comply with your request.

Yours Sincerely,
(Sd.) ISVAR CHANDRA SARMA.

एक पैसा लिया ही नहीं, वल्कि टेक्स-बुक कमेटी में शरीक होने के लिए डाइरेक्टर साहब के कहने पर भी उसे इस ख़याल से नामञ्जूर कर दिया कि कहीं कोई यह कहकर स्वार्थी न बनावे कि विद्यासागर अपनी पुस्तकें मञ्जूर कराने के लिए ही टेक्स-बुक कमेटी के मेम्बर हुए हैं। हमारी समझ में वे वर्त्तमान पूर्वी और पश्चिमी नीति को नीचा दिखाकर न्याय और निष्ठा की विजय-वैजयन्ती फहरा गये हैं। क्या वर्त्तमान पीढ़ के बङ्गाली युवक विद्यासागर के आदर्श पर स्वार्थ-शून्य होकर देश-सेवा और समाज-सेवा के काम करना न सीखेंगे? अगर वे विद्यासागर के चरित्र से ये बातें न सीख सकें तो फिर और कहां सीखेंगे? सचमुच यह हमारे अभाग्य ही की बात है कि ऐसा उच्च आदर्श सामने रहने पर भी स्वदेश-हित की अनेक चेष्टाएँ आरम्भ में ही समाप्त हो जाती हैं। सबसे बढ़कर दुःख तो इस बात का है कि बँगला-साहित्य इस समय स्वार्थपरता से कलुषित हो रहा है। सहृदय साहित्य-सेवक लोग यदि दया करके विद्यासागर के दिखलाये रास्ते पर धीरे-धीरे अग्रसर होने की चेष्टा करें तो वर्त्तमान साहित्य का कूड़ा न देख पड़े और विद्यासागर की इच्छा के अनुसार लोगों को शिक्षा और ज्ञान प्राप्त करने में सत्साहित्य से सहायता मिले।

विद्यासागर के उद्योग से स्थापित मेट्रोपोलीटन इन्स्टीट्यूशन की देखा-देखी उस तरह के अनेक विद्यालय स्थापित हुए थे। विद्यासागर के अनुकरण पर सबसे पहले साधारण ब्राह्म-समाज के मुखियों* ने सिटी-कालेज की नींव डाली। उनके असीम आग्रह और उत्साह

* श्रीयुत आनन्दमोहन वसु, श्रीयुत दुर्गामोहन दास, श्रीयुत शिवनाथ शास्त्री, श्रीयुत उमेशचन्द्र दत्त, श्रीयुत द्वारकानाथ गंगोपाध्याय आदि महाशयों के उद्योग और परिश्रम से सिटी-कालेज की स्थापना और उन्नति हुई है।

से सिटी-कालेज बहुत शीघ्र अपना काम चला लेने लायक़ अवस्था को पहुँच गया। क्रमशः रिपन- कालेज और अन्यान्य प्रथम श्रेणी तथा द्वितीय श्रेणी के कालेजों* का अभ्युदय और उन्नति सहज-साध्य होती गई।

आज कलकत्ते के बाहर भी अनेक स्थानों में यूनिवर्सिटी से सम्बद्ध बहुत से कालेज स्थापित हो गये हैं। उन्होंने बहुत से ग़रीब बङ्गाली विद्यार्थियों के उच्च-शिक्षा प्राप्त करने और ज्ञानोपार्जन से अपना जन्म सफल बनाने का मार्ग साफ़ और सहज बना दिया है। इन सब कामों का श्रेय विद्यासागर को दिया जा सकता है; क्योंकि इस मार्ग में सबसे पहले अनेक असुविधाओं का ख़याल न करके विद्यासागर ही अग्रसर हुए थे। बङ्गाल के अनेक स्थानों में स्थापित और देशी आदमियों के द्वारा सञ्चालित कालेजों † के सञ्चालक लोग इस बात के लिए विद्यासागर के निकट ऋणी हैं। इन विद्यालयों के सञ्चालकों से विद्यासागर के लिए कुछ करने की आशा करना

* रिपन कालेज अकेले सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की चेष्टा और अध्यवसाय का फल है। स्वर्गीय केशवचन्द्र के अलबर्ट-कालेज, विलायत से लौटे हुए गिरीशचन्द्र वसु के द्वारा सञ्चालित बङ्गवासी कालेज, मेट्रोपोलीटन के भूत-पूर्व अध्यापक बाबू खुदीराम वसु के स्थापित सेन्ट्रल इन्स्टीटयूशन आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेख के योग्य है।

† महारानी स्वर्णमयी सी० आई० द्वारा सञ्चालित बहरामपुर कालेज, महाराजा कूचविहार का विक्टोरिया कालेज, बर्दवान के महाराज का राज-कालेज, ढाके का जगन्नाथ-कालेज, उत्तर-पाड़ा-कालेज, बरीसाल का ब्रजमोहन-कालेज, भागलपुर का तेजनारायण-कालेज, विहार-नेशनल-कालेज, नाड़ाइल का विक्टोरिया-कालेज, सिलहट का एम० सी० कालेज, कुमिल्ले का विक्टोरिया-कालेज और पबना-कालेज इत्यादि।

क्या अनुचित होगा ? विद्यासागर का स्मारक स्थापित करने के लिए सर रमेशचन्द्र मित्र ख़ुद धन-संग्रह की चेष्टा कर रहे हैं। इससे बढ़-कर सुख की बात और क्या हो सकती है ? आधुनिक बँगला के सर्व-श्रेष्ठ हितैषी ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का स्मारक बनाने के लिए जो सज्जन चेष्टा कर रहे हैं वे इस कार्य में इस लोक में सन्तोष और अमरपद पाकर कृतार्थ होंगे। विद्यासागर के कृतज्ञ और ऋणी लोग कम नहीं हैं। वे चाहें तो स्वदेश-प्रेमी धर्मवीर विद्यासागर का स्मारक स्थापित होना बहुत ही सहज है।

विद्यासागर का पारिवारिक और सामाजिक जीवन

सन् १८३५ ई० के आरम्भ में, पन्द्रह वर्ष की अवस्था में, ईश्वरचन्द्र का विवाह हुआ था। उनके बचपन और बाल्यजीवन का पूरा वर्णन पहले किया जा चुका है। अब उनके पारिवारिक और सामाजिक जीवन का हाल लिखा जाता है। विवाह की रात को ही विद्यासागर ने आगे चलकर अपने रसिक होने का परिचय दिया था। कलकत्ते में जब ईश्वरचन्द्र थे तब एक मित्र के यहाँ विवाह के दिन निमन्त्रण में उन्हें जाना पड़ा। तरह-तरह के हँसी-मज़ाक करके सब लोग आनन्द कर रहे थे। उस समय विद्यासागर ने कहा—"आजकल विवाह में वैसा मज़ा नहीं आता और वर को भी वैसी विषम परीक्षा नहीं देनी पड़ती।" ईश्वरचन्द्र के कई मित्रों ने उनसे पुराने ज़माने के व्याह का मज़ा सुनाने के लिए अनुरोध किया। ईश्वरचन्द्र ने कहा—"इस समय क्या है ? उस समय वर को पहले दिन सोने के कमरे में जाकर अनेक बालिकाओं में से अपनी स्त्री खोजनी पड़ती थी। मण्डप के नीचे, शुभ दृष्टि के समय, एक बार स्त्री को देखकर अनेक बालिकाओं में से उसे खोज निकालना बड़ा ही कठिन काम है। मुझे भी यह परीक्षा देनी पड़ी थी। घर के भीतर पैर रखते ही स्त्रियों ने कहा 'अपनी स्त्री को खोज लो।' मैंने देखा कि उस औरतों के दङ्गल से अपनी अपरिचिता अर्धाङ्गिनी को खोज निकालना मेरा काम नहीं है। मैंने सोच-विचारकर अन्त

को एक अपनी हमजोली की गोरी-गोरी ख़ूबसूरत लड़की का हाथ पकड़कर कह दिया 'यही मेरी स्त्री है।' उसका हाथ पकड़ते ही बड़ा गोलमाल मच गया। एक दूसरी के ऊपर गिर पड़ी, कोई किसी ओर से भागा। किसी को भागने के लिए जगह ही नहीं मिली। मैंने जिसे पकड़ा था उसे मज़बूती से पकड़ा था। भाग जाना उसके लिए असम्भव था। मैंने उसका हाथ पकड़कर कहा 'तुम मेरी स्त्री हो। मैं और स्त्री नहीं चाहता।' वह लड़की 'बाप रे! दैया रे!' कहकर चिल्लाने लगी। दो-एक बड़ी-बूढ़ी अधेड़ औरतें भी आ गईं। उन्होंने पास आकर कहा 'वह तुम्हारी स्त्री नहीं है; उसे छोड़ दो।' मैंने कहा 'क्यों छोड़ दूं? तुमने कहा था कि अपनी स्त्री खोज लो। मैंने खोज लिया। यही मुझे पसन्द है।' तब वह लड़की मेरे पैरों पर पड़कर कहने लगी 'अच्छा मुझे छोड़ दो। मैं तुम्हारी स्त्री को खोजे लाती हूं।' उसके बाद आपसे आप दुलहिन हाज़िर कर दी गई।" विद्यासागर ने ऐसा छकाया कि फिर कभी किसी को उनसे दिल्लगी करने की हिम्मत न हुई।

ईश्वरचन्द्र में रसिकता की मात्रा बचपन से ही थी। कालेज में काव्यशास्त्र के अध्यापक जयगोपाल तर्कालङ्कार ने एक दिन सब लड़कों को 'गोपालाय नमोऽस्तु मे' यह समस्या देकर श्लोक बनाने के लिए कहा। विद्यासागर ने अध्यापक महाशय से कहा—गुरुजी, किस गोपाल के पक्ष में इस श्लोक की पूर्ति करूँ? एक गोपाल तो आप हैं और एक गोपाल वृन्दावनविहारी थे। गुरुजी ने इस सुयुक्तिपूर्ण प्रश्न पर हँसकर कहा—वृन्दावनविहारी गोपाल का वर्णन करो।

विद्यासागर के विवाह के बाद चौदह वर्ष तो बड़ी ही अशान्ति से बीते। इसका कारण यही था कि बाईस वर्ष की अवस्था तक वह

के कोई सन्तान न होने के कारण परिवार के सब लोगों को बड़ी चिन्ता थी। जो आदमी जो दवा खिलाने को कहता था वही दवा बहू को खिलाई जाती थी। अन्त को सन् १८४९ ई० के कार्त्तिक की पूर्णिमा को विद्यासागर के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यही नारायण-चन्द्र विद्यारत्न (वनर्जी) हैं। इनके बाद लगातार चार लड़कियाँ हुईं। हेमलता, कुमुदिनी, विनोदिनी और शरत्कुमारी।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर	१	पुत्र. श्रीयुत नारायणचन्द्र (विद्यारत्न) | इनके एक पुत्र और तीन कन्या हैं
	२	बड़ी कन्या, हेमलता देवी और दामाद, गोपालचन्द्र समाजपति | सुरेशचन्द्र समाजपति, और ज्योतिषचन्द्र समाजपति
	३	दूसरी कन्या, कुमुदनी देवी और दामाद, अघोरनाथ मुखोपाध्याय | तीन पुत्र, चार कन्या
	४	तीसरी कन्या, विनोदिनी देवी और दामाद, बाबू सूर्यकुमार अधिकारी | तीन पुत्र, चार कन्या
	५	चौथी कन्या, शरत्कुमारी देवी और दामाद, बाबू कार्त्तिकचन्द्र चट्टोपाध्याय | दो पुत्र, एक कन्या

विद्यासागर माता-पिता को बहुत चाहते थे। उनकी पितृभक्ति और मातृपूजा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। किन्तु उनकी माता-पिता पर जितनी भक्ति और श्रद्धा थी उसका वर्णन शब्दों के द्वारा किया ही नहीं जा सकता। पिता-माता को सुखी रखना उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। वे माता-पिता की प्रसन्नता के आगे अपने सुख-दुःख की कुछ भी परवा न करते थे। बचपन से ही वे इस तरह पले थे कि अपने सुख की ओर ध्यान देने का अवसर ही उन्हें नहीं मिला। सदा उन्हें आत्मनिग्रह और आत्म-शासन के अधीन होकर चलना पड़ता था। किन्तु अगर कहीं कुछ अपने सुख का कारण मौजूद होता तो वे उसे भी माता-पिता के लिए छोड़ने को तैयार थे। इस कारण प्रायः उनके पारिवारिक सुख को धक्का पहुँचता था। उन्होंने सदा अपने माता-पिता को देवता की तरह माना। उनके समान माता-पिता के भक्त पुरुष आजकल बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। देवता की आज्ञा से उसका सेवक जैसे आत्मदमन कर सकता है वैसे ही वे माता-पिता की आज्ञा से मन मारने के लिए तैयार रहते थे।

ईश्वरचन्द्र के बहुत पीछे पड़ जाने पर उनके पिता ठाकुरदास ने नौकरी छोड़ दी। वे गाँव में अपने घर में पुरखा के तौर पर रहने लगे। वे पास-परोस का भी ख़याल रखते थे। विद्यासागर की माता भी अन्नपूर्णा की तरह गृहस्थी के काम करके छुट्टी मिलने पर परोसियों के काम आती थीं। रोगी को दवा देना, दुखी को धीरज बँधाना, भूखे को अन्न देना उनके नित्य के काम थे। विद्यासागर कलकत्ते में रहते थे। घर के सब आदमी एक ही में थे। सबके खाने-पीने आदि का खर्च विद्यासागर को ही भेजना पड़ता था। बहुत ज़रूरत पड़ने पर कभी-कभी माता, पत्नी और पुत्र, कन्याओं

को कलकत्ते में बुला लेते थे। जब तक मा-बाप जीते रहे तब तक और उसके बाद भी विद्यासागर अकेले ही कलकत्ते में रहे। उनकी स्त्री और लड़की-लड़के गाँव में ही रहते थे। विद्यासागर ने अपनी स्त्री और पुत्र-कन्या की अपेक्षा सर्वसाधारण की सेवा का ही अधिक ध्यान रक्खा। विद्यासागर किसी ज़रूरत से या किसी काम-काज के मौक़े पर जब घर जाते थे तब घरवालों की अपेक्षा पास-परोसी और अन्यान्य अपरिचित आदमी ही अधिक प्रसन्न होते थे। क्योंकि विद्यासागर की सहायता से उनकी इच्छाएँ पूर्ण होती थीं और वे दुख या सङ्कट से छुटकारा पाते थे। वे जब जहाँ रहते थे वहाँ, उनके पास, दवाओं का बक्स, नये कपड़े के थान, रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी और पैसे मौजूद रहते थे। ग़रीबों को तीन ही बातों का कष्ट होता है—औषध का, अन्न का और वस्त्र का। इन तीनों कष्टों को दूर करने के लिए विद्यासागर सदा तैयार रहते थे। गाँव में और आसपास के स्थानों में इस तरह धन बाँटने की ख़बर फैल गई। एक बार, जिस समय विद्यासागर वीरसिंह गाँव में ही थे उस समय, कुछ दुष्ट लोगों ने मिलकर उनके यहाँ डाका डाला। डकैतों को यह विश्वास था कि विद्यासागर के यहाँ बहुत रुपया हाथ लगेगा। उस समय विद्यासागर के घर में बहुत आदमी टिके हुए थे। आधी रात के समय दलबन्द डाकुओं के आने से सब डर गये। लोगों ने देखा कि ४०-५० डाकू सदर दरवाज़ा तोड़कर भीतर घुस आये। तब सब लोग पीछे के दरवाज़े से निकलकर भागने के लिए लाचार हुए। माता-पिता और परिवार-परिजनसहित विद्यासागर ने भागकर अपनी जान बचाई। डकैतों ने उनकी बहुत खोज की थी। पा जाते तो उनसे कुछ रुपया वसूल करते। विद्यासागर को न पाकर अन्त को डकैत घर की सब चीज़ें उठा ले गये।

विपन्न विद्यासागर ने उसी रात को थाने में ख़बर भेजी। सवेरे पुलिस-इन्स्पेकृर साहब पधारे। सबसे पहले दक्षिणा की व्यवस्था न देखकर इन्स्पेकृर साहब का मिज़ाज कुछ गरम हो आया। ठाकुरदास ने इन्स्पेकृर साहब से कहा—"आप कुलीन ब्राह्मण के लड़के हैं। यों आप आते तो आपको दक्षिणा के तौर कुछ दे सकता था। इस मामले में तो एक कौड़ी भी न दूँगा।" अब ठाकुरदास तो बाज़ार में थाली-लोटा वग़ैरह ज़रूरी सामान ख़रीदने चल दिये और ईश्वरचन्द्र मुहल्ले के जवानों और भाइयों के साथ मैदान में गेंद खेलने लगे! कैसा निश्चिन्त-भाव है! गृहस्थी का सब बोझा सिर पर, उस पर ऐसी विपत्ति का अवसर, और उस पर यह लड़कों की ऐसी सरलता! क्या यह कुछ विचित्रता नहीं है? ईश्वरचन्द्र की यह ढिठाई देखकर दारोग़ा साहब जल उठे। उन्होंने कहा—इस बाम्हन (ठाकुरदास) की ऐसी मजाल कि मेरे मुँह पर इस तरह कहे! इसके बाद विद्यासागर की ओर उँगली उठाकर कहा—यह लौंडा भी किस तरह का आदमी है! कल डकैती हुई है और आज गेंद खेल रहा है।

पास ही चौकीदार खड़ा था। उसने कहा—"हुज़ूर ये मामूली आदमी नहीं हैं। इनके घर आने पर जहानाबाद के डिप्टी बाबू इनसे मिलने आते हैं। सुना जाता है कि छोटे लाट और बड़े लाट से भी इनका हेलमेल है!" इतना सुनते ही दारोग़ा साहब का मिज़ाज ठीक हो गया। उनके मुँह से बात निकलना कठिन हो गया, मत्थे पर पसीने की बूँदें झलक आईं। असल बात यह है कि जो कायर नहीं होता वह अवसर पाकर दुर्बल पर अत्याचार करने के लिए कभी खड़ा ही नहीं होता। दुर्बल को सतानेवाले कायर का दूसरे की शक्ति की कल्पना से भी यों शिथिल हो जाना ही

स्वाभाविक बात है। इसी डकैती के बाद पूर्वोक्त श्रीमन्त सरदार को विद्यासागर के पिता ने नौकर रख लिया।

इस घटना के बाद कलकत्ते आकर विद्यासागरजी एक दिन छोटे लाट हालिडे साहब से मिलने गये। प्रसंग छिड़ने पर वीरसिंह की डकैती का ज़िक्र चला। सब हाल सुनकर छोटे लाट सन्नाटे में आ गये। उन्होंने कहा—"आपके यहाँ डकैती हुई और आपने उनको रोका नहीं; पीछे के दरवाज़े से भाग गये। यह तो बड़े ही कायरपन का काम है!" विद्यासागर ने कहा—"आप तो बड़े मज़े के आदमी हैं। जान लेकर भागा तो उसे आपने कायरपन बताया, और अगर मैं ४०-५० डाकुओं से अकेले भिड़कर जान दे देता तो आप ही कहते बड़ा अहमक था। इतने आदमियों का सामना करके व्यर्थ ही प्राण दे दिये। आप लोगों के मन के माफ़िक़ काम होना बड़ा कठिन है!"

वीरसिंह गाँव में मुफ़्त शिक्षा देनेवाला अँगरेज़ी स्कूल खुलने पर कई पाठशालाएँ उठ गईं। इन पाठशालाओं के अध्यापकों (ईश्वरचन्द्र चट्टोपाध्याय, हरचन्द्र आचार्य, उमाचरण चट्टोपाध्याय, मधुसूदन चट्टोपाध्याय, कालीकान्त चट्टोपाध्याय) ने रोज़ी न रहने पर विद्यासागर से जाकर अपने कष्ट का हाल कहा। विद्यासागर ने अपने बचपन के गुरु को अपने स्कूल में निम्न श्रेणी के बालकों को वर्णपरिचय पढ़ाने के लिए नौकर रख दिया। अन्य अध्यापकों को पहले की अपेक्षा कुछ अधिक वेतन की व्यवस्था करके अन्यान्य स्थानों में नौकर रख दिया और अपने भाई शम्भुचन्द्र विद्यारत्न से कह दिया कि इन लोगों को उपक्रमणिका से लेकर पञ्चतन्त्र, रामायण आदि पढ़ा दो। इन ग्रन्थों को पढ़ लेने पर अधिक वेतन पर ये लोग स्कूलों में नौकर रखा दिये जायँगे।

चाहे किसी कारण से किसी पर विपत्ति आ पड़ी हो, उसका हाल सुनते ही विद्यासागर का कोमल हृदय विषाद से भर जाता था। पराया दु:ख दूर करने की प्रवृत्ति उनमें भरी पड़ी थी। इसी कारण ग्राम्य-गुरुओं के कष्ट को दूर किये विना उनसे नहीं रहा गया।

एकान्नवर्त्ती बड़े परिवार में सदा जिन असुविधाओं के होने की सम्भावना होती है उनकी विद्यासागर के यहाँ कमी न थी। किन्तु विद्यासागर के पिता ठाकुरदास की सुविवेचना से वे सब असुविधाएँ कुछ कम हो जाया करती थीं। जब तक विद्यासागर के माता-पिता जीते रहे तब तक गृहस्थी का सब भार उन्हीं के ऊपर छोड़कर विद्यासागर निश्चिन्त रहे। हर एक मामले में माता-पिता जैसी व्यवस्था करते थे उसी को विद्यासागर शिरोधार्य समझते थे। किन्तु माता-पिता प्राय: पुत्र की इच्छा समझकर ही हर एक काम की व्यवस्था करते थे। इस प्रकार अगर माता-पिता लड़के का ख़याल करें और लड़के माता-पिता का ख़याल करें तो गृहस्थी के या संसार के कामों में कोई असुविधा नहीं हो सकती।

ठाकुरदास और भगवती देवी बहुत दिनों तक जीकर संसार का सुख भोगते रहे। कभी-कभी उनमें मीठी छेड़छाड़ भी हुआ करती थी। ठाकुरदास ज़रा रूखे मिज़ाज के आदमी थे और उनकी स्त्री भी ज़रा जल्द ही कलह करने को तैयार हो जाती थीं। इस कारण पुरखा-पुरखिन में अक्सर मुँह फूलने की नौबत आ जाया करती थी। किन्तु यह हालत देर तक न रहती थी। ख़ास कर पुरखिन जब खीझकर लड़ती-लड़ती कोठरी में जाकर भीतर से किवाड़े बन्द कर लेती थीं तब उनको मनाने का एक बड़ा अच्छा और सहज उपाय ठाकुरदास जानते थे। पाठक, आप यह न समझें कि ठाकुरदास इस मानलीला में कृष्ण का अनुकरण करते थे। मान करके भगवती

देवी जब कोठरी के क़िले में चली जाती थीं तब ठाकुरदास उस क़िले को फ़तह करने का सामान खोजने के लिए बाहर निकलते थे। ठाकुरदास खोज-खाजकर एक बड़ी रोहू या और कोई मछली ख़रीदकर घर लाते थे। उस मछली को वे उस कोठरी के दर्वाज़े पर या पास ही और कहीं ज़ोर से पटक देते थे। मछली के गिरने का शब्द सुनते ही पुरखिन आँसू पोंछती हुई मौजूद होती थीं और हँसिया लेकर मछली की ओर बढ़ती थीं। ठाकुरदास मछली फेंककर गम्भीर भाव से खड़े रहते थे और पुरखिन के उधर बढ़ने पर कहते थे—"ख़बरदार, मछली में हाथ न लगाना।" पुरखिन इस पर ध्यान न देकर आगे बढ़ती ही जाती थीं। ठाकुरदास रोककर कहते थे—"मेरे हुकुम बिना जो कोई मेरी मछली में हाथ लगावेगा वह पछतायगा।" आँखों में आँसू, मुख में हँसी, इस तरह पुरखिन निडर भाव से मछली उठा लेती थीं, और ठाकुरदास इस मानभञ्जन की लीला के बाद दूसरे काम के लिए चले जाते थे। बहुएँ आड़ से इस सुखसम्मिलन को देखकर घूँघट में मुँह छिपाकर हँसने लगती थीं। यह हाल मैंने विद्यासागर के पुत्र नारायणचन्द्र विद्यारत्न से सुना है। वे कहते थे कि मेरी दादी को मछली बनाना बहुत पसन्द था। बड़ी मछली मिलने पर उसे काटना, बनाना और लोगों को खिलाना उन्हें बहुत रुचता था।

भगवती देवी एक विचित्र धातु की बनी हुई थीं। मेहनत करके तो वे कभी थकती ही न थीं। दिन को, रात को, घर में परिवार की सेवा करनी हो या अतिथि-अभ्यागत का सत्कार करना हो, अथवा गाँव में किसी का कुछ काम करना हो, वे मेहनत से मुँह न मोड़ती थीं। दोपहर के समय सबको भोजन करा चुकने पर भी उसी समय वे भोजन न करती थीं। इस प्रकार कुछ ठहर

जाने से उनका अभिप्राय यह था कि कहीं कोई भूखा अतिथि या ग़रीब दुखी आदमी न द्वार पर आ जाय। वे जिस समय भोजन करने बैठती थीं उस समय भी अगर कोई भूखा आदमी आ जाता था तो वे उस अन्न से उसे तृप्त कर देती थीं और आप या तो उस दिन उपवास कर जाती थीं या बहुओं में से किसी के फिर कुछ बना देने पर तीसरे पहर भोजन करती थीं। दोपहर के समय द्वार पर खड़े होकर वे देखती थीं कि बाज़ार से कोई बिना नहाये-खाये तो नहीं लौटा जा रहा है। अगर द्वार पर कोई ऐसा आदमी जाता देख पड़ता तो उसे बुलाकर नहाने-खाने के लिए आग्रह करती थीं। जब वह नहा चुकता था तब उसे भोजन कराती थीं, और नहीं तो कम से कम कुछ जलपान के लिए अवश्य दे देती थीं। ऐसी पराये दुख से दुखी होनेवाली पर-सेवा-परायणा गृहलक्ष्मी जिस घर में विराजमान हो उस घर के परिवार पर परमेश्वर का प्रसन्न होना कोई विचित्र बात नहीं। भगवती देवी जब तक जीती रहीं तब तक ठाकुरदास के सारे परिवार पर भगवान् की शुभ दृष्टि रही।

भगवती देवी केवल पति, पुत्र, कन्या, पोते, पोती आदि परिवार की ही सेवा-शुश्रूषा में नहीं लगी रहती थीं। वे केवल दरवाज़े पर आनेवाले दीन-दुखी की सहायता कर लेने के लिए तैयार नहीं रहती थीं। वे तो दूसरों का दुख दूर करने के लिए महल्ले-महल्ले घूमती थीं। सबके घरों की ख़बर लेने और सबकी सहायता करने का उन्हें अभ्यास सा हो गया था। उनका यह स्वभाव पूर्णरूप से ईश्वरचन्द्र में मौजूद था। किन्तु प्रसङ्गवश जब कभी उनकी माता की चर्चा उठती थी तब मातृभक्त ईश्वरचन्द्र यही कहते थे—"मैं अगर अपनी माता के गुणों का हज़ारवाँ हिस्सा भी पाता तो कृतार्थ हो जाता। मैं ऐसी माता का पुत्र हूँ, इसे मैं (Glory) गौरव की बात समझता हूँ।"

भगवती देवी का स्वभाव बहुत ही सरल था। किसी के दुःख या कष्ट की ख़बर सुनकर उनसे रहा नहीं जाता था। ख़ास कर अगर ग़रीब का दुःख देखती या सुन पाती थीं कि अमुक असहाय पुरुष या स्त्री सहायता के बिना क्लेश पा रही है तो वे व्याकुल हो उठती थीं। वे निरन्तर दूसरों का उपकार या सेवा किया करती थीं। वीरसिंह गाँव के अनेक ग़रीब आदमी इस समय भी इस बात की साक्षी देते हैं कि वे नीच-ऊँच का ख़याल न करके चमारों और डोमों के यहाँ जाती और बीमारों को दवा खिलाने और पथ्य देने का प्रबन्ध कर आती थीं। अक्सर देखा जाता था कि वे किसी अस्पृश्य जाति के दरवाज़े पर बैठी हुई उस घर के रोगी को दवा या पथ्य देने की व्यवस्था कर रही हैं। अक्सर साबूदाना और मिसरी उनके पास रहती थी। जिसके यहाँ पथ्य देनेवाला कोई आदमी न होता था उसके लिए अपने घर से पथ्य बना ले जाती थीं। इस तरह अतिथि-अभ्यागतों और ग़रीब-बीमारों की सेवा करने में ही उनका अधिकांश समय बीत जाता था।

एक बार घर के लिए विद्यासागर ने ६ लिहाफ़ बनवाकर भेजे। विद्यासागर की माता लिहाफ़ों को देखकर बहुत प्रसन्न हुईं। उनके लिए और घर के अन्य कई आदमियों के लिए वे लिहाफ़ बनकर आये थे। परोसियों के घर जाकर भगवती देवी ने देखा कि कई आदमी जाड़े से बड़ा क्लेश पा रहे हैं—उनके पास इतना द्रव्य भी नहीं कि कुछ कपड़े बनवा सकें। भगवती देवी ने सब लिहाफ़ ऐसे लोगों को बाँट दिये और फिर विद्यासागर को पत्र लिखा—ईश्वर, तुम्हारे भेजे हुए लिहाफ़ मैंने जाड़ा खा रहे ग़रीबों को बाँट दिये। हम लोगों के लिए और लिहाफ़ भेज देना।

इसके उत्तर में पुत्र ने माता को लिख भेजा—"ऐसे लोगों के लिए, घर के लिए और तुम्हारे लिए कितने लिहाफ़ चाहिए? तुम्हारा पत्र पाने पर उतने लिहाफ़ भेज दूँगा।" भगवती देवी की दया और परोपकार के ऐसे अनेक उदाहरण स्थानाभाव से यहाँ पर नहीं दिये जा सके। इसी एक उदाहरण से पाठक समझ जायँगे कि वे किस ढङ्ग की स्त्री थीं।

हैरिसन साहब जब इन्कमटैक्स का काम करने के लिए मेदिनीपुर ज़िले में गये थे तब वीरसिंह और उसके आसपास के गाँवों में भी उन्हें जाना पड़ा था। उस समय विद्यासागर घर में ही थे। उन्होंने कमसिन सिविलियन हैरिसन साहब के आने की ख़बर माता को दी। माता ने कहा—"तो फिर उस लड़के को ज़रा घर में न बुलाओगे? यहाँ बुलाकर कुछ जलपान करा देना अच्छा होगा।" विद्यासागर ने हैरिसन साहब से जाकर अपनी माता की इच्छा प्रकट की। साहब ने कहा—"वे ख़ुद निमन्त्रण न देंगी तो मैं न जा सकूँगा।" तब विद्यासागर की माता ने अपने नाम से साहब को निमन्त्रण दिया। उस पत्र की नक़ल नीचे दी जाती है—

श्री श्रीहरिः

शरणम्—

अशेषगुणाश्रय

श्रीयुत एच० एल० हैरिसन महोदय

परमकल्याणभाजनेषु—

सस्नेहसम्भाषणमावेदनमिदम्।

अपने बड़े लड़के ईश्वरचन्द्र से मैंने सुना है कि आप शीघ्र ही कलकत्ते लौट जायँगे। मेरी बड़ी इच्छा है कि दया करके उसके पहले एक बार वीरसिंह के घर में आप आइए। मुझे बड़ी ख़ुशी

होगी। आशा है, आप मेरी इच्छा अवश्य पूर्ण करेंगे। इति २ फाल्गुन, सन् १२७५।

शुभाकाङ्क्षिण्याः
श्रीभगवतीदेव्याः।

साहब विद्यासागर के घर गये। यह सुनकर विद्यासागर की माता बहुत प्रसन्न हुई कि साहब बँगला समझ सकते हैं। भगवती देवी ने बहुत तरह का खाने का सामान अपने हाथ से बनाया। वे अपने हाथ से परोसकर साहब को खिलाने बैठीं। साहब ने आकर बङ्गाल की प्रथा के अनुसार पृथ्वी पर झुककर प्रणाम किया। भगवती देवी ने भी माता की तरह आशीर्वाद दिया। भगवती देवी ने पास बैठकर साहब को खाने की विधि बतलाई और उसी तरह साहब ने भोजन किया। भगवती देवी की उदारता, स्नेह और ममता पर मुग्ध होकर हैरिसन साहब ने विद्यासागर से कहा—यहाँ आकर, भोजन कर, और सबसे बढ़कर आपकी माता के करुण स्वभाव और आदर से मैं ऐसा सन्तुष्ट हुआ हूँ कि इस दिन की याद मुझको कभी न भूलेगी।

बातें करते-करते प्रसंगवश हैरिसन साहब ने भगवती देवी से पूछा—"तुम्हारे कितने बड़े धन हैं ?" भगवती देवी ने अपने चारों पुत्रों को दिखलाकर कहा—"मेरे ये धन के चार घड़े हैं। मुझे और धन की क्या ज़रूरत है।" यह ठीक उत्तर सुनकर हैरिसन साहब बहुत ख़ुश हुए। उन्होंने विद्यासागर से कहा—ये साधारण स्त्री नहीं हैं। ऐसी माता के बिना ऐसे लड़के का होना कभी सम्भव नहीं।". हमारा भी यही ख़याल है कि जैसे माता-पिता होते हैं वैसी ही पुत्र-कन्या होती हैं।

वीरसिंह गाँव की तरफ़ एक तरह का मिट्टी का दो-मञ्ज़िला मकान बनाया जाता है। अनेक लोग इस घर का सौन्दर्य और शोभा बढ़ाने के लिए बहुत रुपया ख़र्च करते हैं। विद्यासागर का जितना बड़ा परिवार था उतना ही बड़ा घर था। उस घर के बीच में एक ऐसा ही सर्वाङ्ग-सुन्दर दो-मञ्ज़िला घर बना हुआ था। इस घर की बनावट और सौन्दर्य देखकर साहब बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने विद्यासागर से कहा—पक्का मकान भी इसके आगे शरमा जायगा।

भोजन कराने के बाद विद्यासागर की माता ने साहब से कहा—देखो बेटा, तुम जिस काम के लिए आये हो उसे ख़ूब सावधान होकर करना। ग़रीब-दुखी लोगों को तुमसे कुछ कष्ट न पहुँचे और वे तुमको अपना आदमी समझकर सुखी हो सकें। तुम सदा सबकी बातें मन लगाकर सुनना। लोगों का दुःख-कष्ट दूर करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करना। तुम यहाँ इस तरह काम करना कि तुम्हारे चले जाने पर लोग हमेशा तुम्हारा नाम लिया करें। तुम यहाँ दुखी-दीन के हितैषी होने की सदा चेष्टा करना।

हैरिसन साहब जब तक मेदिनीपुर में रहे तब तक उन्होंने भगवती देवी के उपदेश के अनुसार चलने की चेष्टा की। इसी से मेदिनीपुर के लोग आज भी भक्ति के साथ उनका नाम लेते हैं।

भगवती देवी की शान्तिमयी मूर्ति का सौन्दर्य दर्शनीय था। पाठकों के देखने के लिए उनका एक चित्र इस पुस्तक में दिया गया है। इस चित्र के बनने का एक छोटा सा इतिहास है। पाइकपाड़ा के राजभवन में हडसन नामक एक फोटोग्राफ़र अँगरेज़ राजभवन का काम करने के लिए आया था। विद्यासागर सदा वहाँ आते-जाते रहते थे। राजवंश के लोग गुरु के समान उन्हें मानते

জননী ভগবতী দেবী।

जननी भगवती देवी ।

और उनका आदर करते थे। यह बात पहले ही लिखी जा चुकी है कि विद्यासागर का स्वरूप उस समय बहुत ही सुन्दर और मनोहर था। उस समय प्रतिभा की प्रभा से पूर्ण उस मुखमण्डल का चित्र लेने के लिए हडसन साहब ने बड़ी कोशिश की। पहले तो विद्यासागर राज़ी नहीं हुए। अन्त को साहब के बहुत अनुरोध करने पर लाचार होकर उन्हें राज़ी होना पड़ा। पुस्तक के आरम्भ में पाठकों ने उस चित्र के दर्शन किये होंगे। हडसन साहब ने विद्यासागर का चित्र बनाकर उसके पारिश्रमिक में कुछ भी लेना स्वीकार नहीं किया। विद्यासागर बहुत चेष्टा करके भी साहब को रुपया लेने पर राज़ी नहीं कर सके। राजवंश के लोग विद्यासागर का चित्र देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने हडसन साहब से पूछा—"हमने इतना रुपया खर्च किया और पण्डितजी से तुमने कुछ भी नहीं लिया। फिर भी उनका चित्र हमारे चित्र से अच्छा क्यों बनाया ?" साहब ने इसके उत्तर में कहा—"रुपये के काम में और शौक़ के काम में बड़ा अन्तर होता है।" विद्यासागर ने देखा कि इस तरह रुपया लेने के लिए साहब को राज़ी करना कठिन काम है। साहब भी अपनी बात से टलनेवाले नहीं। तब सोच-विचारकर इसके लिए विद्यासागर ने एक और युक्ति निकाली। वे जल्दी से पिता और माता को कलकत्ते ले आये और बहुत सा रुपया खर्च करके हडसन साहब से उनके चित्र बनवाये।

माता-पिता को कलकत्ते लाकर विद्यासागर ने माता से कहा—मातार्जी, पाइकपाड़ा के राजभवन में एक बहुत अच्छा चित्र उतारनेवाला आया है। मैं उससे तुम्हारा एक चित्र उतरवाना चाहता हूँ।

माता—दुर, मेरी तसवीर उतारकर क्या होगा, छी छी।

पुत्र—तसवीर क्या तुम्हारे लिए उतरवाऊँगा? वह ते मैं अपने लिए उतरवाना चाहता हूँ। एक तसवीर पास रहने से जब जहाँ रहूँगा, आपके दर्शन कर लिया करूँगा।

माता—(इसका कुछ जवाब न देखक बिलकुल इच्छा न रहने पर भी) अच्छा ते तेरी जो इच्छा हो वही कर।

पुत्र—साहब को यहीं ले आऊँ या आप मेरे साथ वहीं चलेंगी?

माता—तसवी उतारनेवाला साहब है! ना भैया, मैं साहब के सामने तसवी उतरवाने के लिए नहीं बैठ सकती।

पुत्र—वह बहुत अच्छा आदमी है। उसने मेरी एक तसवीर उतारी है और कुछ भी नहीं लिया। वह मुझे बहुत चाहता है। उसके सामने बैठने में कोई दोष नहीं।

माता—अच्छा भाई, तेरी जो इच्छा हो वही कर। लेकिन मैं और कहीं न जाऊँगी। यहीं जो चाहे सो कर।

पुत्र—वहाँ सब सामान ठीक किया रक्खा है। वह सब यहाँ लाने में असुविधा होगी और फोटो भी अच्छा न उतरेगा।

माता—तेरी बात को टालना ते बड़ा कठिन है। चल तेरे साथ चलूँगी। निन्दा होगी ते तेरी ही होगी। लोग कहेंगे कि विद्यासागर तसवीर उतरवाने के लिए अपनी मा को पाइकपाड़ा के राजभवन में ले गये। ख़ैर, तेरे साथ चलूँगी।

कई दिन जाकर विद्यासागर ने पिता और माता की तसवीर तैयार कराई। साहब को जितना पारिश्रमिक देना चाहिए था उससे अधिक ही दिया। देनों चित्र तैयार कराकर विद्यासागर ने अपने कमरे में एक अच्छी जगह पर रख दिये। फरासडाँगा और खरमाटाड़ के मकानों के लिए माता-पिता की और दो-दो तसवीरें बनवाई थीं। माता-पिता की ज़िन्दगी में और उनके मरने के बाद

শ্রীঠাকুরদাস বন্দ্যোপাধ্যায় —
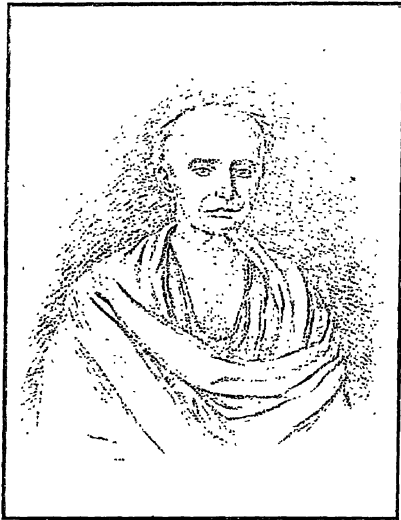
श्रीठाकुरदास बन्द्योपाध्याय ।

भी वे जहाँ रहते थे वहाँ पिता और माता के चित्र को प्रणाम करके फिर जल ग्रहण करते थे। मैंने अपनी आँखों उनके इस नियम को देखा है।

विद्यासागर की माता मूर्त्ति-पूजा पर विशेष श्रद्धा नहीं रखती थीं। विद्यासागर ने ख़ुद मुझसे कहा है—"मेरी मा कहती थीं, जिस देवता को हम अपने हाथ से गढ़ते हैं वह हमारा उद्धार कैसे कर सकता है? लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि के देवताओं की पूजा करने से वैसा पुण्य नहीं होता जैसा मनुष्यों की सेवा करने से और उनका दुख दूर करने से।" इससे जान पड़ता है कि उनका धर्म-सम्बन्धी ज्ञान बहुत ही स्वाभाविक, सरल और निर्मल था। इस बात को यहाँ पर लिख देने से विद्यासागर के आत्मीयों में से किसी-किसी ने मुझ पर कोप-कटाक्ष किया है। किन्तु यह बात मैंने ख़ुद उनके मुँह से सुनी है। विद्यासागर के स्नेहपात्र श्रीयुत गोपाल-चन्द्र मुखोपाध्याय (नारायणचन्द्र के बड़े दामाद) ने भी उनके मुँह से यह बात सुनी है।

ठाकुरदास अपने छोटे लड़के ईशानचन्द्र और बड़े पोते नारायण-चन्द्र को बहुत प्यार करते थे। ये बालक उनके दुलारे थे, इसलिए उनके सिवा घर में और किसी को न दबते थे। इन दोनों बालकों को ठाकुरदास ने अपनी सेना बना रक्खा था।

इस तरह सब परिवार मज़े में था। इसी समय ठाकुरदास ने स्वदेश, जन्मभूमि और अपना घर छोड़कर काशीवास करने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने शम्भुचन्द्र के द्वारा ईश्वरचन्द्र के पास यह समाचार कहला भेजा। उस समय विद्यासागर अपने प्रिय मित्र राजा प्रतापचन्द्रसिंह की बीमारी के कारण मुरशिदाबाद के निकटवर्त्ती काँदी गाँव में थे। उनके तीसरे भाई शम्भुचन्द्र ने वहीं

पत्र भेजकर पिता का इरादा ज़ाहिर किया। विद्यासागर ने इस ख़बर से बहुत ही उदास होकर जो पत्र शम्भुचन्द्र को लिखा था उसका कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"वे परदेश में अकेले रहें, ऐसी सलाह मैं कभी नहीं दे सकता। वे ख़ुद सब सामान ख़रीदकर भोजन आदि बनावेंगे, इसमें उनको बड़ा कष्ट होगा। इससे बढ़कर दुःख और खेद की बात और क्या हो सकती है कि जिसके पुत्र, पौत्र आदि इतना परिवार हो वह वृद्धावस्था में अकेले परदेश में जाकर रहे। अतएव इस अवस्था में उनका अकेले काशीवास करना मैं पसन्द नहीं कर सकता। वे ऐसा करेंगे तो उनको असीम कष्ट होगा। अगर उनकी सेवा-टहल के लिए कोई साथ जा सके तो शायद मैं किसी अंश में सहमत भी हो सकूँ। किन्तु उनको अकेले भेजकर हमारा यहाँ सुख से रहना कभी उचित नहीं। और किसी की बात नहीं कह सकता, लेकिन मैं किसी तरह अपने मन को समझा नहीं सकता। अगर उनकी बिलकुल ही जाने की इच्छा हो तो इस तरह जल्दी करने से काम नहीं चल सकता। तुम उनके चरणों में मेरा प्रणाम जताकर कहना कि मुझे दुःखित न होने देने के ख़याल से उन्होंने अनेक बार अनेक कष्ट सहे हैं। इस बार भी इसी ख़याल से थोड़ा और कष्ट सहें। मैं शीघ्र घर आने की चेष्टा करूँगा। वहाँ पहुँचकर सलाह करके कर्त्तव्य निश्चित करूँगा। अगर वे अकस्मात् इस तरह गृहस्थी छोड़ जायँगे, ठीक बन्दोबस्त किये बिना काशी चले जायँगे, तो मुझे बड़ा दुःख होगा। जो हो, जिस तरह हो सके, उन्हें इस काम से अभी रोकना और उनके रुक जाने पर उसकी सूचना शीघ्र कोंदी में मेरे पास भेजना। जब तक उनके रुकने की सूचना नहीं मिलेगी तब तक मेरी चिन्ता नहीं मिटेगी। दो-चार दिन अभी मैं यहाँ से

जा न सकूँगा; नहीं तो आज ही मैं यहाँ से चल देता। अस्तु। जिस तरह हो, उन्हें रोकना। अगर वे किसी तरह न रुकें तो इस रविवार के पहले ही मुझे खबर देना। संवाद पाकर, जिस तरह होगा, मैं घर आऊँगा। मैं शरीर से अच्छा हूँ। इति ३० अगहन।

शुभाकांक्षिणः—

श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।"

शम्भुचन्द्र विद्यारत्न का कहना है कि पिता ठाकुरदास के इस तरह काशीवास के लिए तैयार हो जाने का एक विशेष कारण था। उन्होंने एक दिन स्वप्न देखा कि बहुत शीघ्र ही विद्यासागर पर तरह-तरह की विपत्तियाँ आ पड़ेंगी। वीरसिंह का घर उजड़कर मसान बन जायगा। भाइयों और बन्धुओं से ईश्वरचन्द्र की अनबन हो जायगी। आत्मीय-स्वजन उनके विरुद्ध हो जायँगे। इन सब बातों के लिए चिन्ता में पड़कर ठाकुरदास ने सोचा कि इस अच्छी अवस्था में ही घर छोड़कर काशी चल देना चाहिए। काशी में जाकर सुख से शेष जीवन बिताना श्रेयस्कर होगा। वे शीघ्र ही घर छोड़कर काशी जाने के लिए व्याकुल हो उठे। यही कारण था कि विद्यासागर के अनेक यत्न करने, हाथ-पैर जोड़ने और रोने पर भी उनका इरादा नहीं बदला। विद्यासागर ने "बोधोदय" में लिखा है कि स्वप्न सब सच नहीं होते, वे अमूलक अलीक चिन्ता मात्र हैं। किन्तु उनके पिता का स्वप्न अधिक अंश में सच्चा हुआ। उनके गाँव का मकान आग लगने से उजड़कर मसान हो गया। आत्मीय और बन्धुओं से विगाड़ और विछोह भी खूब हुआ।

विद्यासागर का पत्र पाकर शम्भुचन्द्र ने पिता को सुनाया, तो भी घर छोड़कर काशीवास की उत्सुकता वैसी ही बनी रही। शम्भुचन्द्र ने यह हाल फिर विद्यासागर को लिखा। विद्यासागर सब

काम-काज छोड़कर पिता के पास चल दिये। कुछ दूर पालकी पर और कुछ दूर पैदल चलकर विद्यासागर घर पहुँचे। पिता का इरादा बदलने की उन्होंने बहुत कुछ चेष्टा की, बहुत कुछ अनुनय-विनय किया, रोये-धोये भी, लेकिन ठाकुरदास अपने इरादे पर अटल बने रहे। अन्त को निरुपाय होकर विद्यासागर ने नारायणचन्द्र को लगा दिया। ठाकुरदास को पोते पर बड़ा स्नेह था। पोते के रोने-धोने और सङ्ग चलने के लिए मचलने पर भी कुछ न हुआ।

जब ठाकुरदास किसी तरह घर में रहने पर राज़ी न हुए और विद्यासागर के साथ कलकत्ते चलने के लिए तैयार हो गये तब विद्यासागर लाचार होकर उनके साथ कलकत्ते को रवाना हुए। रास्ते में और कलकत्ते में भी बहुत अनुरोध किया, लेकिन ठाकुरदास ने न माना। तब सुखपूर्वक रहने का प्रबन्ध करके विद्यासागर ने उन्हें काशी भेज दिया। ठाकुरदास ने जीवन का शेष समय काशी में ही बिताया और अन्त को वहीं उनकी मुक्ति हो गई। पिता के चले जाने के बाद विद्यासागर के हृदय में एक स्थायी विषाद की रेखा सी अङ्कित हो गई। वे प्रायः उदास से बने रहते थे। प्रायः बूढ़े पिता के अकेले इतनी दूर पर रहने का ख़याल करके अकेले आँसू बहाया करते थे। पिता की ख़बर लेने के लिए बीच-बीच में कभी-कभी वे ख़ुद जाते थे। कभी-कभी किसी आदमी को भेज देते थे। एक घड़ी के लिए भी उन्होंने माता-पिता को सुखी रखने में कसर नहीं रक्खी।

बीरसिंह में रहने के समय ठाकुरदास की माता दुर्गा देवी की मृत्यु हुई। मरने के पहले सालिखा-गाँव में गंगा-तट पर उन्हें ले आये थे। विद्यासागर ने दादी के श्राद्ध के अवसर पर बहुत रुपया ख़र्च करके पिता को सन्तुष्ट किया था। विद्यासागर विधवाविवाह के हामी थे। इस कारण वे पहले ही से सावधान थे कि दादी के

श्राद्ध में किसी तरह का विघ्न न हो। कुछ लोगों ने शत्रुता की भी थी। परन्तु शम्भुचन्द्र विद्यारत्न लिखते हैं "श्राद्ध के दिन अनेक अध्यापक पण्डित आये थे। वरदा-परगना के प्रायः सब ब्राह्मण, नातेदार, इष्ट-मित्र सब मिलाकर तीन हज़ार के लगभग ब्राह्मणों ने फलाहार किया था। उसके दूसरे दिन भी दो हज़ार के लगभग ब्राह्मणों ने अन्नभोजन किया था। इससे पिताजी बहुत प्रसन्न हुए थे। दूसरे साल सपिण्डन के दिन भी दादा ने पिताजी को प्रसन्न करने के लिए काफ़ी रुपया दिया था।" अध्यापकों को निमन्त्रण देने के लिए पहले जो श्लोक बनाया गया था वह कठिन था। विद्यासागर ने यह श्लोक ख़ुद बनाकर निमन्त्रण भेजा था—

पौषस्य पञ्चविंशाहे रवौ मातुः सपिण्डनम्।
कृपया साध्यतां धीरैर्वीरसिंहसमागतैः॥

सब परिवार के एकत्र रहने में अप्रीति और अशान्ति के सिवा कुछ लाभ न समझकर विद्यासागर ने सब भाइयों के लिए अलग-अलग घर बनवा दिये थे। विद्यासागर की समझ में सब भाइयों के एकत्र रहकर लड़ने-झगड़ने की अपेक्षा उनका अलग-अलग रहकर परस्पर सहानुभूति और आत्मीयता बनाये रखना अच्छा था। इसी से उन्होंने अशान्ति की जगह शान्ति की स्थापना करने की इच्छा से सब भाइयों को जुदा कर दिया। उन्होंने ग़रीब और असहाय विद्यार्थियों के लिए भी अलग व्यवस्था कर दी थी। किन्तु खेद इसी बात का है कि बहुत सा रुपया ख़र्च करके भी वे किसी तरह परिवार में शान्ति नहीं स्थापित कर सके।

इस प्रकार जब तरह-तरह की पारिवारिक अशान्तियों से उनकी प्रसन्नता नष्ट हो रही थी उसी समय सन् १८६९ ई० के चैत महीने में आधी रात को आग लग जाने से वीरसिंह का घर जल गया।

आग लगने की ख़बर कलकत्ते में पहुँचते ही विद्यासागर गाँव में आये। सबके लिए सब तरह की व्यवस्था करके विद्यासागर ने माता को कलकत्ते ले चलना चाहा। लेकिन उन्होंने ग़रीब निराश्रय विद्यार्थी बालकों की विपत्ति और क्लेश का उल्लेख करके, परोसियों के दुःख कष्ट की दोहाई देकर और अतिथि-अभ्यागतों की सेवा की ज़रूरत दिखाकर कलकत्ते जाने के लिए 'नाहीं' कर दी।

घर जलने के बाद जब विद्यासागर गाँव गये थे तब किसी-किसी ने उनसे पक्का मकान बनवाने के लिए अनुरोध किया था। उन्होंने स्वाभाविक मन्द-मुसकान के साथ कहा—ग़रीब ब्राह्मण के लड़के का पक्का मकान, लोग सुनकर हँसेंगे। किसी तरह कहीं पड़ रहने के लिए जगह भर चाहिए।

बीरसिंह में माता और अन्यान्य सब लोगों के रहने लायक़ घर आदि बनवाने में जो कुछ ख़र्च पड़ा वह विद्यासागर ने दिया। किन्तु वह दोमंज़िला घर, जिसकी हैरिसन साहब ने प्रशंसा की थी, फिर नहीं बन सका। उस घर की शोभा और सौन्दर्य का चिह्न एक टूटा खण्डहर अभी तक वहाँ मौजूद है।

विद्यासागर के माता-पिता सीधे-सादे आदमी थे। वे परिश्रम करके दूसरे के उपकार और सेवा में सब तरह की असुविधाएँ सह सकते थे। आभूषण वग़ैरह उन्हें नापसन्द थे। वे गहने आदि को देश में चोरों और शत्रुओं के बढ़ाने का प्रधान उपाय समझते थे। वे गहने वग़ैरह के विरोधी इसलिए थे कि गहने होने से अहङ्कार बढ़ता है और ग़रीबों के प्रति उपेक्षा का भाव उत्पन्न होता है। इसी से घर में बहुओं वग़ैरह के भी अधिक आभूषण नहीं थे। विलासिता बढ़ने के ख़याल से घर के सब लोग मोटे कपड़े पहनते थे। कलकत्ते से कभी महीन कपड़े आ जाते थे तो उनको वे नहीं रुचते थे।

से यह काम हुआ था। उन्होंने इस काम के लिए जैसा क्लेश उठाया था वह मुझे सदा स्मरण रहेगा। इति—

वशंवद—

श्रीमोचीराम शर्म्मा।

स्वदेशवत्सल और जन्मभूमि के सुपुत्र ईश्वरचन्द्र को घर से निकालकर, सदा के लिए देशत्यागी बनाकर विद्यारत्न आदि ने वीरसिंह गाँव का जो अनिष्ट किया वह कहने लायक़ नहीं है। जिस दिन उदास होकर रोते-रोते जननी जन्मभूमि की गोद सूनी करके उन्होंने घर छोड़ा था उसी दिन वीरसिंह के भाग फूट गये थे। इस बुरे काम के करनेवालों ने विद्यासागर के हृदय पर जो चोट पहुँचाई थी वह सदा वैसी ही बनी रही। उसका कुछ आभास विद्यासागर के कथन ही से पाठकों को मालूम हो जायगा। अन्त समय कलकत्ते में रहने के समय, जब उन्हें वीरसिंह के ग्राम्य दृश्यों का स्मरण हो आता था तब वे बालकों की तरह रोने लगते थे। उनकी यह दशा मैंने ख़ुद अपनी आँखों देखी है। इसी समय एक बार "वीरसिंह-जननी का पत्र" नाम की एक छोटी सी पुस्तक विद्यासागर को मिली। मुझे पीछे से मालूम पड़ा है कि वह पुस्तक ईश्वरचन्द्र के पुत्र नारायणचन्द्र की लिखी हुई थी। उस पुस्तक में जो करुण भाषा लिखी हुई थी उसे पढ़कर विद्यासागर का हृदय भर आया। बहुत देर तक रोकर उन्होंने घर जाने का इरादा ज़ाहिर किया। घर की मरम्मत भी शुरू हो गई। किन्तु धीरे-धीरे रोग बढ़ जाने के कारण उनकी प्रतिज्ञा खण्डित नहीं हुई—वे जन्मभूमि के दर्शन नहीं कर सके।

इस प्रकार अनेक प्रकार के गृहस्थी के झगड़ों से उनका हृदय विषाद के विष से जर्जर हो गया। उनको संसार के सुखों से

का शोर मच गया। चारों ओर उत्साह और आग्रह छा गया। स्कूली लड़के अपनी-अपनी जगह पर शान्त भाव से बैठने लगे। बाहर स्कूल के सञ्चालक लोग विद्यासागर की अभ्यर्थना के लिए खड़े थे। औरतें जो जहाँ थीं वे वहीं से घूँघट ज़रा-ज़रा खोले विद्यासागर को देखने की चेष्टा करने लगीं। विद्यासागर आये, सामने से निकल भी गये, पर औरतों में से किसी ने उनको न देख पाया। उनको विद्यासागर के आने का विश्वास ही न हुआ। स्त्रियों ने विद्यासागर को क्यों नहीं देख पाया और उन्हें विद्यासागर के आने का विश्वास क्यों नहीं हुआ, इस प्रश्न का उत्तर इतना ही है कि विद्यासागर बहुत ही सीधे-सादे ढङ्ग से थे। उनको पहचानने के लिए उनमें कोई विशेषता नहीं थी। एक वृद्धा स्त्री ने आगे बढ़कर, जिस मण्डली में विद्यासागर थे उसके आगे के आदमी से पूछा—"क्यों जी, विद्यासागर कहाँ हैं? वे क्या नहीं आये?" उस मण्डली के एक आदमी ने विद्यासागर की ओर इशारा करके कहा—"यही विद्यासागरजी हैं।" वृद्धा आँखें फाड़कर थोड़ी देर तक विद्यासागर की तरफ़ देखती रही। इसके बाद उसने कहा—"यही मोटी धोती मोटी चादरवाले विद्यासागर हैं! इन्हीं को देखने के लिए हम लोग घाम में तप गईं! न गाड़ी-घोड़ा है, न घड़ी-छड़ी है, न चोगा-चपकन है!" विद्यासागर ग़रीब-दुखी लोगों के समान ही रहते थे।

क्षीरपाई-निवासी मोचीराम वन्द्योपाध्याय नाम के एक आदमी ने मनोमोहिनी नाम की एक विधवा से ब्याह करने की इच्छा से कलकत्ते जाकर विद्यासागर की शरण ली थी। विद्यासागर यह विवाह कराने के लिए अपने घर वीरसिंह-गाँव गये। उनके घर पहुँचने पर क्षीरपाई-गाँव के रहनेवाले हालदार महाशयों और अन्यान्य प्रतिष्ठित पुरुषों ने विद्यासागर से मिलकर यह अनुरोध किया कि आप इस

काम में शरीक न हों। विद्यासागर ऐसे आदमी न थे कि एक आदमी से सहायता देने का वादा करके सहज ही उससे विमुख हो जाते। किन्तु जिन लोगों ने पहले विधवा-विवाहों में अनेक बार सहायता की थी ऐसे बहुत से लोगों ने अनेक कारण दिखाकर विद्यासागर से इस काम से अलग रहने के लिए बहुत कुछ कहा-सुना। तब लाचार होकर विद्यासागर ने यह स्वीकार कर लिया कि मैं इस विवाह से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खूँगा। सब लोग प्रसन्न होकर अपने-अपने घर चले गये। इस सम्बन्ध में शम्भुचन्द्र विद्यारत्न लिखते हैं—"वीरसिंह के कई एक प्राचीन पुरुषों—हमारे मँझले भाई दीनबन्धु न्यायरत्न, राधा-नगर-निवासी कैलासचन्द्र मिश्र आदि—ने उन्हें (वर और कन्या को) आश्रय देकर (विद्यासागर के) घर के निकट ही दूसरे एक आदमी के घर में उनका ब्याह करा दिया।" इस पर हमारा वक्तव्य यह है "वीरसिंह के कई एक प्राचीन पुरुष" क्या एक दीनबन्धु न्यायरत्न ही थे ? विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि शम्भुचन्द्र विद्यारत्न ही उस मण्डली के मुखिया थे। विद्यासागर की इच्छा के बिना उनके घर के पास ही मोचीराम बन्द्योपाध्याय का विवाह विद्यारत्न के सिवा और कोई करा ही नहीं सकता था। विद्यासागर की इच्छा के विरुद्ध ऐसा साहस करना और किसी के लिए सम्भव नहीं था। विद्यासागर अपने भाई विद्यारत्न को बहुत चाहते थे, इसी से वे कुछ नहीं बोले। अगर ऐसा न होता तो यह काम सहज में वहाँ पर हो ही नहीं सकता था। मैंने वीरसिंह जाकर जाँच करके यह पता लगाया है कि शम्भुचन्द्र ने ही उद्योग करके यह ब्याह कराया था। स्वयं उद्योगी लोगों के मुखिया होकर उसका दोष मरे हुए भाई के सिर मढ़ना विद्यासागर के भाई के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। विद्यारत्नजी ने निजरचित

विद्यासागर की जीवनी में लिखा है—इस विवाह के होने से बड़े भाई को आन्तरिक कष्ट हुआ था। उन्होंने कहा कि तुम लोगों ने मुझे मिथ्यावादी बनाने के लिए मेरे ही घर के पास व्याह कराया।

इस घटना से विद्यासागर को ऐसा दारुण दुःख हुआ कि उस रात को न्होंने कुछ भोजन नहीं किया और दूसरे दिन भी विना भोजन किये प्यारी जन्मभूमि और घर को हमेशा के लिए छोड़कर वे कलकत्ते को चल दिये। आते समय अपने भाइयों और गाँव-वालों से उन्होंने कह दिया "तुमने मुझे देशत्यागी कर दिया!" गदाधर पाल, गोपीनाथसिंह आदि से शम्भुचन्द्र ने उपस्थित होने के लिए विशेप अनुरोध किया था, परन्तु वे वहाँ नहीं गये, इससे विद्या-सागर को कुछ सन्तोप हुआ था।

शम्भुचन्द्र ने मेरे इस लेख के प्रतिवाद में लिखा था "मैं विद्या-सागर के बहुत ही अनुगत था + + + बड़े भाई के नाराज़ होने के डर से मैं इस काम में शरीक नहीं हुआ और न विवाह-मण्डप में ही गया।" इस बारे में मुझे अधिक कुछ लिखना नहीं है। गोपी-नाथसिंह अभी तक जीते हैं। उन्होंने ख़ुद मुझसे यह बात कही है कि शम्भुचन्द्र के उद्योग से ही यह विवाह हुआ था। उनके कहने के अलावा एक और सबसे बढ़कर प्रमाण नीचे दिया जाता है—

ओं नमः सर्वमङ्गलायै।

बँ० सन् १३०२, १३ भाद्र।

सविनयनमस्कारमिदं निवेदनम्।

महाशय ने पूछा है कि "हमारे पूज्यपाद चाचा श्रीयुत शम्भुचन्द्र विद्यारत्न तुम्हारे विवाह में शरीक थे या नहीं?" इसके उत्तर में धर्म को साक्षी देकर मैं कहता हूँ कि केवल उन्हीं के यत्न और अनुग्रह

अन्य पुरुष की व्यर्थ बराबरी करने का मर्ज़ उनको नहीं था। जो जिस लायक़ होता था उसे उसके लायक़ स्थान पर स्थापित करना उनको बहुत पसन्द था। इसी नीति के कारण विद्यासागर ने माइकेल मधुसूदन दत्त की सैकड़ों त्रुटियों की उपेक्षा की और राय-बहादुर कृष्णदास पाल को हिन्दू-पेट्रियट का सम्पादक बनाया। उनकी इस सद्विवेचना के कारण बङ्गाल में आज भी अनेक उपयुक्त पुरुषों को सम्मान और सम्पत्ति प्राप्त है।

विद्यासागर और प्यारीचरण सरकार, दोनों मित्र, जन्म भर मिलकर समाजसंस्कार के कार्य्य में लगे रहे। प्यारी बाबू ने उस समय, जब विद्यासागर पर बड़ा ऋण हो गया था, उन्हें ऋण से छुटकारा दिलाने के लिए अपने द्वारा सम्पादित होनेवाले एज्यूकेशन गज़ट में एक अपील की थी। प्यारी बाबू स्वयं धनी नहीं थे। किन्तु उनके पास जो था उसी से विद्यासागर की सेवा और सहायता करने के लिए वे तैयार थे। वे विद्वान् थे, उनका समाज में मान और प्रतिष्ठा थी। वे उसी की सहायता से धन-सञ्चय के लिए अग्रसर हुए। किन्तु दृढ़-प्रतिज्ञ और सबल-शरीर विद्यासागर यह कब देख सकते थे कि उनका ऋण चुकाने के लिए देश के लोग चन्दा दें? एज्यूकेशन गज़ट में अपील प्रकाशित होने पर विद्यासागर ने अपने मित्र प्यारी बाबू को लिख भेजा कि विद्यासागर का ऋण चुकाने के लिए देशवासियों को चिन्ता न करनी पड़ेगी। मेरा ऋण धीरे-धीरे कम होता जाता है, उसके लिए सहायता की आवश्यकता नहीं। हाँ, विधवाविवाह के बारे में जो कोई जितनी सहायता करेगा वह सादर स्वीकृत होगी। इस प्रकार अनिच्छा प्रकट करने पर लाचार होकर प्यारी बाबू ने अपना इरादा छोड़ दिया। महात्मा प्यारीचरण के मरने पर, रोग-शय्या पर पड़े रहने

वैराग्य हो गया। वे प्रायः अकेले एकान्त में ही रहने लगे। इसके प्रमाण में नीचे उनके कुछ सम्पूर्ण पत्र और कुछ पत्रों के अंश यहाँ पर उद्धृत किये जाते हैं—

श्रीश्रीहरिः शरणम्।

पूज्यपाद श्रीमन्मातृदेवी श्रीचरणारविन्देषु—

प्रणतिपूर्वकं निवेदनमिदम्।

अनेक कारणों से मुझे वैराग्य सा हो गया है। घड़ी भर के लिए भी संसार के किसी काम में शरीक होने की या किसी के साथ कोई सम्बन्ध रखने की इच्छा मुझे नहीं है। खास कर इस समय मेरे मन और शरीर की ऐसी अवस्था हो रही है कि अगर मैं पहले की तरह अनेक कामों में लगा रहूँ तो फिर मैं अधिक दिन तक जी नहीं सकता। इसलिए मैंने निश्चय कर लिया है कि जहां तक हो सकेगा, निश्चिन्त होकर, एकान्त में शेष जीवन को विताऊँगा। इसलिए आपके चरणों में प्रणाम करके सदा के लिए आपसे विदा होता हूँ। माता के आगे पुत्र का पग-पग पर अपराधी होना सर्वथा सम्भव है। मैं इस जीवन में न जाने कितनी बार कितनी बातों के लिए आपके निकट अपराधी बन चुका हूँ। हाथ जोड़कर विनीत भाव से प्रार्थना करता हूँ कि कृपा करके इस अधम पुत्र के अपराध को क्षमा करना। आपके खर्च के लिए जो ३०) रुपये हर महीने भेजता हूँ वे मेरी ज़िन्दगी भर बराबर पहुँचते रहेंगे। किसी कारण यह सहायता बन्द नहीं हो सकती। इसके सिवा आपके पिता और माता के कृत्य के लिए २००) रु० हर साल भेजता रहूँगा। अगर कभी किसी काम के लिए कुछ कहने की ज़रूरत हो तो पत्र लिखकर उसकी सूचना दीजिएगा। मैंने

अनेक बार आपकी सेवा में निवेदन किया है और आज भी निवेदन कर रहा हूँ कि अगर आप मेरे पास यहाँ रहना स्वीकार करें तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। आपके चरणों की सेवा करके कृतकृत्य हो जाऊँगा। इति १२ अगहन, बँगला सन् १२७६।

भृत्य श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

श्रीश्रीहरिः शरणम्।

गुणालङ्कृता श्रीमती दिनमयी देवी-

कल्याणनिलयासु—

शुभाशीर्वादपूर्वकमावेदनमिदम्।

मेरी संसार का सुख भोगने की इच्छा पूर्ण हो गई। अब मुझको उसकी रत्ती भर भी चाह नहीं है। खास कर इस समय शरीर और मन की हालत जैसी है × × ×। इस समय तुमसे जन्म भर के लिए विदा होता हूँ और विनीत भाव से प्रार्थना करता हूँ कि यदि कभी मैंने कोई दोष या असन्तोष का कार्य्य किया हो तो दया करके मुझे क्षमा करना। तुम्हारा पुत्र सयाना हुआ है, अब वह तुम लोगों की देखरेख करेगा। तुम्हारे खर्च के लिए जो व्यवस्था कर दी है उससे, विचारपूर्वक चलने से, तुम लोगों का काम मज़े में चलता रहेगा। अन्त को मेरा विशेष अनुरोध यह है कि सब कामों में धैर्य्य धारण करके चलना, नहीं तो तुम ख़ुद क्लेश पाओगी और तुम्हारे वैसा करने से मुझे भी बहुत कष्ट होगा। इति १२ अगहन बँ० सन् १२७६।

शुभाकांक्षिणः

ईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

विद्यासागर ने इसी तरह दीनबन्धु न्यायरत्न, शम्भुचन्द्र विद्यारत्न और ईशानचन्द्र, इन तीनों भाइयों को भी एक-एक पत्र लिखा था। इन पत्रों के सम्पूर्ण अंश का उल्लेख निष्प्रयोजन समझकर केवल ख़ास-ख़ास अंशों का उल्लेख यहाँ पर किया जाता है। मँझले भाई दीनबन्धु को लिखा था—

× × × अब तुम लोगों से जन्म भर के लिए विदा होता हूँ। यदि कभी कोई दोष या असन्तोष का काम मैंने किया हो तो दया करके मुझे क्षमा करना। यदि कभी कोई बात मुझे जताना आवश्यक जान पड़े तो पत्र लिखकर मुझे जताना। गृहस्थी के ख़र्च के लिए मासिक सहायता लेना पसन्द करो तो मैं हर महीने ७०) रु० तुमको भेज सकता हूँ। इकट्ठा अधिक देना मेरी शक्ति के बाहर है।

तीसरे भाई शम्भुचन्द्र को लिखा था—

× × × अब तुम लोगों से × × × तुम्हारी गृहस्थी के ख़र्च के लिए जो मैं सहायता करता हूँ उसे जब तक मैं दे सकूँगा और तुम लेना चाहोगे तब तक मैं करता रहूँगा। किसी तरह इसमें व्यतिक्रम न होगा। × × × अन्त को मेरा विशेष अनुरोध यह है कि यथासम्भव सबके साथ और ख़ास कर परोसियों के साथ मेल रखकर चलना। ऐसा करोगे तो मज़े में निर्वाह होता चला जायगा।

छोटे भाई ईशानचन्द्र को अन्य पत्रों की तरह सब लिखकर लिखा था—

यदि गृहस्थी के ख़र्च के लिए सहायता लेना पसन्द करो तो मैं हर महीने ३०) रु० भेज सकता हूँ। तुमने जो रोज़गार

श्रीईश्वरचन्द्रशर्मणः ।

किया है उसके लिए कुछ सहायता कर चुका हूँ। उससे अधिक सहायता करना असम्भव है। क्योंकि एकमुश्त अधिक रुपया देने में मैं असमर्थ हूँ।

इसके बाद वीरसिंहनिवासी स्नेहपात्र गदाधर पाल को उन्होंने जो पत्र लिखा था यह है—

नानागुणालङ्कृत श्रीयुत गदाधर पाल भाईजी

कल्याणभाजनेषु—

शुभाशीर्वादपूर्वकमावेदनमिदम्।

अनेक कारणों से मैंने यह निश्चय किया है कि अब मैं वीरसिंह में न आऊँगा। तुम गाँव के मुखिया हो, इस कारण तुम्हारे द्वारा मैं गाँव के सब लोगों से जन्म भर के लिए विदा होता हूँ। सबको यथायोग्य नमस्कार और आशीर्वाद करके विनीत भाव से यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि मुझसे कभी कोई अपराध बन पड़ा हो तो उसे दया-पूर्वक क्षमा करना। सर्व-साधारण के लिए गाँव में जो अस्पताल और स्कूल है और गाँव के ग़रीब-लाचार लोगों को जो महीने-महीने कुछ सहायता मिलती है, उसे भरसक मैं बन्द न होने दूँगा। कुछ दिनों से मेरे मन और शरीर की हालत बहुत ख़राब होती जाती है। अधिक दिन जीने की अब आशा नहीं की जा सकती। जब तक जियूँगा तब तक तुम लोगों की कुशलकामना करता रहूँगा। इति १२ अगहन, बँ० सन् १२७६।

शुभाकांक्षिणः

श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

श्रीश्रीहरिः शरणम् ।

पूज्यपाद श्रीमत् पितृदेव श्रीचरणारविन्देषु—

प्रणतिपूर्वकं निवेदनमिदम् ।

अनेक कारणों से मुझे वैराग्य सा हो गया है। मुझे अब घड़ी भर के लिए भी किसी गृहस्थी या संसार के झञ्झट में पड़ने अथवा किसी के साथ कुछ सम्बन्ध रखने की इच्छा नहीं है। ख़ास कर इस समय मेरे मन और शरीर की जैसी हालत है उसके देखते मुझे जान पड़ता है कि अगर मैं गृहस्थी के झञ्झटों में पड़ूँगा तो अधिक दिन तक न जी सकूँगा। इसलिए मैंने निश्चय कर लिया है कि जहाँ तक होगा निश्चिन्त भाव से एकान्त में बचे हुए जीवन के दिन बिताऊँगा। यही सङ्कल्प करके श्रीमती मातृदेवी आदि को जो पत्र लिखे हैं उनकी एक-एक कापी सेवा में भेजता हूँ। जी चाहे तो देख लीजिएगा।

गृहस्थी या संसार के मामलों में मुझ सा अभागा मुझको नहीं देख पड़ता। सबको सन्तुष्ट रखने के लिए मैंने प्राणपण से यत्न किया, किन्तु अन्त को मुझे मालूम हुआ कि उसमें मुझे कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त हुई। जो सबको सन्तुष्ट रखना चाहता है वह किसी को सन्तुष्ट नहीं रख सकता। यह प्राचीन प्रवाद झूठ नहीं है। गृहस्थ आदमी जिन लोगों से दया और स्नेह की अभिलाषा करता है उनमें से एक के भी हृदय में मेरे ऊपर दया और स्नेह का लेश भी नहीं है। इस बारे में मुझे रत्ती भर सन्देह नहीं है। ऐसी अवस्था में संसार के झगड़े मोल लेना और उनमें बराबर क्लेश उठाना सरासर मूर्खता का काम है। जिन कारणों से मेरी ऐसी धारणा हुई है उनका उल्लेख करना यहाँ अनावश्यक है।

अब आपकी सेवा में मेरा वक्तव्य यही है कि पिता के निकट पुत्र का पग-पग पर अपराधी होना सर्वथा सम्भव है। इस कारण आपके निकट न जाने कितनी बार मैं अपराधी हो चुका होऊँगा। उसके लिए हाथ जोड़कर कातर वचनों से श्रीचरणों में प्रार्थना करता हूँ कि कृपा करके इस अधम सन्तान के सब अपराधों को क्षमा कीजिएगा।

इस समय मुझ पर ऋण बहुत हो गया है। ऋण चुकाये बिना बस्ती में रहना छोड़ नहीं सकता। इस समय ऋण से छुटकारा पाने के लिए यथोचित यत्न और परिश्रम कर रहा हूँ। ऋण चुक जाने पर किसी एकान्त स्थान में रहने की इच्छा है। + + + आपके खर्च के लिए जो भेजा जाता है वह बराबर पहुँचता रहेगा। इति २५ अगहन।

भृत्य श्रीईश्वरचन्द्रशर्मणः।

विद्यासागर की जवानी का सुन्दर चित्र देखनेवालों में से कई एक ने उनके अधिक अवस्था के चित्र में मुखमण्डल पर गहरे विषाद की छाया देखकर पूछा "महाशय, अतुल-प्रतिभाशाली और कमनीयता की कान्ति से पूर्ण यह सौम्य मूर्ति ऐसी काली क्यों पड़ गई?" इसका भी उत्तर ये पत्र दे रहे हैं। जिन्होंने स्वदेश की अनेक प्रकार की भलाइयों में ही अपने जीवन को लगा दिया, परन्तु उसके पलटे में धोखे और दग़ाबाज़ी के सिवा कुछ न पाया, उनको शान्ति कहाँ मिल सकती है? उनके परिवार के लोग अगर कुछ अनुकूल होते, उनके मन का काम करते, तो भी शायद वे संसार में कुछ सुख या शान्ति पा सकते। लेकिन ऐसा भी नहीं हुआ। वे कर्त्तव्य के जोश से संसार की मरुभूमि पर, स्वार्थपरता की गर्म बालू और कङ्कड़ों के ऊपर, इधर-उधर दौड़ लगाते रहे। वे दीन-दुखी के

पास बैठकर आँसू बहाते रहे, और जब संसार की दग़ाबाज़ी के हाथ से सताये जाकर प्रिय-परिवार की गोद में शान्ति की आशा से दौड़े गये तभी उनको उसमें रुकावट देख पड़ी। उस समय उनका वही हाल हुआ जो पानी के भ्रम से घाम के पीछे दौड़नेवाले प्यासे मृग का होता है। तब क्षोभ के मारे उदास शून्य हृदय पकड़कर वे जल रहे संसार के मैदान में बैठ गये। ऐसी ही अवस्था में उन्होंने माता-पिता, स्त्री-भाई और इष्ट मित्रों को, ऊपर लिखे, पत्रों के द्वारा सदा के लिए विदा होने की सूचना दी थी। किन्तु उस समय भी उन्होंने अपने स्वाभाविक गुण विनय को नहीं छोड़ा।

विद्यासागर ने जिस दारुण दुःख की जलन में ये पत्र लिखे थे उससे उनके चित्त की ग्लानि का ठीक-ठीक अनुमान और अनुभव उनके पिता के सिवा और कोई नहीं कर सकता। पिता के पत्र के प्रत्युत्तर में विद्यासागर ने और एक पत्र लिखा था। उस पत्र का कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है।

आपने लिखा कि तुम 'चोर पर ख़फ़ा होकर ज़मीन पर रोटी खाने बैठे हो, यह सर्वथा अनुचित है। और तुम जो इसी अवस्था में विरक्त बने जाते हो, यह केवल मुझे पीड़ा पहुँचाना है।' इस बारे में मेरा निवेदन यह है कि संसार का सम्बन्ध छोड़ देने से मेरी कुछ भी हानि नहीं देख पड़ती, बल्कि लाभ की ही सम्भावना है। इतने दिनों तक तरह-तरह से लाञ्छित होकर दिन-रात मानसिक व्याधि से पीड़ित हो रहा था। अब सब कष्टों से छुट्टी मिल गई। मैं अधिक क्या कहूँ, मुझे जान पड़ता है कि नरकभोग छोड़कर स्वर्ग की सीमा में आ गया हूँ। ऐसी अवस्था में यह कहना कि मैं चोर पर ख़फ़ा होकर ज़मीन में रोटी खा रहा हूँ, ठीक नहीं जान

पड़ता। खैर, आप इस बात में मेरे लिए कुछ भी चिन्ता न कीजिए। अब मैं निस्सन्देह बहुत कुछ सुख से रह सकूँगा। किन्तु यह जानकर मुझे बेहद दुःख है कि मेरे ऐसा करने से आपको पीड़ा पहुँच रही है। मैं तो बहुत दिनों से संसार से विरक्त सा हो रहा हूँ। तथापि मेरी इच्छा थी कि आपकी और माताजी की ज़िन्दगी भर संसार से सम्बन्ध बनाये रहूँ। किन्तु उत्तरोत्तर सभी ने मेरे साथ ऐसा निर्दय व्यवहार किया, सब लोगों की ओर से मुझ पर इतने अत्याचार होने लगे कि मुझमें उनके सहने की सामर्थ्य नहीं रही। मैं आपसे निष्कपट होकर यह बात कह रहा हूँ कि इस प्रकार असह्य कष्ट न होता तो मैं आपकी ज़िन्दगी में कभी संसार को न छोड़ता। किन्तु सब ओर विचार-पूर्वक देखने से मुझे आपके क्षोभ का कोई कारण नहीं देख पड़ता। पुत्र का क्लेश मिट गया, पुत्र सुखपूर्वक निर्वाह कर रहा है, यह सुनकर निस्सन्देह पिता को आनन्द होना चाहिए। मैं असह्य क्लेश से छुटकारा पा गया हूँ और सुख से हूँ और आगे सुख से रहने का यत्न कर रहा हूँ—यह जानकर आप दुःखित न होकर सुखी ही होंगे।

सैकड़ों तरह के अप्रिय व्यवहारों से विद्यासागर के हृदय में जो दुःख की आग भड़क उठी थी, और जो जीवन के अन्तिम दिन चिता की आग में जाकर बुझी वह इस प्रकार माता-पिता, स्त्री, भाई, मित्र आदि को पत्र लिखने से कुछ कम अवश्य हो गई। हर एक भाई ने पत्र में खेद प्रकट करके बड़े भाई को बहलाने की चेष्टा की थी। उनमें दीनबन्धु न्यायरत्न और शम्भुचन्द्र विद्यारत्न का पत्र ही विशेष रूप से उल्लेख के योग्य है। दीनबन्धु न्यायरत्न ने लिखा था—

आपका यह पत्र पाकर बहुत ही दुःखित हुआ। हम लोगों का सम्बन्ध ऐसा है कि इस अभागे शरीर के चिता में जले बिना मैं न विदा हो सकता हूँ और न आपको विदा कर सकता हूँ। किन्तु यह जानकर कि निश्चिन्त होकर एकान्त में रहने से बहुत दिनों तक जीकर आप जगत् की और भी बहुत कुछ उन्नति कर सकेंगे, आपके एकान्तवास का अनुमोदन करता हूँ। + + +

मोचीराम वन्द्योपाध्याय के विवाह की घटना से विरक्त होकर जब विद्यासागरजी कलकत्ते चले आये थे तब उन्होंने शम्भुचन्द्र विद्यारत्न को जो पत्र लिखा था उसके उत्तर में उन्होंने बँ० सन् १२७६ के २० कार्तिक को यह पत्र लिखा था—

+ + + महाशय का पत्र जब से पढ़ा है तबसे मेरी हालत मुर्दे की ऐसी हो रही है। यह बड़े ही खेद की और देश के लोगों के दुर्भाग्य की बात है कि आप अब देश में न आवेंगे और अपने जीवन से भी विरक्त हो उठे हैं। इसका कारण यही है कि आपके द्वारा देश के लोगों का दुःख दूर होता है और श्रीवृद्धि होती है। महाशय हम लोगों के प्रति खेद का भाव प्रकट कर सकते हैं। आपने अब तक खिला-पिलाकर हमको इतना बड़ा किया है, हम अगर आपका कहना न मानें तो अवश्य ही आपको दुःख हो सकता है। + + + जिस दादा ने हमको खिला-पिलाकर इतना बड़ा किया, जो दादा हमारी बात पर पूरा विश्वास करते थे, जो दादा हमारे सिवा और किसी को नहीं जानते, जिन दादा ने मेरे लिए स्त्री के साथ वैमनस्य करने में भी सङ्कोच नहीं किया, जिन दादा ने हमारे कष्ट के ख़याल से हम लोगों को अलग घर बनवा दिये, जिन

दादा के प्रताप से हम इस देश में प्रभुत्व करते रहे उन्हीं दादा के साथ मैंने बुरा व्यवहार किया + + + ।

इसके बाद विद्यासागर के १२ अगहन के पत्र में उनके वैराग्य-ग्रहण की सूचना पाकर उसके उत्तर में, सन् १२७६ के २ पौष को शम्भुचन्द्र लिखते हैं—

आपके १२ अगहन के लिखे रजिस्ट्री पत्र को पाकर हम लोगों का हृदय काँप उठा। अनेक कारणों से आपको वैराग्य हो गया है और आप घड़ी भर के लिए भी संसारी झगड़ों से या और किसी से सम्बन्ध रखना नहीं चाहते, यह जानकर मैं अत्यन्त दुःखित और मुर्दा सा हो रहा हूँ। + + अब मेरी प्रार्थना यही है कि यदि मेरा कुछ अपराध हो तो आप मुझे दण्ड दे सकते हैं। मैं अब तक आपके ही अनुगत और आश्रित रहा हूँ और आपको माता-पिता से अधिक समझता रहा हूँ। कभी-कभी माता-पिता मेरे भविष्य के ऊपर ध्यान देकर कुछ उपदेश करते थे तो उसे मैं न सुनता था। इससे बीच-बीच में वे मुझ पर नाराज़ हो जाते थे। मैंने सपने में भी कभी आपका अनिष्ट नहीं विचारा। आप मेरी बात पर विश्वास करते थे, इसलिए और लोग, भाई, भौजाई आदि सब कभी कभी आपसे नाराज़ हो जाते थे। + + + इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप जो इस समय संसार को छोड़ते हैं उसका कारण केवल मेरा अभाग्य है।

इन पत्रों के द्वारा स्पष्ट जान पड़ता है कि विद्यासागर को स्त्री, पुत्र और भाइयों से सुख नहीं मिला। इतना ही नहीं, कभी-कभी इनसे उनको बड़ा क्लेश मिला और उन्हें बड़ी ही चिन्ता में समय बिताना पड़ा। किन्तु ऐसी अवस्था में भी उनकी दृष्टि सबके सुख

की ओर ही थी। संसार के साधारण आदमियों में और विद्यासागर में यही अन्तर है। जिन्होंने उनको सदा क्षोभ और दुःख दिया उन्हीं की सेवा में वे सदा लगे रहे। केवल उनके पुत्र नारायणचन्द्र अवश्य अपने ही दोष से बहुत समय तक पिता के स्नेह और ममता से वञ्चित रहे। पुत्र ने अक्सर पिता को प्रसन्न करने की चेष्टा की, किन्तु किसी चेष्टा से स्थायी फल नहीं हुआ। नारायण बाबू ने पिता की जीवनी से सम्बन्ध रखनेवाले जो काग़ज़-पत्र कृपा करके मुझे दिये हैं उनमें नारायणचन्द्र के विरुद्ध बेनाम के और नामवाले पत्र आदि मुझे मिले हैं और वे पत्र नारायण बाबू ने जान-बूझकर मुझे दिये हैं। उन पत्रों के देखने से जान पड़ता है कि पिता को पुत्र से असन्तुष्ट बनाये रखने के लिए अनेक लोगों ने चेष्टा की थी। इन पत्रों में नारायण बाबू के कई पत्र भी मुझे मिले हैं। उनमें सन् १२९५ के ३० ज्येष्ठ को नारायण बाबू ने पिता को जो पत्र लिखा था उसे पढ़कर पत्थर भी पसीज उठेगा। उसमें विद्यासागर की नाराज़ी का कारण, उसके लिए पुत्र का गहरा पश्चात्ताप, अनुराग-पूर्ण क्षमा-प्रार्थना का भाव आदि बातें पाठकों को मालूम होंगी। उस पत्र की नक़ल यहां दी जाती है *—

श्रीचरणकमलेषु

प्रणतिपूर्वकं निवेदनमिदम्—

आपके चरणों की कृपा से मुझे सब कुछ हासिल है। चाहे जिस तरह हो दस रुपये भी पैदा करता हूँ, सम्मान की

* नारायण बाबू ने गौरव के साथ मुझसे कहा था कि मेरी बात लिखते समय पिताजी के प्रति कुछ अविचार न करना। उनके असली महत्त्व को बनाये रखने के लिए मेरी हीनता का परिचय देना आवश्यक समझना तो कुछ संकोच न करना। इसी से यह पत्र यहाँ पर उद्धृत करने का साहस मैंने किया है।

भी कमी नहीं है। बाहर के देखने में परम सुखी हूँ। लेकिन मेरे हृदय में एक विषम विषैला कीड़ा घुसा हुआ दिन-रात मुझे डसा करता है। मैंने अच्छे कपड़े पहनना—वेश-भूषा बनाना—छोड़ दिया है। केवल आपके चरणों की सेवा में ही मन लगा हुआ है, और कुछ इच्छा ही नहीं होती। पहले के किये अपराधों की याद करके बड़ा ही पश्चात्ताप होता है। मन यही कहता है कि हाय, यदि यों अपराध करके पिताजी के निकट अपराधी न होता तो कैसा अच्छा होता! जैसा पाप किया था वैसा फल भी मुझे मिल गया। आज आपके चरणों के निकट होता तो न जाने किस पद को पहुँचता। इस समय समाज मुझे हेय समझता है। यह सब भी मैंने सह लिया। किन्तु इससे बढ़कर खेद की बात और क्या हो सकती है कि इस अवस्था में, बीमारी के समय, मैं आपके चरणों की सेवा न कर सका; मैं अपने जीवन के सबसे बड़े कर्त्तव्य का पालन न कर सका। आप एक बार बाबा के चरणों की सेवा के लिए काशी जाने का उद्योग कर रहे थे उस समय एक आत्मीय पुरुष ने कहा कि विद्यासागर, ऐसी गर्मी में काशी की यात्रा करना जान-जोखिम का काम है। इस पर आपने वैसे ही उत्साह के साथ कहा कि मैं Duty (कर्त्तव्यपालन) करने जाता हूँ; इसमें प्राण का भय करने से काम नहीं चल सकता। तभी से महापुरुष के मुँह से निकले हुए ये वाक्य मेरे हृदय-पटल पर अङ्कित हैं। आज मैं अपने कर्म-दोष के कारण इसी Duty से वञ्चित हो रहा हूँ।

मैं इस समय आपके निकट आने में असमर्थ हूँ। जब आप इस अधम का मुँह देखना नहीं चाहते तब यह अधम किस साहस से आपके सामने जाकर खड़ा हो सकता है? मैं आड़

में रहूँगा। नौकर की ज़रूरत होगी, नौकर को बुला दूँगा। कहीं जाना होगा तो नौकर की तरह चला जाऊँगा। नौकर की ही तरह रहूँगा। धीरे-धीरे अनुग्रह होने पर अनुमति पाकर पास जाऊँगा, नहीं तो कुत्ते की तरह एक किनारे पड़ा रहूँगा। मैं कैसा भी होऊँ, आपका पुत्र हूँ। मेरी भी आधे के लगभग आयु बीत चुकी है। चाहे जैसा हो, आपके एक पोता है। यदि वह जियेगा तो उसे आपका परिचय देना पड़ेगा। आप अगर पुत्र को पैरों से ठुकरावेंगे तो वह समाज में क्या मुँह दिखावेगा? धिक्कारमय जीवन की अपेक्षा मर जाना ही अच्छा होता है। मैं तो अब तक प्राण दे देता। किन्तु मधुर-भाषिणी आशा ने मुझे बचा रक्खा है। मा-बाप से क्षमा पाने की आशा कभी नहीं छोड़ी जा सकती। इस जन्म में तो मेरी यह दुर्दशा हुई है; किन्तु कृपा करके मेरे परलोक का मार्ग भी कण्टकाकीर्ण न बनाइए। यदि आपके चरणों की सेवा करने न पाया तो परलोक मेरा कैसे बनेगा? आप एक बार रागद्वेषशून्य मन से, अपने ऋषियों के ऐसे माधुर्य और मन की उदारता में मग्न होकर देखिए, अपने अधम पुत्र को इस तरह कहीं का न रखने से महात्मा के जगद्व्यापी यश में कलङ्क की रेखा लग जायगी या नहीं? जो व्यक्ति सहनशीलता का आधार है, जिसका शरीर क्षमा से परिपूर्ण है, जिसके हृदय में ममता भरी पड़ी है, पराये दुःख का हाल सुनकर जिसकी आँखों से आँसुओं की धारा वह चलती है वह दयालु महापुरुष अभागे, पश्चात्ताप से जल रहे, भग्न-हृदय अपने इकलौते लड़के को क्षमा न करेगा? इस बात पर तो किसी तरह विश्वास करने को जी नहीं चाहता।

पिताजी, एक दिन भी मेरा जीवन सफल नहीं हुआ। मैंने विवाह के बाद महाशय ने शम्भू चाचा को पत्र के उत्तर में लिखा था कि "नारायण ने अपनी इच्छा से यह विवाह करके मेरा मुँह उजियाला किया है। अधिक क्या लिखूँ, नारायण के यह व्याह करने से मैं चरितार्थ हो गया हूँ।" पिताजी, इस जन्म में इससे अधिक सुख-सौभाग्य मेरे लिए और क्या हो सकता है? यही मेरे लिए स्वर्ग का सुख है। आप राजाधिराज जगन्मान्य पिता हैं, और मैं कीटानुकीट लड़का हूँ। मेरे किये काम के कारण अगर घड़ी भर के लिए भी आपको रत्ती भर सन्तोष हुआ हो तो वही मेरे लिए सौभाग्य की बात है। उसे मैं अपनी भारी तपस्या का फल समझता हूँ। पिताजी, हाय मैं इस पत्र में बार-बार पिताजी, पिताजी यह कहा सम्बोधन करता हूँ, इससे मेरे रोमाञ्च हो आता है। यह अभागा ज़िन्दगी भर में कभी 'बाबा' (बङ्गाली बाप को बाबा कहते हैं) इस मधुर सम्बोधन से पुकार न सका। प्यारी जब मुझे दादा कहकर पुकारती है तब मेरा हृदय आनन्द से भर जाता है किन्तु वैसे ही विषाद से शिथिल हो जाता हूँ। मुझे भी वैसे ही बाबा कहकर पुकारने की इच्छा होती है। किन्तु पुकार नहीं सकता, वृथा अभिलाषा है, यह सोचकर मुर्दा सा हो जाता हूँ। मैं सोचता हूँ कि अगर मैं आपका अभागा पुत्र न होता, मन के माफ़िक़ पुत्र होता, तो प्यारी की तरह बाबा कहकर मेरे पुकारने से आपको भी बड़ा आनन्द होता। किन्तु मुझ अभागे ने जन्म लेकर आपके सब सुखों में बाधा डाल दी। अगर मैं पैदा भी हुआ था तो मर क्यों न गया!

महाशय अकेले वहाँ व्यग्र होंगे। आज अगर गोपाल (विद्यासागर के बड़े दामाद) भी होते तो आपको इतनी व्यग्रता न होती।

+ + इस प्रकार बहुत से परिवार के रहते भी आप अकेले हैं। लड़का, दामाद, भाई, एक भी अपने मन का होता तो उस पर सब बोझ डालकर बीमारी के समय कुछ दिन आप निश्चिन्त भाव से रह सकते। जब-जब आपके शीर्ण शरीर, सूखे मुख और क्षीणस्वर से बात करने की मुझे याद आती है और उसके ऊपर आपकी सब कामों के लिए व्यग्रता का विचार करता हूँ तब अपने जीते रहने को हज़ार-हज़ार धिक्कार देने को जी चाहता है। अपने अपराध के लिए गला दबाकर मर जाने की इच्छा होती है।

जिस महापुरुष, जिस धैर्यगुण के आधार, जिस great peerless man (तुलनारहित महापुरुष), जिस Demigod (मानव-देवता) ने हर एक काम में पराये लिए असाधारण सहिष्णुता दिखलाई है उस महात्मा ने अपने लड़के को नहीं क्षमा किया! अपराध चाहे जितना भारी हो, क्षमा के निकट वह कुछ भी नहीं है—फिर ख़ासकर माता-पिता के आगे! मुझे चरणों में आश्रय देने से कोई कुछ न कहेगा। उससे महापुरुष के महत्त्व का ही परिचय प्राप्त होगा। अधिक क्या कहूँ, और एक बार कृपा करके अलौकिक उदारता का परिचय देकर अपने अभागे पुत्र को चरण-सेवा का अधिकार दीजिए। तब आप देख लीजिएगा कि मैं आपके मन के माफ़िक़ बन सकता हूँ या नहीं। भला हूँ या बुरा, जिनसे आपका सम्बन्ध है उनमें यह अभागा ही प्रथम और प्रधान है। आपने अनेक लोगों के लिए अनेक काम किये हैं। मेरे लिए एक बार अलौकिक क्षमा का परिचय देकर, अभागे को चरणों में स्थान देकर, अन्तिम परीक्षा लीजिए। मैं साहस करके कह सकता हूँ कि एक घड़ी के लिए भी कभी ऐसा काम न करूँगा जिससे आप

असन्तुष्ट हों। संसार के सब सुखों को तज दूँगा। मुट्ठी भर अन्न खाकर आपके चरणों की सेवा के लिए जीवन धारण करूँगा। कुत्ता जैसे मुट्ठी भर भात खाकर निरन्तर मालिक के मन के माफ़िक़ काम करता है वैसे यह अभागा कुत्ते से भी अधम होकर प्रभु के पैरों के पास पड़ा रहेगा।

३० ज्येष्ठ, १२८५

आपका—
अभागा पुत्र।

इस पत्र में विद्यासागर के पारिवारिक सुख-दुख का पूरा आभास और निराशा तथा अशान्ति के गूढ़ कारणों का विशेष परिचय प्राप्त होता है। इस पत्र में विद्यासागर के महत्त्व का छोटा सा, किन्तु समुज्ज्वल, चित्र अङ्कित है। पाठकगण मन लगाकर बार-बार पढ़ने से इस पत्र में अनेक सुन्दर भावों को देख पावेंगे। बिछड़े हुए बाप-बेटे के सम्बन्ध के विषय में यह पत्र बँगला के साहित्य में स्वतन्त्र स्थान पाने के लायक़ है। इस पत्र को पढ़कर विद्यासागर पुत्र पर कुछ प्रसन्न हुए थे और कुछ दिनों तक बेटे और बहू को अपने पास कलकत्ते में और फरासडाँगा के घर में लाकर रक्खा था। उसके बाद अन्तिम बीमारी के समय भी पास रहकर सेवा-शुश्रूषा करने के लिए बुलाया था। घटना-चक्र के फेर से प्राय: अपने पुत्र पर नाराज़ रहने पर भी बहू, पोते और पोतियों पर उनका स्नेह कभी कम नहीं हुआ। इसके प्रमाण में यहाँ पर कई एक पत्र उद्धृत किये जाते हैं। उनसे पाठकों को मालूम हो जायगा कि जो हृदय स्वदेश और विदेश के असंख्य दुखियों का दुख दूर करने में सदा लगा रहता था वह हृदय परिवार की ममता से शून्य न था। यह पत्र बहू को लिखा था—

श्रीश्रीहरिः
शरणम् ।

वत्से भवसुन्दरि,

शारीरिक अस्वस्थता आदि अनेक कारणों से बहुत दिनों से तुमको पत्र नहीं लिख सका। इसलिए शायद तुम बहुत दुःखित हो और मुझसे नाराज़ भी हो गई हो। इसमें सन्देह नहीं कि इतने दिन पत्र न लिखकर मैंने अन्याय किया है।

मैं कलकत्ते में अत्यन्त अस्वस्थ रहने के कारण दस दिन से खर्माटाँड़ में आ गया हूँ। कलकत्ते में तबीयत बहुत ख़राब रही। यहाँ भी अच्छी तरह आराम नहीं है। यहाँ और आठ-दस दिन रहकर फिर कलकत्ते जाऊँगा। कलकत्ते में मुझे तुम्हारा पत्र मिलना चाहिए। कुन्द शायद मुझे भूल गई होगी। उसे पास बिठाकर खिलाने की बड़ी इच्छा होती है। उसकी बातें याद आती हैं। इति।

१ चैत्र, १२९५। शुभाकांक्षिणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

श्रीश्रीहरिः
शरणम् ।

वत्से भवसुन्दरि,

इस पत्र में तुम्हारे चैत्र के ६०) रु० भेजता हूँ। पहुँच की सूचना देना। मिन्नी, कुन्द, प्यारी और नूदी को आशीर्वाद और प्यार करके कहना कि मेरा मन उनको देखने के लिए

व्याकुल रहता हूँ। न जाने कितने दिनों में फिर उन्हें देखूँगा। उनका कुशल-समाचार लिखना। यहाँ सब कुशल है।

१ चैत्र, १२-६२.   शुभाकांक्षिणः

श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

(बड़ी पोती मृणालिनी को निम्नलिखित पत्र लिखा था)

वत्से मृणालिनि,

सस्नेहसम्भाषणमिदम्—

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारी माता का पेट का दर्द अच्छा हो गया. तुम सब अच्छी तरह हो, तुम वस्तुविचार पढ़ती हो और कुन्द कथामाला पढ़ती है, ये समाचार पाकर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ। तुम मन लगाकर पढ़ना-लिखना सीखो। अच्छी तरह पढ़ो-लिखोगी तो मैं तुम्हें बहुत प्यार करूँगा। तुम कभी-कभी मुझे पत्र लिखा करो। और अगर कुन्द लिख सकती हो तो उससे भी पत्र लिखने के लिए कहना। तुम्हारा पत्र पाकर मुझे बड़ी ख़ुशी होती है।

एक महीने के लगभग हुआ, मेरे पेट में भी पीड़ा होती है। अभी तक दर्द अच्छा नहीं हुआ। मैं बहुत कमज़ोर और दुबला हो गया हूँ। आज तीन दिन से कुछ तबीयत अच्छी है। जान पड़ता है, तीन-चार दिन में बिलकुल अच्छा हो जायगी। तुम लोग घबराना नहीं। तुम्हारी दादी, बुआ, सुरेश, यतीश, हरिमोहन, रामकमल और रानी वग़ैरह सब अच्छी तरह हैं। अपनी माता, कुन्द, प्यारी, मोती वग़ैरह से मेरा आशीर्वाद और स्नेहसम्भाषण कहना। कमज़ोरी के कारण तुम्हारी माता को अलग पत्र नहीं लिख सका। तुम शायद पत्र न लिखने से

ख़फ़ा हो जाती, इसलिए यह पत्र लिखा है। अब आज और प॰ लिखने की शक्ति नहीं है।

शुभाकांक्षिणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

श्रीश्रीहरिः
शरणम्।

वत्से भवसुन्दरि,

इस पत्र में १५०) रु० के नोट भेजता हूँ। इनके पहुँचने की सूचना के साथ कुशल-समाचार लिखना। यहाँ सब लोग अच्छे हैं। मैं अभी तक अच्छी तरह आराम नहीं हो सका। बेटी मृणालिनी से मेरा प्यार कहकर कहना कि उसका पत्र पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। दो-तीन दिन में उसे पत्र लिखूँगा। हेमलता कहती है कि ८०) रु० महीने में भेजने से तुम्हें सब तरह सुभीता हो जायगा। इसलिए इस हिसाब के ८०) रु० और पुराने हिसाब के ७५) रु०, कुल १५५) रु० हुए। ५) रु० यहाँ हेमलता ने ले लिये हैं। शेष १५०) रु० भेजे हैं। इति।

३ चैत्र, १२९१

शुभाकांक्षिणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

श्रीश्रीहरिः
शरणम्।

वत्से भवसुन्दरि,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम सबके कुशल-समाचार पाकर प्रसन्नता हुई। मैं अभी तक पूर्णरूप से अच्छा नहीं हुआ। बहुत कमज़ोरी है। घर में सब अच्छे हैं। मृणालिनी, कुन्द, प्यारी

और मोती को मेरा आशीर्वाद और प्यार पहुँचे। उनकी याद आते ही आँखों में आँसू भर आते हैं। सुना कि मृणालिनी की यहाँ से जाने की इच्छा नहीं थी। अगर पहले मालूम होता तो मैं उसे जाने न देता। बीच-बीच में कुशल-समाचार लिखा करो। इति।

२६ चैत्र, १२६१ शुभाकांक्षिणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

विद्यासागर ने संसार से विरक्त होकर जैसे अनेक आत्मीयों को पत्र लिखे थे वैसे ही बहू को भी निम्नलिखित पत्र लिखकर अपने मन का भाव व्यक्त किया था। इस पत्र को पढ़ने से विदित होता है कि नित्य के खर्च के लिए इनको सबसे अधिक रुपया भेजते थे।

श्रीश्रीहरिः
शरणम्।

भवसुन्दरि,

मैं तुम लोगों से जन्म भर के लिए विदा होता हूँ। तुम्हारे नित्य के ख़र्च के लिए इस समय १५०) रु० मासिक देना मैंने निश्चित किया है। इति।

श्रीईश्वरचन्द्र शर्म्मा।

श्रीश्रीहरिः
शरणम्।

वत्से भवसुन्दरि,

इस पत्र में ८०) रु० के नोट भेजता हूँ। पहुँच की सूचना और कुशल-समाचार देना। मैं वैसा ही हूँ। अभी तक अच्छी तरह आराम नहीं हो सका। घर में और सब अच्छे हैं। मृणालिनी, कुन्द,

प्यारी और मोती को मेरा आशीर्वाद और प्यार पहुँचे। कभी-कभी रोने लगता हूँ। मैं तीन-चार दिन में खर्म्माटाँड़ जाऊँगा। वहाँ चार-पाँच दिन से अधिक नहीं रहूँगा। इति।

३० वैशाख, १२९२ शुभाकांक्षिणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

श्रीश्रीहरिः
शरणम्।

प्राणाधिक भाई प्यारीमोहन,

तुम पत्र लिख सके, इससे मुझे बड़ी ख़ुशी हुई। तुम मन लगाकर लिखो-पढ़ोगे तो मैं तुम पर बहुत प्रसन्न होऊँगा। तुम हर महीने दो बार मुझे चिट्ठी लिखा करो।

तुम सब अच्छी तरह हो, यह ख़बर पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं अब यहाँ पहले की अपेक्षा बहुत अच्छा हूँ। घर में और सब अच्छे हैं। मोती, कुन्द, मृणालिनी और अपनी माता से मेरा आशीर्वाद कहना।

२७ पौष, १२९२। शुभाकांक्षिणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

श्रीश्रीहरिः
शरणम्।

वत्से मृणालिनि,

सस्नेहसम्भाषणमिदम्—

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे कुशल-समाचार पाकर प्रसन्नता हुई। एक बङ्गाल का नक़शा तुमने माँगा है, सो दो-तीन दिन में

भेज दूँगा। मन लगाकर पढ़ोगी तो तुम पर बहुत प्रसन्न होऊँगा। अपनी माता, कुन्द, प्यारी और मोती से मेरा आशीर्वाद और प्यार कहना। यहाँ सब अच्छी तरह हैं। मैं वैसा ही हूँ।

३१ चैत्र, १२६१। शुभाकांक्षिणः

श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

पुत्र के पास से पूर्वोक्त पत्र पाकर विद्यासागर के मन का भाव बिलकुल बदल गया था। इसके प्रमाण में नारायण बाबू का पिता के पास भेजा हुआ कृतज्ञतासूचक पत्र यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

श्रीः।

श्रीचरणारविन्देषु

प्रणतिपूर्वकं निवेदनमिदम्—

पितृदेव, अब की समझा था कि सब दुःख-कहानी सुना दी है। एक बार महाशय के चरणों में गिरकर अपने भाग्य का फ़ैसला कर लूँगा। किन्तु निठुर दैव ने अभागे की फूटी तक़दीर को और भी टुकड़े-टुकड़े कर डाला।

स्नेहमयी माता के न रहने पर संसार में एकदम असहाय हो जाता, मातृहीन बच्चे की तरह बिलखता फिरता, किन्तु दयामय पितृदेव के सदय व्यवहार से मुझे बहुत कुछ शान्ति मिल गई है। जबसे आपके चरण छूटे तब से माता के चरणों में समय बिता रहा था, सुमधुर 'मा' सम्बोधन से माता को पुकारकर अपने जले कलेजे को ठण्डा करता था। जब माता अपने अभागे पुत्र को निराश्रय छोड़कर स्वर्ग सिधार गईं तब पितृदेव ने कृपा-पूर्वक अयोग्य पुत्र को चरणों में स्थान दे दिया।

इसी कृपा के वल से यह अभागा असह्य माता के शोक को सह रहा है। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि अभागे पर आप इतनी कृपा करेंगे। मैं तो जानता था, जन्म भर के लिए मेरी तक़दीर फूट गई। अवकी वार साहस करके आपके सामने खड़ा हो सका हूँ, दोमंज़िले पर सोने की अनुमति पाई है, आपसे दो-एक वात करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। एक दिन शाम को मैं 'जलखवा' माँग रहा था; महाशय नीचे थे। सुनते ही आपने हेमलता से कहा—"ओ हेम, तेरा दादा 'जल-खवा' माँग रहा है।" सुनकर मेरा विषाद-पूर्ण हृदय आनन्द से भर गया। इस प्रकार की कृपा-दृष्टि से यह अभागा कृतार्थ हो गया है। हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्द का आविर्भाव हुआ है। जिसे अँगरेज़ी में Intoxicated with joy कहते हैं। मुझे वही हुआ है। वहुत दिन भूखे रहने के वाद सुन्दर भोजन मिलने से हृदय में एक प्रकार की अनिर्वचनीय तृप्ति उत्पन्न होती है। १४ वर्ष के वाद आपके श्रीमुख से निकले हुए इन अमृत-मधुर वचनों से मेरे आत्मा को भी वैसी ही तृप्ति हुई है। अनेक वार कृपा का परिचय पाकर असंख्य वार मैंने आनन्द के आँसू वहाये हैं। उस समय यह ख़याल करके मेरा हृदय फट गया है कि यह कृपा-दृष्टि यदि मेरी दुखिया माता देख पाती तो मेरा जीवन सार्थक हो जाता। मैया! एक वार इधर देखो। तुम्हारे अभागे नारायण को पिता के चरणों में आश्रय मिल गया। मैया! तुमने अन्त समय भी यही इच्छा प्रकट की थी कि "उनको वुलाओ मैं १०-१२ वर्ष की मन के दुःख की वात कहकर अपने नारायण को उन्हें सौंप जाऊँ।" इस समय एक वार देखो मैया, दयामय पिताजी ने तुम्हारे अन्तिम अनुरोध को नहीं टाला। जितना

ही माता के स्नेह को सोचता हूँ उतना ही हृदय में जैसे कोई सेल मारता है।

आपने मुझ पर जितनी कृपा दिखाई है उतनी कृपा ही मेरे लिए यथेष्ट है। मरते समय यह याद करके भी सुख से मरूँगा कि पिता ने अपराधी पुत्र को क्षमा कर दिया। मैं आपके चरणों में क्षमा की ही भिक्षा माँग रहा था। कितनी ही बार जी चाहा था कि पैरों पर गिरकर ख़ूब रोऊँ। किन्तु आप शोकार्त्त थे, इसलिए ऐसा करने का मुझे साहस नहीं हुआ। अब मैं इन चरणों को छोड़कर नहीं रह सकता। मेरे हृदय में जो भाव सूख गया था वह आपकी कृपा-दृष्टि से हरा हो आया है। अब कैसे छोड़ सकता हूँ। मैं आपको ज़रा भी नाराज़ न करूँगा। हुकूमत या धन की मुझे चाह नहीं। मैं केवल पैरों के पास पड़ा रहना चाहता हूँ। आपको तमाखू भर दूँगा, जूते साफ़ करूँगा, परदेश में कुली की तरह असबाब लादकर चलूँगा। आपके और माताजी के परम पवित्र चरणों का स्मरण करके सत्य कहता हूँ कि मुझे और किसी चीज़ की चाह नहीं है। मातादीन (नौकर) की तरह रहकर भी मैं सुख पाऊँगा। आपके घर में चाहे जो हो, चाहे मुझे कोई भला-बुरा कहे, मुझे कुछ भी कष्ट न होगा। आपके चरणों की सेवा के लिए सब तज दूँगा। पहले के किये पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए तन-मन-जीवन आपके चरणों में अर्पण कर दूँगा।

मैं आपसे और एक निवेदन करूँगा। यदि इस समय मुझे बिलकुल अपने पास रखने के लिए आप राज़ी न हों तो कम से कम मुझे स्कूल में कोई नौकरी दिला दीजिए। मेरे चरित्र, व्यवहार और कामकाज को देखकर अगर आप प्रसन्न हों तो चरणसेवा की अनुमति दीजिएगा। ऐसा होने से मुझे दोनों वक़्त

श्रीचरणों के दर्शन प्राप्त होंगे। मतलब यह कि जिस तरह हो, आपको मुझे अपने चरणों में आश्रय देना ही पड़ेगा। मैं अपने आफ़िस और लोकल-बोर्ड आफ़िस के काम को अच्छी तरह चलाकर माया-ममता-शून्य विदेशी हाकिमों को प्रसन्न रख सकता हूँ और अपने दयामय पिता को प्रसन्न न रख सकूँगा? बेकार बैठे रहने को अब जी नहीं चाहता और आपको छोड़कर भी नहीं रह सकता। इति।

२८ भाद्र, १२९५। हतभाग्य भृत्य
श्रीनारायणशर्म्मणः।

इस घटना के कुछ दिन पहले एक बार विद्यासागर बहुत बीमार थे। उस समय मैंने बिना समझे कहा था "इतने परिश्रम से आप का शरीर दिन-दिन रोगी और शिथिल होता जाता है। आप क्यों शरीर को क्षीण किये डालते हैं? अपने विश्रामस्थान खर्म्माटाँड़ जा-कर कुछ दिन न रहिए।" इसके उत्तर में उन्होंने अत्यन्त आर्त्तभाव से आँखों में आंसू भरकर कहा—"मैंने अपने कहीं जाने की राह नहीं रक्खी। केवल इसी एक काम में मैंने अपने को ऐसा फँसा रक्खा है कि मैं कहीं नहीं जा सकता।" इतना कहकर उन्होंने अपने हाथ का एक रजिस्टर मेरे सामने फेंक दिया। उसमें मासिक दान का हिसाब था। उसका अन्तिम पृष्ठ खुल जाने से मैंने देखा कि मासिक दान की रक़म ८००) रु० से भी कुछ अधिक थी। ये रुपये ग़रीब दुखी लोगों को सहायता के रूप में दिये जाते थे। इसके अलावा वे दान अलग थे जो समय-समय पर अथवा एकमुश्त दिये जाते थे। विद्यासागर ने वह रजिस्टर मेरे आगे फेंककर क्षोभ के मारे आँखों में आँसू भरकर कहा—गत वर्ष मैं तीन महीने की वृत्ति बाँटने के लिए २५००) रु० एक आत्मीय मित्र को देकर खर्म्माटाँड़ में विश्राम करने

चला गया था। जाते समय कह गया था कि हर महीने सब को वृत्ति के रुपये भेजते रहना। किन्तु मैं ऐसा अभागा हूँ कि एक महीना बीतते ही बीतते ख़बर आने लगी "हम भूखों मर रहे हैं, हमारे यहाँ चूल्हा नहीं जलता; हमारी वृत्ति हमको नहीं मिली।" जिनको रुपया दे गया था उनको लिखा, कुछ उत्तर नहीं मिला। अन्त को लोगों के तगादे से लाचार होकर कलकत्ते दौड़ा आया! उन आत्मीय को बुलाकर पूछा—'लोगों को वृत्ति क्यों नहीं मिली?' उन्होंने उत्तर दिया—'और-और काम इतने थे कि फ़ुरसत ही नहीं मिली।' यह कहकर वे जान बचाते थे; मैंने बिल्कुल निर्लज्ज होकर कहा—'अच्छा, नहीं दे सके तो रुपये ला दो, मैं सबकी वृत्ति ख़ुद दे जाऊँगा।' मेरे उन परम आत्मीय ने कहा—'हाँ—सो—रुपया—तो और बाबत ख़र्च हो गया है!' विद्यासागर जिस समय ये बातें कह रहे थे उस समय दुःख, क्षोभ और घृणा के समान समावेश से उनके मुख-मण्डल पर एक विचित्र भाव झलक रहा था। उन्होंने विषाद-पूर्ण उत्तेजना के भाव से कहा—उसी समय २५००) क़र्ज़ लिया। तीन महीने की वृत्ति सबको भेजी, फिर विश्राम करने के लिए गया।

जन्म भर इस प्रकार तरह-तरह के दुःख-कष्ट भोगने पर भी विद्यासागर को दो-एक बातों का सुख था। इधर कलकत्ते में लड़कियों के साथ जब वे बादुड़बागान के घर में रहते थे तब उनको नातियों से बड़ा सुख मिलता था। 'साहित्य'-सम्पादक श्रीयुत सुरेशचन्द्र समाजपति और उनके छोटे भाई श्रीयुत यतीशचन्द्र समाजपति उस समय बच्चे थे। इनको और छोटी लड़की के लड़कों को लेकर वे सदा आनन्द-मग्न रहते थे। श्रीमान् सुरेशचन्द्र के मुँह से मैंने सुना है कि कभी-कभी विद्यासागर के कमरे में सब जने इकट्ठे होते थे। कन्याएँ कोनों में खड़ी होती थीं। नातियों में से कोई दाहने,

कोई बायें, कोई सामने और कोई पीछे खड़ा होता था। विद्यासागर बैठकर सबसे बातचीत करते थे। उनका प्रसाद—जूठा पान—पाने के लिए सब उम्मेदवारी करते थे। उनके प्रसाद का पान पाना कन्याओं और नातियों के लिए एक विशेष सम्मान की बात थी। सबमें छोटा नाती (रामकमल) उनको बहुत प्यारा था। इस पारिवारिक सान्ध्य-सम्मिलन में यही बालक नट का काम करता था। इसे उपहार देने के लिए विद्यासागर सदा अपने पास नई दुअन्नियां, चवन्नियां और अठन्नियां रखते थे। उसके मांगते ही उसे देते थे। उससे विद्यासागर पूछते थे—'बेटा, तुम किसे प्यार करते हो?' वह कहता था—'दादाजी, मैं तुमको ख़ूब प्यार करता हूँ। और तुससे बढ़कर इन नई-नई दुअन्नियों-चवन्नियों को प्यार करता हूँ!' विद्यासागर कहते थे—सभी इसे प्यार करते हैं। तुम समझते नहीं हो, इसी से कह डालते हो, और-और लोग मुँह पर यह बात स्वीकार नहीं करते।

वैराग्य के भाव से पूर्ण पत्र लिखकर आत्मीय स्वजनों से विदा होने के बाद जिस समय विद्यासागरजी कुछ शान्ति के साथ एकान्त-वास कर रहे थे उसी समय उनकी माता अपने पति के पास काशी-वास करने के इरादे से गईं। किन्तु काशीवास पसन्द न आने के कारण अन्त को तीर्थयात्रा करती हुई वीरसिंह लौट आईं। आते समय काशी होकर आईं। वहां पति से भेंट होने पर उन्होंने उन्हें घर लाने के लिए बहुत चेष्टा की। किन्तु ठाकुरदास राज़ी नहीं हुए और अपने साथ स्त्री से भी काशी में रहने के लिए कहने लगे। भगवती देवी ने पति से कहा—'तुम्हारे सिधारने में अभी विलम्ब है। मैं चाहे जहां रहूँ, इसी काशी में आकर तुम्हारे आगे मरूँगी। मेरे बाद तुम सिधारोगे। इसी से कहती हूँ कि अभी देर है, घर चलो।' भगवती देवी का यह कहना देववाणी की तरह अक्षर-अक्षर सच

निकला। ठाकुरदास बीमार हुए। उन्होंने मृत्युकाल निकट समझकर कलकत्ते में और बीरसिंह में ख़बर भेजी। सन् १२७७ के २ फाल्गुन को दीनबन्धु और शम्भुचन्द्र माता को लेकर काशी गये। इधर ईश्वरचन्द्र भी सब काम छोड़कर पिता की सेवा करने के लिए काशी पहुँचे। अच्छी तरह सेवा और दवा होने से ठाकुरदास आराम हो गये। १५ फाल्गुन को ईश्वरचन्द्र माता और भाइयों को पिता की सेवा के लिए वहीं छोड़कर कलकत्ते लौट आये। ठाकुरदास धीरे-धीरे बिल्कुल आराम हो गये। किन्तु भगवती देवी फागुन, चैत दो महीने वहाँ रहकर एक ही दिन में हैज़े की बीमारी से चल बसीं। पुत्र, कन्या, पोते, पोती, नाती, नातिन और आत्मीय-स्वजनों को देखकर—उन्हें आशीर्वाद देकर—पति के पैरों की धूल मस्तक में लगाकर उन्होंने शरीरत्याग किया। ठाकुरदास ने बुढ़ापे में स्त्री-वियोग से शोकाभिभूत होकर भी स्त्री को आशीर्वाद देते हुए कहा—तुम्हें मैं और क्या आशीर्वाद दूँ! तुम पुण्यवती स्त्री हो, अपने पुण्य से आप ही आगे चली जाती हो। तुम्हारी ही जीत हुई।

माता के मरने की ख़बर पाकर ईश्वरचन्द्र को बड़ा ही दुःख हुआ। वे मातृहीन बालक की तरह सदा रोया करते थे। माता की मृत्यु के समय वे उनके पास न थे और न कुछ उनकी सेवा ही कर सके। यही उनको बड़ा क्षोभ था। काशीपुर में गङ्गा-तट पर माता का श्राद्ध करके वे एक साल तक सब सुखों को छोड़कर एकान्त में रहे। इतने दिनों तक उन्होंने अपने हाथ से निरामिष भोजन बनाकर खाया। वह भी एक ही वक़्त खाते थे। जब बिल्कुल तबीयत अच्छी न होती थी तब उनकी स्त्री दिनमयी देवी रसोई बना देती थीं। एक साल तक छतरी नहीं लगाई, नंगे पैर रहे और पलँग पर नहीं सोये। इस प्रकार एकान्त में उदास भाव

से रहकर बहुत दिनों तक वे माता का शोक मनाते रहे। मातृ-भक्त ईश्वरचन्द्र तद्गतचित्त होकर माता के गुणों का ध्यान करते-करते बालकों की तरह रोने लगते थे। जननी की मृत्यु के बहुत दिनों बाद भी प्रसंगवश एक बार उन्हें परमाराध्या गुणमयी माता के गुणों का उल्लेख करना पड़ा था। उस समय वे बहुत बीमार थे। उन्हें बालकों की तरह अधीर होकर रोते देखकर मैंने कहा—"आपको इतना कष्ट होगा, यह बात पहले से मालूम होती तो मैं कभी इस प्रसंग को न उठाता।" गुणी पुत्र ने रोते-रोते कहा—तुमने मुझे कष्ट कहा दिया? तुमने तो मित्र का ही काम किया। तुम्हारा मतलब होने पर भी मुझे माता की याद आई और मेरी आंखों से चार आंसू गिरे। यह अच्छा हुआ। मैं ऐसा ही नीच हूँ कि सब समय माता-पिता की याद नहीं कर सकता।

उन्होंने अपने प्रिय मित्र कृष्णनगरनिवासी व्रजनाथ मुखोपाध्याय की माता के मरने पर उनको सान्त्वना देने के लिए जो पत्र लिखा था उसमें भी इस बात का आभास मिलता है कि माता के मरने से ईश्वरचन्द्र के मन में विषाद स्थायी रूप से बस गया था। सहृदय व्रजबाबू उस पत्र को ऐसा बहुमूल्य समझते थे कि उस पत्र के लिफ़ाफ़े पर अपने हाथ से यह लिख रक्खा था—"जन्म भर इस पत्र को यत्न से सुरक्षित रक्खूँगा।" वह पत्र यह है—

श्रीश्रीहरिः

शरणम्।

सादरसम्भाषणमावेदनम्।

चण्डी (डिपोज़िटरी के भूतपूर्व मैनेजर बाबू चण्डीचरण चट्टोपाध्याय) के मुँह से सुना कि गत शुक्रवार को माताजी का स्वर्गवास हो गया। उनका मरना सब तरह से अच्छा ही

৺ব্রজনাথ মুখোপাধ্যায়।

स्वर्गीय व्रजनाथ मुखोपाध्याय ।

हुआ। वे यातना से छूट गईं। आपको देखते-देखते उन्होंने चोला छोड़ा। यह उनके लिए परम सौभाग्य की वात है। किन्तु आपके लिए दशों दिशाएँ शून्य हो गईं। इसके बाद गृहस्थी-विडम्बना के सिवा और कुछ नहीं है। जितने दिन जियेगे, वह माता का अमृतमधुर सम्भाषण सुनने को न मिलेगा। जो हो, आपने अन्त-समय उनकी सेवा की, पास रहकर उनसे बातचीत करने का अवसर पाया, यह आपके लिए कम सौभाग्य की बात नहीं है। मैं आपको जानता हूँ। आप बड़े भारी मातृ-भक्त पुरुष हैं। अतएव आपका मातृ-शोक सहज में जल्दी कम होनेवाला नहीं है।

यह ख़बर सुनते ही मैं आपके पास आना चाहता था। किन्तु १५-१६ दिन से सिर की पीड़ा और उन्निद्र रोग प्रबल हो उठा है। एक तो कमज़ोर हो ही रहा था, उस पर इस व्याधि ने बिलकुल बेकाम बना दिया है। इस अवस्था में मेरा दूसरी जगह जाना सर्वथा असम्भव हो गया है। बहुत सोच-विचारकर अन्त को जाने का साहस नहीं कर सका। अपराध क्षमा कीजिएगा। इति।

१६ माघ, १२८४।

त्वदेकात्मनः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

परिवार में यों ही अशान्ति और दुःख-कष्ट का सामना था; उस पर उनके प्यारे लोग भी एक-एक करके संसार से खिसकने लगे। पहले माता के मरने पर बहुत दिनों तक वे एकान्तवास करते रहे। उसके बाद वह शोक कम भी न होने पाया था कि और एक भयानक दुर्घटना ने विद्यासागर को एकदम मृतप्राय कर डाला। १२७६ सन्, २७ माघ, को विद्यासागर के दाहने हाथ सर्वजनप्रिय परमस्नेहास्पद

बड़े दामाद गोपालचन्द्र समाजपति हैज़े की बीमारी से मर गये। उनकी मृत्यु से विद्यासागर बहुत दिनों तक विषाद और शोक से शिथिल रहे। इस घटना से उनके पारिवारिक जीवन में जो कुछ परिवर्त्तन हुए थे उनका उल्लेख करना भी यहाँ पर आवश्यक है। बड़ी लड़की हेमलता देवी को जब जन्म भर के लिए विषाद और यन्त्रणा से परिपूर्ण वैधव्य का सामना करना पड़ा तब विद्यासागर के सारे परिवार को बड़ा ही शोक हुआ। विधवा के वेष परिवर्त्तन और खाने-पीने के संयम से उसके पिता के यहाँ विषम वेदना की सृष्टि हुई। इस संसार की सब तरह की असुविधाओं को सादर स्वीकार करने में कन्या के कोमल हृदय में जो क्लेश हुआ उसे सहृदय पिता ने बँटाकर समाज के आगे एक उच्च आदर्श स्थापित कर दिया। कन्या जब निरामिष एकाहार करने लगी तब विद्यासागर ने बहुत ही स्वाभाविक भाव से मछली खाना छोड़ दिया और रात को भोजन करना भी बन्द कर दिया। जब वे खाने बैठते थे तब विधवा कन्या के कठोर दुःख का स्मरण हो आने से उन्हें भोजन करने की प्रवृत्ति न होती थी। कन्या ने मछली खाना छोड़ दिया है, इस चिन्ता से वे मछली नहीं खा सकते थे। कन्या दिन-रात में एक बार आहार करती है, इस ख़याल से उन्हें दूसरे वक्त भोजन करने की इच्छा ही नहीं होती थी।

समाज-संस्कार के अध्याय में हमने एक जगह पर लिखा है "वृद्ध पिता विधवा कन्या के विषाद की परवा न करके तिबारा ब्याही बालिका पत्नी के साथ सुख से रहते हैं। कन्या और बहनों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा देने की व्यवस्था क्या इसी तरह की जाती है?" विधवाविवाह के पथप्रदर्शक अबला-बान्धव विद्यासागर के पारिवारिक जीवन में करुणहृदय अभिभावक का आदर्श क्या नहीं देख पड़ता

है ? जहाँ ब्रह्मचर्य की ज़रूरत है वहाँ कार्य के द्वारा—अपने आच-रण के द्वारा—कन्या को उस मार्ग में अग्रसर करने के लिए किस तरह सहानुभूति दिखलाई जाती है, यह बात भी हमको विद्यासागर से सीखनी चाहिए। कुछ दिनों बाद विधवा कन्या ने ही अनुरोध करके पिता का निरामिष भोजन और एकाहार छुड़ाया। कन्या पर ऐसा दुख पड़ने से माता-पिता की ऐसी सहानुभूति से उसका शोक बहुत कुछ कम हो जाता है। दुःख यही है कि इस देश के अनेक लोग इस प्रकार सहानुभूति दिखाने के उत्तम ढङ्ग को नहीं जानते। और, उसके लिए कुछ चिन्ता भी नहीं करते।

काशी में माता की मृत्यु होने के बाद बहुत दिनों तक ईश्वरचन्द्र काशी नहीं गये। पिता ने बहुत दिनों से पुत्र को नहीं देखा। उन्होंने पुत्र से काशी आने के लिए अनुरोध करते हुए यह पत्र लिखा था—

श्रीश्रीहरिः

शरणम्।

परमशुभाशीर्वाद विज्ञापनमिदम्।

मेरी ८३ वर्ष की अवस्था हुई। ख़ास कर इस बुढ़ापे के समय में मुझे भ्रान्ति हो जाया करती है। तुम मेरे वंश में श्रेष्ठ हो। इतने दिनों से तुम हम लोगों का भरण-पोषण कर रहे हो। इस समय मेरी इच्छा तुमको देखने की है। अतएव लिखता हूँ कि अगर तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक हो तो तुम एक दिन के लिए आकर मेरी इच्छा पूर्ण करो। इति।

५ पौष। शुभानुध्यायि

श्रीठाकुरदासशर्म्मणः।

विद्यासागर यह पत्र पाते ही पिता के दर्शन करने के लिए काशी गये। कई दिन पिता के पास रहकर और उनके लिए सब प्रकार सुख और सुभीते का प्रबन्ध करके फिर कलकत्ते चले आये। उसके बाद १४ चैत्र को ठाकुरदास की बीमारी की खबर पाकर विद्यासागर को फिर काशी जाना पड़ा। परिवार के प्रायः सभी लोग एक-एक करके पहुँच गये। सन् १२८३, १ वैशाख, को सन्ध्या से पहले ठाकुरदास ने पुत्रों के हाथों पर शरीरत्याग किया। पिता के मरने पर भी ईश्वरचन्द्र अनाथ बालक की तरह रोये थे। विलम्ब होते देखकर सबने उनको उनके कर्त्तव्य (मृतकसंस्कार) की याद दिलाई। उन्होंने शान्त भाव से घड़ी भर अपेक्षा की। फिर वे किसी तरह का आडम्बर न करके भाइयों और आत्मीयों की सहायता से शव को मणिकर्णिका घाट पर ले गये। सहायता करने के लिए अनेक लोग उपस्थित थे; किन्तु विद्यासागर ने इस काम में किसी की सहायता लेना पसन्द नहीं किया। अन्त्येष्टि-क्रिया के बाद स्नान-तर्पण आदि करके घर में आकर माता-पिता के शोक से विद्यासागर बहुत ही शिथिल हो गये। सुपण्डित ज्ञानी और चतुर विद्यासागर ने जन्म भर माता-पिता के सुखी करने को ही अपना कर्त्तव्य समझा। माता-पिता के कहे पर चलने को ही वे अपना परम धर्म समझते रहे। इसी विश्वास के अनुसार माता-पिता को देवता समझकर उन्होंने सदा उनकी सेवा की। आज भक्त के दोनों इष्टदेव नहीं रहे, उन्हें संसार शून्य जान पड़ने लगा। आज माधुरी की मूर्त्ति माता भी नहीं हैं। दृढ़प्रतिज्ञ, सत्कर्मशील और न्यायनिष्ठ पिता को भी वे अपने हाथों श्मशान-भूमि में राख कर आये। इसी से उस दिन उन्होंने बालकों की तरह रोते-रोते रात बिता दी। बालकों की तरह रोना उनके लिए अत्यन्त स्वाभाविक

था। ठाकुरदास के समान दृढ़प्रतिज्ञ, धर्म्मनिष्ठ और कर्म्मकाण्डी आदर्श हिन्दू-गृहस्थ बहुत कम देख पड़ते हैं। वे धर्म समझकर घर के सब काम करते थे। धर्म ही समझकर उन्होंने आप सब तरह के कष्ट उठाये, किन्तु ईश्वरचन्द्र को पढ़ाने-लिखाने का अच्छा प्रबन्ध करने में कुछ कसर नहीं उठा रक्खी। उन्होंने पुत्र का ज्ञान बढ़ाने के लिए दिन-रात परिश्रम किया। अपनी मामूली आमदनी से ही वे यथासम्भव अपने परिवार को अनेक अच्छे कामों में लगाये रखते थे। इसी से ईश्वरचन्द्र भी ऐसे परोपकारी और लोक-सेवा-परायण निकले। लड़कपन में ही उन्होंने अपने घर में इन शुभकार्यों की शिक्षा पाई थी। बहुत से अनाथ बालक विद्यासागर के वीरसिंह के घर में रहते, खाते-पीते और पढ़ते-लिखते थे। उन्होंने कभी इस बात का अनुभव नहीं किया कि हम पराये घर में पल रहे हैं। इसका कारण यही था कि जो भोजन ठाकुरदास और उनका प्यारा पोता करता था वही भोजन उन बालकों को भी मिलता था। उनके साथ बर्ताव भी बहुत अच्छा किया जाता था। ऐसे उदार लोकहितैषी बाप के बेटे विद्यासागर का दयासागर होना स्वाभाविक ही था। सर जेम्स मिल, जान स्टुअर्ट मिल की सुशिक्षा का प्रबन्ध करके जगत् में अमर हो गये हैं। ठाकुरदास भी अपने अध्यवसाय और साधना से ईश्वरचन्द्र को सुशिक्षित और समाज का सुहृद् बनाकर जगत् में अमर पदवी पा गये हैं। मिल ने पिता के मरने पर अपने को अनाथ बालक के समान असहाय समझा था। ईश्वरचन्द्र भी पिता के मरने पर कटे हुए पेड़ की तरह ज़मीन पर गिर पड़े थे।

ठाकुरदास अपने गाँव के लोगों पर ऐसे अनुकूल थे कि उनके बदी करने पर भी कभी उनसे बदी करने का इरादा नहीं किया। गाँव में कुछ ऐसे आदमी भी थे जो विधवाविवाह के विरोधी थे, और

इसी कारण मैाक़ा पाते ही ठाकुरदास को सताने के लिए तैयार रहते थे। प्रसङ्गवश विद्यासागर ने एक बार जहानाबाद के तत्कालीन डिपुटी-मजिस्ट्रेट ईश्वरचन्द्र घोषाल से यह बात कही। घोषाल महाशय दैारे के लिए निकले तो घूमते-घामते वीरसिंह में पहुँचे। ठाकुरदास ने उनकी वड़ी ख़ातिर की। उन्होंने ठाकुरदास से कहा—"विद्यासागर से सुना है कि गाँव के कुछ लोग आप पर बड़ा अत्याचार करते हैं। उनके नाम मुझे वता दीजिए।" ठाकुरदास ने हँसकर कहा—"वह कलकत्ते में रहता है, न जानें किसके मुँह से क्या सुनकर तुमसे क्या कहा है। उसकी वात पर यहाँ किसी को कुछ न कहना। यहाँ के सव लोग सदा मुझ पर प्रसन्न रहते हैं।" घोषाल वावू से इतना कहकर चुपचाप गाँववालों को ख़वर दे दी "विधवा-विवाह-विरोधी दल की दुष्टता का हाल न जानें कहाँ सुनकर हाकिम यहाँ आये हैं और मुझसे ऐसे लोगों के नाम पूछते हैं। मैंने किसी का भी नाम नहीं लिया, बल्कि यह कह दिया कि सबसे मेरा ख़ूब मेल है। तुम लोग एक-एक करके मेरे साथ चलकर हाकिम के सामने हो जाओ। बस, इतने ही में सव गोलमाल मिटा जाता है।" ऐसे लोग भी वहुत कम देखने को मिलते हैं।

मानसिक उद्वेग और उत्तेजना के कारण पिता की मृत्यु के दूसरे दिन सबेरे से ही विद्यासागर का शरीर भी शिथिल हो पड़ा। उनके भी हैज़ा होने के लक्षण देख पड़ने लगे। उनकी दशा देखकर सव लोग वहुत ही भयभीत और चिन्तित हो पड़े। क़रीब-क़रीब सभी ने उसी दिन काशी छोड़कर कलकत्ते जाने की सलाह दी। विद्यासागर की इच्छा थी कि वहीं आद्यकृत्य समाप्त कर कलकत्ते जायँ। उन्होंने और लोगों को भी यही राय दी थी। किन्तु अशौच की हालत में दवा खाना मना होने के कारण उसी रात को कलकत्ते

आने की ठहरी। कलकत्ते में आकर धीरे-धीरे तबीयत सुधरने लगी। यथासमय श्राद्ध आदि कृत्य समाप्त करके बहुत दिनों तक विद्यासागर एकान्तवास करते रहे। सहज ही कभी किसी काम में लिप्त न होते थे। ख़ास ज़रूरत के मारे किसी के बहुत अधिक अनुरोध करने पर उसके यहाँ जाते थे; नहीं तो हमेशा एकान्त में रहते थे। इस एकान्त-वास के समय ज्ञानचर्चा और होमियोपैथी चिकित्सा-शास्त्र का अनुशीलन ही उनके जीवन के शेष भाग का प्रधान कर्त्तव्य हो गया था।

शरीर की दशा दिन-दिन ख़राब होते देखकर विद्यासागर ने अपनी सम्पत्ति और उसके आय-व्यय के बारे में समय-समय पर कई 'विल' लिखे थे। उनके अन्तिम 'विल' का जो अंश सर्वसाधारण के जानने लायक़ है वह यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

१। मैं अपनी इच्छा से, भले-चंगे और सचेत रहने की अवस्था में, अपनी सम्पत्ति की अन्तिम व्यवस्था करता हूँ। इस व्यवस्था से मेरी पहले की की हुई सब व्यवस्थाएँ रद हो गईं।

२। चौगाछा-निवासी श्रीयुत कालीचरण घोष, पाथरा-निवासी श्रीयुत क्षीरोदनाथसिंह, मेरे भानजे जनपुर-निवासी श्रीयुत वेणीमाधव मुखोपाध्याय, इन तीन आदमियों को मैं इस अन्तिम व्यवस्था का कार्य्यनिरीक्षक (ट्रस्टी) नियत करता हूँ। ये लोग इस विल के अनुसार सब काम करेंगे।

६। मेरी सम्पत्ति की आमदनी से मेरे पोष्य परिवार के आदमी, कुछ निरुपाय जाति-कुटुम्ब और आत्मीय पलते हैं और अन्यान्य कई कार्य्यों का ख़र्च चलता है। मेरे महाजन इस प्रकृति के आदमी नहीं हैं कि वे इन सब ख़र्चों को बिलकुल बन्द करके अपना-अपना रुपया वसूल करना चाहें। कार्य-निरीक्षक लोग उनकी सम्मति लेकर ऐसी व्यवस्था करेंगे कि इस विल में लिखी हुई

वृत्तियां आदि का देना बन्द न हो और धीरे-धीरे ऋण भी चुका दिया जाय।

[आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवों के लिए और मरे हुए आत्मीयों और इष्टमित्रों के परिवार के लिए विद्यासागर ने जो मासिक दान विल में लिखा है उसकी कुल रकम ५६१) रु० है और उसमें वृत्तियां ४५ हैं। इनके सिवा ज़रूरत होने पर अन्य छः आदमियों के लिए कुल १०५) रु० की वृत्ति लिख दी थी। इन वृत्तियों के देने पर विद्यासागर ने कार्यनिरीक्षकों पर इस बात का ज़ोर दिया था कि कुछ ख़ास-ख़ास बातों पर वे दृष्टि रक्खें। अगर उनकी मर्ज़ी के विरुद्ध बातें देख पड़ें तो उन वृत्तियों के बन्द कर देने की बात भी लिखी हुई हैं।]

१४। मेरे न रहने पर मेरी सम्पत्ति की आमदनी से जिस मद्द में जितना ख़र्च होना चाहिए सो नीचे बतलाया जाता है—

१—जन्मभूमि वीरसिंह गाँव में मेरे स्थापित स्कूल के लिए १००)
२— ,, ,, चिकित्सालय के लिए ५०)
३— ,, ,, अनाथ और निरुपाय लोगों को ३०)
४—विधवाविवाह के लिए ... ...१००)

कुल २८०) रुपये

[इस सूची के देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि विद्यासागर को किन कामों पर सबसे अधिक अनुराग था। इस देश में शिक्षा-प्रचार और विधवा-विवाह चलाने के लिए उन्हें जन्म भर अनुराग रहा। उनके इस वसीयतनामे में भी इस बात का विशेष परिचय प्राप्त होता है।]

१५। यदि श्रीयुत जगन्नाथ चट्टोपाध्याय, श्रीयुत उपेन्द्रनाथ पालित और श्रीयुत गोविन्दचन्द्र गुह, ये तीनों आदमी मेरे देहान्त के समय तक मेरे पास, परिचारकरूप से; रहें तो कार्य्य-निरीक्षक लोग इनमें से हर एक को एकमुश्त ३००) रु० देंगे।

१८। इस समय मेरी सम्पत्ति की जो आमदनी है वह आगे चलकर कम हो जाय तो इस विल में मैंने जिसे जो देने की व्यवस्था की है उसमें, अपनी समझ के माफ़िक़, कार्यनिरीक्षक लोग कमी कर सकते हैं।

१९। आवश्यक जान पड़ने पर कार्य-निरीक्षक लोग मेरी सम्पत्ति का कोई हिस्सा बेच सकते हैं।

२०। मेरी लिखी और मेरे द्वारा प्रचारित पुस्तकें संस्कृत प्रेस के पुस्तकालय में बिकती हैं। मेरी बड़ी अभिलाषा है कि, श्रीयुत व्रजनाथ मुखोपाध्याय जब तक जीवित और पुस्तकालय के अधिकारी रहें तब तक, मेरी पुस्तकें इसी जगह बिकें। किन्तु इस समय जिस सुन्दर ढँग से पुस्तकालय का काम चल रहा है उसमें कुछ व्यतिक्रम हो और इस कारण कार्य में हानि और असुविधा जान पड़े तो कार्य्य-निरीक्षक लोग दूसरी जगह या दूसरे ढँग से पुस्तकों के बिकने की व्यवस्था कर सकते हैं।

[अनेक कारणों से विद्यासागर की ज़िन्दगी में ही यह व्यतिक्रम हो चुका था।]

(ह०) श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर
मु० कलकत्ता।

विल के गवाह।

श्री राजकृष्ण मुखोपाध्याय।	श्रीनीलमाधव सेन (डाक्टर)।
श्रीराधिकाप्रसन्न मुखोपाध्याय।	श्री योगेशचन्द्र दे।
श्रीगिरिशचन्द्र विद्यारत्न।	श्रीबिहारीलाल भादुड़ी।
श्रीश्यामाचरण दे।	श्रीकालीचरण घोष।

इस विल की तारीख़ बँगला सन् १२८७, १८ ज्येष्ठ, है। इसके बाद बहुत दिनों तक बन्धु-बान्धवों के आगे उन्होंने इस विल को

बदलने का विचार प्रकट किया था; किन्तु वैसा कर नहीं सके। देहान्त के थोड़े ही दिन पहले उनकी इच्छा के माफ़िक़ एक संशोधित विल लिखा गया था। अन्यान्य अंश अनुमोदित होने पर भी मेट्रोपोलीटन कालेज के बारे में कुछ सोचना रह गया था। इसी समय रोग बढ़ गया और फिर संशोधित विल पर विद्यासागरजी हस्ताक्षर नहीं कर सके।

विद्यासागर सन् १८८३ के अन्त में बादुड़बागान में अपने बनाये घर में जाकर रहने लगे। वहाँ अपने प्यारे पुस्तकालय को अच्छी तरह सजाकर वे अपने चिरस्थायी दुख को दूर करने की चेष्टा करने लगे। फूलों के चमन से सुशोभित एकान्त छोटे से कमरे में विद्यासागर को विशेष आनन्द यह था कि वहाँ बैठकर लिखने-पढ़ने का बहुत अवकाश मिलता था। वहाँ वे दिन-रात कोई न कोई पुस्तक हाथ में लिये ज्ञान की चर्चा या शास्त्रों का अनुशीलन किया करते थे।

श्रीयुत सत्येन्द्रनाथ ठाकुर, माननीय सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय, श्रीयुत बिहारीलाल गुप्त, मनोमोहन घोष आदि शुरू-शुरू में विलायत-यात्रा करनेवाले युवकों को विद्यासागर ने युक्त कार्य के पृष्ट-पोषक बनकर विशेष रूप से उत्साहित किया था। मगर बीच में अनेक कारणों से वे विलायतयात्रा के विरोधी हो गये थे। अन्त को फिर इन दिनों किसी-किसी को—ख़ास कर सिविलियन श्रीयुत ज्ञानचन्द्र गुप्त के—विलायत जाने के अवसर पर उन्होंने सम्मति और उत्साह प्रदान किया था। इसी समय, एक बार, विद्यासागर के बड़े नाती श्रीयुत सुरेशचन्द्र समाजपति विलायत जाने के लिए बहुत ही उत्सुक और व्याकुल हुए। उन्होंने तो चुपचाप माता की अनुमति लेकर, विद्यासागर से छिपाकर, विलायत जाने के लिए इरादा कर लिया था। सुरेशचन्द्र की माता बड़ी ही बुद्धिमती थीं। उन्होंने पुत्र

Rajkrishna Banerjea

राजकृष्ण बनर्जी ।

को ऐसी तैयारी देखकर कहा—"तुम लड़के होकर जैसे मुझसे बिना कहे नहीं जा सकते हो वैसे ही तुमको जाने की अनुमति देने के पहले क्या मुझको पिता से एक बार इस बारे में न पूछ लेना चाहिए?" तब सुरेशचन्द्र विलायतयात्रा में ख़ास रुकावट देखकर, लाचार होकर, नाना से अनुमति लेने का सुयोग खोजने लगे। घड़ी-घड़ी की देर उन्हें असह्य थी। इस समय यह बात कहने के लिए कई बार सुरेशचन्द्र विद्यासागर के पास गये। विद्यासागर ने नाती को बारम्बार अपने पास आते देखकर पूछा—"जान पड़ता है, तुझे कुछ बहुत ज़रूरी बात कहनी है। अगर कोई ऐसी बात हो तो कहता क्यों नहीं?" सुरेशचन्द्र ने कहा—"मैं विलायत जाऊँ?" दिल्लगी के स्वर से विद्यासागर ने कहा—"क्या बैरिस्टर होकर आयेगा, और नौकरी के लिए हमारी ही उम्मेदवारी करेगा?" उसके बाद दिल्लगी छोड़कर विद्यासागर ने कहा—"आजकल रुपये-पैसे की बड़ी कमी है। ऐसी अवस्था में तेरा विलायत जाना नहीं हो सकता।" बालक तब अत्यन्त निराश और विपन्न होकर रोने-धोने लगा। अन्त को श्रीयुत रामतनु लाहिड़ी और बाबू कालीचरण घोष के अनुरोध-उपरोध से वे नाती को विलायत भेजने के लिए राज़ी हो गये थे। किन्तु पीछे से रोग अधिक बढ़ जाने के कारण यह काम पूरा नहीं हो सका।

इसी विलायतयात्रा के मामले में एक दिन सुरेशचन्द्र और उनकी माता से बातचीत हो रही थी। सुरेशचन्द्र ने बात ही बात में कह डाला—"मेरे पिताजी होते तो मुझे कभी तुम्हारे पिताजी से न

* इन्हीं सद्गुणों के कारण बड़ी लड़की पर विद्यासागर बड़ा स्नेह रखते थे। कन्या के अनुरोध को वे कभी टालते न थे। कन्या भी सुयोग पाकर पिता के सुख-साधन की सुविधा करना भूलती न थी।

कहना पड़ता।" ये बातें माता के हृदय में बाण के समान लगीं। उधर विद्यासागर ने भी ऊपर से नाती की यह बात सुनी। इस बात की भनक कान में पड़ते ही विद्यासागर ने नाती को अपने पास बुलाया और बड़े क्षोभ से, बहुत देर तक रोने के बाद, उन्होंने कहा—"तू मुझे ग़ैर समझता है। वह (दामाद) जीता होता तो जो तेरे लिए करता उससे कम क्या मैं कर रहा हूँ?" अन्त को सुरेशचन्द्र ने अपनी नासमझी और अपना दोष स्वीकार करके माफ़ी माँगी।

विद्यासागर एक, दो, या इससे अधिक, किन्तु थोड़े ही, बन्धु-बान्धवों को निमन्त्रण देकर किस तरह भोजन कराते थे, यह बात पहले ही लिखी जा चुकी है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। एक बार रायबहादुर रामगति मुखोपाध्याय और श्रीकृष्णपुर-निवासी ज़मींदार श्रीयुत द्वारकानाथ मित्र को विद्यासागर ने न्योता दिया। साथ ही द्वारका बाबू के एक छोटे लड़के को भी न्योता दे आये। भोजन के समय विद्यासागर यह बतला रहे थे कि किस तरह कौन तरकारी बनाई है। मित्र महाशय का छोटा लड़का भोजन की भारी तैयारी की धारणा न कर सकने के कारण बैठा-बैठा मुँह ताक रहा था। विद्यासागर ने पास बैठकर पहले उसे भोजन करने का तरीक़ा बतलाया। किन्तु उससे भी उस बालक के लिए सुविधा न होते देखकर जूता उतारकर अपने हाथ से माता की तरह कौर बनाकर आप ही उसे खिलाने लगे। सरलता, उदारता और सेवा का भाव इस घटना में कैसे सुन्दर रूप से व्यक्त हुआ है! इसके सिवा ऐसे भोज आदि के अवसर पर वे देशी पद्धति के अनुसार ढाई पहर तक बिना भोजन किये रहते थे और ब्राह्मण से लेकर नीच जाति के लोगों तक को भोजन कराये बिना आप कुछ न खाते थे। अनेक मीठी बातों से अभ्यागतों की अभ्यर्थना करके अन्त तक

खड़े ही रहते थे। दुर्भाग्यवश आजकल इस देश में ऐसे गृहस्थ बहुत कम देख पड़ते हैं।

सन् १८८३ के शेष भाग में, बादुड़बागान के घर में आने के पहले, विद्यासागर प्राय: बाबू राजकृष्ण वन्द्योपाध्याय के घर में रहते थे। इस कारण इस परिवार के बालक, बूढ़े सभी पर उनको विशेष स्नेह हो गया था। प्रथम नौकरी की अवस्था से लेकर धीरे-धीरे विधवा-विवाह आदि सभी कार्यों में राजकृष्ण बाबू विद्यासागर के सहायक रहे। बहुत दिनों तक एक साथ रहने के कारण इन दोनों मित्रों में विशेष घनिष्ठता हो गई थी। विशेष कर राजकृष्ण बाबू की पोती, जो कुछ ही दिनों तक जीवित रही, विद्यासागर को बहुत प्यारी हो गई थी। बालिका का नाम था प्रभावती। उस बालिका का शोक विद्यासागर के हृदय में चिरस्थायी हो गया था। विद्यासागर ने ४-५ पृष्ठ की एक छोटी सी "प्रभावतीसम्भाषण" नामक पुस्तक लिखकर अपने चिरस्थायी शोक को प्रकट किया था। इस प्रकार छोटे-बड़े अनेक कारणों से राजकृष्ण बाबू और विद्यासागर में सगे भाई की ऐसी घनिष्ठता हो गई थी। शुरू जवानी में राजकृष्ण बाबू ने संस्कृत सीखने के लिए विद्यासागर से मैत्री की थी। ईश्वरचन्द्र ने मरते दम तक उस मित्रता को निवाहा।

विद्यासागर की मित्रमण्डली के नाम लिख देना भी उचित जान पड़ता है। मित्रों में से किसी-किसी ने उनको क्लेश भी दिया किन्तु फिर भी उनकी मित्रमण्डली इस देश के लिए गौरव की वस्तु है। कालीकृष्ण मित्र, प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी, व्रजनाथ मुखोपाध्याय, अन्नदाप्रसाद वन्द्योपाध्याय, द्वारकानाथ मित्र, श्यामाचरण दे, अक्षयकुमार दत्त, राजकृष्ण वन्द्योपाध्याय, गिरिशचन्द्र विद्यारत्न, द्वारकानाथ विद्याभूषण, प्यारीचरण सरकार, कालीचरण घोष, रामतनु

लाहिड़ी, डाकूर दुर्गाचरण बन्धोपाध्याय, राजनारायण वसु, आनन्द-कृष्ण वसु आदि देश के बड़े आदमी उनके मित्र थे और वे इसको अपने लिए बड़े गौरव की बात समझते थे। ये लोग सुख-दुख में विद्यासागर से सलाह लेते थे और परस्पर मिलकर अपना दुखड़ा भी रोते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे दुर्लभ मित्रों का मिलना बड़े सौभाग्य की बात है।

विद्यासागर की मित्रता केवल ज़बानी जमा-ख़र्च या चिट्ठी-पत्री तक ही सीमाबद्ध न थी। वे मित्रों की सदा ख़बर रखते थे, मित्रों की विपत्ति अपने सिर पर लेने को और मित्रों के लिए सब कुछ करने को तैयार रहते थे। इसका कुछ आभास पहले दिया जा चुका है। यहाँ पर केवल कई पत्रों और विशेष घटनाओं का उल्लेख किया जाता है।

विद्यासागर ने जिस समय सौभाग्य की पहली सीढ़ी पर पैर रक्खा उस समय बङ्गाल के सुप्रसिद्ध वक्ता बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के पिता दुर्गाचरण बाबू के साथ उनकी निष्कपट मैत्री हो गई। उस मित्रता में तरह-तरह के परिवर्तन होने पर भी विद्यासागर मरणकाल तक मृत मित्र के परिवार की ख़बर लेते रहे और सुरेन्द्र बाबू को सब तरह की सहायता पहुँचाते रहे। इँगलेंड में जब सुरेन्द्र बाबू सिविल-सर्विस की परीक्षा देने गये थे तब उनकी अवस्था के बारे में गड़बड़ी मच गई थी। उस समय विद्यासागर ने ही माननीय जज द्वारका-नाथ मित्र आदि से सलाह करके सुरेन्द्र बाबू की अवस्था का यथार्थ विवरण भेजकर उन्हें इस विपत्ति से उबारा था। फिर जब अन्य प्रकार के मामले में सुरेन्द्र बाबू को प्यारा सिविलियन-सुख छोड़ना पड़ा था तब भी विद्यासागर ने ही सुरेन्द्र बाबू को सादर अपने मेट्रोपोलीटन कालेज में मास्टरी दिलाई थी।

उस समय के मित्रों में बाबू प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी से विद्यासागर की बड़ी गहरी मित्रता थी। अन्तकाल के समय जीवन की एक भारी पारिवारिक घटना के उपलक्ष में सर्वाधिकारी जी ने जो खेद और गहरे दुख से भरा हुआ कातरोक्ति-पूर्ण पत्र लिखा था वैसा घर के भेद से भरा निष्कपट मित्र के सिवा और किसी को कोई नहीं लिख सकता। अन्त को एक साधारण घटना के उपलक्ष में सर्वाधिकारीजी ने उदास होकर अभियोगपूर्ण एक पत्र लिखा था। उसके उत्तर में विद्यासागर ने यह पत्र लिखा था—

श्रीश्रीहरिः

शरणम्।

श्रीयुत बाबू प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी,

भाई! मैं लगभग पन्द्रह दिन से अधिक अस्वस्थ और एक नाती की कठिन बीमारी से अत्यन्त चिन्तित हो रहा हूँ। इसी से नौकरों से कह दिया था कि किसी को मेरे पास आने न देना। कहना कि मेरी तबीयत बहुत ख़राब है, किसी को आने न देना। बहुत लोगों को इस बात से सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने एक-एक स्लिप पर अपना नाम-धाम लिखकर मेरे पास भेजना शुरू किया। नौकर उन स्लिपों को मेरे पास ले आते थे। अगर कोई किसी का पत्र लेकर आता था तो वह पत्र भी मेरे पास पहुँचा दिया जाता था। इस तरह की स्लिपें और पत्र नित्य पचीस तक पहुँच जाते थे। एक गोस्वामी के पुत्र को तुमने जो पत्र दिया था वह भी मुझको मिल गया। तुम्हारे जिस पत्र का उत्तर मैं लिख रहा हूँ वह भी मेरे पास पहुँचा दिया गया था। ऐसी अवस्था में केवल तुम्हारे Gentle-man's son (भले आदमी के लड़के) के

लाये पत्र ही को मुझ तक पहुँचाने के लिए नौकरों के न राज़ी होने की बात समझ में नहीं आती। तुम्हारा पत्र पाकर मैंने नौकरों से पूछा तो उन्होंने कहा कि कोई महाशय पत्र लाये थे और हम वह पत्र आप तक पहुँचाने के लिए राज़ी नहीं हुए, ऐसी बात अगर किसी ने कही है तो उसने अन्याय किया है। हमने किसी से यह बात नहीं कही कि हम तुम्हारा पत्र न ले जायँगे। जो कोई जब पत्र लाया है तब हमने वह पत्र आपके पास पहुँचा दिया है। जो कुछ हो, विचार करने से नौकरों को अपराधी बनाने का साहस मुझे नहीं होता और तुमको भी झूठा या अपराधी मानने की प्रवृत्ति नहीं होती। तुम यहाँ का हाल कुछ भी नहीं जानते, तुम्हारे Gentleman's son ने जो कह दिया उसी पर भरोसा करके उचित और आवश्यक समझकर तुमने मुझे डाट-फटकार बतलाई है। मेरे आत्मीय लोग मेरी ओर से बड़े निर्दय हैं। मामूली अपराध के लिए अथवा उसकी केवल कल्पना करके वे मुझे नरक में ढकेला करते हैं। यह धारणा बहुत दिन पहले से मेरे हृदय में जम गई है। इसी से तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे विशेष क्षोभ या दुःख नहीं हुआ। इति।

१५ माघ, १२८७। त्वदेकशर्म्मशर्म्मणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

विज्ञवर श्रीयुत राजनारायण वसु जब नौकरी के कारण कलकत्ता छोड़कर मेदिनीपुर गये थे उसके पहले ही विद्यासागर से उनकी मित्रता हो गई थी। दोनों मित्र एक दूसरे का विशेष आदर करते थे। इस सम्बन्ध का परिचय देनेवाला एक पत्र नीचे उद्धृत किया जाता है—

৺ শ্যামা চরণ দে।

स्वर्गीय श्यामाचरण दे ।

सादरसम्भाषणमावेदनमिदम्

आपके सकुशल पहुँचने की ख़बर पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु वहाँ जाने से कुछ तबीयत ख़राब हो जाने का हाल पढ़कर खेद हुआ। मेदिनीपुर जगह अच्छी है। निस्सन्देह वहाँ आप जल्द आराम हो जायँगे और वहाँ तबीयत भी अच्छी रहेगी। हाँ, यह बात ज़रूर है कि वह जगह नई है। यहाँ सदा आत्मीय लोगों के बीच में रहते थे और सर्वदा उन्हें देखते-भालते थे, वहाँ अभी यह बात दुर्लभ है। इस कारण कुछ दिनों तक वहाँ अच्छा न लगेगा। किन्तु वहाँ शीघ्र ही इष्टमित्र मिल जायँगे। संसार की यही रीति है। आपने लिखा कि Second master अफ़सरों का प्रियपात्र है। इस कारण उससे वैमनस्य रहना ठीक नहीं। जहाँ तक हो, उससे मिलकर रहना। और वे नीच पुरुष नहीं हैं। तुम्हारा कर ही क्या लेंगे, नाखुश होवेंगे अपने घर में दो रोटी अधिक खा लेंगे। तुम अपना काम ईमानदारी से करते रहो। धर्म तुम्हारा सहायक होगा।

लोकल कमेटी (Local committee) में जिस साहब को भला समझना उससे कभी-कभी मिल लेना भी बुरा न होगा। शायद वहाँ के मैजिस्ट्रेट साक साहब हैं। मैंने सुना है कि वे भले आदमी हैं, समझदार हैं और विद्याशिक्षा में उन्हें अनुराग भी है।

सदा सावधान रहना। बीच-बीच में कुशल-समाचार लिखकर चिन्ता दूर करते रहना।

भवदेकशर्म्मशर्म्मणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः

श्रीयुत राजकृष्ण वन्द्योपाध्याय, बाबू कालीचरण घोष, बाबू श्यामाचरण दे और उनके भाई विमलाचरण दे, डाकृर नवीनकृष्ण मित्र, बाबू कालीकृष्ण मित्र और आनन्दकृष्ण वसु आदि लोगों के पास सदा रहते थे, इसलिए इनके साथ पत्रव्यवहार करने का विद्या-सागर को अधिक अभ्यास न था। किन्तु इन लोगों में से किसी पर किसी प्रकार की विपत्ति आ पड़ने पर विद्यासागरजी अपने सगे से भी बढ़कर स्नेहममता दिखलाते और सेवा-शुश्रूषा करते थे।

बाबू श्यामाचरण दे के यहां एक पारिवारिक दुर्घटना हो जाने पर विद्यासागर ने ही किसी तरह सबको खिलाया-पिलाया था। श्याम बाबू की जवान कन्या बहुत थोड़ी अवस्था में ही विधवा हो गई थी। इस दारुण विपत्ति से घर के सब लोग लोट-लोटकर विलाप कर रहे थे। सबको उठाकर शान्त कर विद्यासागर ने ख़ुद शर्बत बनाया और पिलाया। जब तक इस परिवार के सब लोग स्वस्थ नहीं हुए तब तक विद्यासागर नित्य जाकर सबको समझाते-बुझाते और सबके बहलाने की चेष्टा बराबर करते रहे।

एक समय बारासात-निवासी कालीकृष्ण मित्र बहुत ही बीमार हो गये थे। डाक्टरों की सलाह से उन्हें गङ्गा पर नाव के ऊपर बहुत दिनों तक रहना पड़ा था। उस समय सच्चे मित्र विद्या-सागर उनके साथ रहे थे। विद्यासागर के मित्रों में से एक कायस्थ-परिवार के किसी प्रतिष्ठित पुरुष की एक स्त्री विद्यासागर को पिता कहती थी। किन्तु वह पागल थी। विद्यासागर के सिवा और कोई उसे भोजन नहीं करा सकता था। विद्यासागर छः महीने तक दस बजे के समय उसे भोजन कराने के लिए बराबर जाते रहे। बर्द्दवान-निवासी डाकृर गङ्गानारायण मित्र मुझसे कहते थे कि उनके परिवार में किसी तरह का सुख-दुख का काम आ पड़ने पर विद्या-

सागर से सलाह लिये विना कुछ न होता था। विद्यासागर चाहे जहाँ हों, इस परिवार के किसी आदमी के बीमार होने पर उसे कलकत्ते ले जाना और उसकी चिकित्सा कराना विद्यासागर के ऊपर निर्भर था। गङ्गा बाबू कहते थे कि वे ब्राह्मण और हम लोग कायस्थ थे। किन्तु यह भेद हमको भूल जाता था। हम लोग उन्हें सदा अपना अभिभावक, सगा और बड़ा समझते थे।

वे इस तरह न जाने कितने परिवारों पर स्नेहदृष्टि रखते थे। उन परिवारों का साधारण वर्णन भी इस पुस्तक में असम्भव है। वे मित्रों की सेवा के लिए सदा कान्दी, कृष्णनगर, वर्द्धवान, वरीसाल, कलकत्ता, काशी, ढाका, मेदिनीपुर आदि स्थानों में दौड़ा-धूपा करते थे। मित्रों को विपत्ति से छुड़ाने और सुखी बनाने में वे अपना सर्वस्व लगा देने के लिए, अपने को बेच डालने तक के लिए, तैयार थे। इसके लिए कोई भी बात ऐसी न थी जो उनकी शक्ति के बाहर हो।

विद्यासागर को उनके मित्र कैसे आदर की दृष्टि से देखते थे और कैसा अपना हितकारी समझते थे, यह बात दिखलाने के लिए उनके कुछ स्नेहपात्र मित्रों के पत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

18th June, 1874.

My Dear Sir,

I am not doing well, no fever, but no improvement. And in addition, I have got return of the asthma, thanks to the foul weather prevailing since yesterday. Have you written to Lokenath Babu (Dr. Lokenath Maitra)? I have become impatient. I must go before *Ekadasi*, or I am sure to have a relapse of the fever, with all attendant troubles. If you want to save me, do something quick to send me away.

Yours affectionately,
Mahendra Lal Sarcar.

अर्थात्, प्रिय महाशय, मेरा शरीर अच्छा नहीं है। ज्वर नहीं है, किन्तु किसी तरह का फ़ायदा भी नहीं जान पड़ता। उसके ऊपर कल से साँस फूलने लगी है। कल से बदलों ने आकर और भी सलूक किया है !! आपने क्या लोकनाथ बाबू को लिखा था ? मैं बहुत ही चिन्तित हो रहा हूँ। एकादशी के पहले मुझे जाना ही होगा। नहीं तो सब व्याधियों को साथ लेकर ज्वर फिर दिखाई देगा। आप यदि मुझे बचाना चाहें तो शीघ्र ही मुझे यहां से अलग करने का उपाय करें।

ढाका,

७ अगहन, १२८०

जगदीशः शरणम्।

श्रीचरणकमले असंख्यप्रणामपूर्वकं निवेदनमिदम्—

× × × आपकी पुस्तकें आगामी बुधवार के जहाज़ से रवाना होंगी। मुझे मङ्गलवार को तीसरे पहर आपका पत्र मिला था। समय मिलता तो मैं उसी दिन पुस्तकें रवाना कर देता। मैं इन पुस्तकों का मूल्य न लूँगा। मैंने अपने लिए, दो-तीन साल हुए, कलापव्याकरण की सब पुस्तकों का संग्रह किया था। उनमें 'आख्यात' को छोड़कर और सभी पुस्तकें अच्छे पण्डितों के घर की हैं। मैंने कलकत्ते में रहने के समय ही यह सङ्कल्प कर लिया था कि ये पुस्तकें आपको उपहार में दूँगा। उसी सङ्कल्प के अनुसार आगामी जहाज़ से पुस्तकें रवाना करूँगा। यदि महाशय इन पुस्तकों को न स्वीकार करेंगे अथवा मूल्य देना चाहेंगे तो मुझे सचमुच बड़ा दुःख होगा। मन से पूजा कर सकनेवाले किसी आदमी से आपको साबिका नहीं पड़ा। इसी से आप दया

करना जिस तरह जानते हैं उस तरह शायद पूजा और भक्ति करने को नहीं जानते। किन्तु मेरी यह धारणा है कि आपके अलौकिक हृदय की शक्ति का असर जिस पर एक बार पड़ गया है, आपके अलौकिक स्वभावसौन्दर्य को देखकर एक बार जो चित्रकार की तरह मुग्ध हो चुका है; वह आपके लिए प्रसन्नतापूर्वक प्राण तक दे सकता है। मेरे इस तरह लिखने की बेअदबी को माफ़ कीजिएगा। किन्तु आपको जैसा समझता हूँ उसका शतांश भी तो लिख नहीं सकता।

आपका आश्रित सेवक
श्रीकालीप्रसन्न घोष।

इस तरह सैकड़ों पत्रों के द्वारा यह दिखलाया जा सकता है कि विद्यासागर के मित्र और स्नेहपात्र लोग श्रद्धा और भक्ति के साथ सदा उनको सिर नवाते थे और अपनी और परिवार की आपत्तियों के समय उनका सहारा लेते थे। डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार मुझसे कहते थे कि वे कठिन रोग से पलँग पर पड़े मौत की घड़ियाँ गिन रहे थे तब विद्यासागर सदा उनके सिरहाने बैठे रहते थे। जब उनको होश होता था तब विद्यासागर को अपने पास बैठा पाते थे। क्रमशः एक समय रोगी की हालत ऐसी ख़राब हो गई कि डाक्टर और दवा के बदलने की ज़रूरत जान पड़ी। होमियोपैथी दवा के बदले किसी एलोपैथी दवा करनेवाले अँगरेज़ डाक्टर को बुलाने की ठहरी। तब विद्यासागर ने अपनी ज़िम्मेदारी से एलोपैथिक डाक्टर को बुलाना रोक दिया। अन्त में होमियोपैथी से ही रोग अच्छा हो गया।

मित्रवर माननीय जज द्वारकानाथ मित्र की बीमारी के समय भी खाना, पीना, सोना छोड़कर, पास रहकर, विद्यासागर ने उनकी

सेवा की थी। उनके मरने पर विद्यासागर ने बहुत दिनों तक शोक मनाया था।

आदिब्राह्मसमाज के सभापति श्रद्धास्पद श्रीयुत बाबू राजनारायण वसु ने, कन्या के विवाह के समय, मित्रवर विद्यासागर से सलाह पूछी थी। उसके उत्तर में विद्यासागर ने यह पत्र लिखा था—

सादरसम्भाषणमावेदनम्—

आपकी कन्या के व्याह के बारे में मैंने बहुत कुछ सोचा। पर यह निश्चय नहीं कर सका कि आपको क्या सलाह दूँ। सारांश यह कि ऐसे मामलों में सलाह देना किसी तरह सहज काम नहीं है। एक तो आप ब्राह्मधर्मावलम्बी हैं। ब्राह्मधर्म में आपको भारी भक्ति है। देवेन्द्र बाबू ने जिस रीति से अपनी कन्या का व्याह किया है वह यदि आपको ब्राह्मधर्म के अनुकूल जान पड़े तो उसी रीति से कन्या का व्याह करना आपके लिए सर्वथा उचित है। दूसरे, यदि आप देवेन्द्र बाबू की स्वीकृत रीति को छोड़कर प्राचीन-प्रणाली से व्याह करेंगे तो ब्राह्मविवाह के प्रचलित होने में भारी विघ्न आ पड़ेगा। यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्म-रीति से व्याह करने प वह विवाह सिद्ध माना जायगा या नहीं। इन कारणों से, इस बारे में, आपको मैं सहसा कुछ सलाह देने में असमर्थ हूँ। हाँ, यह सलाह मैं अवश्य दूँगा कि आप सहसा किसी पक्ष को ग्रहण न कर लीजिएगा।

इस मामले में मेरा विशेष वक्तव्य यह है कि ऐसे मामलों में औरों से पूछना उचित नहीं। ऐसे मौके पर स्वयं सोचकर जैसा जान पड़े वैसा करना चाहिए। क्योंकि आप जिससे

सलाह लेंगे वह अपने मत और अभिप्राय के अनुसार राय देगा; आपके हिताहित या कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर दृष्टि नहीं रक्खेगा।

यह सब सोचकर मैं आपको यही राय देता हूँ कि आप स्वयं अपना कर्त्तव्य निश्चित करेंगे तो बहुत अच्छा होगा। × ×

भवदीयस्य
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

श्रीयुत बाबू दुर्गामोहन दास महाशय,
सादरसम्भाषणमावेदनम्—

आपकी भेजी हुई ब्रह्ममयी के जीवन-चरित्र की सात कापियाँ मिलीं। उनमें से एक कापी दीनबन्धु को दी है और एक खुद रख ली है। शेष पाच कापियाँ यथासम्भव योग्य आदमियों को दूँगा। मैंने इस पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ा। मेरी समझ में ब्रह्ममयी के समान उदार और दयालु स्त्रियाँ साधारणतः बहुत कम देख पड़ती हैं। इस जगह यह भी लिख देना आवश्यक है कि ये पुण्यरूपिणी महिला अगर तुम्हारी स्त्री न होतीं तो अपनी स्वभावसिद्ध श्रेष्ठ प्रवृत्तियों का यथार्थ परिचय देने का सुयोग न पा सकतीं। ऐसी पत्नी की अकालमृत्यु, तुम ऐसे पति के लिए, कहाँ तक आन्तरिक क्लेश का कारण हो सकती है, यह बात सहज ही समझ में आ जाती है। उस दिन जैसी हालत तुम देख गये थे वैसी ही हालत में हूँ। इसी से यह पत्र भी इतना छोटा है। इति।

२२ पौष, १२८८

भवदीयस्य
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

बारासात-निवासी डाकृर नवीनकृष्ण मित्र के साथ मित्रता होने के बाद, उसी सूत्र से, क़ासिम-बाज़ार के राजा कृष्णनाथ के साथ विद्यासागर का प्रथम परिचय हुआ, और इसी सिलसिले में उनसे मित्रता भी हो गई। राजा कृष्णनाथ के कोई पुत्र न था। अच्छे कामों में राजा साहब को बड़ी रुचि थी। उन्होंने किसी लोकहित के काम के बारे में विद्यासागर से सलाह पूछी। धनी ज़मींदार या राजाओं में से यदि किसी के साथ विद्यासागर की मित्रता होती थी तो वे सदा उन्हें ग़रीबों के पालन आदि अनेक अच्छे कामों में प्रवृत्त कर देते थे—इन कामों के लिए उन्हें उत्साहित करते थे। राजा कृष्ण-नाथ के हृदय में भी विद्यासागर ने इस तरह की परोपकार करने की इच्छा प्रबल कर दी थी। ख़ास कर एक उच्च श्रेणी का कालेज स्थापित करके स्थानीय लोगों के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करने का सुभीता कर देने की सब तैयारी कर दी गई थी। दैवसंयोग से ये सदाशय महात्मा जवानी उतरने के पहले ही स्वर्ग सिधार गये। उनका स्वर्ग-वास हो जाने पर कोमलहृदया, दीनवत्सला महारानी स्वर्णमयी सी० आई० जवानी में ही विधवा हो गई। सब सुख नसीब होने पर भी महारानी को, कालचक्र के फेर से, दुखिया बन जाना पड़ा। कुछ समय बीतने पर, कुछ हृदय का बोझ और चित्त की ग्लानि कम होने पर, स्वर्णमयी देवी ने अपने परलोकवासी स्वामी की इच्छा के अनुसार चलकर अपने देश की सैकड़ों तरह की भलाई के काम किये। इस कारण विद्यासागर उन पर विशेष श्रद्धा रखते थे। मैंने विद्या-सागर के मुँह से सैकड़ों बार महारानी की गुणावली सुनी है। विद्या-सागरजी प्रायः महारानी की लोकवत्सलता के अनेक उदाहरण सुनाया करते थे। ख़ास कर विद्यासागर ख़ुद उनके कृतज्ञ थे। इसके प्रमाण के दो-एक पत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

श्रीमती महारानी स्वर्णमयी सी० आई० महोदयासमीपेषु,

विनयबहुमानशुभाशीर्वादपूर्वकं निवेदनमिदम्—

बहुत दिन हुए, एक काम के लिए अत्यन्त आवश्यकता होने पर, इस समय स्वर्गवासी, अत्यन्त उदार राजीवलोचन राय दीवानजी ने दयापूर्वक श्रीमती की अनुमति के अनुसार राजधानी के ख़ज़ाने से मुझे ७५००) रुपये दिये थे और कहा था कि इन रुपयों का सूद आपको न देना पड़ेगा; जब सुभीता हो तब अदा कर दीजिएगा।

इस रुपये से मेरा जैसा उपकार हुआ है उसे मैं शब्दों के द्वारा जता नहीं सकता। जब तक जीयूँगा तब तक यह उपकार मुझे नहीं भूलेगा। लोकोपकार के लिए ही श्रीमती ने जन्म लिया है। देश में अनेक ऐश्वर्यशाली लोग हैं; किन्तु उनमें से कोई भी श्रीमती की तरह सर्व-साधारण से यथार्थ धन्यवाद पाकर उपकृत लोगों के आन्तरिक आशीर्वाद का पात्र नहीं बन सका।

बहुत दिनों तक इस ऋण के चुकाने का सुभीता न होने के कारण मैं बहुत लज्जित था। इस समय वह सुभीता हाथ लगा है। इस पत्र में सात हज़ार पाँच सौ रुपये के नोट भेजता हूँ। अनुग्रह-पूर्वक यह रुपया स्वीकार कर मुझे ऋण से उद्धार कीजिएगा। किमधिकमिति।

नियतगुणानुकीर्त्तनशुभानुचिन्तनकर्मणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

क़ासिमबाज़ार के राजभवन में विद्यासागर के भेजे ७५००) रु० पहुँचने पर महारानी ने प्राप्ति-स्वीकार का जो पत्र लिखा था उसके उत्तर में विद्यासागर ने यह पत्र भेजा था—

श्रीमती महारानी स्वर्णमयी सी० आई० महोदयासमीपेषु,

विनयबहुमानशुभाशीर्वादपूर्वकं निवेदनम्—

श्रीमती के अनुग्रहपूर्ण पत्र से राजधानी के कुशलसमाचार प्राप्त कर परम प्रसन्नता हुई। मैं सपरिवार शरीर से अच्छा हूँ। श्रीमती के पत्र में लिखा है "मैं यही चाहती हूँ कि मुझ पर श्रद्धा बनी रहे।" इस विषय में मेरा वक्तव्य यही है कि दया और परोपकार आदि गुण ऐसे हैं कि उनकी सभी लोग प्रशंसा करते हैं। ये दोनों गुण संसार में बहुत ही कम मात्रा में देख पड़ते हैं। किन्तु श्रीमती के कामों से इन दोनों गुणों का विशेष परिचय प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में श्रीमती के प्रति जिसे श्रद्धा न हो, अथवा जिसकी श्रद्धा डिग जाय, उसे बड़ा नीच पुरुष समझना चाहिए। किमधिकमिति :

नियतगुणानुकीर्त्तनशुभानुचिन्तनकर्मणः
८ फाल्गुण, १२८६। श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

एक घटना और उल्लेखयोग्य है। विद्यासागर के पुत्र श्रीयुत नारायणचन्द्र विद्यारत्न के व्याह के दूसरे दिन के कार्य सम्पन्न नहीं हुए थे—तैयारी ही हो रही थी—इसी समय कृष्णनगर से डाक-द्वारा यह ख़बर आई कि बाबू व्रजनाथ मुखोपाध्याय सख़्त बीमार हैं। बचने की आशा बहुत कम है। उन्होंने पत्र-द्वारा, कातर वचनों में, विद्यासागर से अन्तिम विदा माँगी थी। मित्रवत्सल विद्यासागर के सब काम पड़े रहे। उन्होंने उसी समय डाक्टर महेन्द्र लाल सरकार को साथ लेकर कृष्णनगर की यात्रा कर दी। पुत्र के व्याह के बाद के कृत्यों की तैयारी करते समय मित्र की बीमारी का हाल सुनकर सब काम-काज छोड़कर उसी समय इतनी दूर की यात्रा

कर देना विद्यासागर ऐसे सहृदय पुरुष का ही काम था। विद्यासागर और उनके स्नेहपात्र डाकृर सरकार महाशय का यह स्वार्थ-त्याग और सुहृत्सेवा समाज के लिए आदर्शस्थल है।

विद्यासागर ने अपने एक मित्र को पुत्रवियोग में सान्त्वना देने के लिए पत्र लिखा था—

राय यदुनाथ रायबहादुर,

कृष्णनगर,

सादरसम्भाषणमावेदनमिदम्।

आपके यहां होनेवाली अत्यन्त उत्कट दुर्घटना का हाल जानकर मुझे आन्तरिक अत्यन्त शोक हुआ। इस भयानक अशुभ घटना के द्वारा आपके हृदय की क्या दशा होगी, इसका मुझे ख़ूब अनुभव हो रहा है। मैं समझता था कि आप गृहस्थी के मामलों में औरों की अपेक्षा अनेक अंश में सुखी हैं। अभाग्य से आज आपको वैसा समझने का मार्ग बन्द हो गया। संसार एक बड़ा ही विचित्र स्थान है। यह सम्भव नहीं कि संसार में आकर कोई सब तरह सुखी हो सके।

मुझे आपके लिए उतनी चिन्ता नहीं है। आप अनेक कामों में लगे रहने के कारण प्रायः बहल भी सकते हैं, किन्तु जिसने गर्भ-धारण की अवस्था से अब तक अनेक कष्ट उठाये हैं उसकी दशा पर विचार करते ही मेरे विषाद की सीमा नहीं रहती। वे जन्म भर के लिए दुखिया हो गईं—उनको जन्म भर यह वज्रपात भूल नहीं सकता। कहने का मतलब यह है कि मा और बाप बनने से बढ़कर महापातक का भोग और नहीं है। ऐसे पुत्र बहुत कम निकलते हैं जो मा-बाप को सचमुच सुखी बना सकें, ऐसे ही पुत्रों की भरमार है जो बुरे आचरण या अकालमरण के द्वारा मा-बाप को जन्म भर जलाते हैं।

किसी प्रियजन के वियोग से होनेवाले हृदयविदारक शोक को सहसा शान्त करने की शक्ति किसी में नहीं है। ऐसी दशा में यह अनुरोध करना या उपदेश देना मेरा उद्देश्य नहीं है कि आप लोग शोक के वेग को रोककर चित्त को स्थिर करें। मेरी यही प्रार्थना है कि आप लोगों का शोकसन्तप्त हृदय परमेश्वर के अनुग्रह से शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त हो।

भवदीयस्य
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः।

रायबहादुर दीनबन्धु मित्र को विद्यासागर अत्यन्त स्नेह की दृष्टि से देखते थे। मित्र महाशय जब कलकत्ते में थे, उस समय दोनों घरों की स्त्रियों में भी विशेष हेलमेल हो गया था। बीमारी की हालत में मित्र बाबू सुकीयास्ट्रीट में ही थे। बीमारी के समय चिकित्सा की सुव्यवस्था करने में उस समय विद्यासागर ने कुछ कसर नहीं रक्खी। मित्र-परिवार की भी देखरेख उस समय वही करते थे। दीनबन्धु बाबू की अकालमृत्यु से बँगला के साहित्य में जो जगह खाली हुई थी उसकी पूर्ति आज तक नहीं हुई। इस क्षति का उल्लेख करके विद्यासागर प्रायः विह्वल हो जाया करते थे। उन्होंने मित्र-परिवार की देखरेख भी बहुत दिन तक की थी। कुछ दुधमुँहे बच्चों को लिये मित्र बाबू की स्त्री जिस समय चारों ओर अन्धकार देखकर हताश हो रही थीं उस समय विद्यासागर ने ही अपने सगे की तरह सदा उनकी खबर ली, पास जाकर आश्वासन किया और उनके बच्चों के पढ़ाने-लिखाने की सुव्यवस्था तथा आर्थिक सहायता करके मित्र महाशय के प्रति अपने सच्चे स्नेह का परिचय दिया।

डाक्टर अन्नदाचरण खास्तगीर को भी विद्यासागरजी अपने भाई के समान स्नेह की दृष्टि से देखते थे। खास्तगीरजी ने अनेक विधवा-

विवाहों में सहायता की थी, इससे दोनों सज्जनों की आत्मीयता और बढ़ गई थी। डाक्टर खास्तगीरजी के स्वर्गवास के उपरान्त उनके पुत्र श्रीयुत ज्ञानेन्द्रलाल खास्तगीर ने विद्यासागर को इस पारिवारिक शोक की ख़बर भेजी थी। विद्यासागर बीमारी की हालत में ही मित्र के घर पहुँचे। ज्ञानेन्द्र बाबू को बुलाकर स्नेहपूर्वक गले से लगाकर बालकों की तरह रोते-रोते कहा—बेटा, तुमने पिता की मृत्यु के पहले मुझे ख़बर नहीं भेजी। मैं अन्त समय उनसे मुलाक़ात नहीं कर सका, उनका चेहरा न देख सका, अपने मन के माफ़िक़ दवा भी नहीं करा सका। बिल्कुल ग़ैर की तरह तुमने मरने की ख़बर भेज दी। भैया, तुम्हारे पिता मेरे बड़े भारी मित्र और सगे से बढ़कर थे।

इस प्रकार की घटनाओं का सिलसिलेवार वर्णन लिखना असम्भव है। ऐसी घटनाओं की सुविस्तृत सूची इतनी बड़ी है—धर्म, जाति या वर्ण का ख़याल न करके उन्होंने इतने लोगों का उपकार या सेवा की है कि उसका पूरा विवरण लिखने से ही एक बड़ी पुस्तक बन सकती है। अतएव इस जगह पर इतने उदाहरणों से ही पाठकों को सन्तुष्ट होना पड़ेगा। उदारहृदय विद्यासागर माता-पिता के श्राद्ध आदि सामाजिक कामों में तो आस्थावान् हिन्दू थे, किन्तु अन्यान्य विषयों में वे साधारण मनुष्यों से बहुत ऊँचे थे। दीन-दुखी मनुष्य चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान, वे उसकी सेवा करने में, उसको आराम पहुँचाने में बड़ा आनन्द पाते थे। वे मनुष्यमात्र को एक समाज के अन्तर्गत समझते थे। जिससे उनसे हृदय के मेल से मैत्री हो जाती थी, वह चाहे जिस जाति का हो, उसको वे अपने भाई के समान समझते थे। पौराणिककाल के भारत-साम्राज्य के अधीश्वर आदर्शपुरुष श्रीरामचन्द्रजी ने निषाद को 'मित्र' कहकर

गले से लगाया था। वर्त्तमान वर्णाभिमानी भारत-सन्तान को विद्यासागर के जीवन में श्रीरामचन्द्रजी की उच्च नीति का सजीव आदर्श देखने को मिलेगा। वे जन्म भर जाति से गुण को ही श्रेष्ठ मानते रहे। अपने बाबा की तरह वे भी जिसे आचरण और गुणों में बड़ा देखते थे उसे ही आदर देते और अपने समकक्ष समझते थे। ऐसा आदर देने में वे ब्राह्मण या शूद्र का ख़याल न करते थे। इस मामले में उन्होंने आर्य ऋषियों को ही अपना पथप्रदर्शक और आदर्श माना है।

विद्यासागर सामाजिक जीवन में बहुत ही सुन्दर स्वभाव के आदमी थे। आमोद-प्रमोद, बातचीत और रङ्गरस में वे अद्वितीय थे। एक जगह, विद्यासागर के किसी आत्मीय के यहाँ, दावत थी। वहाँ जाने पर विद्यासागर को मालूम हुआ कि दैवसंयोग से बनी-बनाई भोजन की सामग्री ख़राब हो गई है। निमन्त्रण करनेवाले सज्जन को उसी समय दूसरी सामग्री फिर से बनवाकर सबको खिलाना पड़ेगा। इसमें, देर होने से, भेद खुल जाने की सम्भावना थी। विद्यासागर ने अपने आत्मीय से बुलाकर कहा—"डर क्या है, तुम जहाँ तक शीघ्र हो सब तैयारी करो; मैं इसका ज़िम्मा लेता हूँ कि कोई ऊबने न पावेगा"। विद्यासागर के मनोहर वार्त्तालाप में सब लोग ऐसे बहले रहे कि किसी को भोजन में विलम्ब होना नहीं खला।

स्वनामधन्य पण्डित द्वारकानाथ विद्याभूषण को भी विद्यासागर सगे भाई के समान समझते थे। इनसे बहुत ही निकट का नाता भी था। पण्डित शिवनाथ शास्त्री के पिता श्रीयुत हरानन्द भट्टाचार्य विद्याभूषण के बहनोई थे। इसी से विद्यासागर भी भट्टाचार्यजी का बहनोई का नाता मानते थे। भट्टाचार्यजी बहुत दिनों से काशीवास

करने लगे थे। बीच-बीच में, ज़रूरत पड़ने पर, कलकत्ते भी आते थे। विद्यासागर के स्वर्गवास के कुछ दिन पहले एक बार भट्टाचार्यजी विद्यासागरजी से मिलने आये थे। उस समय मैं भी वहाँ उपस्थित था। विद्यासागर ने भट्टाचार्यजी को सादर बिठलाया। नौकर से तमाखू भर लाने के लिए कहकर भट्टाचार्यजी से कहा—"तुम मर गये हो न?" भट्टाचार्य ने कहा—"क्यों, मरूँ क्यों? मरता तो यहाँ आता कैसे?" विद्यासागर ने हँसकर कहा—"मैं भी तो वही कहता हूँ कि जब तुम वहाँ मरने के लिए गये, तब वहाँ से बिना मरे कैसे आते?" भट्टाचार्य तमाखू पीने लगे। विद्यासागर ने कहा—"तुम इधर-उधर घूमते फिरते हो, जानते हो न कि काशी के बाहर मरने से क्या होना पड़ता है?" भट्टाचार्य ने कहा—"सो तो जानता हूँ, लेकिन ज़रूरत से लाचार होकर कभी-कभी आना ही पड़ता है।" विद्यासागर ने कहा—"अच्छा गाँजे-वाँजे पर दम लगाना सीखा है कि नहीं।" भट्टाचार्य ने सन्नाटे में आकर कहा—"क्यों गाँजा पीकर क्या होगा?" विद्यासागर ने कहा—"अजी अभ्यास कर लेना चाहिए। न जाने किस समय काम पड़ जाय। मान लो कि तुम काशी में मरे तब शिव होगे ही। शिव होने से नन्दी-भृंगी आदि गण जब गाँजे की चिलम जमाकर सामने हाज़िर करेंगे तब तुम्हें उसमें मुँह लगाना ही पड़ेगा। पहले से अभ्यास न होगा तो तुम्हारा इतनी साध का शिवत्व तुम्हारे लिए विडम्बना हो जायगा।"

एक बार किसी काम के लिए राजकृष्ण बाबू के बैठकख़ाने में बैठे हुए कई आदमियों से विद्यासागर बातचीत कर रहे थे। उस बैठक में जज द्वारकानाथ मित्र और रायबहादुर कृष्णदास पाल भी उपस्थित थे। गाँव का एक आदमी बार-बार खिड़की से झाँक-झाँक कर देख रहा था। उसको बारम्बार ऐसा करते देखकर विद्या-

सागर ने उसे बुलाया और पूछा—"क्यों भाई, ताक-झांक क्या कर रहे थे?" उस आदमी ने डरते-डरते जवाब दिया—"मैंने सुना था, जज द्वारकानाथ मित्तिर आये हैं; सो उन्हीं को झाँक रहा था।" विद्यासागर ने कहा—"देखने के लिए इस तरह झांकने की ज़रूरत क्या है? इनको पहचानते हो? ये कृष्णदास पाल हैं। और यहाँ जो इनसे भी बढ़कर सुन्दर हैं वही जज द्वारकानाथ मित्तिर हैं। अच्छा बतलाओ कौन हैं?" (इन दोनों सज्जनों में से कोई सुन्दर न था। इस कारण सब लोग ज़ोर से हँस उठे। उस हँसी से शर्मिन्दा होकर वह आदमी भाग गया। विद्यासागर ने एक तीर से तीन निशाने मारे।)

निहायत बेतकल्लुफ़ लोगों की मण्डली में खाने-पीने की एक दिल्लगी रक्खी गई थी। भोजनसमिति (Gastronomy Club) नाम की एक छोटी सी मण्डली बनाई गई थी। इस सभा के केवल ९।१० मेम्बर थे। सभ्यों की पूरी संख्या और नामों का उल्लेख करना ज़रा कठिन है। इस सभा के केवल चार मेम्बरों के नाम मुझे मालूम हो सके हैं। यथा—१ पेन्शनयाफ़्ता सब-जज और सर महाराज यतीन्द्र-मोहन के वर्त्तमान मैनेजर श्रीयुत द्वारकानाथ भट्टाचार्य, २ मेट्रोपा-लीटन के भूतपूर्व अध्यापक प्रसन्नचन्द्र राय, ३ राजकृष्णवन्द्योपा-ध्याय और ४ ख़ुद विद्यासागर जी। इस सभा के मेम्बर लोग अपने ही में से किसी एक के यहाँ, बीच-बीच में, दल बाँधकर जाते और उससे खाने के लिए माँगते थे। घर का मालिक दिल्लगी के तौर पर पहले भोजन देने से इनकार करता था और योंही विदा कर देना चाहता था। पीछे सब लोग एक साथ भोजन करके अपने-अपने घर चले जाते थे। कलकत्ते और उसके आसपास के छोटे नगरों में ही इस तरह की दिल्लगी अधिकतर की जाती थी। भवानीपुर में पेट्रियट-

सम्पादक हरिश्चन्द्र बाबू के घर में और सुप्रसिद्ध वकील बाबू अन्नदा-प्रसाद बन्द्योपाध्याय के यहाँ प्राय: यह मण्डली पधारा करती थी। कलकत्ते में श्यामाचरण दे महाशय के यहाँ और ऐसे ही आत्मीय लोगों के यहाँ इस तरह का भोजन-विभ्राट् सङ्घटित हुआ करता था। एक बार एक गृहस्थ को इस तरह दिक् करके इस मण्डली ने ख़ूब माल छके। किन्तु दूसरे दिन मण्डली के एक आदमी (शायद द्वारका बाबू) के पेट में दर्द होने लगा। सब लोगों ने सेवा-शुश्रूषा करके रोगी को आराम किया। पीड़ा के समय सेवा करते-करते एक-आध आदमी ने कहा—इन (रोगी) को मण्डली का मेम्बर न रखना चाहिए। इसके उत्तर में विद्यासागर ने कहा—"नहीं जी, इनका नाम ख़ारिज करने से अधर्म होगा। जो आदमी Martyr to the cause (इस काम में प्राण देने के लिए तैयार) है उससे निकाल दोगे तो फिर किसको रक्खोगे?"

एक बार विद्यासागर के एक भारी फोड़ा हुआ। जिस समय इस कठिन पीड़ा का सूत्रपात हुआ उस समय विद्यासागर खर्माटाड़ में थे। व्याधि को बढ़ते देखकर वर्द्धवान चले आये। वहाँ की चिकित्सा में कुछ फ़ायदा न देखकर वे कलकत्ते चले आये। कई दिन चिकित्सा कराने के बाद फोड़ा नश्तर देने लायक़ हो गया। इसी समय पारसी बागान के रहनेवाले मल्लिक महाशयों की सम्पत्ति के बटवारे का फ़ैसला विद्यासागर के सिर आ पड़ा। विद्यासागरजी बैठे हुए दीनानाथ मल्लिक के साथ, फ़ैसले के बारे में कुछ बातचीत कर रहे थे, वैसे ही डाक्टर चन्द्रमोहन घोष ने अकेले बैठकर नश्तर दिया, ज़ख़्म से पीप और ख़ून निकालकर मरहम-पट्टी की। मल्लिक बाबू ने कहा—"तो फिर डाक्टर बाबू का काम हो न जाने दीजिए; विलम्ब क्यों करते हैं?" उस समय उपस्थित व्यक्तियों को मालूम

हुआ कि फोड़ा बड़ा ही भयानक था, और अभी-अभी उसमें नश्तर दिया जा चुका है। सम्पत्ति का बटवारा करते-करते एक फोड़े में नश्तर दे दिया गया और पास के किसी आदमी ने जान न पाया; मामूली हिलना-डुलना ऊह-आह कुछ भी नहीं! एक ओर ऐसी दृढ़ता की बातें करते-करते नश्तर दिला लिया, चूँ भी नहीं की, और दूसरी ओर ऐसी कोमलता कि दूसरे को रोग या पीड़ा से दुःखित होते देखकर—दूसरे का आर्त्तनाद सुनकर—व्याकुल हो जाते थे। एक ओर ऐसा आत्मशासन और दूसरी ओर पराया दुःख देखकर ऐसा कातर क्रन्दन! एक ही पुरुष में इन दोनों भावों का समावेश क्या विचित्र दृश्य नहीं है? इस दृढ़ता और कोमलता के मेल ने ही उनकी जीवन-व्यापिनी उच्चता और उदारता के सङ्गठन का कार्य किया था। इसी में उनके जीवन के सौन्दर्य का पूर्ण विकास पाया जाता है।

किसी को कुछ कपड़ा देना होता था तो ख़ास कर जाड़े के कपड़े ख़रीदने का काम बाबू व्रजनाथ दे को सौंपा जाता था। एक दिन विद्यासागर ने उनसे कहा—"देखो, जब कपड़े या शाल आदि की ज़रूरत पड़ती है तब मैं तुमको ही शालवाले की दूकान पर भेजता हूँ। एक आदमी किसी काम के लिए सदा कष्ट पाता रहे, यह ठीक नहीं। तुम मुझे कल साथ ले चलकर दूकान दिखला दो। तो फिर जब दरकार होगी मैं ख़ुद जाकर ले आऊँगा। कल मुझे ले चलना।"

दूसरे दिन व्रज बाबू आये। उनके साथ विद्यासागर बड़े बाज़ार में गये। रास्ते में विद्यासागर बड़ी फ़ुर्ती के साथ चला करते थे। व्रज बाबू पीछे-पीछे और विद्यासागर उनसे बहुत आगे जा रहे थे। कई जगह उनको खड़े होकर व्रज बाबू की अपेक्षा

करना पड़ो। विद्यासागर ने कहा—"मैं चलता ही न जाने कैसे हूँ कि साथ वाले मेरे बराबर चल नहीं पाते। अब तुम आगे-आगे चलो; मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगा।" रास्ते में जाते-जाते यह सलाह ठहरी कि शाल की दूकान में अपरिचित की तरह चलना होगा।

बड़े बाज़ार में शाल की दूकान पर फिर बाबू व्रजनाथ पीछे पड़ गये। विद्यासागर आगे-आगे दूकान पर चढ़ गये। विद्यासागर को देखते ही शालवाला दौड़ा आया और बोला—"आइए पण्डितजी, आज हमारे बड़े भाग्य हैं जो आप पधारे।" विद्यासागर ने व्रज बाबू से चुपके से कहा—"अजी इसने तो पहचान लिया।" शालवाले ने कहा—क्या पण्डितजी, आग क्या कभी छिपी रहती है ख़ाक से?"

विद्यासागर को जिसने कभी देखा नहीं ऐसा आदमी अगर उनके नित्य के कार्यों को कभी देखता तो अवश्य उन्हें सूम समझता। कहीं जाना होता था तो विशेष ज़रूरत न होने पर वे कभी किराये की गाड़ी या पालकी पर न जाते थे। वे सदा अपने सबल पैरों का सद्व्यवहार किया करते थे। एक बार उनको एक काम के लिए कलकत्ते के सियालदह स्टेशन में जाना पड़ा। वहाँ ट्रेन न मिलने से फिर यों ही लौटना भी पड़ा। गाड़ी पर जाने-आने का किराया दस आने के लगभग देना पड़ा। घर आकर किराया देने के समय अफ़सोस करके विद्यासागर ने कहा कि ये दस आने व्यर्थ ही देने पड़े। वहाँ पर नारायण बाबू और अन्य कई आदमी बैठे हुए थे। वे इस बात पर हँस उठे। उनको हँसते देखकर विद्यासागर ने कहा—"हँसते क्या हो?" इसके उत्तर में एक आदमी ने कहा—"आपके ऐसे दस आने न जाने कितने ख़र्च हो जाते होंगे।" विद्यासागर ने कहा—"क्या मैं ऐसी फ़जूलख़र्ची करता हूँ?" उस आदमी ने कहा—"क्यों, न जाने कितने आदमी कितने

रुपये आपसे ठग ले जाते हैं ।" विद्यासागर ने वैसे ही सरल भाव से उत्तर दिया—"शायद तुम इसी को अपव्यय कहते हो ? उसमें और कुछ नहीं तो यह तो होता है कि जिसके हाथ में रुपया दो उसका उपकार होता है । और यह तो 'न देवाय न धर्माय' वाला मामला है । जिसको दिया उसने उसे अपना मेहनताना समझा और उससे मेरा कुछ लाभ नहीं हुआ ।" यह सुनकर किसी-किसी ने कहा— यह हमको नहीं मालूम था कि आपके ख़र्च की नीति इतनी उच्च है ।

विद्यासागर कहीं से कोई चीज़ ख़रीदते या मँगाते थे तो उसके ऊपर का लपेटा हुआ काग़ज़ और डोरी खोलकर बड़े यत्न से रखते थे । बड़ी कन्या के दोनों पुत्र सदा विद्यासागर के पास ही रहते थे । ये दोनों उस समय बालक ही थे । विद्यासागरजी एक तरफ़ पानी की तरह पैसा बहाते थे और दूसरी तरफ़ एक चिट काग़ज़ या एक टुकड़ा डोरी भी उठाकर रख छोड़ते थे । यह देखकर बालक हँसते थे । एक दिन रात को विद्यासागर के सो जाने पर छोटे नाती को डोरी की बड़ी ज़रूरत पड़ी । बालक चुपके से आलमारी के ऊपर से डोरी का टुकड़ा लेने के लिए आया । कमरे में घुसकर आलमारी छूते ही विद्यासागर ने कहा—"वहाँ पर कौन है ?" कुछ उत्तर नहीं ; बालक डर गया । दुबारा फिर पूछने पर उत्तर मिला—"मैं हूँ यतीश ।" विद्यासागर ने कहा—"वहाँ अँधेरे में क्या कर रहा है ?" उत्तर मिला—"ज़रा सी डोरी लूँगा ।" उतनी रात को डोरी की ज़रूरत का हाल सुनकर विद्यासागर ने कहा—"अच्छा ठहर, मैं देता हूँ । जब मैं इन काग़ज़ों और डोरियों को उठा-उठाकर हिफ़ाज़त से रखता हूँ तब तुम लोग सोचते हो कि यह बुड्ढा कैसा बेवक़ूफ़ है, रद्दी काग़ज़ और डोरी बटोर-बटोरकर रखता है । इस समय चुपके-चुपके वही डोरी खिसकाने आये हो ?

अच्छा, यह बुड्ढा अगर इन चीज़ों को बटोर-बटोरकर न रखता तो इतनी रात को तुम्हें डोरी कहाँ से मिलती ?"

कहीं से चिट्ठी आती थी तो उसके सादे कागज़ को वे काट लेते थे। वे कागज़ टेबिल के एक किनारे जमा रहते थे। मैंने ख़ुद विद्यासागर को ऐसा करते देखा है। ज़रूरत पड़ने पर वे इन्हीं स्लिपों पर छोटे-छोटे पत्र लिखते थे। इन्हीं कागज़ों पर किसी-किसी पुस्तक की प्रेस-कापी भी लिखी जाती थी।

एक दिन एक दासी ने हल्दी बाँटकर सिल धोई और वह पानी फेंक दिया। यह देखकर विद्यासागर ने स्नेह के स्वर में कहा—"यह क्या किया ? हल्दी का पानी फेंक दिया।" दासी अवाक् होकर विद्यासागर का मुँह ताकने लगी। फिर उसने कहा—"आपके न जाने कितने रुपये यों ही फिक जाते हैं उधर आप कुछ भी ख़याल नहीं करते और इस हल्दी के पानी का आपको इतना ख़याल है।" विद्यासागर ने कहा—"देखो, हल्दी का पानी तरकारी में छोड़ दिया जाता तो वह काम में लग जाता। और, मैं तो रुपया पानी में नहीं फेंक देता, आदमियों को देता हूँ और वह उनके काम आता है। किन्तु यह पानी किस काम आया।"

इन चारों घटनाओं से यह बात स्पष्ट झलकती है कि वे गृहस्थी के कामों में भी बड़े निपुण थे। मामूली से मामूली चीज़ को भी यत्न से सुरक्षित रखने का उन्हें अभ्यास था। वे सब ओर देखकर मुनासिब ख़र्च करते थे। वे ऐसी-ऐसी छोटी बातों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखकर काम करते थे, इसी से बड़े-बड़े कामों को सहज में कर डालते थे। उनके समान ऊँचे विचारवाले आदमी के लिए ऐसा करना ही स्वाभाविक था।

———

विद्यासागर और लोक-सेवा

पुण्य-क्षेत्र भारत में शास्त्रानुसार दान एक महापवित्र कार्य समझा जाता है। शास्त्रों में और पुण्यकार्यों की अपेक्षा दान की महिमा बहुत अधिक गाई गई है। इसका एक कारण भी है। वह यह कि दान में स्वार्थ-त्याग होता है, दान में अलौकिक पवित्र सुख का अनुभव होता है। उस स्वार्थत्याग और दूसरे को सुखी बनाने से हृदय की भारी उन्नति होती है। लोगों के साधारण उपकार करने में भी कुछ-कुछ इस बात का आभास पाया जा सकता है। मनुष्य को जब एक बार इस सत्कार्य का मज़ा मिल जाता है तब वह फिर उसे छोड़ना नहीं चाहता। भक्तशिरोमणि श्रीगौराङ्ग-देव ने दो बातों में धर्म का सारांश बतला दिया है। उनका कथन है कि भगवान् के नाम में रुचि और जीवों पर दया करना ही धर्म्म है। इस जीव-दया से ही मनुष्य के हृदय में विश्वव्यापी प्रेम का प्रवाह बह चलता है। लोक-सेवा-परायण महाप्रेमी ईसामसीह कह गये हैं कि "पराये हित के लिए तुम्हारा दाहना हाथ जो करे उसे तुम्हारा बायाँ हाथ भी न जानने पावे।" हमारे शास्त्र में भी लिखा है—"गुप्तदानं महत्पुण्यम्"। दान करना तो अच्छा ही है; किन्तु गुप्त दान करने से अधिक पुण्य होता है। इसका तात्पर्य यह है कि परोपकार करने से मन में अपने लिए आदर और उत्तेजना का उदय हो सकता है; लोगों से छिपाकर दान करने से हमारे अपने प्रति आदर की विशुद्धता सुरक्षित रहेगी

और अपने कार्य को और लोगों के न जानने के कारण उत्तेजित होने की सम्भावना भी बहुत कम होगी। इसके अलावा सहायता पानेवाला आदमी लोगों के सामने दान लेने में लज्जित होता है, अपनी हीनता का स्मरण करके कुण्ठित होता है। किन्तु गुप्त दान करने से यह बात नहीं होती। इसी से अपने और पराये हित के लिए कहा है कि "गुप्तदानं महत्पुण्यम्।"

लोक-सेवा दो तरह की जा सकती है। जीवन के प्रारम्भ से ज्ञान होने के साथ-साथ—आत्मसुख-सम्भोग की लालसा बढ़ने के साथ-साथ—दूसरे के हृदय को तृप्त करने के लिए जब इच्छा उत्पन्न होती है तब लोकसेवारूपी महाव्रत का छोटा सा अंकुर मानो उप-जाऊ भूमि को प्राप्त होता है। यहीं पर 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' इस महावाक्य की सफलता की सूचना होती है। इस महामन्त्र की साधना करते-करते मनुष्य के हृदय से 'अयं निजः परो वेति' यह ओछे लोगों का क्षुद्रभाव धीरे-धीरे जाता रहता है। इसके बाद 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाला महान् तत्त्व पूर्ण रूप से विकास को प्राप्त होने लगता है। पराई सेवा करने से मनुष्य देवता हो जाता है और जगत् के आदर्श नर-नारियों की मण्डली में स्थान पाता है। इसके सिवा और एक प्रकार का परोपकार देखा जाता है। वह भी साधा-रण नहीं है। ज़िन्दगी भर परिश्रम करके अन्तिम अवस्था में या मृत्यु के समय कोई-कोई आदमी बहुत क्लेश से सञ्चित हज़ार-दो हज़ार या लाख-दो लाख रुपये किसी लोकोपकार के सत्कार्य के लिए दान कर जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह परसेवा भी आदरणीय है। इससे भी जगत् का बहुत कुछ कल्याण होता है। पाश्चात्य जातियों में ही इस तरह के दान का अधिक प्रचार देखा जाता है। यूरोप की जातियों के संसर्ग से हम लोग भी ऐसे दान

के पक्षपाती हो पड़े हैं। किन्तु यह दान सर्वांग सुन्दर होने पर भी पूर्वोक्त सहज और स्वाभाविक परोपकार या लोकसेवा के मुकाबिले इसका स्थान कुछ नीचे माना जायगा। सहज ही सुशिक्षा के कारण बचपन से मां-बाप, भाई और परिवार के अन्यान्य लोगों के उत्तम उदाहरणों को देखकर बालक उनका अनुसरण करता है। वह भिक्षुक को भिक्षा देता है, अन्धे-अपाहिजों के दारुण दुःख में हृदय की सहानुभूति दिखलाता है, घोर विपत्ति के गहरे अन्धकार में पड़े हुए मनुष्यों के मुख-मण्डल पर दारुण विषाद की छाया देखकर उसके कोमल हृदय में दया उत्पन्न होती है और वह उससे एक प्रकार के स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है। वही बालक सयाना होने पर लोक-सेवा को अपना प्रधान कर्त्तव्य समझता है। इसी प्रकार की लोक-सेवा या परोपकार की प्रवृत्ति को हिन्दू शास्त्रकारों ने श्रेष्ठ बतलाया है। पराये आराम के लिए ख़ुद कष्ट उठाने का ही उपदेश शास्त्रों में पाया जाता है। इसी से कहना पड़ता है कि भारत की लोक-सेवा—भारत की समदर्शिता एक विचित्र वस्तु है। किन्तु कहते लज्जा मालूम पड़ती है कि हमारे समाज से यह भाव धीरे-धीरे लुप्त होता जाता है। पहले आर्य लोग जो नित्य पञ्चयज्ञ करते थे उसका उद्देश्य यही (लोक-सेवा) था। आज दिन पञ्चयज्ञ करने के लिए किसी गृहस्थ को छुट्टी नहीं मिलती। हमने अपने आचार और आचरणों से यह बात साबित कर दी है कि हम परमार्थ की अपेक्षा स्वार्थ का ही अधिक आदर करते हैं। स्वार्थ और परमार्थ के संग्राम में हम स्वार्थ की ही जय-घोषणा का अभ्यास बढ़ाते जाते हैं। यही कारण है कि शास्त्र की बात शास्त्र में ही धरी रही और हम मनमानी करते जाते हैं। हम अपने जीवन में शास्त्र के वाक्य पर ध्यान देने का अवसर ही नहीं पाते।

ऐसी ही अवस्था में जब बंगाल में स्वार्थपरता पल्लवित और बहु-विस्तृत हो रही थी तब एक बार पौराणिक इतिहास का फिर अभि-नय देख पड़ा। अमर पुरुष राजा बलि मानो नवीन रूप धारण करके, हमारे आगे महान् आदर्श उपस्थित करने के लिए, आ गये। अथवा यों कहो कि महावीर कर्ण ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि छोड़कर उच्च कुल का उच्च आदर्श दिखाने के लिए हम लोगों में आकर जन्म लिया। पाठकगण, मन लगाकर ध्यान देकर देखो। राजा बलि के तीन पग पृथ्वी देने का अभिनय तुमको विद्यासागर के जीवन में देख पड़ेगा। दाता कर्ण के पुत्रदान और सबको जीतने की शक्ति रखनेवाले कवच-कुण्डल देने का दृश्य भी विद्यासागर के जीवन में देख पाओगे।

मैंने अनेक क़िस्से सुने हैं, गुरुजनों और उपदेशकों के मुँह से अनेक उपदेश की बातें भी सुनी हैं। किन्तु यह बात बहुत कम देखने में आई है कि कोई बालक पढ़ने की अवस्था में ही अपने घर के चर्खे में कते हुए मोटे और छोटे कपड़े को पहनकर स्वयं अपना निर्वाह करे और आप-जो छात्र-वृत्ति के रुपये पावे उनसे ग़रीब सह-पाठियों को बढ़िया महीन कपड़े ख़रीद दे। बालक ईश्वरचन्द्र ने ऐसा ही किया। इस प्रकार आप मोटा कपड़ा पहनकर और दूसरों को महीन कपड़ा पहनाकर वे बड़े सुखी होते थे। इसी एक काम से इस बात का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है कि ईश्वरचन्द्र असाधारण और अद्भुत पुरुष थे। कर्त्तव्यपालन के लिए—लोकहित के लिए—विद्यासागरजी सहज ही अपना सर्वनाश तक करने को तैयार रहते थे। विद्यासागर के जीवन में इस बात के अनेक उदा-हरण मौजूद हैं। यहाँ पर ऐसे कुछ उदाहरणों का उल्लेख किया जाता है।

विद्यासागरजी अपने स्कूल के सहपाठियों की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए, उनके बीमार होने पर उनकी चिकित्सा और पथ्य की व्यवस्था करने के लिए, और आवश्यक होने पर उनकी सेवा-शुश्रूषा करने के लिए सदा तैयार रहते थे। लड़कपन से मरते दम तक उन्होंने सैकड़ों रोगियों के सिरहाने बैठकर सैकड़ों रातें बिता डाली होंगी। बालक ईश्वरचन्द्र इस तरह सहृदय और सेवापरायण युवक बन गये और युवक ईश्वरचन्द्र धीरे-धीरे एक विश्वव्यापिनी उदारता का श्रेष्ठ आदर्श हो गये। विद्यासागर हमारे आगे इस बात का बहुत ही अच्छा आदर्श छोड़ गये हैं कि अपने सुख को छोड़-कर पराये सुख के लिए किस तरह अपना जीवन अर्पण कर दिया जा सकता है।

सन् १८६३ ई० के अन्त और सन् १८६४ के प्रारम्भ [illegible] के अमर कवि माइकेल मधुसूदन दत्त फ्रांस के वर्सेलिस नगर [illegible] उस समय उन पर अनेक विपत्तियाँ आ पड़ी थीं, जिससे उन्हें [illegible] और अन्धकार के सिवा और कुछ न सूझता था। उनके बङ्गाली मित्र उनके आर्थिक कष्ट, उपवास और अन्त को कारावास की सम्भावना का समाचार पाकर भी मज़े में आनन्द मना रहे थे। बारम्बार विपत्ति के समाचार आने पर भी उनकी मित्रमण्डली ने कुछ ख़बर न ली। उनके विलायत जाने के समय जिन्होंने बहुत कुछ भरोसा दिया था वे अन्त को पत्र का उत्तर देने तक के रवा-दार नहीं रहे। उस समय मधुसूदन को अपनी विपत्ति की भयान-कता का अनुभव हुआ। वे मित्रों के व्यवहार से बहुत ही दुःखित हुए। अन्त को उन्हें एक महापुरुष का ध्यान आया। वे महापुरुष हमारे चरित्रनायक विद्यासागर थे। विद्यासागर का स्मरण आते ही उनके निराश हृदय में आशा का सञ्चार हुआ। मधुसूदन का जीवनचरित्र

पढ़ने से यह बात मालूम पड़ती है कि बङ्गाल के तत्कालीन सभी प्रतिष्ठित पुरुषों से उनकी जान-पहचान थी। परन्तु विदेश में विपन्न मधुसूदन की सहायता करनेवाले विद्यासागर ही निकले। मधुसूदन ने विद्यासागर को एक चतुर्दशपदी कविता लिखकर भेजी थी, उसका गद्यानुवाद नीचे दिया जाता है—

"तुम भारत में विद्या के सागर कहलाते हो। लेकिन हे दीनबन्धो, इस बात को दीनजन ही जानते हैं कि तुम दया के भी सागर हो। सुमेरु की उज्ज्वल कान्ति को दूर से सभी लोग देखते हैं। किन्तु सौभाग्य से जो कोई उस महापर्वत के चरण-तल में आश्रय पाता है वही इस बात को जानता है कि उस चमक के सिवा उसमें कितने गुण भरे पड़े हैं। उसके सुखसदन में पहुँचनेवाले की कैसी सेवा होती है। नदीरूपिणी दासी सुशीतल मधुर जल देती है। वृक्षरूपी दास बड़े आदर से मधुर फल देते हैं। दसों दिशाओं में खिले हुए फूल अपने सुगन्ध से मस्त बनाते हैं। दिन को वनदेवी सुशीतल छाया और मन्द पवन से थकन मिटाती है और रात को निद्रादेवी अपनी गोद में सुला लेती है।"

सन् १८६४ ई० की २ जून को मधुसूदन ने और कोई उपाय न देखकर जिस पत्र के द्वारा विद्यासागर के चरणों में सहायता की प्रार्थना की थी उस पत्र का कोई-कोई अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"You will be startled, I am sure, grieved, to learn that I am at this moment the wreck of the strong and hearty man who bade you adieu two years ago with a bounding heart, and that this calamity has been brought upon me by the cruel and inexplicable conduct of men, one of whom at least, I felt strongly persuaded, was my friend and well-wisher. * * *

I am going to a French jail, and my poor wife and children must seek shelter in a charitable institution, though I have fairly Rs. 4,000 due to me in India.

You are the only friend who can rescue me from the painful position to which I have been brought, and in this you must go to work with that grand energy which is the companion of your genius and manliness of heart. Not a day is to be lost.

Shall I apologise for the trouble I am giving you. I do not think so; for I know you enough to believe with all my heart that you would not allow a friend and countryman to perish miserably.

Kindly address in France, as above, for there is no earthly chance of my leaving this country before God and you, under God, help me to do so."

अर्थात्, मुझे दृढ़ विश्वास है, आप यह सुनकर चौंक पड़ेंगे और आपको गहरा दुःख होगा कि दो वर्ष पहले उच्छ्वासपूर्ण हृदय लेकर जो व्यक्ति आपसे बिदा होने गया था वही मैं आज बहुत दुर्बल और अशान्ति में पड़ा हुआ हूँ। कई आदमियों की निष्ठुरता और निर्मम व्यवहार के कारण इस समय मैं बड़ी ही विपत्ति में पड़ गया हूँ। खेद की बात तो यह है कि उन लोगों में मेरे एक हितैषी और मित्र भी हैं।+ + +

मुझे अपने देश में ४०००) रुपये मिलने हैं, फिर भी मैं धनाभाव से इस देश के जेल में जा रहा हूँ और मेरी स्त्री और बच्चे किसी अनाथालय में जाने के लिए लाचार होंगे।

मैं जिस बुरी हालत में पड़ा हुआ हूँ इससे उबारनेवाले एक आप ही मुझे देख पड़ते हैं। इस कार्य को करने के लिए जिस कार्यनिपुणता की आवश्यकता है वह दृढ़ता और प्रतिभा के साथ

आपमें ही देख पड़ती है। एक दिन की भी देर होने से काम बिगड़ जायगा।

आपको जो क्लेश दे रहा हूँ उसके लिए क्या क्षमा-प्रार्थना करूँ? मुझे तो यह आवश्यक नहीं जान पड़ता। क्योंकि आपको मैं ख़ूब जानता हूँ और मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि एक स्वदेशी और मित्र को आप इस तरह दुर्दशाग्रस्त होकर मरने न देंगे।

दया करके फ़्रांस में ऊपर लिखे पते पर पत्र लिखिएगा, क्योंकि दैव के अनुग्रह और दैव की कृपादृष्टि पाये हुए आप सरीखे महानुभाव की कृपा बिना यहाँ से और जगह जाने की कोई सम्भावना नहीं।

यह पत्र पाकर विद्यासागर की चिन्ता का ठिकाना न रहा। ईसवी सन् १८६४ को विद्यासागर के अर्थकष्ट का मध्यकाल समझना चाहिए। उस समय ख़ुद उन पर बहुत-सा ऋण हो गया था। उस समय उनको धन की कमी से बड़ा कष्ट मिल रहा था। थोड़ा-सा भी धन मिलता तो उससे वे अपना ही अर्थकष्ट दूर करते। ऐसे कठिन कुअवसर पर प्रवासी मधुसूदन के धनाभाव और उसके कारण उन पर भारी विपत्ति की आशङ्का का समाचार पाकर विद्यासागर बहुत ही व्याकुल हो उठे। ख़ास कर मधुसूदन के मित्रों के आचरण का हाल सुनकर उनको और भी क्षोभ हुआ। वे अपने प्रति अपने देश के लोगों के आचरण देखकर उन पर अविश्वास और अश्रद्धा करने लगे थे। विदेशवासी मधुसूदन के प्रति उनके वैसे ही बर्ताव का हाल सुनकर विद्यासागर का वह भाव और भी पक्का हो गया। उन्होंने मधुसूदन के मित्रों और अन्यान्य स्थानों में चेष्टा की; किन्तु जितने की ज़रूरत थी उतना धन एकत्र न हो सका। अन्त को निरुपाय विद्यासागर ने अपने ऊपर और भी

ऋण का बोझ बढ़ाकर मधुसूदन का उद्धार करने की चेष्टा करने का इरादा कर लिया। बहुत कष्ट से, दूसरी डाक से, १५००) रु० मधुसूदन को भेजे और यह सलाह दी कि रुपया मिलते ही इँगलेंड जाकर अपने ज़रूरी काम में लग जाना। जिस दिन डाक पहुँचनी चाहिए थी उस दिन सवेरे वर्सेलिस नगर में दत्त-परिवार में जो कातर क्रन्दन की ध्वनि उठी थी उसका आभास मधुसूदन के शब्दों में ही यहाँ पर दिया जाता है —

Versailles, 2nd September, 1864.

My dear friend,

On the morning of last Sunday, 28th ultimo, as I was seated in my little study, my poor wife came to me with tears in her eyes, and said: "The children want to go to the Earl, and I have only 3 francs; why do those people in India treat us this way?" I said—"The mail will be in to-day, and I am sure to receive news, for the man to whom I have appealed has the genius and wisdom of an ancient sage, the energy of an Englishman and the heart of a Bengali mother." I was right; an hour afterwards I received your letter and the Rs. 1,500 you have sent me. How shall I thank you, my noble, my illustrious, my great friend; you have saved me. * * * Am I not right in thinking that you have the heart of a Bengali mother?

अर्थात्, प्रिय मित्र, गत २८ अगस्त रविवार को सवेरे के समय मैं अपने छोटे से पाठभवन में बैठा हुआ था। इसी समय मेरी दुखिया स्त्री ने मेरे पास आकर, आँखों में आँसू भरकर, मुझसे कहा—'लड़के मेला देखने जाना चाहते हैं। किन्तु मेरे पास इस समय केवल तीन फ्रांक (उस समय डेढ़ रुपये से कम और इस समय कुछ अधिक) हैं। तुम्हारे देश के लोग हम लोगों के साथ क्यों ऐसा व्यवहार करते हैं?' मैंने कहा—'आज डाक आने का दिन है। मुझे भरोसा है

कि कुछ न कुछ ख़बर ज़रूर आवेगी। क्योंकि मैंने जिस महापुरुष को अपनी अवस्था जताकर पत्र लिखा है वे आर्यऋषियों के समान प्रतिभाशाली और विज्ञ हैं, अँगरेज़ों के समान कार्य्यकुशल और बंगाली माता के समान कोमल-हृदय हैं'। मैंने ठीक ही कहा था, क्योंकि घण्टे भर के बाद ही १५००) रु० और आपका पत्र मिला। हे सुजन, हे कीर्त्तिमान् परम सुहृद! आपको मैं किस तरह अपने हृदय की कृतज्ञता जताऊँ? आपने मुझे बचा लिया। [इस प्रकार बहुत कुछ दुखड़ा रोकर वे लिखते हैं—] क्यों, मैंने ठीक कहा था न, कि आपका हृदय बंगाली माता के समान है?

मधुसूदन के मित्रों से रुपये का कुछ प्रबन्ध न करा सकने के कारण विद्यासागर बड़े असमञ्जस में पड़ गये थे। मधुसूदन को और भी बहुत रुपया भेजना पड़ा। फल यह हुआ कि मकड़ी जैसे अपने जाले में अपने को फँसा लेती है वैसे ही विद्यासागर ने भी अपने को ऋण के जाल में जकड़ लिया। उससे छुटकारा पाने का कोई उपाय न रह गया। रेशम का कीड़ा जैसे अपने प्राण देकर औरों की शोभा और सौन्दर्य बढ़ाता है वैसे ही वे भी आत्मविनाश करके मधुसूदन की भलाई करने लगे। मधुसूदन ने विद्यासागर की इस अवस्था का हाल जानकर यह पत्र लिखा था—

Versailles, 18th December, 1864.

My dear friend,

Your kind letter, with a draft for 2,490 francs, reached me in due course, and in very good time; for we were without money and eagerly looking out to hear from you. I need scarcely tell you how sincerely I thank you. But your letter has pained me no little, as one would say in our mother tongue.

अर्थात्, प्रिय मित्र, २४९० फ्रांक की चेक के साथ आपका पत्र यथा-समय पहुँच गया। यह रुपया ठीक उस समय मिला जब मैं

बहुत बुरी हालत में था। मेरे पास कुछ न था। हम बहुत ही व्याकुल होकर आपका समाचार पाने की बाट जोह रहे थे। यह कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं कि मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ। किन्तु आपका पत्र पढ़कर मुझको घोर दुःख भी हुआ। जैसे कोई हमारी मातृभाषा में कह सकता है—मैं ख़ूब समझता हूँ कि अभागे के मामले में हस्तक्षेप करके आप एक भारी विपत्ति के जाल में पड़ गये हैं। किन्तु क्या करूँ, मेरा ऐसा एक भी मित्र नहीं, जिसकी शरण लेकर आपका उद्धार करूँ। आप अभिमन्यु के समान भारी मोर्चे को तोड़कर कौरव-दल में घुस गये हैं। मुझमें ऐसी शक्ति नहीं है कि आपको सहायता पहुँचा सकूँ। अतएव आपको अपने बल से शत्रुदल का संहार करके इस जाल से निकलना पड़ेगा और बाहर निकलकर शरणागत की रक्षा करनी पड़ेगी। यह बात आपको सदा स्मरण रहनी चाहिए।

पत्र का शेष अंश बँगला में लिखा था। खेद है कि मधुसूदन का उद्धार करने में विद्यासागर को बहुत दिनों तक ऋणी रहना पड़ा। इँगलेंड में रहते समय या यहाँ आने पर कभी मधुसूदन विद्यासागर को इस ऋण की ज़िम्मेदारी से उबार नहीं सके। धीरे-धीरे सब ऋण विद्यासागर को ही चुकाना पड़ा। उन्होंने स्वयं अनेक विपत्तियों में पड़े रहने पर भी मधुसूदन की सहायता की थी। बहुत रुपया ख़र्च करके उन्होंने मधुसूदन को बैरिस्टरी परीक्षा पास कराई और भारत में बुलाया। किन्तु आश्चर्य यही है कि विद्यासागर ने इतनी असुविधाएँ भोगकर—इतना ऋण अपने सिर पर चढ़ाकर—जिन्हें योग्य बनाया उन मधुसूदन ने स्वदेश में आकर जीवन के अन्तिम दिन तक कभी विद्यासागर ऐसे मित्र की सलाह नहीं मानी और उनके कहने पर नहीं चले। विद्यासागर ने आंखों में आँसू भरकर मुझसे

कहा था—"माइकेल यहाँ आकर सुख से रह सकें, इस इरादे से एक अच्छा सा मकान पसन्द करके मैंने पहले ही से किराये पर ले रक्खा था। एक विलायत से लौटे हुए प्रतिष्ठित पुरुष के योग्य सामान से उसे सजा भी रक्खा था। बड़ी इच्छा थी कि मधुसूदन आकर इसमें रहेंगे। किन्तु वह घर योंही पड़ा रहा। मधुसूदन आकर स्पेन्स होटल में ठहरे।" विद्यासागर वहाँ मुलाक़ात करने और उन्हें लाने गये। किन्तु उन्हें वहाँ से हताश और उदास होकर लौटना पड़ा। भारत में आकर मधुसूदन बड़े मज़े में रहने लगे। प्रतिभा-शाली मधुसूदन एक चञ्चल-चित्त पुरुष थे। किन्तु विद्यासागर "बंगाली माता के हृदय" का परिचय देते हुए मधुसूदन के व्यवहार पर ध्यान न देकर बराबर उनकी सहायता करते रहते थे। मधु-सूदन के जीवन-चरित-लेखक ने लिखा है—"जिन महात्मा ने परदेश में रहने के समय सहायता करके मधुसूदन को सदा के लिए ऋणी बना लिया था वे इस समय भी उनसे बराबर दया का व्यवहार करते जाते थे। विद्यासागर ने पहले से ही मधुसूदन के रोज़गार के लिए सुभीता कर रक्खा था। विद्यासागर और अन्यान्य मित्रों की सहायता से अनेक रुकावटों का सामना करके उन्होंने कलकत्ता-हाईकोर्ट में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त किया।"

विद्यासागर ने अपना ऋण बढ़ाकर मधुसूदन को ऋण दिया था और यह आशा की थी कि माइकेल अपने देश में आकर, चाहे जिस तरह हो, ऋण चुका देंगे। किन्तु विद्यासागर की यह आशा शीघ्र ही निर्मूल हो गई। मधुसूदन से रुपया वसूल होना कैसा कठिन हो गया था और उसके लिए विद्यासागर को कितना क्लेश भोगना पड़ा था, यह बात निम्नलिखित पत्र से अच्छी तरह मालूम हो जायगी—

सादरसम्भाषणमावेदनम् ।

आज सात दिन से वर्द्धमान में आ गया हूँ। अब तक यहाँ भी कुछ अधिक फ़ायदा नहीं मालूम पड़ा। आने के पहले आपसे कुछ कहने की इच्छा थी, किन्तु वह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। इसलिए इस पत्र में वह बात लिखता हूँ। अनेक लोगों को यह ख़याल है कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह किसी तरह अन्यथा नहीं हो सकता। इस कारण वे लोग बेखटके मेरी बात पर विश्वास करके काम करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोगों का ऐसा विश्वास होना सौभाग्य की बात है। किन्तु मुझे ये लक्षण देख पड़ते हैं कि लोगों का विश्वास शीघ्र ही मेरे ऊपर से उठ जायगा।

मैंने जिस समय अनुकूल बाबू (जज अनुकूलचन्द्र मुखोपाध्याय) से रुपया लिया था उस समय वादा किया था कि आपके आते ही मैं रुपया अदा कर दूँगा। उसके बाद फिर जब आपको रुपये की ज़रूरत पड़ी तब मैंने इस ख़याल से कि ठीक समय पर रुपया न पहुँचने से आपका नुक़सान या असुविधा होगी, मैंने और कोई उपाय न देखकर श्रीशचन्द्र (विद्यारत्न) के पास कम्पनी-कागज़ रेहन रखकर रुपया भेजा था। उनका रुपया शीघ्र अदा करने का वादा था। किन्तु दोनों जगह मैं अपने वादे को पूरा नहीं कर सका। श्रीशचन्द्र और अनुकूल बाबू को शीघ्र रुपया न पहुँचेगा तो निस्सन्देह मुझे अपदस्थ और अपमानित होना पड़ेगा।

इस समय इस चिन्ता से कि किस तरह मेरे मान की रक्षा होगी, हर घड़ी मेरा अन्तःकरण आकुल रहता है। यह चिन्ता क्रमशः इतनी प्रबल होती जाती है कि रात को नींद नहीं आती। अतएव आपके निकट यह विनीत प्रार्थना है कि विशेष यत्न के साथ मन लगाकर शीघ्र ही मेरी रक्षा कीजिए। रोग को दूर करके

स्वास्थ्य-लाभ के लिए पश्चिमोत्तर प्रदेश में जाना और कम से कम वहाँ छः महीने रहना बहुत ज़रूरी हो गया है। आश्विन के आरम्भ में जाने का निश्चय कर लिया है। किन्तु आप उद्धार न करेंगे तो किसी तरह मेरा जाना न होगा। यह सब विचार कर जो उचित समझ पड़े सो कीजिएगा। और अधिक क्या लिखूँ, शरीर की अवस्था देखने से मुझे यह आशा नहीं कि मैं अपनी चेष्टा और परिश्रम से अपना उद्धार आप कर सकूँगा। बहुत कुछ लिखने का इरादा था; परन्तु तबीयत ठीक न होने के कारण नहीं लिख सका। किमधिकमिति—

भवदीयस्य
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः

इसके उत्तर में माइकेल मधुसूदन दत्त ने विद्यासागर को यह पत्र लिखा था—

1, Spence Hotel.

My dear Vidyasagar,

Your letter, which reached me a few minutes ago, has given me great pain. You know that there is scarcely anything in this world that I would hesitate to do for you. Of course, you have my full permission to adopt any steps you think proper to relieve yourself of the unpleasant burden. Srish has written to me, offering Rs. 21,000. But don't you think Onookool would advance fresh money enough to pay off that man and hold the property by way of mortgage—usufructuary mortgage—I paying him the difference in the interest? If we can in this way save the estate, let us do so; if not, let them go. I wish I could run over and see you. Perhaps I shall do so next Saturday.

With affectionate regard,
Sir,
Yours M. S. Dutt.

अर्थात्, प्रिय विद्यासागरजी, अभी आपका पत्र मिला। यह पत्र पढ़कर मुझे हार्दिक क्लेश हुआ। आप जानते हैं, पृथ्वी पर ऐसा कोई काम नहीं जिसे मैं आपके लिए न कर सकूँ। इस अप्रीतिकर ऋण के बोझ से छुटकारा पाने के लिए आप जो आवश्यक समझें वही करें; मेरी उसमें सम्पूर्ण सम्मति है। श्रीश ने २१०००) ऋण देने की सम्मति जताकर एक पत्र लिखा था। आप क्या समझते हैं कि अनुकूल बाबू उस सम्पत्ति को रेहन रखकर कुछ अधिक रुपया ऋण नहीं दे सकते? सूद के बढ़ती रुपये मैं अपने पास से दे सकता हूँ। मैं क्या उनसे यह प्रस्ताव करूँ? इस प्रकार अगर सम्पत्ति बचाई जा सके तो अच्छा ही है, नहीं तो अन्त को उसे मैं छोड़ दूँगा। मेरी इच्छा होती है कि मैं इसी समय आपके पास दौड़ा जाऊँ। हो सका तो आगामी शनिवार को आऊँगा।

किन्तु रुपया किसी तरह वसूल नहीं हुआ। मधुसूदन रुपया-पैसा ख़र्च करने का अच्छा ढङ्ग न जानते थे। रुपया मिलने पर सोच-समझकर उसे ख़र्च करने का उन्हें अभ्यास न था। हज़ार, दो हज़ार, दस हज़ार को वे कुछ चीज़ न समझते थे। उनके किसी पत्र वग़ैरह में दस-पांच या सौ दो सौ का उल्लेख नहीं है। रुपये के लिए जब उन्होंने लिखा तब हज़ार के इधर नहीं। दस-बीस हज़ार, रुपये सदा उनकी क़लम से निकला करते थे। किन्तु रुपया मिलते ही फ़ौरन् ख़र्च हो जाता था। ऐसे आदमी के पल्ले पड़ने से जो दशा होनी चाहिए वही दशा विद्यासागर की हुई। मधुसूदन का ऋण चुकाने के लिए उन्हें संस्कृत प्रेस के तीन हिस्सों में से दो हिस्से बेच डालने पड़े। किन्तु इससे भी विद्यासागर विचलित नहीं हुए। वे मधुसूदन को बचा नहीं सके और मधुसूदन ने

उनका कहा नहीं माना, इसी से उनको वड़ा क्लेश हुआ। अन्त को अनेक प्रकार के नुक़सान पहुँचाने पर भी जिस समय स्वदेश में मधुसूदन विलकुल विपन्न और असहाय अवस्था में थे उस समय भी विद्यासागर से उन्हें थोड़ी-थोड़ी सहायता मिलती जाती थी। किन्तु भारी ऋणभार से छुड़ाने के लिए जब फिर मधुसूदन ने उनको पत्र लिखा तब उस पत्र के उत्तर में विद्यासागर ने उनको यह पत्र लिखा था—

My dear Dutt,

I have tried my best, and am sadly convinced that your case is an utterly hopeless one. No exertion of mine, or that of anybody else who is not a moneyed man, however strenuous it may be, can save you. It is too late to mend matters by patchworks. I am very unwell, and am therefore unable to write.

Yours sincerely,

30th September, 1872. Iswar Chandra Sharma.

अर्थात्, प्रिय दत्त, मैंने भरसक चेष्टा की है और मुझको यह दृढ़ धारणा हो गई है कि आपकी अवस्था का बदलना विलकुल असम्भव है। मेरी या धन-कुवेर के सिवा अन्य किसी की प्राणपण-चेष्टा से भी आपकी रक्षा नहीं हो सकती। ताली पिटने की अवस्था निकल गई। मेरी तबीयत अच्छी नहीं है, और इसी से अधिक लिखने में असमर्थ हूँ।

इस प्रकार के सङ्कट में पड़कर मधुसूदन वहुत जल्द बीमार होकर स्वर्ग सिधार गये। मधुसूदन के स्वर्गवास के वहुत दिन वाद सिटी कालेज के प्रिन्सिपल वावू उमेशचन्द्र दत्त की चेष्टा से सम्मिलित मध्य-वङ्गाल-सम्मिलनी और जैसोर-खुलना-सम्मिलनी ने

यह उद्योग किया कि मधुसूदन के अस्थिपञ्जर किसी स्थान पर रख-कर उस पर किसी प्रकार का स्मारक-चिह्न स्थापित कर दिया जाय। उक्त सभा के अनुरोध से हम लोग विद्यासागर के पास आर्थिक सहायता के लिए गये थे। उन्होंने बहुत आलाप-विलाप के बाद आँखों में आँसू भरकर कहा था "देखो, प्राणपण चेष्टा करके भी मैं जिसकी जान नहीं बचा सका उसकी हड्डियों को सुरक्षित रखने के लिए मुझे उतनी उत्सुकता नहीं है। तुम लोगों को नया उत्साह और आग्रह है, तुम जाकर करो।" इन बातों को कहकर अन्त में जो उन्होंने विलाप किया था—अपने गहरे क्षोभ और हार्दिक शोक का परिचय दिया था—उसको सुनकर कोई भी सहृदय पुरुष रोये बिना नहीं रह सकता।

अकाल। बँगला सन् १२७२ (ई० सन् १८६७) में पानी न बरसने के कारण—इस सन् के पिछले हिस्से में—ख़ास कर सन् १२७३ के बैसाख, जेठ और असाढ़ में, बंगाल में जो भयानक दृश्य उपस्थित हुआ था उसका वर्णन करना एक प्रकार से असम्भव है। बैसाख का प्रचण्ड सूर्य जब बंगाल की भूमि को तपाकर उसका हृदय विदीर्ण कर रहा था तब देश में एक और आग लगी हुई थी। सूर्य के ताप से ज़मीन सूख रही थी और पेट की ज्वाला से आद-मियों के मुख मुरझाये हुए थे। लोग चारों ओर भाग रहे थे। कौन किधर भागता था, इसका ठिकाना न था। सयाना लड़का बूढ़े मा-बाप को छोड़कर, जवान मा सुकुमार बच्चे को रास्ते में छोड़कर सब किसी अज्ञात अपरिचित देश को चल दिये थे। चारों ओर हाहाकार सुन पड़ता था। मुट्ठी भर अन्न के लिए स्त्री-पुरुष बालक-वृद्ध जान देने को तैयार थे। अन्न न मिलने पर कुछ दिनों वृक्ष-लता-पत्ते आदि खाकर गुज़र किया। अन्त को कुछ न मिलने पर लोग भूख से

तड़प-तड़पकर मरने लगे। उड़ीसा और बंगाल के दक्षिण भाग के रहनेवाले लोगों को बहुत मुसीबत पड़ी थी और वे भागकर बहुत दूर-दूर के देशों में चले गये थे। इस दुर्दिन में दानवीर ईश्वरचन्द्र अपना सर्वस्व अर्पण कर दीन-दुखियों की भूख मिटाने के लिए अग्रसर हुए थे। पहले तो उन्होंने इस तरह भूखों मर रही प्रजा की हालत सुनाकर राज-कर्मचारियों के द्वारा यह विपत्ति टालने की चेष्टा की। उनके अनुरोध से सरकार ने जांच की और मेदिनीपुर तथा हुगली के ज़िलों में अन्नसत्र भी खोल दिये। किन्तु इससे ईश्वरचन्द्र को सन्तोष नहीं हुआ। मेदिनीपुर ज़िले के अनेक स्थानों में लोग अन्न न मिलने के कारण मर रहे थे और वीरसिंह तथा उसके आसपास के लोग अन्न के अभाव से कातर होकर विद्यासागर के द्वार पर हाहाकार कर रहे थे। यह ख़बर पाकर वे उसी समय दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों की रक्षा का प्रबन्ध करने के लिए घर दौड़े गये। इस समय यह विवरण प्राप्त करके प्रकट करना बहुत ही कठिन है कि विद्यासागर ने कितने आदमियों के प्राण बचाये थे और उसमें उनका कितना रुपया ख़र्च हुआ था। किन्तु यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उन्होंने जो अन्नसत्र खोलकर उसमें ४-५ महीने तक अन्न बाँटा था उससे बहुत से लोग मौत के मुँह में जाने से बच गये। उसमें १२ रसोइये बराबर रसोई बनाते रहते थे। २० आदमी बराबर परोसा करते थे। बीच-बीच में, थक जाने पर, ये लोग बदल दिये जाते थे। इस तरह वैसाख, जेठ, असाढ़ और सावन बीता।

पहले सौ-दो सौ आदमी खाते थे। क्रमशः जब पूर्ण मात्रा से चारों ओर अन्नाभाव की आग जल उठी तब अन्न चाहनेवाले लोगों की संख्या भी अधिक बढ़ने लगी। अन्त को ऐसा हुआ कि दिन-रात अन्न बाँटने पर भी पूरा न पड़ता था। विद्यासागर ने यह ख़बर

पाकर अपने भाई शम्भुचन्द्र को, जो इस कार्य के लिए नियुक्त थे, लिख भेजा कि चाहे जितना रुपया ख़र्च हो, परवा नहीं, कोई भूखा न रहने पावे। इस समय विद्यासागर अक्सर घर का चक्कर कर आया करते थे। एक बार घर जाने पर अन्नप्रार्थी लोगों ने उनसे कहा—"खिचड़ी खाते-खाते अरुचि हो गई है। कभी-कभी दाल-भात की भी व्यवस्था होनी चाहिए।" विद्यासागर ने तुरन्त यह व्यवस्था कर दी कि सप्ताह में एक बार भात और तरकारी दी जाया करे। इस व्यवस्था के अनुसार कार्य होने के पहले ही दिन एक बड़ी ही हृदयविदारक दुर्घटना हो गई। एक व्यक्ति तरकारी की अपेक्षा असह्य होने के कारण सूखा भात ही निगलने लगा। भात गले में अटक जाने से साँस रुक गई और वह उसी दम मर गया। विद्यासागर वहाँ मौजूद थे। वे उस मृत व्यक्ति को गोद में लिये देर तक रोते रहे। उन्हें यह दुःख बहुत समय तक बना रहा कि बेचारा भूखा ही मर गया।

नीचजातीय ग़रीब लोगों के बारे में कोई लापरवाही न करे, इस आशङ्का से वे ख़ुद दीन-दुखी लोगों की सेवा करते थे—उनके सिर में तेल लगा देते थे। भङ्गी चमार आदि नीच जातिवालों के सिर में तेल डालने के लिए कोई नहीं अग्रसर होता था, इससे विद्यासागर ख़ुद अपने हाथ से उनके तेल लगा देते थे। वे स्वयं ऐसा करते थे, इस कारण और कोई भी नीच जाति के लोगों से लापरवाही का व्यवहार न कर सकता था। विद्यासागर के इस व्यवहार की ख़बर देश भर के गाँव-गाँव में फैल गई। दीन-दुखी लोग उन्हें दया का अवतार कहने लगे। इस सत्र में जो स्त्रियाँ अन्न पाती थीं उनमें कई एक गर्भवती थीं। घर में रहने पर प्रसव के पहले जो रीतियाँ की जाती हैं वे सब, विद्यासागर की आज्ञा से, अन्नसत्र में ही की गईं।

इसका मतलब यह था कि ग़रीब आदमी घर में—परिवार में—रहकर जिन कामों से सुख पाता उस सुख से वह अन्नसत्र में ही क्यों वञ्चित रहे? पाठकगण, ज़रा ध्यान देकर देखिए, मनुष्य में कैसी उच्च उदारता होने से ऐसा विश्वव्यापी भाव हो सकता है? विद्यासागर के जीवन में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि उनका घर सारे संसार का आश्रय-स्थान था, उनके आत्मीय स्वजन उनकी लोक-सेवा के सहायक मात्र थे और उन्होंने संसार में दूसरों का दुख दूर करने के लिए ही जन्म लिया था। उनका आत्मा एक महान् आत्मा था। उन्होंने अन्नसत्र खोलकर यह दिखला दिया कि मनुष्य किस तरह संसार का दुख दूर करने की चेष्टा कर सकता है।

वङ्गाल भर में व्याप्त दुर्भिक्ष का दारुण हाहाकार जिस समय चारों ओर गूँज रहा था उस समय विद्यासागर ने अपना रुपया ख़र्च करके और राजपुरुषों से अनुरोध करके वंगजननी के पुत्रों को बचाने की चेष्टा की थी। उन्होंने असंख्य नर-नारियों को अकाल-मृत्यु से बचाकर सारे देश-वासियों को कृतज्ञ बना लिया था। दीन-दुखी लोग उनको इसी समय से दयासागर कहने लगे। राजपुरुषों ने उनकी सलाह और सहायता पाकर अपनी कृतज्ञता जताई थी। वर्द्धवान के कमिश्नर साहब ने उनको यह पत्र लिखा था—

To

Pandit Iswar Chandra Vidyasagar, Beer Singha.

Sir,—I have been instructed by the Secretary to the Government of Bengal, under order of the 20th instant, to express to you the warm acknowledgment of Government for your generous exertions in relieving the poor during the recent scarcity in the Hooghly District.

I have the honour to be,
Sir,
Your most obedient servant,
C. T. Montrisor,
Commissioner, Burdwan Division.

अर्थात्, महाशय, बंगालगवर्नमेंट के सेक्रेटरी की सन् १८६७ ० के २० मार्च की आज्ञा के अनुसार आपको जताता हूँ कि गत अकाल के समय हुगली ज़िले के ग़रीब लोगों की कमियों को पूरा करने में अनेक प्रकार की सहायता करने के लिए गवर्नमेंट आपके निकट अपनी गहरी कृतज्ञता जताती है।

सी० टी० मानट्रिसर,
कमिश्नर वर्द्धवान विभाग।

वर्द्धवान। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की रेलवे खुलने के पहले, सन् १८५४ ई० के मध्यभाग में, विद्यासागर, रामगोपाल घोष और राजा सत्यशरण घोषाल के साथ, वर्द्धवान गये थे। घोष बाबू और राजा बहादुर वर्द्धवान के महाराज महताबचन्द बहादुर के यहाँ मेहमान होकर गये थे। उक्त दोनों महाशय ख़ास राजा साहब के यहाँ ठहरे थे। विद्यासागर अपने स्नेहपात्र श्यामाचरण दे के बहनोई प्यारीचन्द मित्र के यहाँ ठहरे थे। महाराज महताबचन्द बहादुर को जब विद्यासागर के आने की ख़बर मिली तब उन्होंने उन्हें बुलाने के लिए आदमी भेजा। विद्यासागर उस बार पहले राजा साहब की इच्छा पूर्ण करने के लिए राज़ी नहीं हुए। किन्तु राजा साहब ने बार-बार अनुरोध करके प्रतिष्ठित कर्मचारियों को उनकी अभ्यर्थना के लिए भेजा, इससे लाचार होकर विद्यासागर को जाना ही पड़ा। महाराज ने सम्मान के लिए एक दुशाला और ५००) रु० दिये; किन्तु उन्होंने नहीं लिये। केवल मुलाक़ात करके चले आये। उनके इस सन्तोष को देखकर महाराज की भक्ति उन पर और बढ़ गई। इसके बाद स्कूलइन्स्पेक्टर होकर फिर कई बार विद्यासागर स्कूल खोलने और मोआयना करने गये। किन्तु वे जब जाते थे तब राज-सम्मान को छोड़कर प्यारी बाबू के घर पर ठहरते थे।

सन् १८६६ ईसवी के शेष भाग में, मेरी कार्पेन्टर के साथ उत्तर-पाड़ा-बालिका-विद्यालय देखने जाने के समय, रास्ते में विद्यासागर के जो भारी चोट लगी थी और जिसके कारण उन्हें बहुत दिन तक पलँग पर पड़े रहना पड़ा उससे कुछ आराम होने पर स्वास्थ्य ठीक करने के लिए वे वर्द्धवान गये थे। इस बार राजा महताबचन्द बहादुर के अनुरोध को टाल न सकने के कारण वे फिर राजभवन में गये। महाराज ने राजभवन में रहने के लिए बहुत ज़ोर दिया, लेकिन विद्यासागर राज़ी नहीं हुए। आप कहाँ ठहरे हैं?—इस प्रश्न पर दिल्लगी के तौर पर विद्यासागर ने कहा—"प्यारी बाबू के होटल में।" होटल कहने के मानी यह थे कि श्यामाचरण विश्वास, प्यारीचरण सरकार, रामगोपाल घोष आदि उस समय के प्रतिष्ठित पुरुष वर्द्धवान में आब-हवा बदलने के लिए जाते थे तो मित्र बाबू के ही यहाँ ठहरते थे। जिस घर में ये विद्वान् लोग बैठते-उठते थे वह अभी तक मौजूद है। उस समय स्वास्थ्योन्नति के लिए वर्द्धवान ही श्रेष्ठ स्थान समझा जाता था। आब-हवा बदलने के लिए वर्द्धवान से आगे जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। इसलिए अस्वस्थता के कारण जब कलकत्ता छोड़ने की ज़रूरत पड़ती थी तब विद्यासागर वर्द्धवान में जाकर ठहरते थे।

सन् १८६८ ई० में विद्यासागर स्वास्थ्य सुधारने के लिए वर्द्धवान गये। इस बार वर्द्धवान में रहकर विद्यासागर ने अनेक स्थानों की सैर की। एक दिन पूर्णिमा की चाँदनी रात को कमलसायार और उसके आसपास के उपवन को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उपवन से घिरे हुए उक्त तालाब के तट पर महाराज का एक मनोहर उद्यान-भवन था। विद्यासागर ने महाराज से यह पूछ भेजा कि महाराज रहने के लिए उसे किराये पर दे सकते हैं या नहीं।

उत्तर में महाराज ने कहला भेजा "किराये पर तो वह मकान नहीं दिया जायगा लेकिन अगर विद्यासागरजी उसमें रहने की कृपा करें तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता होगी।" राजमन्त्रियों के अनुरोध और मित्रों की सलाह से विद्यासागर इस पर राज़ी हो गये और उस बार चार महीने तक वहीं रहे। यहाँ रहने से उन्हें वर्दवान में रहना पसन्द आ गया। इस उपवन के पास बहुत से ग़रीब मुसलमान रहते थे। थोड़े ही दिनों में वे विद्यासागर को जान गये। विद्यासागर आत्मीय स्वजन के समान उनका भरण-पोषण करने लगे। इस महल्ले के छोटे-छोटे लड़की-लड़के उन्हें बहुत प्यारे हो गये। विद्यासागर नित्य उन्हें खाने को देते थे। अन्त को उनके मा-बापों की भी तरह-तरह से सहायता करने लगे। बहुतों की प्रवृत्ति और इच्छा के माफ़िक़ विद्यासागर ने रोज़गार करने के लिए पूँजी देकर सदा के लिए उनके खाने-पीने का सुभीता कर दिया। इन्हीं सब बातों से उस महल्ले के लोग उनको अपना सगा सा समझने लगे।

वर्दवान बहुत दिनों से स्वास्थ्यकारक स्थान समझा जाता था, किन्तु सन् १८६६ ई० में जैसोर ज़िले के महम्मदपुर गाँव में जो संक्रामक ज्वर दिखाई दिया वह परवर्त्ती ४४ वर्षों तक नदिया, वारासात, चौबीस परगना आदि ज़िलों के असंख्य गाँवों में भयानक दृश्य उपस्थित करके—हज़ारों लोगों की जानें लेकर हज़ारों घर उजाड़ करके—अन्त को गङ्गापार होकर हुगली और वर्दवान ज़िलों की ओर आगे बढ़ा। इस भयानक मलेरिया ज्वर के कारण सारा बंगाल श्री-हीन हो गया है। इस ज्वर से जब वर्दवान का सुख और स्वास्थ्य सदा के लिए नष्ट होने लगा तब दीनवत्सल विद्यासागर ग़रीबों की सहायता के लिए वर्दवान पहुँचे। अबकी बार वे प्यारी बाबू के घर नहीं ठहरे। उनके घर के पास ही, एक बाग़ के

भीतर बने हुए, घर को किराये पर ले लिया और उसी में रहने लगे। रोग से क्लेश पा रहे लोगों के कष्ट को दूर करने के लिए उन्होंने पहले राजपुरुषों से सहायता माँगी। उनके मुँह से वर्दवान के ग़रीबों की दुर्दशा का हाल सुनकर गवर्नमेंट ने मलेरिया रोकने की यह व्यवस्था की कि पहले ही से ध्यान देकर काम न करनेवाले वर्दवान के सिविलसर्जन की जगह दूसरा डाकृर रक्खा गया और उसकी देखरेख में, शहर और मुफ़स्सिल में और भी अनेक सुयोग्य डाकृर रख दिये गये। महाराज वर्दवान की सहायता से भी अनेक रोगियों की चिकित्सा हुई। किन्तु विद्यासागर ने इन सब व्यवस्थाओं को बहुत ही ग़रीब लोगों के लिए सुविधाजनक नहीं समझा। इसी से उन्होंने अपना रुपया ख़र्च करके वर्दवान के विपन्न ग़रीबों के लिए अच्छी चिकित्सा की व्यवस्था की थी। परोपकारी डाकृर गंगानारायण मित्र ने विद्यासागर के धर्मार्थ अस्पताल में चिकित्सा करके विद्यासागर की सहायता की थी। उनकी सहायता न होती तो शायद विद्यासागर इस काम को अच्छी तरह कर भी न सकते।

इस बहुत दिनों तक रहनेवाले साङ्घातिक संक्रामक ज्वर के कारण जिस समय वर्दवान में हज़ारों आदमी तड़प रहे और मौत के मुँह में जा रहे थे उस समय विद्यासागरजी द्वार-द्वार पर जाति और वर्ण का कुछ ख़याल न करके, सबकी चिकित्सा और पथ्य की व्यवस्था करते फिरते थे। बहुतों ने देखा है कि दुर्बल और रोगी मुसलमानों के बच्चों ने उनकी गोद में स्थान पाया है। कोई-कोई बालक आपसे उनकी गोद में चला जाता था, लेकिन इससे उनका जनेऊ और जनेऊदार शरीर अशुद्ध नहीं हुआ! ब्राह्मण पण्डित विद्यासागर का यह चित्र कैसा सुन्दर और कैसा उदार है! इस

प्रकार के रोगी जब बीमारी से अच्छे हो जाते थे तब उनको रोज़-गार के बिना कष्ट देखकर यथाशक्ति उनकी जीविका का प्रबन्ध भी विद्यासागर कर देते थे। यह सब हाल मुझको डाक्टर गङ्गानारायण मित्र की ज़बानी मालूम हुआ है।

खर्म्माटाड़। बहुत दिन तक काम करके जब विद्यासागर का मन और शरीर बहुत शिथिल हो पड़ता था तब वे विश्राम करना चाहते थे। ऐसी अवस्था में विश्राम प्राप्त करने के लिए विद्यासागर ने ईस्ट इण्डिया रेलवे के जामताड़ा और मधुपुर स्टेशनों के मध्यवर्ती खर्म्माटाड़ स्टेशन के पास पुराने और टूटे-फूटे मकान-समेत कुछ ज़मीन ख़रीदकर वहाँ अपने मन का एक मकान बनवाया। ज़रूरत होने से कभी-कभी विश्राम करने वहाँ जाते अवश्य थे; लेकिन विश्राम करना उनके भाग्य में बदा न था। एकान्तवास में भी उनको विश्राम नहीं मिलता था। विद्यासागर के स्वभाव की ख़ूबी से खर्म्माटाड़ का निर्जन निवासस्थान शीघ्र ही एक छोटी सी बस्ती बन गया। इस तरफ़ के निवासी ग़रीब साँवताल लोग थे। ये बड़े सीधे मिज़ाज के होते हैं। स्नेह-ममता आदर-यत्न और मीठी बातें करनेवाले के तो ये ग़ुलाम बन जाते हैं। साँवताल जाति के अधिकांश नर-नारी सच्चरित्र होते हैं। विद्यासागर के व्यवहार और मीठी बातों से वहाँ के सब साँवताल-अधिवासी उन्हें अपना समझने लगे।

खर्म्माटाड़ में रहते समय विद्यासागर सदा लिखा-पढ़ा करते थे। लिखते-पढ़ते समय यदि वे देखते थे कि कोई आकर खड़ा हुआ है तो फ़ौरन् लिखना-पढ़ना छोड़कर उसके पास जाते और पूछते थे कि क्या चाहिए? रोग होता था तो दवा देते थे और अगर अन्न-वस्त्र न होता था तो अन्न-वस्त्र देते थे। इसके सिवा थाली, लोटा

आदि जो कुछ माँगनेवाला माँगता था वह उसे मिल जाता था। हम लोग १० हाथ की धोती पहनते हैं, लेकिन साँवताल लोग १२ हाथ की धोती पहनते हैं। कोई-कोई १३-१४ हाथ तक की धोती पहनते हैं।

साँवतालों पर विद्यासागर का इतना अधिक स्नेह था कि वर्द्वान से उनके लिए तरह-तरह की मिठाइयाँ ले जाते थे। विद्यासागर के स्नेह से खर्म्माटाड़ के साँवताल वर्द्वान के मोहनभोग और रसगुल्लों का स्वाद जानने लगे। एक बार उनके लिए विद्यासागर कुछ खजूर ले गये थे। खजूर उन लोगों को ऐसी रुची कि उन्होंने और माँगी। इसी से एक बार विद्यासागर कई बोरे खजूर ले गये और साँवतालों को बाँट दी। ये लोग विद्यासागर को ऐसा अपना समझते थे कि उनके हाथ से चीज़ छीनकर खा जाने में भी नहीं हिचकते थे। जब विद्यासागर कोई चीज़ बाँटने खड़े होते तब साँवताल-बालिकाएँ और युवती स्त्रियाँ, अपनी चञ्चलता के कारण, कभी-कभी उनके ऊपर आ पड़ती थीं। वे सुख की ख़बर देने, विपत्ति में आश्रय और सलाह लेने, आपस का झगड़ा चुकाने, रोग में दवा और ज़रूरत पड़ने पर अन्न-वस्त्र लेने आते थे। दुर्गापूजा के समय वे इन सबको नये कपड़े देते थे। वे लोग आकर जल्दी करके गड़बड़ी करते थे, इस कारण विद्यासागर हर एक के नाम की अलग-अलग गठरी बाँध रखते थे। उनके आते ही हर एक को उसके नाम की गठरी उठा देते थे।

उस तरफ़ मछली का रोज़गार करनेवाला कोई न था। क्योंकि उधर मछली ख़रीदने और खानेवाले लोग बहुत कम हैं। विद्यासागर ने कह दिया कि मछली जो आयेंगी उन्हें मैं ख़रीद लूँगा। जब विद्यासागर खर्म्माटाड़ में रहते थे तब मछली पकड़ना वहाँ के

साँवतालों का एक रोज़गार हो जाता था। जितनी मछलियाँ आती थीं उन सबको वे ख़रीद लेते थे। अपनी ज़रूरत भर की मछलियाँ अपने पास रखकर बाक़ी सब स्टेशन के बाबुओं को और पोस्टमास्टर को भेज देते थे। उनके वहाँ रहने के समय वहाँ के बाबुओं को खाने-पीने का बड़ा सुभीता रहता था। कभी-कभी दावतें भी हुआ करती थीं।

विद्यासागर जहाँ रहते थे वहाँ औषध का बाक्स सदा उनके साथ रहता था। इस कारण उनके पास रहने को साँवताल लोग बड़े भाग्य की बात समझते थे—उन्हें रोग का भय नहीं रहता था; क्योंकि दवा ढूँढ़ने नहीं जाना था। विद्यासागर के साँवताल साथियों को होमियोपेथिक चिकित्सा ही फ़ायदा करती थी। उनको दवा देने के लिए विद्यासागर सदा बहुत सी दवा और शीशियाँ पास रखते थे।

खर्म्माटाड़ के साँवतालों और अन्यान्य ग़रीबों की शिक्षा के लिए उन्होंने अपने ख़र्च से एक स्कालरशिप-स्कूल भी खोल दिया था।

जब से यहाँ निर्जनवास का आरम्भ हुआ तब से विद्यासागर ने अभिराम मण्डल नामक एक युवक को, घर और बाग़ के रखवालों का, जमादार बना रक्खा था। अपने आचरण के कारण वह आदमी विद्यासागर का प्रियपात्र बन गया। वह इस समय भी जीवित है। उस पर विद्यासागर को इतना विश्वास था कि खर्म्माटाड़ के ग़रीबों की मासिक-वृत्ति के रुपये और कपड़े उसी के पास रक्खे रहते थे। इस तरह की मासिक-वृत्ति भेजते समय विद्यासागर जो पत्र लिखा करते थे उनमें से उदाहरणस्वरूप एक पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है।

श्रीहरिः शरणम् ।

शुभाशिषः सन्तु । इस पत्र में ३०) रु० के नोट भेज रहा हूँ । सबको देना । मैं ख़ुद आता, लेकिन बीमारी और काम-काज के झञ्झट से आना नहीं हो सकता ।

शुभाकांक्षिणः
श्रीईश्वरचन्द्रशर्म्मणः ।

इस नौकर के पुत्र रामटहल के व्याह में जो कुछ ख़र्च हुआ वह विद्यासागर ने दिया था और अपने ही ख़र्च से उस बालक को लिखाया-पढ़ाया भी था ।

उत्तरपाड़ा जाते समय गाड़ी से गिर पड़ने के कारण जो स्वास्थ्य-भंग हुआ वह कभी निर्मूल नहीं हुआ । वे सदा थोड़ा-बहुत बीमार बने ही रहते थे । क्रमशः जवानी ढलने पर पेट की पीड़ा ने ही ज़ोर पकड़ा । डाक्टर की सलाह से वे ज़रा-ज़रा लडेनम् सेवन करने लगे थे । खर्म्माटाड़ में रहते समय एक बार भ्रम से अधिक लडेनम् सेवन करने के कारण गोलमाल हो गया था । लेकिन थोड़ी ही देर में अपने भ्रम को समझकर उन्होंने क़य करके उसे निकाल डाला । क़य करने से जान तो बच गई, लेकिन क्लेश बहुत मिला । इस समय इस घटना के सम्बन्ध में देवघर में राजनारायण बाबू को जो पत्र लिखा था उसका कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"बुद्धिदोष से जो शारीरिक उपद्रव उठ खड़ा हुआ था उससे छुटकारा तो मिल गया है, किन्तु अभी तक तबीयत ठीक नहीं है । पेट और सिर में अभी तक विकार मौजूद है ।"

खर्म्माटाड़ में रहने के समय वे नित्य सवेरे टहलने जाया करते थे । इस समय वे बहुत लोगों की ख़बर ले आया करते थे । पहले ही लिखा जा चुका है कि विद्यासागर की चाल तेज़ थी । उनके साथ

उस समय जो लोग रहते थे वे उनका साथ न दे सकते थे। विद्यासागर सदा सीधी राह जाते थे। जहाँ राह घूमकर बनी होती थी वहाँ, ऊँची-नीची कँकरीली ज़मीन होने पर भी, सीधे ही जाते थे।

साँवताल लोगों को वे इतना अधिक चाहते थे कि वहाँ उनके आने की ख़बर पहुँचते ही आनन्द-कोलाहल मच जाता था। हर एक मर्तबा विद्यासागर के पहुँचने पर वे लोग, पहले मिलने के लिए आने के समय, कुछ न कुछ उपहार अवश्य लेते आते थे। तरकारी और साग-सबज़ी ही अधिक होती थी। एक बार एक आदमी के और कुछ न था, वह एक मुर्ग़ी का बच्चा लेकर आया। विद्यासागर ने उसे जनेऊ दिखाकर कहा—"मैं इसे नहीं ले सकता।" वह व्यक्ति दुखित होकर रोने लगा। विद्यासागर ने और कोई उपाय न देखकर उस मुर्ग़ी के बच्चे को हाथ में लेकर फिर वापस कर दिया। ऐसा उदार व्यवहार करने के कारण ही वे सबके प्यारे थे।

यह उपवन-शोभित एकान्त-वासभवन अत्यन्त रमणीय है। इसके सँवारने-सिंगारने और सजाने में अभिराम मण्डल के साथ विद्यासागर ने ख़ुद बहुत परिश्रम किया था। इस चमन में अनेक वृक्ष, लता और कुसुम-कुञ्ज विद्यासागर के हाथ के लगाये हुए हैं। मैं जब यह सब वृत्तान्त जानने के लिए खर्माटाड़ गया था तब उस चमन के प्रीतिपूर्ण सन्नाटे ने मेरे हृदय में एक प्रकार के विषादपूर्ण गाम्भीर्य को पैदा कर दिया था। मुझे जान पड़ा कि विद्यासागरजी संसार के सैकड़ों शोकों से छुटकारा पाकर सूक्ष्म शरीर से परम आनन्द के साथ इस निर्जन वृक्षवाटिका में ध्यान-मग्न बैठे हुए स्वर्गीय सुख का अनुभव कर रहे हैं। जान पड़ा, जैसे उस बाग़ का हर एक वृक्ष और लता तक उनके साकार-सहवास के सुख से वञ्चित हो जाने के कारण दुःख के मारे सिर लटकाये खड़ी हुई है।

होमिओपेथी। कलकत्ते के डाक्टर राजेन्द्रनाथ दत्त ने बंगालियों में सबसे पहले होमियोपेथी-चिकित्सा चलाई थी। विद्यासागर को सबसे पहले इन्हीं से होमिओपेथी की उपयोगिता और उपकारिता मालूम हुई। जब विद्यासागर ने समझा कि बूँद-बूँद दवा पीने से भी फ़ायदा होता है तब वे इस चिकित्सा के पक्षपाती हो गये। औषध की उत्तमता, क़ीमत की कमी और सेवन करने में कुछ खटखट न देखकर विद्यासागर इस चिकित्सा के प्रचुर प्रचार में सहायता करने लगे।

डाक्टर श्रीयुत महेन्द्रलाल सरकार मुझसे कहते थे कि एक दिन बहुत वाद-विवाद और तर्क-वितर्क के बाद विद्यासागर ने उनसे यह स्वीकार करा लिया कि होमिओपेथी-चिकित्सा से कुछ लाभ होता है या नहीं, इसकी जाँच करूँगा। अनुसन्धान-प्रिय डाक्टर सरकार ने विद्यासागर से जांच करने का वादा कर लिया और शीघ्र ही इस चिकित्सा की विज्ञान-सङ्गत मूलभित्ति की खोज करने लगे। थोड़े ही दिनों में उनको यह विश्वास हो गया कि इस पद्धति से चिकित्सा की जाय तो मनुष्य थोड़े ख़र्च में अनायास अच्छा हो सकता है। यह विश्वास होते ही वे इस मार्ग में अग्रसर हुए। इस परिवर्त्तन के लिए डाक्टर बाबू विद्यासागर के विशेष कृतज्ञ हुए। डाक्टर बिहारीलाल भादुड़ी, डाक्टर अन्नदाचरण खास्तगीर आदि अनेक डाक्टर विद्यासागर के अनुरोध और सलाह से धीरे-धीरे होमिओपेथी-चिकित्सा करने लगे। होमिओपेथी के प्रचार के वे इतने पक्षपाती थे कि उन्होंने गाँवों में अनेक जगह होमिओपेथी-चिकित्सालय स्थापन करने में भी सहायता की थी। भास्ताड़ा-निवासी ज़मींदार बाबू यज्ञेश्वर सिंह लिखते हैं "ख़ैराती दवा बाँटने के लिए होमिओपेथी अस्पताल खोलने की इच्छा प्रकट करने पर उन्होंने यहाँ

आकर उसकी व्यवस्था कर दी थी। होमिओपेथिक चिकित्सा का सुप्रचार होने पर भी अभी तक लोगों का इस पर पूर्ण विश्वास नहीं जमा। किन्तु विद्यासागर को इस चिकित्सा पर सोलहों आने विश्वास था। उन्होंने होमिओपेथी-चिकित्सा के सम्बन्ध में बहुत से ग्रन्थ पढ़े थे। वे चाहे जहां रहते थे, उनके पास होमिओपेथिक दवाओं का बाक्स और पुस्तकें रहती थीं। चिकित्सा करते-करते उस काम में उन्होंने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। पहले कहा जा चुका है कि पढ़ने की अवस्था से ही बीमार सहपाठियों और अन्यान्य लोगों की रोगशय्या के पास बैठकर उन्होंने अनेक रातें और दिन बिताये होंगे। होमिओपेथी के प्रचार के पहले बीमार ग़रीबों की चिकित्सा के लिए वे डाक्टर दुर्गाचरण बन्द्योपाध्याय, डाक्टर सूर्य-कुमार सर्वाधिकारी, बिहारीलाल भादुड़ी, नीलमाधव मुखोपाध्याय आदि बहुत से डाक्टरों की सहायता लिया करते थे। डाक्टर सर्वाधिकारीजी कहते थे कि विद्यासागर के अनुरोध से मैं अनेकों बार, दिन और रात को भी, दीन-दुखी लोगों की दवा करने गया हूँ। इसका सिलसिलेवार विवरण लिखने से एक बड़ी पोथी बन सकती है।

होमिओपेथी-चिकित्सा पर विश्वास हो जाने पर एक ओर उनके आग्रह और उद्योग से अनेक योग्य डाक्टरों ने इसी प्रणाली के अनुसार चिकित्सा करना शुरू किया और दूसरी ओर ख़ुद उन्होंने बहुत दिनों तक अनुसन्धान और अनुशीलन करके एक प्रवीण डाक्टर की ऐसी जानकारी हासिल कर ली। धीरे-धीरे ऐसा हो गया कि अन्य चिकित्सा की सहायता के बिना ही वे कठिन रोगियों की चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने लगे। होमिओपेथी ढङ्ग से चिकित्सा शुरू करने पर उनको यह सुभीता हो गया कि वे ख़ुद

जाकर रोगी को देख आते थे, अन्य डाक्टर को कष्ट देने की ज़रूरत न पड़ती थी। वक्त बेवक्त उनको अनेकों बीमारों के घरवाले बुला ले जाते थे। ऐसी अनेक घटनाएँ मैंने अपनी आँखों देखी हैं। वे किसी को बीमार देखकर ऐसा कष्ट पाते थे कि उसे दूर करने के लिए कोई कसर उठा न रखते थे। हृदय के दर्द, दमा और खाँसी की दवा बाँटने के लिए बनी रक्खी रहती थी। जो कोई जाता था उसे मुफ़ दी जाती थी।

धनोपार्जन के लिए नहीं, केवल परोपकार के लिए उन्होंने चिकित्साशास्त्र का अनुशीलन किया और सदा लोकोपकार के लिए निष्ठा के साथ वे इस कार्य को करते रहे। खर्म्माटाड़ से श्रीयुत राजनारायण वसु को विद्यासागर ने जो पत्र लिखा था उसमें इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। उस पत्र का कुछ अंश यह है—"मैंने इरादा किया था कि कल या परसों आपको देखने जाऊँगा। किन्तु ऐसे दो रोगियों की चिकित्सा कर रहा हूँ कि उनको छोड़कर जाना किसी तरह उचित नहीं जान पड़ता। अतएव दो-चार दिन के लिए देवघर की यात्रा मैंने रोक दी है।" साँवताल लोगों की वे जिस तरह जी लगाकर मुफ़ चिकित्सा करते थे उस तरह अनेक डाक्टर लोग फ़ीस लेकर भी रोगी की चिकित्सा नहीं करते। विद्यासागर ने मधुसूदन ऐसे प्रतिष्ठित पुरुष का विपत्ति से उद्धार, भोजन न मिलने के कारण मृत्यु के मुख में पड़े हुए लोगों की प्राण-रक्षा, मलेरिया से पीड़ित मुसलमानों के घरों में जाकर दवा और पथ्य का देना और साँवतालों के स्नेह आदि सब कार्य अपनी साधुप्रवृत्ति की उत्तेजना से किये थे। विद्यासागर के स्वर्ग-वास से एक ओर अनेक विपन्न प्रतिष्ठित पुरुष जैसे बन्धुहीन हो गये वैसे ही दूसरी ओर अनेक ग़रीब दुखी लोग निराश्रय होकर चारों ओर अन्धकार देखने लगे।

हिन्दू पारिवारिक वृत्ति-भाण्डार। जो लोग पराये दुःख का अनुभव करते हैं वे ही संसार में दुखी हैं। जो लोग बड़े कष्ट से दस-पाँच रुपये पैदा करके कष्ट से जीवन धारण करते हैं, सवेरे-शाम अपने भाग्य की निन्दा करते हुए, तङ्गी के कारण आँसू बहाते हुए, दिन बिताते हैं वे ही दुखी हैं। बङ्गाल के मध्यवर्ती ग़रीब भद्र पुरुष ही इस श्रेणी के दुखी पुरुष हैं। प्राय: एक साधारण कमाई करने-वाले आदमी के ऊपर परिवार के अनेक आदमियों के भरण-पोषण का भार रहता है। दैव-योग से अगर उस आदमी का देहान्त हो जाता है तो बहुत से आदमी जीविका-हीन हो जाते हैं। विद्या-सागरजी ने अन्य किसी-किसी सदाशय पुरुष की सहायता से इस तरह के लोगों की सहायता के लिए एक वृत्ति-भाण्डार स्थापित किया था। इस अनुष्ठान के पृष्ठ-पोषक सर महाराज यतीन्द्रमोहन, सर रमेशचन्द्र और उद्योगी केशवचन्द्र सेन के बड़े भाई बाबू नवीनचन्द्र सेन, राजेन्द्रनाथ मित्र रायबहादुर आदि अनेक सज्जन विद्यासागर के सहायक बन गयें थे। आज इस वृत्ति-भाण्डार की सहायता से असंख्य परिवार असमय में, कोई उपाय न रहने पर, मासिक वृत्ति पाते और अपना गुज़र करते हैं। इस वृत्ति-भाण्डार की स्थापना के बाद कई साल तक इसका काम अच्छी तरह चलता रहा। इसी समय आफ़िस के एक कर्म्मचारी के लिए विद्यासागर के साथ नवीन-चन्द्र की नहीं पटी। इस घटना से ईश्वरचन्द्र को ऐसी विरक्ति और अप्रसन्नता हुई कि फिर वे किसी तरह मिलकर काम करने के लिए राज़ी नहीं हुए। अन्त को उन्होंने सब सम्बन्ध त्याग करने का पक्का इरादा करके उसके सेक्रेटरी नवीनचन्द्र सेन को अपनी इच्छा जताई। इस समाचार से सब लोग बहुत ही दुःखित हुए। सबने मिलकर विद्यासागर का विचार बदलने के लिए चेष्टा की किन्तु कुछ

भी फल नहीं हुआ। उनके सम्बन्ध छोड़ देने पर सर महाराज यतीन्द्रमोहन और सर रमेशचन्द्र ने फ़ण्ड के ट्रस्टी का पद छोड़ दिया। और सबके सिर पर वज्रपात सा हो गया। किन्तु विधाता की कृपा से धीरे-धीरे सब आशङ्का दूर हो गई। वह वृत्ति-भाण्डार अभी तक चल रहा है और उससे असंख्य दुखी और विपत्ति-ग्रस्त पुरुषों का निर्वाह होता है। विद्यासागर ने व्यक्ति-गत झगड़े से खीझकर अपने स्थापित वृत्ति-भाण्डार का सम्बन्ध त्यागकर अच्छा नहीं किया। उनके ऐसे आदमी का अपने बुद्धिविवेचन के ऊपर निर्भर करके काम करना स्वाभाविक ही था। विद्यासागरजी किसी का ज़रा भी दवाव न सह सकते थे। हमारे देश के लोग यह बात अभी तक नहीं सीखे कि विद्यासागर ऐसे प्रतिभाशाली आदमी की दो-एक बातें मानकर उसकी सहायता से साधारण अनुष्ठानों की उन्नति और श्रीवृद्धि होने देना चाहिए। उधर वे भी दस आदमियों का हठ मानकर उनके साथ मिलकर काम न कर सकते थे। दस आदमियों से मिलकर काम करने पर उनको विश्वास न था, इससे प्रायः वे अकेले ही काम करते थे और जिस काम में हाथ डालते उसी में प्रायः उन्हें सफलता प्राप्त होती थी।

उनके रचे हुए ग्रन्थ, उनका स्थापित संस्कृत-प्रेस और संस्कृत-प्रेस डिपोज़ीटरी जब उनकी जीविका का प्रधान सहारा था तब मधुसूदन के ऋण की ज़िम्मेदारी से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने प्रेस का हिस्सा बेच डाला था। डिपोज़ीटरी का काम वे ख़ुद न देखते थे। अनेक विशृङ्खलाओं के कारण एक समय बहुत ही खीझकर उन्होंने डिपोज़ीटरी का स्वत्व बेच डालने का इरादा किया था। एक दिन इस प्रकार विद्यासागर के खेद प्रकट करने पर उनके परम आत्मीय कृष्णनगर-निवासी व्रजनाथ मुखोपाध्याय ने कहा—"आप अगर

असन्तुष्ट न होकर उसका स्वत्व दें तो मैं उसे लेकर आपके मन के माफ़िक़ चला सकता हूँ।" जिस सम्पत्ति को बेचकर वे उसी दम कई हज़ार रुपये पा सकते थे, जिस सम्पत्ति को ख़रीदने के लिए दूसरे दिन अनेक लोगों ने अनेक चेष्टाएं कीं वह सम्पत्ति उन्होंने बात ही बात में व्रज बाबू को मुफ़ दे डाली। कहा—"अच्छा आप ही को देता हूँ।" यह बात होने के दूसरे दिन सबेरे अनेक लोगों ने हज़ारों रुपये देकर उसे ख़रीदना चाहा। लेकिन विद्यासागर ने अपनी बात नहां बदली। कहा—उसके २००००) रुपये भी कोई दे तो मैं नहीं ले सकता। मैं तो दे चुका।

हमारे देश में उनकी अपेक्षा धनी लोगों की संख्या कम नहीं है। किन्तु डाकृर महेन्द्रलाल सरकार ने जिस समय विज्ञान की चर्चा के लिए भारत-सभा स्थापित की थी उस समय अनेक धनी लोगों की अपेक्षा उन्हीं ने अधिक चन्दा दिया था। उन्होंने ज्ञान और शिक्षा के प्रचार के लिए इस शुभ कार्य में १०००) रु० की सहायता की थी।

एक बार वर्द्धवान से वीरसिंह जाते समय एक जगह पालकी रखी जाने पर एक बालक विद्यासागर के पास आकर खड़ा हो गया। बालकों को प्यार करनेवाले विद्यासागर की दृष्टि पड़ते ही उस बालक ने कहा—"बाबू एक पैसा दीजिएगा?" विद्यासागर ने कहा—"एक पैसा क्या करेगा?" उत्तर मिला—"खाने को ख़रीदकर खाऊँगा।" विद्यासागर ने कहा—"और अगर दो पैसे दूँ?" उत्तर मिला—"तो एक पैसा आज और एक पैसा कल खाऊँगा।" विद्यासागर ने कहा—"और अगर चार पैसे दूँ?" उत्तर मिला—"तो बाज़ार से आम ख़रीद कर बेचूँगा। जो मुनाफ़ा होगा वह खाऊँगा और पूँजी से रोज़गार करूँगा।" विद्यासागर ने बालक की बातों से ख़ुश

होकर उसे अधिक पैसे दिये और कह गये "इस रक़म को अगर तू बढ़ा सकेगा तो रुपये देकर मैं तुझको दूकान करा दूँगा।" विद्यासागर ने दोबारा यह देखकर कि उस बालक ने पैसों से रुपया कर लिया है, उसे दूकान करा दी और उसके व्याह का सारा ख़र्च उठाया।

मेट्रोपोलीटन कालेज में बिना फ़ीस दिये पढ़नेवाले बालकों की संख्या बहुत अधिक थी। जिसने किसी प्रकार के सन्तोष-जनक प्रमाण के साथ अपनी ग़रीबी जताकर उनसे प्रार्थना की वही कालेज में मुफ़्त शिक्षा पाने लगा। केवल मुफ़्त शिक्षा का प्रबन्ध करके ही उन्हें .फ़ुर्सत नहीं मिली, किसी-किसी बालक को वस्त्र और भोजन भी देना पड़ता था। इस तरह ग़रीब विद्यार्थियों की सहायता करने में कभी-कभी उन्हें धोखा भी दिया जाता था। उनकी माता के स्वर्गवास के बाद केवल मातृहीन बतलाने से अनेक बालकों की वे सहायता करने लगे थे। दो-तीन बालकों ने "हमारे माता नहीं है" कहकर सहायता प्राप्त कर ली। किन्तु अब विद्यासागर को कुछ सन्देह हुआ। पता लगाने से मालूम हुआ कि पास ही जिस मोदी की दूकान थी उसने, जब देखा कि मातृहीन बतलाकर एक बालक सहायता पा रहा है तब, और बालकों को भी ऐसा कहने के लिए सिखला दिया। उसके यहाँ से विद्यासागर सीधा दिला दिया करते थे।

कलकत्ते के एक प्रतिष्ठित पुरुष के अनुरोध से विद्यासागर ने एक अनाथ बालक को स्कूल में मुफ़्त पढ़ने के लिए अनुमति दे दी। कुछ दिनों बाद स्कूल में जाकर टिफ़िन के समय देखा कि वह सुन्दर बालक क़ीमती कपड़े पहने हुए इधर-उधर घूम रहा है। पहले विश्वास नहीं हुआ; पीछे अनुसन्धान करने से मालूम हुआ कि यह वही बालक है। किन्तु उस समय भी विद्यासागर को कुछ बुरा नहीं

मालूम हुआ। क्योंकि वे उस बालक को बे-माँ-बाप का अनाथ ही समझते थे। उन्होंने यह समझा कि पहले जब अच्छी हालत थी तब के ये कपड़े हो सकते हैं। किन्तु जब उन्होंने उसे दूध पीते और मिठाई खाते देखा तब पता लगाकर जाना कि जिन धनी मित्र ने इस अनाथ बालक के लिए उनसे सिफ़ारिश की थी और जिनके अनुरोध पर विश्वास करके उन्होंने इस बालक की मुफ़ शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया था वही सुपरिचित प्रतिष्ठित पुरुष इस बालक के बहनोई हैं। विद्यासागर के मुँह से यह घटना और उन प्रतिष्ठित महाशय का नाम सुनकर मैंने भी देश के लोगों की नीचता का स्मरण करके लज्जा और क्षोभ से सिर नीचा कर लिया था। यह तो असम्भव नहीं है कि ग़रीब आदमी ग़रीबी की हालत में अपनी ज़रूरत के लिए किसी को धोखा दे; किन्तु किसी अमीर का अपने साले को मुफ़ शिक्षा दिलाने के लिए ऐसी दग़ाबाज़ी करना समझ में नहीं आता। ये महाशय मरते समय लाखों रुपये की सम्पत्ति छोड़ गये हैं जिन्होंने विद्यासागर से यह ठग-विद्या की थी।

विद्यासागर की दीनवत्सलता के साथ अनेक लोगों ने इसी तरह की दग़ाबाज़ियाँ की हैं। एक बार एक बालक ने स्कूल की किसी निम्नश्रेणी का पता देकर उत्तर-पाड़ा स्कूल से विद्यासागर को एक चिट्ठी लिखी। उस पत्र का भाव यह था "मैं बे-मा-बाप का ग़रीब लड़का हूँ। संसार में मेरे कोई नहीं है। दूसरे के घर मुट्ठी भर भात खाकर बड़े कष्ट से लिखना-पढ़ना सीखता हूँ। मेरे पास इतना पैसा नहीं है कि कलकत्ते आकर श्रीचरणों के दर्शन करूँ। अगर दया करके निम्नलिखित पुस्तकें भेज दीजिए तो मैं निश्चिन्त होकर एक साल तक लिख-पढ़ सकता हूँ।" पत्र की लिखावट पर विश्वास करके कुछ पुस्तकें औरों की ख़रीदकर और कुछ पुस्तकें अपनी रख-

कर, अपने पास से डाकख़र्च देकर, विद्यासागर ने उसी पते पर भेज दीं। हर साल वह बालक इसी तरह "मैं ऊँचे दर्जे में चढ़ गया हूँ" कहकर उस उस दर्जे की पुस्तकें विद्यासागर से मुफ़् मँगाने लगा। जिस साल उस बालक की स्कूल की पढ़ाई समाप्त होनेवाली थी उस साल उत्तरपाड़ा स्कूल के हेडमास्टर विद्यासागर से मुलाक़ात करने आये। प्रसङ्गवश विद्यासागर ने उनसे पूछा—"इस नाम का बालक इस साल तुम्हारे यहाँ प्रथम श्रेणी में पढ़ता है। वह लड़का पढ़ने-लिखने में कैसा है?" हेडमास्टर ने कहा—"कहाँ, इस नाम का लड़का ते मेरे यहाँ पहली या दूसरी श्रेणी में नहीं पढ़ता।" विद्यासागर ने दिल्लगी के तौर पर कहा—"तुम ते बड़े अच्छे हेडमास्टर हो, एक लड़का पाँचवें दर्जे से हर साल उन्नति करता हुआ इस समय पहली श्रेणी में पढ़ता है। और तुम कहते हो कि इस नाम का कोई लड़का ही स्कूल में नहीं! तुम क्या सब लड़कों को नहीं पहचानते? वह लड़का हर साल मुझसे कोर्स की पुस्तकें मँगाता है। मैंने उसको स्कूल के पते पर पुस्तकें भेजी हैं और उसने पाई हैं।" मास्टर साहब बहुत ही भले आदमी थे और विद्यासागर पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। उन्होंने अधिक कुछ न कहकर इतना ही कहा—"अच्छा, मैं पता लगाकर कल आपसे कहूँगा। हो सकता है कि लड़के के दो नाम हों।" दूसरे दिन हेडमास्टर ने पहले दर्जे से लेकर अन्त तक सब दर्जों में अनुसन्धान किया किन्तु उस नाम का कोई लड़का न मिला। यह मालूम हुआ कि उस नाम का एक बुक्सेलर स्कूल के पास ही पुस्तक, काग़ज़, क़लम आदि बेचता है। अधिक कहने-सुनने पर उसने स्वीकार किया कि इस तरह दग़ाबाज़ी करके हर साल विद्यासागर से पुस्तकें मँगाकर मैंने बेच ली हैं। विद्यासागर ने इस घटना के

उल्लेख के समय दुःख करके कहा था कि जिस देश के बालक ऐसे दग़ाबाज़ हैं उस देश की उन्नति सहज में नहीं हो सकती।

लोग माता-पिता के श्राद्ध के लिए, कन्या के विवाह के लिए, अपने किये क़र्ज़ को चुकाने के लिए, खाने पीने; पहनने के लिए, बराबर उनसे सहायता पाया करते थे। ऐसी सहायता पानेवाले व्यक्तियों को असीसते और धन्यवाद देते मैंने ख़ुद देखा है। एक प्रतिष्ठित पुरुष सङ्कट की अवस्था में पड़कर विद्यासागर के शरणागत हुए थे। उन्होंने उनके भारी परिवार का ख़र्च बहुत दिनों तक चलाया था।

विद्यासागरजी परोपकार के लिए अपना सर्वनाश कर डालने में आगा-पीछा न करते थे। एक बार एक भद्र पुरुष (नाटोर से पुलीस सब इन्स्पेक्टर) विद्यासागर के एक परिचित मित्र के साथ उनसे मिलने आये। परिचित व्यक्ति ने कहा—"कल तीसरे पहर आपसे मिलने हम लोग आये थे, मगर आपसे मुलाक़ात नहीं हुई। ये भद्र पुरुष बड़ी विपत्ति में पड़े हैं। एक मुक़द्दमे में निर्दोष होने पर भी इनको छः महीने की सज़ा हो गई है। इन्होंने हाईकोर्ट में अपील की है। इनकी ओर से ५००) रु० पर एक पेशी के लिए मनोमोहन घोष बैरिस्टर नियत किये गये हैं। घर से कल रुपये आनेवाले थे, किन्तु नहीं आये। आज मुक़द्दमे की सुनवाई का पहला दिन है। आप अनुग्रह करके घोष महाशय को एक पत्र लिख दीजिए कि वे आज का काम कर दें। इस बीच में रुपया आ जायगा और उनको दे दिया जायगा। एक हफ़्ते के भीतर रुपया अवश्य आ जायगा।" विद्यासागर ने सब हाल सुनकर घड़ी भर चुप रहकर कहा—यह काम मुझसे न होगा। एक आदमी का एक पैर जेलख़ाने के भीतर और एक पैर बाहर है। रुपया बाक़ी रखकर उसका काम करने के लिए अनुरोध करना ठीक नहीं मालूम पड़ता। और वही क्या कहेंगे?

जिस समय घोष बाबू विलायत गये थे उसी समय की मेरी उनकी जान-पहचान है। उसके बाद उनसे बहुत मेलजोल नहीं रहा। ऐसी अवस्था में सहसा इस तरह का अनुरोध कर भेजना क्या ठीक होगा? तुम्हीं घोष महाशय से इनका हाल क्यों नहीं कहते? सुनता हूँ, वे तो परोपकारी और विपन्न पुरुषों के हितैषी हैं। इतने दिनों तक अगर किसी बात के लिए मैंने उनसे अनुरोध किया होता तो आज निःसङ्कोच होकर उनसे यह बात कह सकता।

विपन्न भद्र पुरुष यह सुनकर आँखों में आँसू भरकर कहने लगे—"सुना है, जिसको कहीं आश्रय नहीं उसे यहाँ आश्रय मिलता है। किन्तु मुझे यहाँ भी आश्रय नहीं मिला!" विद्यासागर के हृदय में दया का सागर उमड़ पड़ा। वे घोष महाशय को पत्र लिखने बैठे।

"My Dear Ghose" तक लिखकर क़लम रुक गई। एक मिनट, दो मिनट, इसी तरह कई मिनट बीत गये। तब विद्यासागर ने कहा—"नहीं, यह काम मुझसे न होगा।" विपन्न भद्र पुरुष ने रोते-रोते कहा—"क्या मैं फिर जेल ही जाऊँगा?" सङ्कट में पड़े हुए भद्र पुरुष के इन हताश वाक्यों ने फिर विद्यासागर को विचलित कर दिया। पाठक, सुनना चाहते हो कि उन्होंने दो आँसू गिराकर क्या किया? उस दिन विद्यासागर के पास एक कौड़ी भी न थी। उन्होंने बक्स से चेकबुक निकालकर ७००) रु० का एक चेक लिखकर उन्हें दिया और कहा—देखो, बैंक में भी मेरा रुपया नहीं जमा है। तुम घोष बाबू को जाकर यह चेक दो और कहो कि कल साढ़े ग्यारह बजे के पहले यह चेक बैंक में मत भेजना। मैं आज दिन भर में, जिस तरह होगा, बैंक में इतना रुपया जमा कर दूँगा।

पुण्यबल से हो या अपने पक्ष में प्रबल प्रमाण होने के कारण हो, सब-इन्सपेक्टर बाबू हाईकोर्ट से छूट गये और चौथे दिन सात

सौ रुपये लेकर विद्यासागर के दर्शन करने आये। उनके साथ विद्यासागर के वही परिचित मित्र थे। प्रणाम के बाद रुपये सामने रखकर हँसते हुए सब-इन्स्पेक्टर ने कहा—"मैं हाईकोर्ट से छूट गया हूँ। आज घर से ये रुपये आ गये हैं। इसी से यह सुसमाचार सुनाने आया हूँ।" विद्यासागरजी इस ख़बर से सन्तुष्ट होंगे, इस प्रत्याशा से मित्र-सहित दारोग़ा बाबू विद्यासागर के मुँह की ओर देखने लगे। विद्यासागर ने कहा—"तुमने भले आदमी के लड़के होकर मुझसे छल किया, और तुम (अपने मित्र) ने परिचित होकर मुझसे चातुरी की।" दोनों आदमी दंग रह गये। थोड़ी देर बाद विद्यासागर ने फिर कहा—"तुम पुलीस में काम करते हो न ?" दारोग़ा—"जी हां"। विद्यासागर—"नहीं, यह बात कभी सच नहीं हो सकती; तुम मुझसे झूठ बोले।" दारोग़ा—"नहीं महाशय, आप अनुसन्धान करके जान सकते हैं। मैं नाटोर का पुलीस सब-इन्स्पेक्टर हूँ।" विद्यासागर ने कुछ मुसकिराकर कहा—"मैं इसे झूठ के सिवा और क्या समझूँ ? इतने दिनों से अनेक लोग देने का वादा करके रुपया ले गये, लेकिन फिर उन्होंने सूरत नहीं दिखाई। ग़रीबों की और ग़ैरों की बात नहीं कहता; यह हाल अमीरों और अपने इष्ट-मित्रों का कह रहा हूँ। जिस देश के मामूली लोग लेकर देना नहीं जानते उस देश में तुम पुलीस के दारोग़ा होकर चौथे ही दिन रुपये देने के लिए ले आये हो, इस बात पर कैसे विश्वास करूँ!" दारोग़ा बाबू इस उच्च पुरस्कार को पाकर सिर झुकाये खड़े थे। तब उनसे और अपने मित्र से बैठने के लिए कहकर दिल्लगी के तौर पर विद्यासागर ने कहा—"हाईकोर्ट के जज लोग अक्सर मुक़द्दमा समझे बिना असामी को छोड़ देते हैं। यही बात शायद तुम्हारे मुक़द्दमे में भी हुई है। तुमको तो जेल ही जाना उचित था। सात दिन के वादे

पर रुपये लेकर जो चौथे दिन रुपये वापस दे वह पुलीस की नौकरी करके जेल न जायगा तो और कौन जायगा?" विद्यासागर बड़े रसिक पुरुष थे। रसिकता का सुयोग मिलने पर वे परिचित-अपरिचित का ख़याल न करते थे। इन भद्र पुरुष के छुटकारे के बारे में आनन्द प्रकट करके रुपये उठाते समय विद्यासागर ने कहा—"अजी, आठ आने कम क्यों दिये?" दारोग़ा बाबू अप्रतिभ होकर सोचने लगे कि शायद रुपयों में कोई अठन्नी चली गई है। किन्तु विद्यासागर के मित्र समझ गये कि विद्यासागर दिल्लगी कर रहे हैं। वे मुसका दिये। विद्यासागर ने कहा—"मैंने जिनसे रुपये लिये थे उनको रुपये दे चुका। अब ये रुपये बैङ्क भेजूँगा तो आठ आने गाड़ी के किराये के देने पड़ेंगे। वह पैसे कौन देगा?" थोड़ी देर तक इसी तरह दिल्लगी-मज़ाक़ करके विद्यासागर ने कहा—"जब आठ आने का नुक्सान किया है तब और कुछ नुक्सान करो।" दारोग़ा बाबू और परिचित मित्र को उस दिन विद्यासागर के यहाँ भोजन करना पड़ा।

बीमारी की हालत में विद्यासागर अक्सर फरासडाँगा में रहते थे। एक दिन वे गङ्गा के किनारे सड़क पर टहल रहे थे। इसी समय उन्होंने देखा कि एक औरत एक बालक को गोद में लिये उसी राह पर जा रही है। लड़के को देखते-देखते विद्यासागर की दृष्टि उसके पैर पर पड़ी। विद्यासागर ने देखा, उसका एक पैर कमज़ोर और सूखा सा है। पूछने पर मालूम हुआ कि पहले बालक के दोनों पैर एक से थे; किन्तु उम्र बढ़ने के साथ-साथ धीरे-धीरे एक पैर क्षीण और कमज़ोर होकर इस अवस्था को प्राप्त हो गया है। विद्यासागर ने पूछा—"इसके कौन है? और इसकी चिकित्सा हुई है कि नहीं?" उत्तर मिला—"इस लड़के के बाप हैं और उसने ग़रीब होकर भी इस बालक के पैर का दोष दूर करने के लिए

अपनी सब हैसियत बिगाड़कर दवा की है। अब कुछ नहीं रहा।" बालक के मा-बाप ने बालक की आरोग्यता के लिए अपना सर्वस्व ख़र्च कर डाला है, यह सुनकर विद्यासागर के क्षोभ की सीमा नहीं रही। तबीयत अच्छी न थी, लेकिन उसी अवस्था में उस बालक के घर जाकर सब हाल जानने के लिए वे तैयार हो गये। बालक के घर जाने पर उसके पिता से उनको मालूम हुआ कि उसने फरासडाँगा में रहकर वहाँ के डाक्टर और हुगली के सिविलसर्जन से चिकित्सा कराई है; लेकिन कुछ भी फल नहीं हुआ। उलटे उसका सर्वस्व इसी में लग गया और ऊपर से ऋण भी हो गया है।

तब दया की उत्तेजना से आत्मविस्मृत विद्यासागर ने देश-काल-पात्र का विचार न करके कह डाला "इस बालक को कलकत्ते ले जाकर अच्छे डाक्टर को दिखलाते तो अच्छा होता।" इस अयाचित विज्ञजनोचित उपदेश को सुनकर बालक का पिता मोटी चादर ओढ़े विद्यासागर को मन ही मन पागल ठहरा रहा था। इसी समय बालक के पैर की फिर परीक्षा करके विद्यासागर ने कहा—मुझे जान पड़ता है कि मेडिकल कालेज के अस्पताल में दिखलाने से कुछ-कुछ फ़ायदा अवश्य होगा।

तब बालक के पिता ने कहा—"कलकत्ते ले जाकर वहाँ के डाक्टरख़ाने में दिखलाना मेरी शक्ति के बाहर है।" फिर भी विद्यासागर ने परम आत्मीय की तरह कहा—"अच्छा, अगर कोई कलकत्ते में जाने-आने का, वहाँ रहने का, और डाक्टर तथा दवा का ख़र्च दे तो कलकत्ते जा सकते हो कि नहीं?" बालक का पिता विद्यासागर की बाहर की अवस्था देखकर और उनके प्रस्ताव का ख़याल कर यह सोचने लगा कि क्या उत्तर दूँ। इतने में उसके द्वार पर धीरे-धीरे आदमियों की भीड़ होने लगी। यह देखकर विद्यासागर

ख़बर देने के लिए उस ब्राह्मण को अपना पता बताकर शीघ्र वहाँ से चल दिये। उनके चले जाने के थोड़ी ही देर बाद भीड़ श्रौर भीड़ का कोलाहल श्रौर भी बढ़ने लगा। उस भीड़ का कोई भी श्रादमी विद्यासागर को नहीं पहचानता था। लेकिन विद्यासागर उस ब्राह्मण को जो अपना पता बता गये थे उसी से सब बात खुल गई। उस गाँव के एक प्रतिष्ठित भद्र पुरुप ने ब्राह्मण के मुँह से सब बातें सुनकर श्रौर विद्यासागर के बतलाये पते को जानकर कहा—तुममें से कोई पहचान नहीं सका, वे विद्यासागर महाशय थे। उनके सिवा ऐसी बात श्रौर कौन कह सकता है? तीसरे पहर जाकर उनसे मुलाक़ात करना। वे जिस तरह कहें वैसा करने से अवश्य यह बालक अच्छा हो जायगा।" उस समय चारों श्रोर 'विद्यासागर,' 'विद्यासागर' का शोर पड़ गया। थोड़े ही समय में विद्यासागर का नाम श्रौर उस लड़के का लँगड़ापन गाँव में चारों श्रोर प्रसिद्ध हो पड़ा।

बालक का पिता बालक की माता से सलाह करके शाम को विद्यासागर के बतलाये घर में उनसे मुलाक़ात करने गया। किन्तु वह बहुत देर तक कोई बात न कह सका। यह देखकर विद्यासागर ने समझ लिया कि वे जो कुछ छिपाना चाहते थे वह प्रकट हो गया। ये लोग समझ गये हैं कि यही विद्यासागर हैं। तब विद्यासागर ने पूछा—"तुमने क्या निश्चय किया?" बालक के पिता ने हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना की श्रौर कहा "श्राप श्राज हमारे द्वार पर गये, हमने इस सौभाग्य को न जानने के कारण आपके प्रति जो अनादर का भाव प्रकट किया उसके लिए पहले क्षमा कीजिए। उसके बाद फिर श्रौर बात होगी।" विद्यासागर ने स्वाभाविक सहृदयता के वशवर्त्ती होकर कहा—"तुमने तो मेरा कुछ अनादर नहीं किया,

इसी से तुम अपराधी भी नहीं हो। अब बताओ, तुमने क्या निश्चय किया ?" बालक के बाप ने कहा—"मेरे किये तो कुछ हो नहीं सकता। अगर आप कोई व्यवस्था कर देंगे तो उसे मैं शिरोधार्य समझूँगा।" तब प्रसन्न होकर विद्यासागर ने कहा—"तब तुम यहाँ का सब बन्दोवस्त करके कलकत्ते में जाने की और वहाँ कुछ दिन रहने की तैयारी करो। मैं तुम्हारे लिए सब व्यवस्था कर आऊँगा।" तब बालक के पिता ने फिर कहा—"जी, कलकत्ते में रहना होगा। तब तो बहुत रुपये ख़र्च होंगे, इतने रुपये—" दया के सागर विद्यासागर ने कहा—यह चिन्ता तुम क्यों करते हो ?

मैंने इस बारे में उनसे एक बार पूछा था "उस बालक का पैर बिल्कुल अच्छा हो गया या नहीं ?" उन्होंने कहा—"नहीं, बिल्कुल नहीं अच्छा हुआ। लाभ इतना ही हुआ कि वह जैसा था वैसा ही रहेगा और अधिक न सूखेगा।" मनुष्य के सुख और सुभीते पर उनकी ऐसी दृष्टि थी कि उनके द्वारा जो कुछ हो सकता था उसे करने के लिए वे प्राणपण से चेष्टा करते थे। मुझे मालूम है कि इस बालक की दवा, डाक्टरों की फ़ीस, मकान के किराये और भोजन आदि में चार-पाँच सौ रुपये ख़र्च हुए थे। कोई भी मनुष्य सुख से रहे, इसके लिए कुछ भी ऐसा न था जो वे न दे सकते हों।

कलकत्ते के और बङ्गाल के अनेक स्थानों के असंख्य दीन-दुखी लोगों को, बहुत दिन तक, उनसे ।) १) २) ३) ४) ५) महीने की सहायता मिलती रही है। समय-समय पर ऐसे विपन्न लोगों का दुःख दूर करने के लिए मैंने भी उनसे सिफ़ारिश की है, और उन्होंने मेरे अनुरोध से ऐसे लोगों की बहुत दिनों तक सहायता की है। जिन पर विद्यासागर की करुण-दृष्टि होती थी उनको केवल मासिक वृत्ति

ही नहीं मिलती थी, प्रत्युत विपत्ति पड़ने पर सामयिक सहायता और दुर्गा-पूजा के अवसर पर नये कपड़े आदि भी वे पाते थे।

अमीर या ग़रीब, उच्च या नीच, कोई भी भोजन के समय अथवा उस समय से कुछ पहले या पीछे उनके पास आता था तो पहले वे यही प्रश्न करते थे कि भोजन किया है या नहीं? एक बार एक दूर का रहनेवाला आदमी कलकत्ता आदि अनेक स्थानों में खोजने के बाद खर्म्माटाड़ गया। वहाँ उसे विद्यासागर के दर्शन मिले। दोपहर के समय वह व्यक्ति विद्यासागर के घर के पास खड़ा हुआ उसे देख रहा था। इसी समय विद्यासागर की दृष्टि उस पर पड़ी। विद्यासागर ने उसे बुलवाया। पूछने से मालूम हुआ कि वह उन्हीं से मुलाक़ात करने आया है। विद्यासागर ने सबसे पहले उससे पूछा—"तुमने अभी तक भोजन किया है या नहीं?" वह आदमी अनेक स्थानों में घूमकर, बहुत कष्ट सहकर, उनसे मुलाक़ात करने आया था। विद्यासागर के स्नेहपूर्ण सम्भाषण से उसकी आँखों में आँसू भर आये। विद्यासागर ने कहा—"रोते क्यों हो?" उसने कहा—"इतना क्लेश उठाकर इतने आदमियों के पास गया, पर किसी ने भी तो यह नहीं पूछा कि तुम भोजन कर चुके हो या नहीं।" विद्यासागर ने सबसे पहले उसके भोजन का प्रबन्ध कर दिया और उसके बाद, उसकी प्रार्थना पूर्ण की।

एक बार बरीसाल के एक आदमी बड़ी आशा करके कलकत्ते के दो बड़े आदमियों से मिलने आये। एक महाशय के यहाँ कई दिन तक दरबार करने पर भी मुलाक़ात नहीं हुई। तीसरे या चौथे दिन, दोपहर के समय, बारम्बार माँगने पर भी पीने के लिए पानी न मिलने से उस व्यक्ति को बड़ा क्रोध आया। वे क्रोध से काँपते और लाल-लाल आँखें किये विद्यासागर के घर पर पहुँचे। विद्यासागर भोजन

के बाद योंही नंगे, हाथ में नारियल का हुक़ा लिये, नीचे द्वार पर खड़े हुए थे। उस आदमी ने आकर विरक्ति के भाव से रूखे स्वर में पूछा—"विद्यासागर से मुलाक़ात होगी ?" विद्यासागर ने किसी दुर्घटना की कल्पना करके कहा—"हाँ होगी क्यों नहीं, आप बैठिए।" उस आदमी ने कहा—"होगी क्यों नहीं का काम नहीं है। एक आदमी को देख लिया, अब इनको भी देखकर चल दूँ। हो सके तो मुलाक़ात हो जाय।" विद्यासागर समझ गये कि यह आदमी तपा हुआ है। तमाखू पीने का अभ्यास है या नहीं, यह पूछकर उन्होंने उनको हुक़ा दिया। हुक़ा पीकर आगत व्यक्ति का मिज़ाज ज़रा नर्म होने पर विद्यासागर ने पूछा—"भोजन हुआ है या नहीं ?" उस आदमी ने कहा—"भोजन की कुछ ज़रूरत नहीं, तुम ज़रा विद्यासागर को बुला दो, उनसे भेंट करके चल दूँगा।" विद्यासागर ने कहा—"भोजन न किया हो तो अभी सब प्रबन्ध हो सकता है।" विद्यासागर के इशारे से इसी बीच ज़लपान का प्रबन्ध हो गया था। बहुत कुछ कह-सुनकर विद्यासागर ने उसे कुछ जल-पान कराया। जलपान के बाद तमाखू पीतेपीते उस आदमी ने फिर कहा—"एक बार बुला दो तो इनको भी देख लूँ। अब भूल-कर भी ऐसी भूल न करूँगा।" बहुत पूछने पर विद्यासागर को सब हाल मालूम हुआ। उनको यह भी मालूम हो गया कि वह अपरिचित आदमी उनसे क्यों ऐसी रूखी बातचीत कर रहा था। बार-बार मुलाक़ात के लिए ज़ोर देने पर विद्यासागर ने उसे अपना परिचय दिया। परिचय देते ही उस आदमी का भाव बिलकुल बदल गया। उसने बहुत लज्जित होकर विद्यासागर के मुँह की ओर ताक-कर कहा—"मैं—मैं—आप—को—आपको—"। विद्यासागर ने कहा—"आपका कोई दोष नहीं है। ऐसी अवस्था में मनुष्य के मन

का यही हाल हो जाता है। इसमें आपको लज्जित न होना चाहिए।" विद्यासागर के ऐसे बर्ताव से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर वह आदमी अपने घर गया।

कोई आकर दरवान के द्वारा अपमानित न हो, इस आशङ्का से विद्यासागरजी अपने द्वार पर दरवान नहीं रखते थे। उनसे मुलाक़ात करनेवाला बे-रोकटोक उनके पास चला जाता था। एक बार, केवल थोड़ी देर के लिए, एक नौकर को दरबान बनाकर उन्होंने द्वार पर बिठलाया था। उसका कारण था। एक बार एक प्रतिष्ठित पुरुष के यहाँ विद्यासागर निमन्त्रित होकर गये। दरवाज़े पर दरबान ने भीतर न जाने दिया। इस प्रकार वहाँ से अपमानित होकर विद्यासागर अपने घर लौट आये। निमन्त्रण करनेवालों को शिक्षा देने के लिए, घर आते ही, विद्यासागर ने एक नौकर को द्वार पर बिठला दिया और कहा कि किसी को मेरे हुक्म के बिना इस समय भीतर न आने देना। दम भर में वे लोग आये जिनके दरवाज़े पर से विद्यासागर लौट आये थे। भीतर घुसते समय नौकर ने रोका। मुलाक़ात नहीं हुई और उन्हें लौट जाना पड़ा।

बन्धु-बान्धव और परिचित लोगों में से किसी के कुछ बीमार होने पर विद्यासागर उसकी ख़बर लेते थे। सबसे पहले यही पूछते थे कि ख़र्च किस तरह चलता है? अगर तङ्गी होती तो किसी न किसी उपाय से उसकी सहायता करते थे। एक बार, बहुत बीमार हो जाने के कारण, मुझे बहुत दिन के लिए नौकरी से छुट्टी लेनी पड़ी। विद्यासागर ने लोगों के मुँह से यह ख़बर पाकर बड़े नाती के द्वारा मुझको बुला भेजा। श्रीयुत सुरेशचन्द्र समाजपति ने आकर मुझसे कहा—"दादाजी ने कहा है कि अगर आपमें उठने की शक्ति हो तो ज़रा चलिए। वे बीमार हैं, नहीं तो ख़ुद यहाँ आते।"

विद्यासागर के इस स्नेह-पूर्ण बुलावे से अपने को अनुगृहीत समझकर मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। मेरे आने की ख़बर पाकर उन्होंने मुझे अपने पलँग के पास बुला भेजा। मैंने झुककर चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने पास की कुरसी पर बैठने के लिए कहा। उनका स्वर इतना क्षीण मालूम पड़ा कि मुझे उससे बड़ा भय और क्लेश हुआ। इसके बाद मेरे साथ उनकी यह बातचीत हुई—

वि० सा०—तुम्हारी तबीयत क्या बहुत ख़राब है?

मैं—जी हां।

वि० सा०—छुट्टी ली है, तनख़्वाह मिलती है न?

मैं—आधी तनख़्वाह मिलती है।

वि० सा०—ख़र्च कैसे चलता है?

मैं—क़र्ज़ लेकर।

वि० सा०—हर महीने कितना क़र्ज़ लेना पड़ता है?

मैं—३०। ४० रुपये।

वि० सा०—इन रुपयों का सूद देना पड़ता है?

मैं—हां, देना पड़ता है।

वि० सा०—तुम आजकल के लड़के हो, कोई बात कहते डर मालूम होता है। शायद किसी बात से इन्सल्ट (insult = अपमान) न हो जाय।

मैंने बहुत अप्रतिभ होकर कहा—आपको जो पूछना हो, पूछिए। आप ऐसा समझेंगे तो सचमुच मुझे बड़ा क्लेश होगा। क्योंकि आपकी किसी बात को मैं उपेक्षा के योग्य नहीं समझता।

तब उन्होंने कहा—सूद देकर और जगह रुपया क़र्ज़ लेने की अपेक्षा मुझसे बिना सूद का रुपया ले लेते तो क्या हर्ज़ था? जब सुभीता होता तब दो-दो चार-चार रुपये करके दे देते।

मैंने कहा—आप ऐसे महाजन से इस तरह के वादे पर रुपया लेने से फिर उसे अदा करना असम्भव ही हो जाता।

उन्होंने कहा—अगर अदा न करते तो क्या होता?

मैंने कहा—आपके रुपये से मेरी अपेक्षा अधिक ग़रीब लोगों का प्रतिपालन होता है। उनका पेट काटना क्या मेरे लिए उचित होता?

उन्होंने उसी तरह सरस स्वर में कहा—मुझे नहीं मालूम था कि तुम इतने बड़े आदमी हो।

मैंने बहुत शरमाकर कहा—नहीं, मेरे कहने का यह मतलब नहीं था।

विद्यासागर ने कहा—ख़ैर, मान लो कि तुमने भी कुछ मेरा खा लिया, तो क्या यह उचित नहीं है?

मैंने कहा—बहुत तङ्गी होगी तो मैं फिर आपसे कहूँगा।

विद्यासागर ने कहा—वाह, तङ्गी और कैसी होती है?

मैंने कहा—जितने दिन इस तरह चलता है, चलने दीजिए।

विद्यासागर ने कहा—ऋण से हाथ-पैर जकड़ जायँगे तो फिर हिलने-डुलने लायक़ न रहोगे।

मैंने कहा—ऐसी अवस्था होगी तो ख़ुद आपसे कहूँगा।

इस पर हँसते-हँसते उन्होंने कहा—हाँ, ऐसी हालत में मुझसे रुपया लेना जिसमें देने का नाम न लेना पड़े। सो भैया, यह न होगा। अभी लो तो मैं दे सकता हूँ। जब हाथ-पैर न चलेंगे तब कुछ उधार देना और पानी में रुपये फेंक देना एक ही बात है। घर जाकर हिसाब करके मुझे बताओ कि हर महीने कितना रुपया कम पड़ता है। मैं हर महीने रुपये भेज दिया करूँगा।

मैं प्रणाम करके घर चला आया और उसके बाद बहुत दिनों तक अपनी सूरत नहीं दिखाई। इस सन्तोष के कारण मुझ पर

विद्यासागर और भी अधिक स्नेह करने लगे थे। जब जो कुछ मैं कहता था उसे मान लेते थे।

किन्तु बहुत दिनों तक लोगों के छल-कपट, ठगाही और झूठ बोलने आदि को देखकर मनुष्यों के आचरण पर उनको एक तरह की घृणा सी हो गई थी। एक ओर महात्मा विद्यासागर विश्वप्रेमी थे और दूसरी ओर उन्हें अपने सगों पर विश्वास नहीं रहा था। ऐसी अवस्था में मनुष्य को कैसा कष्ट होता है, मनुष्यों के निर्मम व्यवहार और निठुर आचरणों से हृदय की सरसता कहाँ तक नष्ट होती है, इस बात को वही समझ सकता है जिसने मनुष्य-जाति को प्रेम की दृष्टि से देखा हो, जिसका हृदय आकाश-सदृश अनन्त सहानुभूति के सरोवर में सराबोर हो चुका हो।

जीवन के अन्तिम भाग में विद्यासागरजी अत्यन्त आर्त भाव से अपने जीवन की जानकारी का उल्लेख करके कहते थे "इस देश का उद्धार होने में बहुत विलम्ब है। वर्त्तमान प्रकृति और प्रवृत्ति के मनुष्य यहां से एकदम उठा दिये जायँ और नये स्वभाव के आदमी यहाँ बसाये जायँ तब कहीं यहाँ की भलाई की आशा की जा सकती है।" उनके हृदय में ऐसे मनुष्य-द्रोह की जड़ जमाने के अपराधी हमी लोग हैं। हम अगर अपने आचरणों पर निरपेक्ष होकर विचार करें तो हमें अच्छी तरह यह मालूम हो जायगा कि हमारी ऐसी ही अवस्था हो रही है कि विद्यासागर सरीखे सहृदय पुरुष की भी हमारे बारे में ऐसी धारणा हो जाय।

विद्यासागर से अगर कोई यह कहता था कि अमुक आदमी आपकी निन्दा करता था तो वे कहते थे—"अच्छा ठहरो, सोच लूँ, वह आदमी मेरी क्यों निन्दा करता है। मैंने तो कभी उसका कुछ उपकार नहीं किया।" अन्त को उनकी यही धारणा हो गई

थी कि उपकृत व्यक्तियों में से अधिकांश लोग कृतघ्न होते हैं। बहुत लोगों के आचरण देखकर उनकी यह धारणा हुई थी।

अनेक प्रकार के अच्छे कामों में आशानुरूप सुफल होते न देखकर एक दिन दुःख-पूर्वक उन्होंने यह श्लोक पढ़ा:—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकःप्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

श्लोक पढ़कर कहा—एक-एक इन्द्रिय के अधीन होने से मृग, हाथी, पतङ्ग, भ्रमर और मछली, ये जीव मारे जाते हैं; तब जो आदमी पांचों इन्द्रियों से पांचों विषयों का भोग करता हुआ उनमें आसक्त रहता है उसका विनाश तो बहुत ही सहज है। कितनी सावधानी से काम करने पर मनुष्य इस सर्वनाश से बच सकता है, इस पर किसी की भी दृष्टि नहीं है। मनुष्य दिन-रात पाँचों इन्द्रियों के दास होकर अपने को इतर जीव-जन्तुओं से भी अधम बना रहे हैं। मनुष्य जिनको इतर जीव कहता है वे इतर जीव हैं या वह ख़ुद है? मनुष्य इन इन्द्रियों के सुख के लिए कौन सा कुकर्म्म नहीं कर सकता? फिर वह इतर जीव-जन्तुओं से भी अधम क्यों न समझा जाय?

दुःख यही है कि उनके समान महानुभाव आदमी ने लोक-सेवा और पराई भलाई करने के बदले में पग-पग पर ठोकरें खाईं। लोगों ने बुरे वर्ताव और ठगाही करके उनके शान्त हृदय में अशान्ति की ऐसी आग सुलगा दी जो जन्म भर सुलगती ही रही। उन्होंने जन्म भर क्लेश सहे, लेकिन दूसरों का दुःख दूर करने से कभी मुख नहीं मोड़ा। किसी का दुःख सुनते ही उनके सरल उदार हृदय में दया का सागर उमड़ पड़ता था। दया करने के समय वे अमीर-ग़रीब, उच्च-नीच, पुरुष-स्त्री, सती-कुलटा आदि का ख़याल न करते

थे। मनुष्यमात्र के लिए उनकी दया का द्वार खुला हुआ था। मनुष्य क्या, पशु-पक्षी भी उनके सरल स्नेह को मानते थे। पक्षियों में कौआ बड़ा धूर्त कहलाता है। यह बात प्रत्यक्ष देखी भी जाती है। किन्तु वे ही कौए उनके स्नेह के अधीन हो गये थे। विद्यासागर पास खड़े होकर उनको जो कुछ देते थे उसे वे बेखटके उनके हाथ से ले जाते थे। एक बार खुदीराम बसु को विद्यासागर ने कई एक नारंगियों की फांकें खाने को दीं। खुदीराम बाबू चूस-चूसकर उन्हें फेंकने लगे। विद्यासागर ने कहा—"देखो, इनको न फेंकना। इनको खानेवाले यहाँ मौजूद हैं।" खुदीराम बाबू ने सन्नाटे में आकर पूछा "इनको कौन खायगा?" विद्यासागर ने कहा—"खिड़की के बाहर इस जगह रख दो। देखना, खानेवाले आकर उठा ले जायँगे।" खुदीराम बाबू ने उन्हें वहीं रख दिया। घड़ी भर वे वहीं रक्खे रहे, पर कोई न आया। तब खुदीराम ने कहा—"कोई भी तो नहीं आया।" विद्यासागर ने कहा—"तुम्हारे चोगा-चपकन की तड़क-भड़क से डरकर वे लोग नहीं आते। तुम हट जाओ, देखो मैं उनको अभी बुलाता हूँ।" बस, वे खिड़की के पास गये। उनके खड़े होते ही कौओं ने चिर-परिचित की तरह आकर उनके हाथ से उनको लेकर खा लिया।

जिसके प्रेम से पशु-पक्षी वश में हो जाते थे उसके वश में मनुष्य नहीं हुए! मनुष्यों ने उस प्रेम की मर्य्यादा नहीं समझी!! वह सरल स्वाभाविक प्रेम मनुष्यों के निष्ठुर आचरण से मलिन हो गया। इसी से विद्यासागर कभी-कभी कहा करते थे "तुम्हारे ऐसे भद्रवेषधारी आर्यसन्तानों की अपेक्षा मेरे असभ्य साँवताल अच्छे आदमी हैं।"

विविध विषय और विद्यासागर

सन् १८६६ ई० में, या इसके कुछ पहले, बङ्गाल के ज़मींदारों और राजाओं के नाबालिग़ लड़कों की देखरेख के लिए वार्ड-इन्स्टीट्यूशन नाम का एक निवासभवन स्थापित हुआ था। बंगाल के राजकुमार और ज़मींदारों के लड़के यहीं रहकर लिखना-पढ़ना सीखते थे। विद्यासागरजी इसके सञ्चालकों और निरीक्षकों में एक प्रधान पुरुष थे। बहुत दिनों से वे इसकी कार्यवाही के निरीक्षक का काम करते थे। एक बार वार्ड के लड़कों के खाने-पीने आदि कई विषयों पर डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र के साथ विद्यासागर का मतभेद हो गया। अन्त को वैमनस्य की नौबत आ गई। विद्यासागर और मित्र महाशय, दोनों ही स्वाधीन प्रकृति के पुरुष थे। इस कारण दोनों की स्वाधीनता के सङ्घर्षण से अग्नि प्रकट हो गई। ऐसी अप्रिय घटना उपस्थित होने पर विद्यासागरजी अक्सर अशान्ति को शान्त करने के लिए, दूसरों को हटाने की चेष्टा न करके आपही हट जाते थे। यहाँ भी उन्होंने वही किया। इन्स्टीट्यूशन के काम से अलग होने की इच्छा करके उन्होंने इस्तीफ़ा दाख़िल कर दिया। इस्तीफ़ा वापस लेने के लिए सञ्चालकों ने उनसे बारम्बार अनुरोध किया; लेकिन इसके लिए विद्यासागर राज़ी नहीं हुए। उनको अपनी प्रतिज्ञा पर इस तरह अटल देखकर अन्त को इस्तीफ़ा मञ्ज़ूर कर लिया गया।

सन् १८६६ ई० के शेष भाग में पाइकपाड़ा के राजा प्रतापचन्द्र सिंह बहादुर बीमार होकर, रोग से छुटकारा पाने और स्वास्थ्य बढ़ाने के लिए, काँदी के राजभवन में रहते थे। अनेक गुणालंकृत राजा प्रतापचन्द्र की मित्रता के कारण विद्यासागर अक्सर काँदी के राजभवन में रहा करते थे। इस बार भी राजा साहब की कड़ी बीमारी का हाल सुनकर, बहुत रुपया ख़र्च करके, डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार को साथ लिये, विद्यासागर काँदी पहुँचे। अच्छी चिकित्सा के द्वारा राजा साहब को आरोग्य करने की बहुत कुछ चेष्टा की, पर फल कुछ नहीं हुआ। अन्त को राजा साहब कलकत्ते चले आये। राजा प्रतापचन्द्र ने मरने के कुछ दिन पहले विद्यासागर को अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी और नाबालिग़ पुत्रों का अभिभावक बनाने का विचार प्रकट किया था। विद्यासागर ने राजा के इस सङ्कल्प के विरुद्ध दृढ़ता के साथ अपनी सम्मति प्रकट की। बहुत चेष्टा करके भी राजा साहब उनको इस कार्य्य का भार नहीं सौंप सके। इसी बीच में, अन्य कोई सुव्यवस्था करने के पहले ही, काशीपुर में गङ्गा के किनारे राजासाहब स्वर्ग सिधार गये। राजाबहादुर मरते समय विद्यासागर से सबकी देखरेख रखने के लिए विशेष अनुरोध कर गये। विद्यासागर राजा के परलोकवास के बाद शोकाकुल आत्मीय की तरह उनके कारोबार की देख-रेख करते रहे। इसके लिए उन्होंने भरपूर यत्न किया कि राज-सम्पत्ति सुरक्षित रहे, उसका जमाख़र्च ठीक तौर पर हो और राज-कुमार लोग ऐसी शिक्षा पावें कि अपने पिता के समान सज्जन-समाज के मुखिया बन सकें। अँगरेज़ी-राज्य की व्यवस्था से राज-सम्पत्ति की श्रीवृद्धि होने लगी। नाबालिग़ राजकुमार वार्ड में न रखे जाकर घर में माता और दादी के पास रहें, इसलिए विद्यासागर को छोटे लाट बीडन साहब से मुलाक़ात करनी पड़ी। उन्हीं के अनुरोध से कई

सुयोग्य प्रतिष्ठित बङ्गाली और अँगरेज़ राजकुमारों के अभिभावक बनाये गये। विद्यासागरजी राजा साहब के परम मित्र थे, इससे गवर्नमेंट ने उन्हीं को प्रधान अभिभावक बनाया।

संस्कृत कालेज के अध्यापक प्रेमचन्द्र तर्कवागीश के पेन्शन ले लेने पर उनके भाई राममय भट्टाचार्य्य ने उस पद के लिए अर्ज़ी दी। उधर स्वर्गीय महेशचन्द्र न्यायरत्न ने भी उस पद के लिए अर्ज़ी भेजी। दोनों ही योग्य पुरुष थे। सब लोगों की धारणा यह थी कि भट्टाचार्य्य को ही वह जगह मिलेगी। न्यायरत्नजी संस्कृत कालेज के विद्यार्थी न होने पर भी काव्य और अलङ्कार में विशेष व्युत्पन्न थे। छः दर्शनों के भी वे जानकार समझे जाते थे। एक खाली जगह के लिए दो पण्डितों ने अर्ज़ी दी। अध्यक्ष कावेल साहब कुछ निश्चय न कर सके कि किसको वह पद दें। अन्त को उन्होंने विद्यासागर से राय मांगी। विद्यासागर ने कहा—"अलङ्कार-श्रेणी में 'काव्य-प्रकाश' पढ़ाया जाता है। उसको पढ़ाने के लिए न्यायशास्त्र की अच्छी जानकारी होनी चाहिए। महेशचन्द्र न्यायरत्न ने विधिपूर्वक न्यायशास्त्र पढ़ा है। उन्हें इस शास्त्र में विशेष व्युत्पत्ति है। अतएव मेरी राय से न्यायरत्न को ही यह जगह मिलनी चाहिए।" विद्यासागर की सिफ़ारिश से न्यायरत्न ही उस जगह पर रक्खे गये।

बम्बई के एक प्रतिष्ठित पुरुष कलकत्ता देखने के लिए आये थे। उनके अनुरोध से विद्यासागर उन्हें साथ लेकर कलकत्ते का अजायबघर दिखलाने गये। वे एशियाटिक सोसाइटी के मेम्बर की हैसियत से बहुत मर्तबा इस घर में गये थे, किन्तु कभी किसी ने उनसे स्लीपर उतारकर जाने के लिए नहीं कहा। अबकी न-जाने किस कारण वहां के दरबान ने उनसे स्लीपर उतारकर भीतर जाने के लिए कहा। पता लगाने से ईश्वरचन्द्र को मालूम हुआ कि स्लीपर पहनकर अजायबघर

के भीतर जाने का नियम नहीं है। लाचार विद्यासागर उन विदेशी भद्र-पुरुष को लेकर लौट आये। उन्होंने उन भद्रपुरुष से कहा कि आपको अन्य किसी मित्र के साथ भेज दूँगा। मैं इसके भीतर न जाऊँगा।

जब वे लौट आये तब वहाँ के क्यूरेटर साहब को यह हाल मालूम हुआ। उन्होंने घटनास्थल पर आकर विद्यासागर को लौटाने की बड़ी चेष्टा की, लेकिन वे नहीं लौटे। वे यह कहकर चले आये कि अब मैं इस घर में नहीं जाऊँगा। बड़े अफ़सरों के पास इस घटना का हाल लिख भेजने पर उन्होंने क्षमा-प्रार्थना करते हुए इस घटना पर दुःख प्रकट करके पत्र लिखा। उन्होंने विद्यासागर को सूचित किया कि सब समय चाहे जिस पोशाक से अजायबघर और सोसाइटी के आफ़िस में आप जा सकते हैं। किन्तु विद्यासागर ने इससे सन्तुष्ट न होकर लिख भेजा "मेरे लिए ख़ास नियम बनाने की ज़रूरत नहीं। सर्वसाधारण के लिए तो एक नियम हो और मेरे लिए दूसरा, यह मैं नहीं चाहता। यदि सर्व-साधारण के लिए ऐसा नियम बनना सम्भव हो तो मैं उस नियम के अनुसार जाने-आने के लिए तैयार हूँ। अन्यथा विशेष नियम का सुयोग प्राप्त करके मैं अपने को सर्वसाधारण से अलग करना नहीं चाहता।" इस मामले में अजायबघर और एशियाटिक सोसाइटी के अफ़सरों से, उसके बाद बङ्गाल-गवर्नमेंट से, अन्त को इंडिया-गवर्नमेंट तक से लिखा-पढ़ी हुई लेकिन सर्वसाधारण के लिए यह नियम न बन सका। विद्यासागरजी को सर्वसाधारण का पक्ष समर्थन करने में जब सफलता नहीं प्राप्त हुई तब उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर ली कि अब कभी अजायबघर के फाटक पर न जाऊँगा।

सन् १८८३—८४ ई० के जाड़ों में, महामति लार्ड रिपन के शासन-काल में जिस समय कलकत्ते में, आन्तर्जातिक प्रदर्शिनी हुई

थीं। उस समय लाखों विचित्र चीज़ें इस स्थान पर जमा हुई थीं। राय कृष्णदास पाल आदि अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों ने नुमाइश का हाल कहकर अनुरोध किया कि आप भी देख आइए। विद्यासागर ने कहा "लोगों के मुँह से सुनकर और तुम्हारे अनुरोध से उत्साहित होकर मैं भी उसे एक बार देखना चाहता था। किन्तु सुना है कि प्रदर्शिनी में उसी अजायबघर के फाटक से होकर जाना पड़ता है। मैं तो इस जीवन में उस फाटक के भीतर पैर न रक्खूँगा।" ऐसी लोकवत्सलता और प्रतिज्ञा की दृढ़ता विरले ही लोगों में पाई जाती है।

विद्यासागर के मित्र हरिश्चन्द्र मुखोपाध्याय के मरने से बङ्गालियों द्वारा सम्पादित सञ्चालित अँगरेज़ी अख़बारों की जान निकल गई थी। उस अभाव की पूर्ति के लिए महानुभाव कालीप्रसन्नसिंह अग्रसर हुए। उन्होंने पहले अँगरेज़ सम्पादक रखकर उसके द्वारा काम चलाने की व्यवस्था की। किन्तु अन्त में विद्यासागर को उसका ट्रस्टी बनाकर उन्होंने उसके अच्छी तरह चलने का प्रबन्ध करने के लिए अनुरोध किया। विद्यासागर ने सबसे पहले शम्भुचन्द्र मुखोपाध्याय को और पीछे से रायबहादुर कृष्णदास पाल को उस पत्र का सम्पादक बनाया। विद्यासागर की ही सहायता से हिन्दू-पेट्रियट के सम्पादक होकर स्वदेश और विदेश में कृष्णदास पाल की इतनी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा हुई। इस परिवर्त्तन के लिए डाकृर मुखोपाध्याय महाशय सदा विद्यासागर के विरोधी बने रहे।

महानुभाव कालीप्रसन्न सिंह के साथ अनेक कारणों से विद्यासागर का अधिक मेल-जोल हो गया। सिंह महाशय की अक्षय कीर्त्ति महाभारत का अनुवाद विद्यासागर की पृष्ठ-पोषकता से ही हुआ। इसी कारण सिंह महाशय को इस काम में सम्पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

संस्कृत-कालेज के दूसरे खण्ड में संस्कृत-कालेज की लाइब्रेरी थी। प्रेसीडेन्सी कालेज के अध्यक्ष ने प्रयोजन-वश उस घर को माँग लिया और नीचे के अन्ध-कूप सदृश खण्ड में उन बहुत दिनों के संगृहीत दुर्लभ संस्कृत-ग्रन्थों को रखने की आज्ञा दी। संस्कृत-कालेज के तत्कालीन अध्यक्ष प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी ने साहब के इस अनुचित आग्रह पर आपत्ति की। वे भी विद्यासागर के ही ऐसे स्वभाव के आदमी थे। इस बात को वे सह न सके कि संस्कृत के दुर्लभ ग्रन्थ नीचे के खण्ड में अरक्षित भाव से पड़े रहकर सड़ें। उन्होंने कह भेजा कि लाइब्रेरी का कमरा ख़ाली करना असम्भव है। ऐसा करने से सब बहुमूल्य ग्रन्थ शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे। इस मामले में साहब की जीत हुई। वे जब संस्कृत की पोथियाँ नीचे उतरवाने लगे तब सर्वाधिकारीजी ने इस्तोफ़ा देने की मन में ठानकर विद्यासागर से सलाह पूछी। विद्यासागर ने अफ़सरों से यह अनुरोध किया कि दोनों आदमियों को राज़ी रखने के लिए कोई उपाय करना चाहिए किन्तु इसका कुछ फल न हुआ। सर्वाधिकारी ने इस्तोफ़ा दिया। इस इस्तीफ़े के लिए सञ्चालक लोग बड़े गोलमाल में पड़ गये। यह झगड़ा पराधीन बङ्गाली और श्वेत-काय राज-पुरुष का था। न्याय की दृष्टि से विचार किया जाता तो सर्वाधिकारी की ही जीत होती। उनसे यह अन्याय न देखा गया। वे इस्तीफ़ा देकर अलग हो गये। संस्कृत-कालेज में प्राच्य-साहित्य की रक्षा के लिए एक काले आदमी का कहना मानना बड़ा भारी हीनता का काम समझकर अफ़सर लोग उसके लिए राज़ी नहीं हुए। किन्तु दूसरी ओर, न जाने किस कारण, विद्यासागर के नाम से यह समाचार फैलने लगा कि सर्वाधिकारीजी ने विद्यासागर की सलाह से यह काम किया है। छोटे लाट बीडन साहब ने

ज़बानी और गुप्त-पत्रों आदि के द्वारा आपस में झगड़ा मिटा लेने के लिए विद्यासागर से अनुरोध किया। वे पत्र और विद्यासागर ने इन पत्रों के उत्तर में जो पत्र लिखे थे उनके कुछ ज़रूरी अंशों की नक़ल नीचे दी जाती है—

My dear Sir,

When I had the pleasure of waiting upon you last, you were pleased to allude to the resignation of the Offg. Principal, Sanskrit College. But as I was not aware of all the circumstances connected with the affair, I could not tell you anything regarding the matter. I have since made myself acquainted with the facts of the case and am inclined to think that the treatment of the Principal by——has been unnecessarily and unbecomingly harsh, as will, I believe, appear to you also on perusal of the papers enclosed. * * *

I have, therefore, tried my best to persuade him to withdraw his letter of resignation. But he says * * *

ISVAR CHANDRA SHARMA.

My dear Pundit,

I am sorry you have not been able to induce P. C. Sarbadhikari to withdraw his resignation, because I feel sure it is a step which he will hereafter regret, and I am always sorry to lose the services of good officers, specially if it be for an inadequate cause. * * * *

As to the fitness of the room for the reception of the Sanskrit Mss. I will make enquiry.

Believe me, yours sincerely,

CECIL BEADON.

My dear Sir,

As I am inclined to suspect that he may have also represented the matter to you in the same light, I beg to assure you that I had no hand whatever in inducing Babu P. C.

Sarbadhikari in forming his resolution. On the contrary, as I was under the impression that the severance of his connection with the Sanskrit College would be injurious to that institution, I tried my best to make him withdraw his resignation.

ISVAR CHANDRA SHARMA.

My dear Sir,

You may be quite sure that if I had had the least suspicion that Babu P. C. Sarbadhikari had acted under your advice in resigning his appointment in Sanskrit College, I should not have asked you to try and induce him to reconsider what I thought a hasty and unasked for step.

Yours sincerely,

CECIL BEADON.

विद्यासागर के कहने से ही सर्वाधिकारी ने इस्तीफ़ा दिया है, इस निन्दावाद का सन्देह करके छोटे लाट बीडन साहब को विद्यासागर ने जो पत्र लिखा था उसका भी कुछ अंश ऊपर उद्धृत कर दिया गया है।

कलकत्ते के एक प्रतिष्ठित घराने के दो भाई पैतृक-सम्पत्ति के हिस्से-बांट के लिए मुक़द्दमेबाज़ी करने पर आमादा हो गये। हाईकोर्ट के वकील-बैरिस्टर धनराशि को हथियाने लगे। विद्यासागरजी किसी कारण उन लोगों पर पहले ही से नाराज़ थे। तथापि उस समय स्वतः प्रवृत्त होकर वे उनका झगड़ा मिटाने के लिए अग्रसर हुए। विद्यासागर की मंशा यही थी कि इन लोगों का रुपया व्यर्थ न लुटे। दोनों भाइयों ने यह स्वीकार किया कि हम विद्यासागर के फ़ैसले को शिरोधार्य समझेंगे। तब विद्यासागर हिस्सा-बाँट करने लगे। विद्यासागर के फ़ैसले पर बड़ा भाई राज़ी होगया। किन्तु छोटे भाई पर अनुग्रह करके उसे कुछ अधिक हिस्सा देने पर भी वह राज़ी नहीं हुआ।

वह श्रौर भी कुछ चीज़ों में अधिक हिस्सा माँगने लगा। विद्यासागर ने कहा—"तुमको छोटा समझकर तुम पर विशेष अनुग्रह दिखलाया गया है। इससे अधिक कुछ देने से तुम्हारे दादा के साथ अन्याय श्रौर अविचार होगा। इससे अधिक मैं दे नहीं सकता।" छोटे भाई की अनुचित ज़िद के कारण थोड़े से जवाहरात के लिए हिस्से-बाँट का काम होकर भी अधूरा ही रह गया। अन्त को राज्य के किसी उच्चपदस्थ कर्मचारी ने विद्यासागर की व्यवस्था में ज़रा हेर-फेर करके फ़ैसला कर दिया।

वर्द्धवान ज़िले के अन्तर्गत चकदीघी-निवासी प्रसिद्ध ज़मींदार-परिवार के साथ विद्यासागर की विशेष आत्मीयता थी। उक्त ज़मीं-दार-परिवार के प्रधान शारदाप्रसाद राय के साथ विद्यासागर की आत्मीयता का चिह्नस्वरूप चकदीघी का अँगरेज़ी स्कूल अभी तक मौजूद है। यहाँ के पुण्यार्थ श्रौषधालय के सञ्चालन का भार जिनके ऊपर था उनमें विद्यासागर एक प्रधान पुरुष थे। विद्यासागर ने इस ज़मींदार-परिवार की सम्पत्ति की रक्षा श्रौर उन्नति करने में समय-समय पर यथेष्ट सहायता पहुँचाई है।

सियारसोल की रानी हरसुन्दरी देवी के पिता के साथ विद्या-सागर का बड़ा हेलमेल था। इस कारण वे रानी की सम्पत्ति की रक्षा श्रौर कुशलकामना किया करते थे। ज़रूरत पड़ने पर अच्छी सलाह देकर कर्त्तव्य का मार्ग दिखला देते थे। इधर तो वे प्रति-ष्ठित धनी लोगों की सम्पत्ति श्रौर सम्मान की रक्षा करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करते थे श्रौर उधर हमेशा दीन-दुखियों से सहानुभूति दिखाकर उनके दुःख दूर करना उनका नित्य का काम था। यह भी विद्यासागर की एक विशेषता थी।

एक बार मेडिकल-कालेज के बँगला-विभाग (वर्त्तमान कैम्बेल-स्कूल) के तत्कालीन अध्यक्ष ने छात्रों को मेकाले-वर्णित कुछ एक सुमिष्ट विशेषणों से याद किया। भक्ति-भाजन स्वर्गीय विजयकृष्ण गोस्वामी इस समय मेडिकल-कालेज के बँगला-विभाग में पढ़ते थे। उन्होंने और अन्य कई छात्रों ने अध्यक्ष के ऐसे बुरे बर्ताव से दुःखित हो, दल बाँधकर, छोटे लाट के पास अध्यक्ष के ऐसे बुरे व्यवहार के कारण अपना स्कूल छोड़ देने का इरादा ज़ाहिर करके एक अर्ज़ी भेजी। बालकों ने दलबद्ध होकर गोलदीघी के मैदान में सभा करके यह प्रतिज्ञा की कि जब तक साहब अपने अपराध को स्वीकार करके क्षमाप्रार्थना न करें तब तक हम लोग स्कूल नहीं जायँगे। अधिकांश बालक ऐसे थे जो इस स्कूल से मिलनेवाली छात्रवृत्ति से गुज़ारा करके पढ़ते-लिखते थे। वृत्ति मिलना बन्द हो जाने से उनको कष्ट मिलने लगा। तब अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के बारे में सहायता माँगने के लिए सब छात्र विद्यासागर के पास पहुँचे। विद्यासागर पहले ही सब हाल सुन चुके थे। उन्होंने पहले समझा-बुझाकर छात्रों को स्कूल भेजने की चेष्टा की। विजयकृष्ण गोस्वामी सबके मुखिया थे। उन्होंने विद्यासागर को यह समझा दिया कि सब छात्र सुभीते की अपेक्षा इज़्ज़त को ही आदर की दृष्टि से देखते हैं। विद्यासागर ने छोटे लाट के पास जाकर उनकी प्रार्थना जताई। अनुसन्धान होने के बाद अध्यक्ष के द्वारा बालकों को बुलवाकर विद्यासागर ने सब झगड़ा तय करा दिया। दो-तीन महीने तक छात्रवृत्ति बन्द रहने से बहुत से बालकों पर मुसीबत आ पड़ी थी। विद्यासागर ने बहुत सा रुपया ख़र्च करके उन लोगों की सहायता की। इसी समय से विद्यासागरजी विजयकृष्ण गोस्वामी महाशय को विशेष स्नेह और सम्मान की दृष्टि से देखने लगे।

विद्यासागर के एक प्रतिष्ठित ज़मींदार मित्र के घर के पास एक मोदी रहता था। उससे विद्यासागर की पहले की जान-पहचान थी। एक दफ़ा विद्यासागर उधर से जा रहे थे। उस मोदी ने उनको आदर करके बुलाया। उसकी मीठी बातों से प्रसन्न विद्यासागर दूकान के नीचे एक चटाई के टुकड़े पर बैठे हुए उससे बातें कर रहे थे। इसी समय विद्यासागर के मित्र ज़मींदार बाबू फ़िटन गाड़ी पर बैठे शाम को हवा खाने जा रहे थे। जिस सड़क के किनारे, दूकान के आगे, विद्यासागर बैठे थे उसी सड़क पर उनकी फ़िटन भी जा रही थी। विद्यासागर को देखकर वे बड़े असमञ्जस में पड़े। एक तरफ़ विद्यासागर की उपेक्षा करके उनसे साहब-सलामत किये बिना चले जाना जैसे असम्भव था, वैसे ही दूसरी तरफ़ उस मामूली मोदी की दूकान पर बैठे हुए विद्यासागर को प्रणाम और प्रतिष्ठा करना भी वे अपने समान प्रतिष्ठित ज़मींदार के लिए अपमान की बात समझते थे। अन्त को उन्हें वही अपमान का काम करना पड़ा। इसके उपरान्त फिर एक बार मुलाक़ात होने पर विद्यासागर ने ज़मींदार बाबू से कहा—"उस दिन तो तुम बड़े असमञ्जस में पड़ गये थे।" ज़मींदार बाबू ने उत्तर दिया—"आप रास्ते-गली में जहाँ-तहाँ इस तरह बैठ जाते हैं, इससे बड़ी लज्जा मालूम पड़ती है।" वीर विद्यासागर चट बोल उठे—लज्जा मालूम पड़ती है? मेरे साथ जान-पहचान न रखने से ही सब झगड़ा मिट जायगा, तुमको रास्ते-गली में अपदस्थ या अपमानित भी न होना पड़ेगा। वह आदमी ग़रीब होने से क्या तुम्हारी अपेक्षा कम आदर का पात्र हो सकता है?

एक बार संस्कृत-शास्त्र-सम्बन्धी एक तर्क-वितर्क उपस्थित होने पर छोटे लाट को विद्यासागर की ज़रूरत पड़ी। ख़बर आने पर विद्यासागर ने कहला भेजा—"मैं कुछ दिन तक, पिता की मृत्यु के कारण,

अत्यन्त दीन भावसे रहने का प्रण कर चुका हूँ। मेरे मन की अवस्था और पहनावा इस समय कहीं जाने के लायक़ नहीं है। यदि आप इसमें अपना अपमान न समझें तो मैं नङ्गे वदन वेलवेडियर-भवन में आपसे मुलाक़ात कर सकता हूँ।" ग़रज़ बड़ी बुरी होती है। छोटे लाट ने आने के लिए अनुरोध करके कहला भेजा—"आप जिस तरह चाहें आ सकते हैं। मुझको कुछ आपत्ति नहीं है।" नङ्गे पैर और नङ्गे वदन विद्यासागर, वीरकी तरह निर्भीक भावसे, छोटे लाट के भवन में उपस्थित हुए और जो कुछ समझाना था वह समझा-कर चले आये। हैट, कोट, पतलून, चोग़ा, चपकन धारण करनेवाले क्या इससे अधिक जातीय भाव को—हिन्दू आदर्श को—निवाह सकते हैं? इतने पर भी विद्यासागर समाज-संस्कार के पक्षपाती थे। पाठकगण, अब आप ही विचारिए कि उनका समाज-संस्कार का भाव कैसे उच्च आदर्श का था।

ब्राह्म-समाज में जातीय भाव की रक्षा नहीं होती, इससे उन्हें भीतर ही भीतर बड़ा क्लेश होता था। क्लेश का कारण यह था कि वे अन्य दस आदमियों की तरह ब्राह्म-समाज को अप्रिय दृष्टि से—निन्दा की नज़र से या शत्रु-भाव से—नहीं देखते थे। उन्हें ब्राह्म-समाज से ही जातीय-जीवन के पुनरुत्थान की आशा थी। श्रद्धास्पद राजनारायण बाबू के साथ बातचीत करते समय एक बार उन्होंने कहा था—"आप लोग (आदि-ब्राह्म-समाज) एक गली के भीतर पड़े हुए हैं। उस गली को एक ओर हिन्दू लोग और दूसरी ओर अत्यन्त आगे जाने-वाले ब्राह्म लोग दबाये हुए हैं।" वे ब्राह्म-समाज पर हार्दिक प्रेम रखते थे। प्रेम रखते थे, इसी लिए जब ज़रूरत पड़ी है तब उन्होंने ब्राह्म-समाज का पक्ष लिया है। जिस समय ब्राह्म-विवाह-विधि के लिए देश में भारी हलचल मची हुई थी, जिस समय चारों ओर की

आपत्ति के कारण वर्त्तमान ब्राह्मविवाह-आईन ने किम्भूत-किमाकार रूप धारण किया था, उस घोरतर आपत्ति और आन्दोलन के समय विद्यासागर ने आईन के अनुकूल अपनी सम्मति दी थी। सन् १८७२ ई० के ३ आईन बनाने के पक्ष में उन्होंने अपनी अनुकूल सम्मति दी थी। काशी की अध्यापक-मण्डली से, आईन के लिए प्रार्थना करनेवाले, ब्राह्म लोगों के अनुकूल व्यवस्था लाने के लिए लोगों के अनुरोध करने पर उन्होंने डाक्टर लोकनाथ मैत्र को जो पत्र लिखा था उसका कुछ अंश यह है—"मेरी समझ में इस तरह का आईन पास होना उचित और आवश्यक है। ब्राह्म-मत के अनुसार बीच-बीच में विवाह होते हैं। + + + नवीन ब्राह्मों ने मुझसे और अन्य कई पण्डितों से व्यवस्था माँगी है। हम सबने व्यवस्था लिख दी है।"

एक समय भारतवर्षीय ब्राह्म-समाज में धन की कमी से उसके पाक्षिक समाचार-पत्र धर्मतत्त्व का प्रचार कठिन हो गया था। विद्यासागर ने ख़ुद उसकी कई संख्याएँ छापने का भार ग्रहण किया था। इस उपलक्ष में कृतज्ञता प्रकट करते हुए १७६१ शकाब्द के पहले आषाढ़ की संख्या में प्रकाशित हुआ था—"देशहितैषी श्रीयुत पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने, बहुत दिन हुए, धर्मतत्त्व पत्रिका की दो संख्याएँ अपने प्रेस में छाप दी थीं।"

ब्राह्म-समाज के गण्य मान्य पुरुषों में से अनेक के साथ उनका विशेष हेलमेल था। पूज्यपाद रामतनु लाहिड़ी को वे अपना परम आत्मीय समझते थे। लाहिड़ीजी जब जिस बात के लिए अनुरोध करते थे वह बात विद्यासागर पूरी करते थे। विद्यासागर उन्हें बड़ी श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। विद्यासागर से कोई काम कराने के लिए जब सब लोग चेष्टा करके हार जाते थे

तब भी लाहिड़ी महाशय का अनुरोध ख़ाली नहीं जाता था। श्रद्धास्पद श्रीयुत राजनारायण वसु, पूज्यपाद श्रीयुत देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि उस समय के प्राचीन लोगों पर जैसे उनको प्रेम और श्रद्धा थी वैसेही नव्य दल के अगुआ लोगों पर भी वे स्नेह और प्रीति रखते थे। सब बातों में मत न मिलने पर भी स्वर्गीय केशवचन्द्र सेन का वे बड़ा आदर करते थे। हर साल माघोत्सव के समय भारतवर्षीय ब्राह्म-समाज के उत्सव का निमन्त्रणपत्र और प्रोग्राम उनके पास आता था। पण्डित विजयकृष्ण गोस्वामी को भी वे बड़े स्नेह की दृष्टि से देखते थे। पण्डित शिवनाथ शास्त्री को वे पुत्र के समान मानते थे। बाबू दुर्गामोहन दास भी उनको बहुत प्यारे थे। जिस समय बाबू दुर्गामोहन दास के शेष विवाह की सब ओर तीव्र समालोचना हो रही थी उस समय उनके परम मित्र विद्यासागर ने विवाह के समाचार से सन्तुष्ट होकर उनको यह पत्र लिखा था—

श्रीश्रीहरिः

शरणम्।

प्रिय भाई, तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ, इस समाचार से मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ। मेरी आन्तरिक कामना और प्रार्थना यह है कि तुम जब तक जियो, नववधू के साथ सुख से रहो। अपनी नववधू को मेरा आशीर्वाद और स्नेह सम्भाषण जताना। इति २ ज्येष्ठ, सन् १२८८।

विद्यासागर ऐसे उदार, उच्च हृदय और गहरी सहृदयता को लेकर उत्पन्न हुए थे कि सदा सबको सुखी बनाने और सबको सुखी देखने ही में सन्तुष्ट रहते थे। इसी से वे सदा मनुष्य के स्वाधीन हृदय के—आज़ादी के—पक्षपाती थे। समाज और सम्प्रदाय, शास्त्र और विधि जहाँ मनुष्य के अनुकूल होते थे वहाँ वे भी उनका

पक्ष लेते थे। और जहाँ समाज, सम्प्रदाय और शास्त्र-विधि मनुष्य के न्यायतः प्राप्य सुख के विरोधी होते थे वहाँ वे भी उनके घोर शत्रु थे!

विद्यासागर स्वयं कर्त्तव्यपरायण आदमी थे। इसी से किसी को अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन देखकर—न्याय-मार्ग से भ्रष्ट होते देखकर, जिसके प्रति जैसा व्यवहार होना चाहिए उसके विपरीत व्यवहार को देखकर—वे क्षोभ और क्रोध से जल उठते थे। यहाँ तक कि ऐसी किसी-किसी घटना के अवसर पर उनका धैर्य जाता रहता था। यह बात उनकी महिमामयी प्रतिष्ठा के लिए 'चन्द्रमा में कलङ्क' कही जा सकती है।

मदनमोहन तर्कालङ्कार के साथ बचपन से विद्यासागर का भाईचारा था। नौकरी-चाकरी के बाद संस्कृत-प्रेस के लिए दोनों में वैमनस्य हो गया। यह वैमनस्य यहाँ तक बढ़ गया कि विद्यासागर ने उनके साथ सब तरह का सम्बन्ध त्याग देने का अभिप्राय जताकर पत्र लिखा। इसके अनुसार संस्कृत-प्रेस और उसमें छपी हुई पुस्तकों के बटवारे का काम समाप्त हो जाने पर तर्कालङ्कार की लिखी हुई 'शिशु-शिक्षा' पुस्तक के तीनों भाग विद्यासागर के हिस्से में आ गये। विद्यासागरजी तर्कालङ्कार की माता, स्त्री और विधवा कन्याओं में से हर एक को १०) रु० महीने की सहायता करते थे। तर्कालङ्कार के परिवार को धन की कमी के कारण समय-समय पर अत्यन्त क्लेश मिलता था। तर्कालङ्कारजी के दामाद योगेन्द्रचन्द्र विद्याभूषण ने, इस विश्वास से कि शिशु-शिक्षा के तीनों भागों का स्वत्व मिल जाने से तर्कालङ्कार के परिवार का आर्थिक कष्ट दूर हो सकता है, विद्यासागर से कहा कि आप तर्कालङ्कार की मँझली लड़की, विधवा कुन्दमाला, को शिशु-शिक्षा का स्वत्व दे दीजिए। विद्यासागर ने सच्चे दानवीर की तरह 'तथास्तु' कह दिया।

अब यहाँ पर विचारणीय यह है कि इस 'तथास्तु' के विरुद्ध कार्य क्यों हुआ ? विद्यासागरजी स्वयं कहते थे—"मैंने योगेन्द्र बाबू से कहा, कुन्दमाला से कहना, मैंने उसकी प्रार्थना के अनुसार उसे 'शिशुशिक्षा' के तीनों भाग दे दिये।" दोनों का कहना एक है। फिर क्यों इस दान में व्यतिक्रम हुआ ? विद्यासागर की 'निष्कृतिलाभ-प्रयास' और योगेन्द्र बाबू की 'निष्कृतिलाभ-प्रयास विफल', दोनों पुस्तकें पढ़ने से मुझे यह विश्वास हुआ है कि योगेन्द्र बाबू के बहुत जल्दी मचाने से ही चिढ़कर विद्यासागर ने अपना इरादा बदल दिया। जो हो, योगेन्द्र बाबू की जल्दी और खीझ पैदा करनेवाले व्यवहार से विद्यासागर की प्रतिज्ञा का टल जाना सचमुच बड़े ही खेद की बात है। उन्होंने मुँह से जो बात निकाल डाली थी उसे, सैकड़ों तरह के कुव्यवहार होने पर भी, पूरा करना ही उनके लिए शोभा की बात थी। कारण चाहे जो हो, विद्यासागर का दान देकर अथवा दान देने की इच्छा प्रकट करके उसके अनुकूल काम न करना खटकता है। इस अप्रीतिकर मामले के बारे में सन्तोष की बात इतनी ही है कि उन्होंने साधारण कारण से अपनी बात को नहीं टाला। भारी मर्म-वेदना से लाचार होकर ही उन्हें अपना इरादा बदलना पड़ा था।

विद्यासागरजी अपने सांसारिक मामलों को ऐसी निष्ठा के साथ सम्पन्न करते थे कि उनमें लेशभर भी स्वार्थपरता नहीं छू जाती थी। उन्होंने बहुत दिनों के बाद, बिना माँगे ही, सूद-समेत ४६११।) ५ गवर्नमेंट का रुपया अदा किया था। गवर्नमेंट को मालूम भी न था कि यह रक़म विद्यासागर पर बाक़ी है या नहीं। और, गवर्नमेंट के हिसाब में भी कहीं इन रुपयों का उल्लेख न था। विद्यासागर आपसे इन रुपयों को चुकाकर अपनी मनुष्यता, न्यायनिष्ठा और लोभहीनता का

अत्यन्त श्रेष्ठ उदाहरण छोड़ गये हैं। जिन्होंने जन्म भर पराये धन को विष की तरह समझा उनके चरित्र पर अगर कोई झूठा कलङ्क लगाने की चेष्टा करता है तो सचमुच बड़ा ही क्लेश और क्रोध होता है। किन्तु देश-काल-पात्र को देखकर सब सह लेना पड़ता है।

अत्यन्त प्राचीन समय से ग्रीस, रोम, मिस्र और भारतवर्ष में मनुष्य-शरीर से उत्पन्न शीतला-रोग के बीज से टीका लगाकर शीतला रोग का भय दूर करने की रीति प्रचलित थी। किसी-किसी का ऐसा विश्वास है कि अत्यन्त प्राचीन समय में भारतवर्ष में गो-बीज से टीका देकर शीतला रोग का फैलना रोकने की रीति भी प्रचलित थी। पीछे अनेक कारणों से यह रीति यहाँ से उठ गई। अन्त में सन् १८६५ ई० को अँगरेज़-गवर्नमेंट ने यह नियम कर दिया कि मनुष्य-देह से उत्पन्न शीतला रोग के बीज से टीका न लगाकर गो-बीज से टीका लगाना ही श्रेयस्कर है। किन्तु लोगों के कुसंस्कार के कारण बहुत दिनों तक इस देश में यह पद्धति प्रचलित नहीं हो सकी। विद्यासागर ने ही बहुत परिश्रम करके कृष्णनगर जाकर हिन्दू-समाज के मुखिया नदिया के महाराज श्रीशचन्द्र की सहायता से देश में अँगरेज़ी टीका जारी होने में सहायता पहुँचाई।

बङ्गाल के नीच जाति के लोग, चैत की संक्रान्ति को, देह के अनेक अङ्गों को छेदकर व्रत को समाप्त करते थे। कोई-कोई सब शरीर को क्षत-विक्षत कर डालते थे। मैंने, बचपन में, गाँवों में अपनी आँखों से यह तमाशा देखा है। ऐसे घायल होकर नाच रहे लोगों के ख़ून से तर शरीर को देखकर हम लोग बहुत डरते थे। सन् १८६५—६६ ई० को गवर्नमेंट की आज्ञा से यह कुरीति बन्द हो गई। विद्यासागर ने इस कुरीति को उठाने में विशेष रूप से गवर्नमेंट के पक्ष का समर्थन किया था।

सन् १८६४ ई० की १ जनवरी को जर्मनी के अन्तर्गत लिपज़िक नगर में एकत्रित विद्वानों की मण्डली ने विद्यासागर को सम्मान-चिह्न देकर सम्मानित किया था। वह बहुसम्मान का परिचय देनेवाला पत्र जर्मन भाषा में लिखा हुआ है।

विद्यासागर जन्म भर कितने प्रकार से कितने लोगों का उपकार करते रहे, यह बताने के लिए उस कार्य्यावली की विस्तृत सूची देना यहाँ पर सर्वथा असम्भव है। उनके किये उपकारों का स्मरण करके जिन सहृदय बङ्गालियों ने भक्ति-पूर्ण हृदय से उनकी पूजा की है उनके, तथा अन्य किसी-किसी भक्त बङ्गाली के कुछ शब्दों को हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं।

विद्यासागर अध्यापक की हैसियत से कहीं पर विदाई नहीं लेते थे। किन्तु मातृभक्त माननीय श्रीयुत गुरुदास बन्द्योपाध्यायजी ने, अपनी माता के श्राद्ध के अवसर पर, एक चाँदी के गिलास पर निम्नलिखित श्लोक खुदवाकर उनको उपहार में दिया था। मातृभक्त विद्यासागरजी मातृभक्त सन्तान के इस प्रेमोपहार को अस्वीकार न कर सके। उन्होंने उसे प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लिया। उस पर यह श्लोक खुदा था—

पानपात्रमिदं दत्तं विद्यासागरशर्म्मणे।
स्वर्गकामनया मातुर्गुरुदासेन श्रद्धया॥

विद्यासागर के स्नेहपात्र स्वर्गीय कैलासचन्द्र वसु महाशय ने विद्यासागर के एक सर्वाङ्गसुन्दर चित्र के नीचे निम्नलिखित श्लोक लिखकर अपने घर में रक्खा था—

श्रीमानीश्वरचन्द्रोऽयं विद्यासागर-संज्ञकः।
भूदेवकुलसम्भूतो मूर्त्तिमद्दैवतं भुवि॥

विद्यासागर ने इस श्लोक की रचना-चातुरी देखकर पहले बहुत कुछ व्यङ्ग करके पीछे प्रसन्नता प्रकट की थी। इस सम्बन्ध में मुझे यह पत्र प्राप्त हुआ है।—

महाशय, विद्यासागर का चित्र जो बाज़ार में विकता है उसी के नीचे लिखने के लिए यह संस्कृत-श्लोक बनाया गया था। चित्र के नीचे श्लोक लिखकर जब वह चौकठे में जड़वा लिया गया तब उसे दिखाने के लिए मैं विद्यासागर के पास ले गया। उन्होंने उसे देखकर अपनी स्वाभाविक रसिकता के साथ कहा—"श्रीमानीश्वरचन्द्रोऽयं" इससे बढ़कर सत्य बात और नहीं है। श्रीमान् हुए बिना कहीं ऐसी कहार की जैसी सूरत हो सकती है? "मूर्त्तिमद्दैवतं भुवि" इस बात का तो प्रतिवाद ही नहीं किया जा सकता। साक्षात् देवता हुए बिना ऐसा कर्मभोग कहीं नसीब हो सकता है? इस तरह मेरे श्लोक की टीका करके अन्त को अपनी स्वाभाविक उदारता के साथ उन्होंने कहा—तुम लोग मुझे स्नेह की दृष्टि से देखते हो, यही मेरे लिए यथेष्ट है। मैं अवतार होना नहीं चाहता।

विद्यासागर के आत्मीय लोगों में मैं भी था, इस बात को मैं साहस के साथ कह सकता हूँ। मैंने मन लगाकर उनके जीवन की नित्य की अनेक घटनाओं को देखा है। उससे मैंने यह निश्चय किया है कि वे मनुष्य-देहधारी देवता थे। बाबू चण्डीचरणजी, आप अपने लिखे जीवन-चरित्र में विद्यासागर के उस देव-भाव की रक्षा कर सके हैं। इससे मैं बहुत प्रसन्न हुआ और आपको हृदय से साधुवाद देता हूँ।

खुलना, नैहाटी,
कैलास-कुटीर। } श्रीकैलासचन्द्र वसु।

कवि मधुसूदन ने 'वीराङ्गना काव्य' की रचना करके उसके मङ्गलाचरण में लिखा है—

मङ्गलाचरण—वङ्गकुलचूड़ा—श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महाशय के चिरस्मरणीय नाम को इस अभिनव काव्य के ऊपर शिरोमणि की तरह स्थापित करके काव्यकार ने इस काव्य को उक्त महानुभाव के चरणों में यथोचित सम्मान के साथ समर्पण किया। इति सन् १८६८, १६ फाल्गुन।

इसके बाद बङ्गाल के सुप्रसिद्ध नाटककार और कवि रायबहादुर दीनबन्धु मित्र महाशय ने अपनी 'द्वादश कविता' नामक पुस्तक के आरम्भ में निम्न-लिखित समर्पणपत्र को स्थान दिया है—

स्वदेशानुरागी दीनपालक विद्याविशारद
श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महाशय
परमाराध्यवरेषु।

महाशय,

कल्पनाकानन में प्रवेश करके यत्न के साथ कुछ कविताकुसुम चुनकर 'द्वादशकविता' नाम की एक माला मैंने गूँथी है। आप वर्त्तमान वङ्ग-भाषा के पिता हैं, वङ्ग-भाषा आपकी कन्या है। भक्ति के साथ यह माला मैं आपके हाथ में अर्पण करता हूँ। यदि उचित समझिए तो इसे अपनी कन्या के हाथ में देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। इति।

स्नेहाभिलाषी
श्रीदीनबन्धु मित्र।

'पलाशीर युद्ध' नामक काव्य के आरम्भ में कविवर नवीनचन्द्र सेन ने लिखा है—

"दया के सागर पूज्यतम पण्डितवर श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर।

देव! जिस युवक ने दुःख के समय एक दिन आँसुओं से आपके चरणों को नहलाया था, वही युवक आज आपके श्रीचरणों में

उपस्थित हुआ है। किन्तु आपके आशीर्वाद से, और उससे भी अधिक आपके अनुग्रह से, आज उसका मुख-मण्डल प्रसन्न है और हृदय आनन्द से भरा हुआ है। आपकी दया के सागर के एक बूँद से जिस मानस-कानन की दरिद्र-दावानल से रक्षा हुई थी, उसी कानन में उपजा हुआ एक छोटा सा पुष्प आज आपके श्री-चरणों में चढ़ाया जाता है। इसी कारण उस युवक को आज इतना आनन्द है। बङ्गाल के श्रेष्ठ कवि-गण अपने हृदय-कानन के जिन अम्लान चिरसुगन्धित पुष्पों के द्वारा जिस तरह आपके भारतपूजित पवित्र नाम की पूजा करते आये हैं उस तरह के परिमल-पवित्र पुष्प मैं कहाँ पाऊँ ? मेरा हृदय जङ्गल है—मेरा उपहार जङ्गली फूल है। किन्तु महर्षि-गण कल्पवृक्षकुसुमों से जिन देवताओं के चरणों की पूजा करते हैं उन चरणों में ग़रीब भक्त के अपराजिता (विष्णुकान्ता) के पुष्प भी सादर स्थान पाते हैं। मेरा यही भरोसा और यही साहस है।

१ माघ, सन् १२८२। आपका चिरानुगत,
श्रीनवीनचन्द्र सेन"

श्रीयुत गिरिशचन्द्र घोष ने अपने बनाये 'सीतार वनवास' नामक काव्य-ग्रन्थ के समर्पण-पत्र में लिखा है—

"उत्सर्गपत्र—पूजनीय श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महाशय श्रीचरणेषु। गुरुदेव, दीननाथ, महाशय की वेतालपचीसी पढ़कर, मैंने यह जाना कि 'मातृभाषा नहीं जानता' यह कहना अच्छा नहीं, बुरा है। आचार्य! मेरी परीक्षा लीजिए। मैं सदा से मन ही मन महाशय को प्रणाम करता हूँ।

कलकत्ता, बाग़-बाज़ार, माघ १२८८। सेवक,
श्रीगिरिशचन्द्र घोष।"

इसके बाद और एक ग्रन्थकार ने एक निज-रचित ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—

"समर्पण—लोक-सेवा-व्रत-परायण और अशेष-गुण-सम्पन्न पण्डित-पुङ्गव श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महाशय के पवित्र कर-कमलों में भक्ति, प्रीति और हार्दिक सद्भाव के चिह्न-स्वरूप यह ग्रन्थ अर्पण किया जाता है।"

विपन्न, रोगपीड़ित और अनाहार से क्लेश पा रहे दुखी नर-नारियों ने उनको दयासागर की उपाधि दी थी।

गवर्नमेंट भी उनको संस्कारप्रिय हिन्दू-सम्प्रदाय का नेता और मुखपात्र समझती थी। सन् १८७७ की पहली जनवरी को सम्मान के चिह्न-स्वरूप जो प्रशंसा-पत्र दिया था उसमें अत्यन्त स्पष्ट भाषा में उसने इस बात का उल्लेख किया है—

To Pandit Isvar Chandra Vidyasagar in recognition of his earnestness as leader of the widow-marriage movement, and position as leader of the more advanced portion of the Indian community.—*Richard Temple.*

"भारत-साम्राज्य की अधीश्वरी महारानी विक्टोरिया की ओर से, राजप्रतिनिधि और गवर्नर-जनरल बहादुर की आज्ञा से, पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महाशय को, विधवाविवाह के हामी दल का अगुआ और समाज-संस्कारक हिन्दुओं का सञ्चालक मानकर, यह प्रशंसापत्र दिया जाता है।"

इसके बाद सन् १८८० ईसवी की पहली जनवरी को गवर्नमेंट ने सी० आई० ई० उपाधि के द्वारा विद्यासागर को राजसम्मान से अधिकतर सम्मानित किया*।

---

*Grant of the dignity of a Companion of the order of the Indian Empire to Pandit Isvar Chandra Vidyasagar.

इसके बाद स्वर्गीय न्यायरत्नजी की सलाह और कहने से गवर्न-मेंट ने देशी अध्यापकों में से योग्यतम आदमियों को महामहो-पाध्याय की भड़कीली उपाधि देने की व्यवस्था की। न्यायरत्नजी ने सबसे पहले विद्यासागर को यह उपाधि देने के लिए अफ़सरों को सलाह दी। इसके अनुसार विद्यासागर के निकट यह प्रस्ताव उठाया जाने पर उन्होंने शारीरिक अस्वस्थता की दोहाई देकर, अपने को महामहोपाध्याय की महिमा को प्राप्त करने में असमर्थ बतलाकर, इस उपाधि से छुटकारा चाहा। जिस उपाधि के लिए लोग सैकड़ों सिफ़ारिशें करते हैं उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। यह काम विद्यासागर के ऐसा आदमी ही कर सकता है।

विद्यासागर का धर्म्म-मत

बहुत लोगों की धारणा यह है कि विद्यासागर को किसी धर्म्म या मत पर विश्वास न था। किन्तु मैंने उनके साथ इस मामले में बातचीत करके जहाँ तक समझा है, और उनके आचार-आचरण से जहाँ तक जाना जाता है, उससे यह ज्ञात होता है कि वे ईश्वर पर विश्वास रखनेवाले आदमी थे। किन्तु उनका धर्म्म-विश्वास साधारण लोगों की किसी एक पद्धति के अधीन न था। अत्यन्त सूक्ष्म रूप से जाँच करके देखने से जान पड़ता है कि उनके नित्य के जीवन के आचार-व्यवहार क्रिया-कलाप-सम्पन्न आस्थावान् हिन्दू के अनुरूप न थे और दूसरी ओर निष्ठावान् ब्राह्मसमाजी पुरुष के लक्षण भी कभी उनमें देखे नहीं गये।

एक अनादि अनन्त पुरुष सृष्टिकर्ता-रूप से विश्व-ब्रह्माण्ड में सर्वत्र पूर्ण रूप से व्याप्त और प्रकाशित हैं। सब जीव, उन्हीं से उत्पन्न होकर उन्हीं में अवस्थित हैं। समय पूर्ण होने पर उन्हीं में लय हो जायँगे। महाभारतकार महर्षि व्यास के बतलाये इस सूक्ष्मतम धर्मसूत्र पर वे विश्वास करते थे। उनको इस धर्म-सूत्र पर विश्वास था, इसी से पूज्यपाद देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नवीन उद्यम से उद्भासित धर्म के आन्दोलन से जब ब्राह्म-समाज सङ्गठित और पुष्ट हो रहा था, उस समय उन्होंने ब्राह्म-समाज की सेवा में अपने जीवन के प्रथम उद्यम और आग्रह को लगाया था।

उन्होंने ख़ुद मुझसे कहा था—"अनेक प्रकार के मतभेद के कारण जब अप्रिय मनोमालिन्य की नौबत आने लगी तब उस गोल-माल में पड़कर अशान्ति बढ़ाने के लिए मेरी प्रवृत्ति नहीं हुई। व्यक्तिगत मतभेद की अत्यन्त अधिक प्रबलता देखकर मैं धीरे-धीरे अलग हो गया। यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि इस संसार का एक प्रभु है। किन्तु मैं यह नहीं समझता और न किसी को समझाने की चेष्टा करता हूँ कि इस मार्ग में न चलकर इस मार्ग में चलने से अवश्य वह संसार का स्वामी हम पर प्रसन्न होगा—स्वर्ग-राज्य के हम अधिकारी होंगे। लोगों को यह समझाकर मैं ख़ुद फँसना नहीं चाहता। एक तो स्वयं सैकड़ों अन्याय के काम करके मैंने अपने पाप का बोझ भारी कर लिया है, उस पर दूसरों को मार्ग दिखलाने जाकर उन्हें कुमार्ग पर चलाऊँगा तो अन्त को दूसरों के लिए बेत खाने की नौबत आयेगी। अपने लिए चाहे जो हो, परन्तु दूसरों के लिए, भैया, मुझसे बेत न खाये जायँगे। यह काम मुझसे न होगा। मेरी समझ में जो आता है उसी मार्ग पर मैं चलने की चेष्टा करता हूँ। लोग अगर ज़्याद: ज़ोर डालते हैं तो मैं कह देता हूँ कि इससे अधिक मेरी समझ में नहीं आता।"

पहले ही इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि ब्राह्मसमाज के अनेक आदमियों को वे हार्दिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। पण्डित विजयकृष्ण गोस्वामी को वे बहुत प्यार करते थे। उन्होंने एक बार विद्यासागर से भेंट करके 'बोधोदय' के सम्बन्ध में कहा—"महाशय, बहुत लोग मुझसे कहते हैं कि विद्यासागर ने लड़कों के लिए ऐसी सुन्दर एक पुस्तक लिखी, उसमें बालकों के जानने की सब बातें हैं, केवल ईश्वर के विषय में कोई बात क्यों नहीं है?" विद्यासागर ने ज़रा हँसकर कहा—"जो लोग तुमसे यों कहते हैं

उनसे कहना कि अबकी बार जो बोधोदय का संस्करण निकलेगा उसमें ईश्वर की बात रहेगी।" इसके बाद के संस्करण में, बोधोदय में, ईश्वर-सम्बन्धी एक पाठ बढ़ा दिया गया। अगर उनके धर्मविश्वास के विरुद्ध यह बात होती तो वे बालकों की पाठ्यपुस्तक में ईश्वर-सम्बन्धी पाठ कभी न बढ़ाते। बोधोदय का मत ही उनका धर्म-मत है। उक्त गोस्वामीजी का कहना है कि विद्यासागरजी बड़े भारी धर्म-विश्वासी आदमी थे। किन्तु वे किसी को अपना धर्ममत या धर्मविश्वास दिखलाना या जानने देना नहीं चाहते थे। वे अपने धर्म-मत और धर्मविश्वास को सदा गुप्त रखना चाहते थे। गोस्वामीजी के उपदेशक बन जाने के बाद एक दिन विद्यासागर ने उनसे कहा—"तुम कुछ 'एक' हो गये हो न ?" उपदेशक बनने को ही वे एक विभीषिका समझते थे। वे समझते थे कि उपदेशक बनने से मनुष्य की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। इसी से उन्होंने गोस्वामीजी से यह कहा था।

एक बार साधारण ब्राह्मसमाज के उपदेशक श्रीयुत शशिभूषण बसु महाशय सिटी कालेज के वर्तमान अध्यक्ष श्रीयुत हेरम्बचन्द्र मैत्र एम० ए० के पिता चन्द्रमोहन मैत्र महाशय को विद्यासागर के पास ले गये। बादुड़ बागान में विद्यासागर के घर के आसपास आध घण्टे तक घूम-फिरकर भी वे घर का पता न लगा सके। अन्त को वृद्ध मैत्र महाशय ने किसी-किसी से पूछकर विद्यासागर के घर का पता लगा लिया। विद्यासागर से मुलाक़ात होने पर मैत्र महाशय ने सब हाल कहा। विद्यासागर ने मैत्र बाबू के साथी का परिचय पाकर जब जाना कि वे बादुड़ बागान में ही रहते हैं और ब्राह्मसमाज के उपदेशक हैं तब विस्मित होकर कहा—"पास ही के उस घर में रहकर भी वृद्ध मैत्र बाबू को यहाँ तक लाने में इतनी

तकलीफ़ तुमने दी। लोगों को तुम परलोक का मार्ग कैसे दिख-लाते होगे? यही मार्ग दिखलाने में जब तुम इतनी गड़बड़ करते हो तब उस न-जानी राह में लोगों को किधर किस तरह भेज देते हो? मैं समझ गया। तुम इस रोज़गार को शीघ्र छोड़ दो। यह तुम्हारा काम नहीं है। जो जाने हुए रास्ते में इतनी गड़बड़ करता है वह बे-जाने रास्ते में लोगों की न-जाने कितनी दुर्दशा करेगा। भैया, तुम यह काम न करो।" इन व्यङ्ग्य की बातों से उनकी धर्मसम्बन्धी धारणा अच्छी तरह समझ में आ जाती है। वे धर्मविश्वास में किसी की अपेक्षा हीन न थे। इसका परिचय इसी से प्राप्त होता है कि निर्जन-प्रिय योगी ऐसे कालीकृष्ण मित्र महाशय उनके बड़े गहरे मित्र थे। विद्यासागर ने ज्वालायन्त्रणामय संसार की रुखाई से बचने के लिए बारासात में मित्र महाशय के साथ बहुत सा समय बिताया। मित्र महाशय के निर्जन कुटीर में, निष्ठापूर्ण तपस्या के स्थान में, विद्यासागर प्रायः बड़े सुख से रहते थे। किन्तु समय-समय पर मैंने उन्हें विधाता की बुद्धि पर खेद प्रकट करते और दुःखित होते देखा है।

अनेक देशों के असंख्य नर-नारियों के साथ "सर जान लारेन्स" नामक स्टीमर जब जलमग्न हो गया था तब मेरे सामने, आँखों में आँसू भरकर, बड़े दुःख के साथ उन्होंने कहा था—"दुनिया का मालिक क्या हम लोगों से भी बढ़कर निठुर है? अनेक देशों के अनेक स्थानों के असंख्य लोगों को उसने एक साथ डुबा दिया! मुझसे जो सुना नहीं जाता उसे उन्होंने कैसे कर डाला? वे परम कारुणिक मङ्गलालय कहलाते हैं। उन्होंने इन ७-८ सौ लोगों को एक साथ डुबाकर घर-घर कैसे शोक की आग जला दी? दुनिया के मालिक का क्या यही काम है! यह सब देखने से सहसा यह

नहीं जान पड़ता कि कोई दुनिया का मालिक है।" समय-समय पर उनके मुँह से ऐसी बातें सुनकर कोई-कोई उन्हें निरीश्वरवादी समझने लगे थे। किन्तु ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि ऐसी दारुण मर्म-पीड़ा के समय, ईश्वर के अनेक भक्त सन्तान भी, हृदय की गहरी वेदना प्रकट करने में इसी तरह के भाव का परिचय दे बैठते हैं।

विद्यासागर का जीवनचरित लिखते समय जो पत्र आदि मुझे मिले हैं उन सबमें ऊपर "श्रीश्रीहरिः शरणम्" लिखा हुआ है। वे केवल लोकाचार के वशवर्त्ती होकर कोई भी काम नहीं करते थे। जो बात उनके हृदय-द्वारा अनुमोदित होती थी उसी को करते थे।

अनेक लोगों ने अनेक समय उनका धर्म-मत जानने के लिए चेष्टा की है। किन्तु वे धर्म्म के बारे में सहज ही अपनी सम्मति स्पष्ट-रूप से किसी पर प्रकट न करते थे। दिल्लगी में प्रायः ऐसे प्रश्नों को टाल देते थे। कोई स्नेह-पात्र पुरुष अगर बहुत कुछ अनुरोध करता था तब उसके अनुरोध को टाल न सकने के कारण अपना असल धर्म-मत प्रकट करते थे। एक बार उनके स्नेहपात्र डाक्टर श्रीयुत अमूल्यचरण बसु ने उनका धर्म-मत जानने के लिए बहुत प्रार्थना की थी। तब उन्होंने अन्त को कहा था, "गीता के उपदेश के अनु-सार चलना ही अच्छा है।"

परमहंस रामकृष्ण धर्मात्मा साधुओं के दर्शन पाने से बहुत सुखी होते थे। सौभाग्यवश मैंने उनको अक्सर ऐसे धर्मात्मा साधुओं से मिलते देखा है। एक समय उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"एक बार विद्यासागर महाशय से मुलाक़ात करूँगा।" शिष्यों के कारण पूछने पर उन्होंने कहा—"विधाता की कृपा और भगवान् में भक्ति

के विना वैसे महापुरुष का अभ्युदय नहीं होता।" इसके बाद एक दिन विद्यासागर को देखने आने का प्रबन्ध हुआ। परमहंस देव के आते ही उनको बड़े आदर से लेने के लिए विद्यासागर जैसे आगे बढ़े वैसेही विद्यासागर के पास ज़मीन पर बैठकर परमहंस देव ने कहा—"नाला-खोरा, गढ़ैया, नदी आदि पार होकर अब सागर के पास पहुँच गया।" इसके उत्तर में विद्यासागर ने कहा—"अब तो आप आ ही गये, अब कोई उपाय नहीं। दो-एक घड़े खारा पानी ले लीजिए। खारे पानी के सिवा और कुछ भी यहाँ आपको नहीं मिलेगा।" परमहंस देव ने कहा—"सागर तो केवल खारा ही नहीं है। दूध का समुद्र है, दही का समुद्र है, शहद का समुद्र है, इस तरह अनेक समुद्र हैं। आप तो अविद्या के सागर नहीं हैं, विद्या के सागर हैं। आपमें रत्न ही मिलते हैं। आ गया हूँ तो रत्न ही लूँगा। खारा पानी क्यों लेने लगा?" इस तरह आनन्द की बातचीत होने के बाद दोनों सज्जनों में ख़ूब वार्त्तालाप हुआ। उस वार्त्तालाप को सुनकर पास बैठे हुए सब लोग बहुत प्रसन्न हुए।

उनके धर्म-विश्वास का एक स्वाभाविक परिचय देकर यह अध्याय समाप्त किया जायगा। विद्यासागर एक दिन कई बन्धुओं के साथ बैठे बातचीत कर रहे थे। इसी समय एक मुसलमान अन्धा और लँगड़ा फ़क़ीर एक गीत गाता हुआ उधर से निकला। गीत का पहला चरण "कहाँ भूल रहे हो निरञ्जन" सुनते ही विद्यासागर ने उसे बुलवाया। उसके आने पर उसे विठलाकर इस गीत को कई बार जी भरकर सुना। जब तक वे गीत सुनते रहे तब तक उनकी आँखों से लगातार आँसुओं की धारा बहती रही। गीत समाप्त हो जाने पर भी वे बहुत देर तक चुपचाप सङ्गीत के भाव में मग्न बैठे रहे। उसके बाद उसे आठ आने पैसे देकर विदा किया और

कहा कि कभी-कभी आया करो। मैंने बहुत खोज करके उस फ़क़ीर को ढूँढ़ निकाला और उसे कुछ अधिक पैसे देकर वह गीत लिख लिया। उस फ़क़ीर ने कहा कि विद्यासागर बाबू मुझे बहुत प्यार करते थे और यह गीत सुनकर बहुत प्रसन्न होते थे। उनसे मुझे बहुत पैसे मिलते थे।

वह बँगला गीत यह है। पाठक-गण, इस सहज बँगला का बहुत सा अंश अनायास समझ लेंगे।

१—कोथाय भूले रये छे ओ निरञ्जन निल्लय कर्वे रे के,
तूमि कोन खाने खाउ कोथाय थाक रे मन अटल हये,
कोथाय भूले रये छे—

२—तुमि आपनि नौका आपनि नदी आपनि दांड़ि आपनि माझी,
आपनि हये चड़नदार जी, आपनि हये नायेर काछो,
आपनि हये हाइल वैठा।

३—तुमि आपनि माता आपनि पिता,
आपनार नामटी राखबो कोथा, से नाम हृदये गाँथा,
आमार गोसाईं चांद वाउल बोले से नाम भूलवे नारे प्राण गेले।

४—तुमि आपनि असार आपनि हउ सार,
आपनि हये नदीर दुधार, आपनि नदीर किनार,
आमि अगाध जले डूब दिते याई, से नाम भूलवे नारे प्राण गेले।

५—आपनि तारा आपनि सारा, आपनि जरा आपनि मरा,
आपनि हये नदीर पाड़ा आवार आपनि हये श्मशान कर्त्ता गो,
आपनि हये जलेर मीन, ओ निरञ्जन तोर कोथाय गो साकिन,
आमि भेवे चिन्ते होलेम चीण।

পত্নী -দিনময়ী দেবী।

पत्नी दिनमयी देवी।

स्वर्गारोहण

नव्य भारत के गौरवस्थल, वङ्ग-जननी के वीर पुत्र ईश्वरचन्द्र की जीवनलीला समाप्त हो आई। विधाता के वरपुत्र ईश्वरचन्द्र संसार-संग्राम में जीवन के महाव्रत को परिपूर्ण कर, उसी में सारा जीवन अर्पण करके, इस समय महाशयन के निकट उपस्थित हुए। उनके स्वर्गवास के ठीक दो वर्ष पहले उनकी प्यारी स्त्री दिनमयी देवी दुरारोग्य ख़ूनी ववासीर के ज़ोर से पलँग पर पड़ गईं। बँगला सन् १२६५ के १ भाद्र को सन्ध्या के वाद, पति, पुत्र, कन्या, पोते, पोती, नाती, नतिनी आदि वहुत से आत्मीय-स्वजनों की सेवा और आदर में सुख पाकर, वे सवसे सदा के लिए विदा हो गईं। उनको सांसारिक जीवन में समय-समय पर साधारण घटनाओं से तरह-तरह की अशान्ति भोगनी पड़ी। इन सव वातों का स्मरण करके प्रेमिकप्रवर विद्यासागर के हृदय में स्त्री-वियोग की आग सौगुनी प्रवल हो उठी। वे पत्नी के वियोग से वहुत ही व्याकुल हो पड़े। इस घटना से उनके हृदय में ऐसा भारी धक्का लगा कि वे शारीरिक या मानसिक किसी शक्ति को फिर पूरी तौर से प्राप्त न कर सके। उनका दुःखमय जीवन धीरे-धीरे निस्तेज हो पड़ा। इसी समय मेरे सामने उन्होंने वहुत ही दुखी होकर कहा था—अव क्या है? अभी प्राण निकल जायँ तो वहुत अच्छा।

इस तरह की शोकाकुल अवस्था में और भी दो वर्ष विद्यासागर ने थोड़ा-बहुत रोग भोग करते-करते बिता दिये। अक्सर वे पलँग पर ही पड़े रहते थे। कभी निराहार रह जाते और कभी बार्ली खाते थे। इस प्रकार की अस्वस्थ अवस्था में भी जब वे ज़रा अच्छे रहते थे तब उठकर कुर्सी पर बैठते और यथासम्भव काम-काज भी करते थे। बेकार बैठना या पड़े रहना उनके स्वभाव के विरुद्ध था।

वे ऐसे कामकाजी थे कि इस प्रकार की जीर्ण-शीर्ण और अस्वस्थ अवस्था में भी जब शरीर में कुछ भी शक्ति जान पड़ती थी तब अपनी परम प्रिय शेष कीर्त्ति मेट्रोपालीटन कालेज की ओर धीरे-धीरे जाते थे। इस प्रकार उन्हें जाते-आते मैंने ख़ुद अपनी आँखों देखा है। इसके बाद सन् १८६७ के शेष भाग में उनका रोग दिन-दिन बढ़ने लगा। स्वास्थ्य सुधारने के इरादे से जाड़े के दिनों में वे फरासडाँगा के विश्राम-भवन में रहने के लिए गये। किन्तु फाल्गुन के अन्त में उन्होंने समझ लिया कि आरोग्य होने की कोई सम्भावना नहीं है। इधर-उधर करते-करते चैत और वैशाख बीत गया। जेठ के महीने में कलकत्ते आकर वे यथाविधि चिकित्सा कराने लगे। डाकृरों की सलाह से अफ़ीम खाना छोड़ देना बहुत ज़रूरी जान पड़ने पर वे हकीमी इलाज से स्वास्थ्य सुधारने और अफ़ीम छोड़ देने की चेष्टा करने लगे। १०-५ दिन कुछ फ़ायदा मालूम हुआ; पर फिर तबीयत ख़राब हो गई। धीरे-धीरे जितने दिन बीतने लगे उतना ही शरीर दुर्बल हो चला, रोग भी बढ़ने लगा। आषाढ़ के अन्त में डाकृर हीरालाल घोष और बाबू अमूल्यचरण बसु ने मिलकर रोग की जांच की। पीछे डाकृर मेकनेल साहब को बुलाकर रोग की जाँच कराई गई। उन्होंने यथेष्ट आशङ्का का कारण बतलाया। अन्त को हीरालाल बाबू,

শ্মশানে-বিদ্যাসাগর।

श्मशान में विद्यासागर।

अमूल्य बाबू, मैकनेल साहब और दार्च साहब ने मिलकर सलाह की। किन्तु उस सलाह से सबकी यह धारणा हुई कि रोग असाध्य हो गया है। ऐसी अवस्था में चिकित्सा का चलना असम्भव जान पड़ने से दोनों साहबों ने जवाब दे दिया। बीच में कई दिन तक अमूल्य बाबू की चिकित्सा ही होती रही। अन्त को सलाह करके डाक्टर सालजर को बुलाकर होमिओपेथिक चिकित्सा कराई जाने लगी। सालजर साहब ने भी रोग की जाँच करके अपनी राय यह ज़ाहिर की कि रोग भारी है और आराम होने की सम्भावना बहुत कम है। उन्होंने यह भी कहा कि पीड़ा चाहे जितनी प्रबल होती, कुछ डर न था। किन्तु शरीर का जीर्ण शीर्ण होना, दुर्बलता और बुढ़ापा ही आशङ्का का कारण है। इसके बाद डाक्टर सालजर ने चिकित्सा शुरू की और कुछ दिन तक कुछ फ़ायदा भी मालूम पड़ा। अनेक व्याधियों में से हिचकी का बहुत आना ही प्रधान था। इसी से उनको अत्यन्त क्लेश था और यही आशङ्का का प्रधान कारण था। दवा के ज़ोर से कभी हिचकियों का आना कम हो जाता था, कभी बढ़ जाता था; किन्तु हिचकियों का आना एकदम बन्द नहीं हुआ। इसके ऊपर थोड़ा-थोड़ा ज्वर भी आता था। धीरे-धीरे ज्वर भी ज़ोर पकड़ने लगा। ज्वर और पीड़ा की ज्वाला से शरीर एक दम शिथिल हो पड़ा। सरल, उज्ज्वल नेत्र धीरे-धीरे क्षीण ज्योतिवाले होकर गढ़े में चले गये और दीनता का परिचय देने लगे। जिस मुख में मधुर हँसी देखकर सैकड़ों लोग तृप्त और मुग्ध होते थे वह उनका मुखमण्डल आज मलिन हो आया। नित्य जान पड़ता था, कोई अलक्षित हाथ चुपके-चुपके उस मुख की शोभा और सौन्दर्य को हर रहा है। आषाढ़ बीत गया। सावन का पहला सप्ताह भी समाप्त हो चला। डाक्टर सालजर रोगी की अवस्था देखकर निराश हो गये। अन्य किसी

चिकित्सा से कुछ लाभ होने की सम्भावना न देखकर विद्यासागर पहले जो अपनी व्यवस्था के अनुसार दवा खाते थे वही दवा फिर करने लगे। उससे भी कुछ फ़ायदा हुआ, पर स्थायी आरोग्य-लाभ न हुआ। धीरे-धीरे मृत्युकाल के निकट आने के लक्षण दिखाई देने लगे। क्रमशः ज्वर तो बढ़ने लगा, पर यन्त्रणा कम हो चली। इस प्रकार जीवन और मृत्यु के बहुत लम्बे-चौड़े संग्राम में भी मरते दम तक उनका ज्ञान वैसाही बना रहा। जो लोग बहुत दिनों के बाद भी मुलाक़ात करने आये उनको उन्होंने पहचाना और बैठने के लिए कहा। किसी-किसी से बड़े कष्ट से दो-एक बातें भी कीं।

डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार देखने के लिए आये। विद्यासागर ने उनसे पास बैठने के लिए इशारा किया। बहुत दिनों की उनकी मित्रता और बीच में मनमुटाव के कारण को स्मरण करके विद्यासागर बहुत व्याकुल हुए। बड़े कष्ट से उन्होंने उनसे दो-एक बातें भी कीं। प्रसिद्ध वक्ता सुरेन्द्रनाथ को वे बचपन से प्यार करते थे। पहले ही कहा जा चुका है कि सुरेन्द्र बाबू जब विलायत में सिविल-सर्विस की परीक्षा देने गये और उनकी अवस्था के बारे में गड़बड़ मची तब विद्यासागर ने ही यहाँ से उनकी सहायता की थी। उन्हीं ने कलकत्ता-पुलीस-कोर्ट में सुरेन्द्र बाबू की अवस्था के बारे में अपनी साक्षी दी थी और उसे विलायत के अफ़सरों ने स्वीकार कर लिया था। सिविल-सर्विस को असमय में ही छोड़ने के लिए बाध्य होकर जब सुरेन्द्र बाबू चारों ओर शून्य देखने लगे थे तब, उस कुसमय में, विद्यासागर ने ही सुरेन्द्र बाबू को आश्रय दिया था। वही सुरेन्द्र बाबू जब अपनी बुद्धि के कौशल, चेष्टा, यत्न और प्राणपण अध्यवसाय के बल से रिपन-कालेज के स्वत्वाधिकारी हो गये थे तब विद्यासागर के जीवन का दीपक अस्तप्राय हो रहा था। उस समय

उनके मुँह से बात नहीं निकलती थी। सुरेन्द्र बाबू देखने के लिए आये। विद्यासागर ने बड़े स्नेह से पास बैठने के लिए इशारा करके अपनी स्वाभाविक रसिकता के अनुसार अपनी सफ़ेद मूछों पर हाथ फेरकर इशारे से कहा--"तुम्हारे भी इतनी जल्दी बाल सफ़ेद हो गये ?" इसी तरह सैकड़ों आदमी देखने आये थे। मरते दम तक विद्यासागर ने सबसे स्नेह और आदर का बर्त्ताव करके सबको सन्तुष्ट किया।

बँगला सन् १२९८ के १३ श्रावण को तीसरे पहर और शाम के बाद भी उनके बड़े ज़ोर का बुख़ार था। १३ श्रावण की रात को दो बज के अट्ठारह मिनट पर बङ्ग-जननी की गोद को सूना करके—विषाद-राशि से रात्रि के अन्धकार को बढ़ाकर—बङ्गालियों के घर में हाहाकार की ध्वनि उठवाकर—ईश्वरचन्द्र अमर-धाम के मार्ग में अग्रसर हुए। घर में उनके पुत्र और कन्याएँ अपने बच्चों-सहित ज़मीन पर लोट-लोटकर रोने लगे। आत्मीय-स्वजन शोक से मुर्दे की तरह बने हुए मृत्यु-शय्या को घेरे खड़े थे। असहाय दुखिया लोग निराश्रय होकर कटे हुए पेड़ की तरह ज़मीन पर लोट रहे थे।

किन्तु स्वर्ग के मार्ग में बिजली का प्रकाश हो उठा। देव-गण इस अमर आत्मा के सत्कार के लिए अग्रसर हुए। देवताओं के कण्ठ से निकली हुई जय-ध्वनि, मङ्गल-ध्वनि और आनन्द-कोलाहल से आकाश गूँज उठा। इस लोक में विषाद का घना अन्धकार छा गया, और परलोक के मार्ग में आनन्द-कोलाहल मच गया। एक ओर अमावास्या का अन्धकार और दूसरी ओर पूनो की चाँदनी का चमत्कार देख पड़ा। एक ओर महाशून्यता सर्वत्र छा गई और दूसरी ओर देवताओं की भीड़ का पवित्र मधुर कलनाद पवित्र प्रकाश के साथ व्याप्त हो उठा। उसी की एक रेखा दैव-संयोग से

मनुष्यलोक में, बङ्गाल में, ईश्वरचन्द्र के सोने के कमरे में प्रतिफलित हुई। वह रेखा यह है—

इधर सहसा स्वर्ग से उतर आया पुष्पक रथ।
कल्प-वृक्ष फूलों की कर वर्षा छिपा दिया किसी ने जैसे गगन-पथ॥
बिजली चमके रथ के पहिये में, चोटी पर स्वर्गीय ध्वजा डोले।
आस-पास सोहैं मणि और मुक्ता विमल स्वर्गीय विभा खोले॥
चारों ओर उसके, चार बालिका श्वेत-वस्त्र पहने सोई।
कोई लाई हैं गङ्गाजल, कोई चँवर चन्दन कोई॥
दूसरी बाला के कोमल कर में स्वर्णपट में लिखी न-जाने कौन बात।
धीरे-धीरे उतर आई वे रथ से खड़ी हुई जहाँ तापस विख्यात॥
चरण-कमल में सिर झुका स्वर्गीय वीणा में मिला कर तान।
न-जाने कहा क्या सबने सम स्वर में स्वर्गीय भाषा में गाकर गान॥

\+ \+ \+ \+

हे तापसवर! साधना तुम्हारी, चलो तुम अब।
लेने को इष्टवर चलो देवपुर खड़े हैं देवता द्वार पर सब॥
स्वयं कीर्त्तिदेवी गूँथ के फूल-माला करें प्रतीक्षा हे द्विजवर।
बैठायेंगी तुम्हें यत्न करके बैठा नहीं कोई जिस सिंहासन पर॥

\+ \+ \+ \+

चलो चलो देव जल्दी चलें करो ना करो ना विलम्ब रार।
गङ्गाजल में धोओ देह उतारो मही का दुःखभार॥
यह दिव्य चन्दन आओ लगा दें चरण-कमल में हम सब आज।
उठो उठो देव! बैठो शीघ्र रथ पर वृथा इस विलम्ब से क्या है काज॥
इस स्वर्णपट में लिखी हुई है तुम्हारी महिमा स्वर्णाक्षरों से।
है अनुमति परम पिता की तुमको स्वर्ग में लाने को वरों से॥

\+ \+ \+ \+

मिल के तुरत चारों बालाओं ने उठाकर उनको विठाया रथ पर।
फिर देवता प्रसन्न होकर बरसायें सुमन गगन-पथ पर ॥
आगे बढ़कर आप चन्द्र ने ग्रहण किया उन्हें सादर।
आनन्द बरसा अमृत किरणों से स्वर्ग शान्ति का जैसे घर ॥
बिन्दु ऐसा प्राण अनन्त में जा मिला हुआ स्वयं अनन्त प्राण।
बजी स्वर्ग में विजय-दुन्दुभी गाया देवों ने विजय-गान ॥*

विद्यासागर की अमर आत्मा १३ श्रावण की आधी रात के उपरान्त मनुष्यलोक को छोड़कर अनन्त-धाम की ओर सिधार गई। सबेरा होने के पहले, बङ्गाल के हृदय में शोक-सूर्य की विषादमयी किरणों के पड़ने के पहले—असंख्य बङ्गरमणियों का शोकोच्छ्वास चारों ओर फैलने के पहले—उनका शव ले जाने की तैयारी हो गई। रास्ते में उनके चिरप्रिय मेट्रोपालीटन-कालेज के सामने दम भर ठहरकर कलकत्ते के महाश्मशान नीमतल्ला घाट में विद्यासागर के आत्मीय-स्वजन लोग उनकी लाश को ले आये। चन्दन की लकड़ी की शय्या पर विद्यासागर का शव लिटाया हुआ था। चारों ओर शोकाकुल विषण्ण आत्मीय-स्वजन लोग खड़े थे। सवेरे इस दृश्य का एक फोटो लिया गया। उसके बाद अन्त्येष्टि की तैयारी होने लगी। उस सुवृहत् चित्र में अङ्कित मुख-मण्डल में मृत्यु की छाया ने मानो विषाद का आभास भर दिया है। उधर देखने से हृदय फट जाता है—शरीर शिथिल हो पड़ता है—भीतर न-जाने कैसे एक उदास अप्रिय-भाव का सञ्चार होता है। इसी से उस लेटी हुई लाश का चित्र देने का साहस नहीं किया गया। इसके बाद कुछ प्रकाश

* श्रीयुत महेन्द्रमोहन चन्द्र-लिखित "दयार सागर विद्यासागर" नाम की पुस्तक में यह बँगला-कविता थी। कोई छन्द न रखकर हिन्दी में यह उसी का शब्दानुवाद कर दिया गया है।

के फैल जाने पर स्नान कराकर चिताशय्या पर शयन कराने के पहले जो फोटो लिया गया था वही चित्र यहाँ पर दिया गया है। रोग से जीर्ण-शीर्ण और मृत्यु के कराल हाथों से विकृत मुख में वही शान्ति और कमनीयता, देह में वही दृढ़ता, दाहने हाथ में वही लोक-सेवा का भाव दिखलाई पड़ता है।

हे वीरवर, हम आज किस हृदय से क्या कहकर विदा करें! तुम तो अभागिनी वङ्ग-जननी के प्रिय पुत्र हो। हे देव! तुम्हारे चले जाने से पिता और माता के भक्तों का सजीव आदर्श उठ जायगा। तुम्हारे चले जाने से आदर्श छात्रजीवन के दृष्टान्त को वङ्गाली बालक कहाँ पावेंगे? तुम्हारे चले जाने से दीन-दुखी लोगों को मीठी बातों से कौन सन्तुष्ट करेगा? इसी से कहते हैं, तुम न जाओ, तुम हम लोगों को न छोड़ो। तुम्हारे चले जाने से तुम्हारे साथ वङ्गाल का आशा-भरोसा और सुख-सौभाग्य भी चला जायगा। इसी से कहते हैं, तुम चले जाओगे तो हम कहाँ जायँगे? हमको भी फिर वहीं ले चलो। हम उस सुख के राज्य में तुम्हारी स्नेह-ममता और मधुर हँसी के प्रकाश में बसकर परम शान्ति पावेंगे। तुम तो परम विज्ञ हो। तुम क्या नहीं जानते कि तुम्हारे न रहने से हमारा सर्वनाश हो जायगा। सैकड़ों ग़रीब अन्न के अभाव से चिल्ला रहे हैं। तुमने जीवन-काल में एक बार ऐसे लोगों की मासिक वृत्ति का रजिस्टर मेरे आगे फेंककर कहा था—"मैंने क्या कहीं जाने का रास्ता रक्खा है? इसी एक काम में मैंने अपने को ऐसा फँसा रक्खा है कि कहीं जा नहीं सकता।" हे देव, फिर आज सब काम छोड़कर—सब ममता भूलकर—दुखियों के दुख का ख़याल न करके कहाँ चले जाते हो? यदि हमारा रोना—हमारे हृदय का प्रेम तुमको नहीं रोक रख सकता तो—

जाओ देव, स्वर्गपुर में करो जाकर विश्राम !
पाकर प्रभु की दया, भूलो न सबकी माया,
याद करना, याद करना देव भारत का नाम ।
अभागिनी बङ्गभाषा, इसकी करना मङ्गल आशा,
बालविधवाओं पर होना नहीं वाम ॥
दरिद्र बङ्गाली-गण, जगाओ इन्हें मन ही मन,
मरण में होवे नहीं चिर-परिणाम ॥*

पवित्र जलवाली भागीरथी ! आज तुम्हारे लिए सुप्रभात है । इसी से तुम प्रातःकाल की हवा से बातें करती आनन्द से नाच रही हो । आज तुम्हारे पवित्र जल में पवित्र-शरीर ईश्वरचन्द्र की महा-मूल्य भस्म बहाई जायगी, तुम्हारी हर एक लहर उससे मिलकर नाचेगी । तुम गर्व के साथ उस भस्म को लेकर समुद्र से मिलने जाओगी—इसी से आनन्दमग्न हो रही हो । किन्तु देखो, इस महामूल्य भस्म-राशि का अनादर न होने पावे ! तुम नहीं जानतीं कि कितने हृदयों का आशा-भरोसा, कितने लोगों की सुख-सम्पत्ति, कितने लोगों का आनन्द और आराम हरे लिये जाती हो । आज तुम्हारे असीम सौभाग्य के समागम को देखकर हम शून्य हृदय लिये तुम्हारी ओर ताक रहे हैं—असमर्थ और असहाय लोगों की मण्डली लँगड़े की तरह तुम्हारी ओर सतृष्ण दृष्टि से देख रही है । देखो, कोई निराश न होने पावे ! इनके आदर की—परम यत्न की—सामग्री यह ईश्वरचन्द्र की भस्म इधर-उधर न बहा देना; परम प्रेम से इसे अपने भीतर रखना ।

जो लोग शव लेकर गये थे, जो लोग साथ गये थे, जो लोग गङ्गातट पर मसान में लेटे हुए विद्यासागर को देखने दौड़े गये थे,

---

* यह भी उसी तरह बँगला छन्द और कविता का शब्दानुवाद है ।

सब लोग उस महापुरुष को गँवाकर शून्य-हृदय, मलिन-मुख होकर आँखों में आँसू भरे अपने-अपने घर को लौट गये। विद्यासागरजी चुपचाप काम करना पसन्द करनेवाले आदमी थे। आश्चर्य है कि मरने पर भी उनकी अन्त्येष्टिक्रिया के समय और कोई शव श्मशान में नहीं आया। अनेक कष्टों और मानसिक चिन्ताओं में उन्हें अपनी ज़िन्दगी बितानी पड़ी थी। यह भी कुछ सुख की बात है कि अन्त को मसान में अकेले वे भस्म हो सके। यहाँ भी उनके जीवन की स्वतन्त्रता इस तरह सुरक्षित हुई।

१४ श्रावण को सवेरे चिता जली और उसके बाद चिता बुझने पर अस्थिसञ्चयन हुआ। इसके बाद चारों ओर बङ्गाल के हर ज़िले, हर गाँव और हर घर में हाहाकार मच गया। धनी-दरिद्र, उच्च-नीच, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सबको विद्यासागर का शोक हुआ। एक प्रकार से सारे भारत में शोक छा गया। इस तरह देश भर के सब लोग कभी किसी की मृत्यु से शोकाकुल नहीं हुए। विद्यासागर के स्कूल के लड़कों ने अपने को पितृहीन समझकर जूते पहनना छोड़ दिया। सब अख़बार शोकचिह्न धारण करके अश्रुपात करते-करते लोगों के यहाँ उपस्थित हुए। चारों ओर भयानक हाहाकार और रोना-धोना मच गया। विद्यासागर के मरने के अवसर पर इस बात का प्रमाण मिल गया कि बङ्गाल के समाज-शरीर में अभी तक जान बाक़ी है, बङ्गाली लोग किसी हितैषी के शोक में मिलकर हृदय से विलाप कर सकते हैं और बङ्गाली लोग वीर-पूजा करने में किसी से कम नहीं हैं।

भगवान् कृपा करें, इस हितैषी के शोक से—वीरपूजा से जातीय जीवन की शुभ सूचना का सूत्रपात हो। बङ्गाल के जातीय जीवन-चरित के हर एक पृष्ठ में वीरचरित लिखा जाय। विद्यासागर के

स्वर्गारोहण के अवसर पर भारत में जो जातीय शोक, क्षोभ और मानसिक सन्ताप का अभिनय देखा गया था वह अगर किसी उपाय से स्थायी बनाया जा सकता तो निस्सन्देह हमारे जातीय जीवन को सङ्गठित और उन्नत बनाने के काम में यथेष्ट सहायता करता।

बङ्गालियों की शक्ति के सम्मिलित उद्योग से जातीय अभिनय देख पड़ने में अभी बहुत विलम्ब है। इसी से विद्यासागर के वियोग के अवसर पर भारत के अनेक स्थानों में अलग-अलग सभा-समितियाँ हुई और स्मारक-चिह्न स्थापित करने की अलग-अलग चेष्टा की गई। कलकत्ते में घर-घर और स्कूलों में विद्यासागर के चित्र की स्थापना हुई है। बंगाल के अनेक स्थानों में अनेक प्रकार से उनका स्मारक बनाने की चेष्टा की गई है। ढाके का अनुष्ठान ही विशेष भाव से उल्लेख के योग्य है। ढाके के धनी-दरिद्र, छोटे-बड़े सब नगरनिवासियों के उत्साह और आग्रह से एक बड़ी भारी सभा हुई थी। बान्धव-सम्पादक श्रीयुत बाबू कालीप्रसन्न घोष ने सभापति की हैसियत से विद्यासागर के विविध गुणों का वर्णन किया था। साहित्यानुरागी श्रीयुत राजा राजेन्द्रनारायण रायबहादुर ने ढाका-कालेज में विद्यासागर-स्कालरशिप नाम से दस रुपये मासिक की एक छात्रवृत्ति जारी करने के लिए ३०००) रुपये दिये थे। बर्द्धवान में भी सर्वसाधारण के उद्योग से और विद्यासागर के भक्त श्रीयुत गङ्गानारायण मित्र के आग्रह से विद्यासागर का एक चित्र स्थापित किया गया था। किन्तु विद्यासागर ऐसे हितैषी के लिए क्या इतना करना ही यथेष्ट है? दुःख यही है कि कलकत्ते की विराट् सभा में केवल आठ-दस हज़ार रुपये का चन्दा आया। जिन्होंने ग़रीबों की सेवा और अच्छे कामों में दस-बारह लाख रुपये ख़र्च कर डाले, जिन्होंने समाज-संस्कार,

साहित्यचर्चा और लोकसेवा में अपना जीवन अर्पण कर दिया उनकी पूजा के लिए केवल दस हज़ार रुपये जमा हुए !

फ्रान्स देश के सच्चे हितैषी नेपोलियन ने जब स्वजनों और अपनी जातिवालों से त्यागे जाने पर सेन्टहेलेना के एकान्त-वास में शरीर त्याग किया था, जब बिना आडम्बर के चुपचाप बोनापार्ट का शरीर क़ब्र में रक्खा गया था, तब फ्रेञ्च जाति जातीय ऋण के भार को समझ नहीं सकी—कर्त्तव्य-बुद्धि के तीव्र तिरस्कार का अनुभव नहीं कर सकी। किन्तु उनके परलोकवास के दस वर्ष बाद जिस समय उनकी लाश को, समुद्रवेष्टित सेन्टहेलेना के निर्जन जेलख़ाने से, देव-देह की तरह पवित्र वस्तु समझकर, फ्रेंच लोग फ्रांस में ले आये थे, उस समय फ्रांस के एक छोर से दूसरे छोर तक सारे देश में एक ही लहर लहरा रही थी, एक ही शब्द गूँज रहा था, एक ही भाव में सब लोग उन्मत्त हो रहे थे, एक शरीर की तरह सब लोग उठकर पिता के शोक से व्याकुल पुत्र की तरह हाहाकार मचाकर विलाप करने लगे थे। महल में, झोपड़ी में, अदालत में, होटल में या गिर्जे में, जो जहाँ था वह वहीं से पागल की तरह दौड़कर उस भीड़ में शामिल हो गया था। उस समय फ्रांस के गाँव और नगर, जङ्गल और बस्ती एक हो गये थे। उस एकीभूत अपूर्व उन्मादमय भीड़ की उन्मत्त बना देनेवाली शोभा को देखकर सारे यूरोप ने विस्मय और भय के साथ सिर झुकाया था। पराधीन भारत में भी विद्यासागर के वियोग से जातीय शोकोच्छ्वास की हर एक लहर में वीरपूजा के पुष्प नृत्य कर रहे थे। यह देखकर मेरे मन में भी बड़ी आशा हुई है। मैं जैसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि इतने दिनों के बाद जातीय जीवन का काम शुरू हुआ है। + + + जिनके लिए आज सब रोते हैं, वे महापुरुष थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। उन्होंने

इतने लोगों के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इससे इसमें सन्देह नहीं कि उनका हृदय प्रशस्त था। सागर के बिना और कौन सब नदियों को अपनी ओर घसीट सकता है? किन्तु दुःख यही है कि ये सब नदियाँ सागर की ओर चलकर रास्ते में सामाजिक जटिलता की मरुभूमि में सूख गईं। हम लोग जीते ही मुर्दे के तुल्य हो रहे! दारुण आलस्य के विष से हमारे सब अङ्ग ऐसे शिथिल हो गये हैं कि हम सहज में खड़े नहीं हो सकते। खड़े भी होते हैं तो अपने लक्ष्य की ओर आगे नहीं बढ़ सकते। इसी से यह देखकर भी कि कितने ही देशों के लोग उठकर खड़े हो गये हैं, हमको चेत नहीं होता। हम लोग आलस्य की शय्या पर शिथिल भाव से पड़े हुए, विकार-ग्रस्त रोगी की तरह, सैकड़ों प्रकार के सुख के सपने देखते हैं और विश्वव्यापिनी उदारता की डींग हाँकते हैं।

विधाता से यही प्रार्थना है कि उनके आशीर्वाद से इस घोर अमावास्या के घने अन्धकार में विद्यासागर की जीवनी पढ़कर बङ्गाली और सारे भारत के पाठकों के हृदय में जातीय जीवन की लालसा, निष्ठा के साथ कर्त्तव्य-पालन में अध्यवसाय और वीरोचित गुणावली के अनुकरण में प्रवृत्ति हो। ऐसा होने से यह जाति धन्य होगी। जातीय जीवन के इतिहास के पृष्ठ में हम नये सिरे से नवीन अध्याय की सूचना करने में समर्थ होंगे।

उपसंहार

पृथ्वी का इतिहास भिन्न-भिन्न जातियों के उत्थान-पतन की स्थायी प्रतिध्वनि मात्र है। इस जातीय उत्थान-पतन में जो लोग इसकी उन्नति अथवा अधःपात में सहायता करते हैं वे लोकसमाज में अनन्त काल तक अपने किये कर्म के लिए पुरस्कार या तिरस्कार पाते हैं। किन्तु जो लोग देह का रुधिर गिराकर—आकांक्षा और आग्रह के साथ जीवन का महामूल्य समय लगाकर—जातीय जीवन का सङ्गठन और समुन्नति करते हैं वे, भिन्न रुचि, भिन्न भाव और भिन्न प्रवृत्ति के लोगों से परिपूर्ण पृथ्वी में सदा परम पूजनीय देवचरित्र के पुरुष कहलाते और आदर्श-मनुष्य कहलाये जाकर आदर पाते हैं। वे ही समाज की उन्नति के सहायक समझे जाकर पुजते हैं। ऐसे पूजनीय मनुष्यों के आविर्भाव से पृथ्वी की सभी जातियाँ थोड़ा-बहुत गौरव पाती हैं। किन्तु वर्त्तमान समय की प्रबल और सौभाग्य के घमण्ड से फूल रही जातियों की दृष्टि में उपेक्षा के पात्र भारतसन्तान ही इस बारे में सबसे अधिक भाग्यवान् हैं। सच है कि वाशिंग्टन के नाम से अमेरिका-वासियों के हृदय में एक स्वर्गीय प्रकाश की रेखा प्रतिफलित होती है, कमनीयता की कोमल गोद में विकसित भावों के आधार एमर्सन के नाम से प्रकृति-चर्चा-प्रिय मनुष्यमात्र मुग्ध हो जाते हैं, थियेडोर पार्कर के विश्वविजयी पौरुष को स्मरण करके मनुष्यमात्र सिर झुकाते हैं, सामयिक त्रुटि और कमज़ोरी को

भूलकर फ़्रांसवासी लोग नव्य यूरोप के जन्मदाता नेपोलियन के नाम पर उन्मत्त हो उठते हैं, वर्त्तमान प्रत्यक्षवादियों के पथ-प्रदर्शक महात्मा कॉम्ट और बेन्थम के शिष्य महामति मिल मनुष्य-समाज के चिर-सुहृद् समझे जाते हैं, धर्म-संस्कारक महात्मा लूथर कूड़ा-कर्कट से ईसाई-धर्म को निकालकर नवजीवन के मार्ग में अग्रसर करके पाश्चात्य समाज का बड़ा उपकार कर गये हैं। यह सब सच है, किन्तु तब भी यह कहना पड़ता है कि इस बारे में भारत-सन्तानों के सौभाग्य की सीमा नहीं है। विदेशी महात्माओं की अपेक्षा हमारे यहाँ के महात्माओं की संख्या कहीं अधिक है। अत्यन्त प्राचीन काल में जिन्होंने जन्म लेकर हमारी प्यारी निवास-भूमि भारतवर्ष को गौरवशाली बनाया है उनका धारावाहिक रूप से संक्षिप्त उल्लेख करना भी यहाँ, स्थानाभाव से, असम्भव है; तथापि यह कहना बहुत ज़रूरी है कि जिस जाति के जातीयजीवन के मार्ग में पूर्व घटनाओं की ओर नज़र डालते ही त्रेता के आदर्शपुरुष श्रीरामचन्द्र के चरित्र की महिमा आप ही आप अलक्षित भाव से हृदय में झलक जाती है और रामायण में वर्णित चरित्रों की कहानी चुपचाप, रात को ओस गिरने के समान, जातीय जीवन को सङ्गठित करती है, उस जाति के सौभाग्य की सीमा नहीं है। द्वापर के धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र के युद्ध के मैदान में शर-शय्या पर पड़े हुए महानुभव भीष्मपितामह के वीर-व्रत की समाप्ति और उनके मुख से उस समय निकले हुए सदुपदेशों ने जिस जाति के चरित्र-गठन में सहायता की है—जिस जाति की राजनीति, समाजनीति और धर्मनीति के विकास में श्रीकृष्ण ऐसे महापुरुष आदर्शरूप से विराजमान हैं—वह जाति सचमुच सौभाग्यशालिनी है। किन्तु आज उसी जाति के नर-नारियों के सिखने-सिखाने और सुनने-सुनाने के अनेक अमूल्य चरित्र-रत्न उनकी झोपड़ियों के

कूड़े-करकट में छिपे पड़े हैं। इसी से आज वह जाति कहीं उपेक्षित, कहीं परित्यक्त और कहीं अनादृत हो रही है। अनेक अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग कहते हैं कि राजा राममोहन राय और विद्यासागर ऐसे प्रतिभाशाली लोग इँगलेंड और अमेरिका में न पैदा होकर भारत में क्यों पैदा हुए? इसका सहज और स्वाभाविक समाधान यह है कि जो देश शाक्यसिंह की जन्मभूमि है, जहाँ शङ्कराचार्य ऐसे प्रतिभाशाली पराक्रमी महात्मा उत्पन्न हुए हैं, जहाँ चैतन्यदेव ऐसे धार्मिक भक्त पुरुष ने जन्म लिया उस देश के सिवा और किसी देश में राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र का जन्म नहीं हो सकता। भारतवर्ष की विशेषता कहो और चाहे बंगाल का सौभाग्य कहो, जो राममोहन, ईश्वरचन्द्र, देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र ऐसे महापुरुषों ने यहाँ जन्म लिया। कई शताब्दियों के साधु-सज्जनों और ऋषि-तपस्वियों की तपस्या के फल से हमारी जन्मभूमि इन सुपुत्रों को पाकर अपने अस्तित्व को सफल बना सकी है।

प्राचीन मनस्वी आर्य ऋषियों के चलाये काल-विभाग के अनुसार सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग, इन चार युगों का उल्लेख पाया जाता है। बहुसम्मानास्पद श्रीयुत माननीय रमेशचन्द्र दत्त, सी० एस०, सी० आई० ई० महोदय ने इन चार युगों के साथ-साथ एक नवीन ऐतिहासिक समय-विभाग किया है। यथा १—वैदिक युग, २—महाकाव्य युग, ३—दार्शनिक युग, ४—बौद्ध युग, ५—पौराणिक युग, ६—राममोहन राय युग। इनमें से हर एक युग की सुन्दर विवेचना की गई है। 'राममोहन राय युग' की व्याख्या में उनकी विवेचना का और भी अच्छा परिचय प्राप्त होता है। राममोहन राय इस युग के जन्मदाता हैं। जो लोग विचारपूर्वक सब विषयों के सार-संग्रह में लगे हुए हैं वे देखेंगे कि जितने प्रकार के विचारों से

आज वंगाली-समाज भरा हुआ है उनका सूक्ष्म सूत्र राममोहन राय की प्रखर प्रतिभा से ही सम्वन्ध रखता है। शास्त्र-चर्चा और धर्म की आलोचना से लेकर जातीय शक्ति की रक्षा और अन्नहीन किसानों यथा मज़दूरों की अवस्था की उन्नति करना आदि हर एक विषय के साथ उक्त महात्मा का एक सा सम्वन्ध है। वे सभी वातों में युगान्तर उपस्थित कर देनेवाले पुरुष थे।

महात्मा राममोहन राय जिस युग के प्रवर्त्तक थे उसी युग के द्वितीय महापुरुष ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हैं। माननीय जज श्रीयुत सर गुरुदास वनर्जी ने, विद्यासागर के मरने के वाद, मेट्रोपोलीटन-कालेज की सभा में सभापति की हैसियत से कहा था—"He was second to none except one—Great Rammohan Roy." अर्थात्, वर्त्तमान समय की सव अवस्थाओं की आलोचना करने से देख पड़ता है कि मृत महात्मा (विद्यासागर), राममोहन राय को छोड़कर, तुलना में किसी से हीन न थे।

उन्नीसवीं शताव्दी के मध्य-भाग में सारी पृथ्वी के लोगों की जातीय उन्नति और ऐश्वर्य के इतिहास में एक नवीन अध्याय की सूचना हुई। पैाराणिक कथा में सुन पड़ता है कि भागीरथ ने वहुत तपस्या करके गङ्गा को लाकर पितरों की गति वनाई थी, वैसे ही मनुष्यों की सद्गति के लिए वर्त्तमान शताव्दी के प्रारम्भ में जो महापुरुष तपस्या कर रहे थे उनकी साधना के वल से, मनुष्य-सन्तानों के सुख-सैाभाग्य के अन्धकार-पूर्ण पूर्वाकाश में, सम्पत्ति-सूर्य के भावी अभ्युदय का आभास पाकर उस समय के ज्ञानी लोग पुलकित हुए थे। जिस समय अमेरिका में महात्मा फ्रैंकलिन और पुरुषसिंह वाशिङ्गटन के पैारुष के वल से पराधीनता की दृढ़ वेड़ियाँ कट गई थीं और जातीय जीवन का स्रोत प्रवल वेग से प्रवाहित होने

शुरू हुआ था, जिस समय पार्कर और गैरिसन अभागे निग्रो जाति के गुलामों का दुःख दूर करने के इरादे से स्वार्थपर लोगों की मण्डली के विरुद्ध समर-घोषणा का सूत्रपात कर रहे थे, उसी समय अज्ञता और कुसंस्कार के घने अँधेरे में डूबे हुए भारत में नवीन युग के आगमन का सङ्केत सुन पड़ा था; जिस समय इँगलैंड में बर्क, फ़ाक्स आदि राजनीति-विशारद लोग प्रबलों के किये विविध अत्याचारों को रोकने के लिए जान लड़ा रहे थे, जिस समय विलबारफ़ोर्स आदि सहृदयों ने दुर्बलों के पक्ष का समर्थन करने में अपने को लगा दिया था, जिस समय महापुरुष नेपोलियन ने यूरोप के भाग्यचक्र को अपने इशारे पर चलाने के इरादे से दाहने हाथ की तर्जनी उठाकर पृथ्वीमण्डल को चुप रखना चाहा था, जिस समय अनेकों सहृदय महात्मा लोग पृथ्वी के अनेक स्थानों में असहाय मनुष्यों का दुःख दूर करके उन्हें सुखी बनाने में लगे हुए थे, उसी समय अज्ञता और कुसंस्कार के घोर अन्धकार से आवृत भारत के भीतर आडम्बर के कोलाहल, तामसी रंगरस, धर्म के नाम से की जानेवाली अनेक प्रकार की अनीतियों की पूर्ण प्रतिष्ठा के बीच में नवीन युग के आने का सङ्गीत सुनाई पड़ा था। विधाता की इच्छा से राजर्षि राम-मोहन राय अपने को समय के सम्पूर्ण उपयुक्त बनाकर भारत के पूर्वप्रान्त में प्रकट हुए थे। उन्होंने जान लड़ाकर जिन अच्छे कार्यों का सूत्रपात किया था वे उनकी अकाल मृत्यु से अधूरे पड़े हुए थे। कई एक वीर बङ्गालियों ने उन कार्यों को पूर्ण करने का भार अपने ऊपर लिया।

जिस समय मज़िनी और गेरीबाल्डी स्वदेश के उद्धार के लिए कमर कस चुके थे, जिस समय सैफ़्ट्सबरी, ब्राइट, कावडेन आदि महात्मा इँगलैंड में लोक-हित के व्रत में लगे हुए थे, जिस समय

कुमारी कार्पेन्टर इँगलेण्ड के परित्यक्त युवक-युवतियों और बालक-बालिकाओं की दुर्दशा देखकर व्याकुल होकर लोकसेवा में लगी हुई थीं और कठिन रुकावट के रहते भी सफलता प्राप्त करके Reformatory School Act पास करा रही थीं उसी समय तरह-तरह के सामाजिक उत्पीड़न सहते हुए दयासागर ईश्वरचन्द्र भारतीय नारियों को सुखी करने का मार्ग साफ़ कर रहे थे; जिस समय कुमारी काब् और कुमारी नाइटेंगिल स्त्रियों के हित के लिए जन्म भर कुमारी रहने को तैयार हो रही थीं, जिस समय रूस के सम्राट् अलेक्ज़ण्डर ने सिंहासनारोहण की ख़ुशी में दो करोड़ तीस लाख मनुष्यों को ग़ुलामी से छुटकारा दे दिया था, जिस समय मनुष्य-देवता लिङ्कन ने अपने जीवन के बदले दासों की स्वाधीनता की सनद पर हस्ताक्षर किये थे, उसी समय सैकड़ों प्रकार के सामाजिक उत्पीड़न सहते हुए बङ्गवीर ईश्वरचन्द्र भारत की नारियों को सुखी बनाने का मार्ग साफ़ करने में लगे हुए थे।

अब हम उनके उसी गुण, वीरता, साहस और पौरुष की संक्षिप्त समालोचना करेंगे जिसके कारण वे वर्त्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति माने जाते हैं।

वे बड़े आदमियों की तरह अनेक सुख भोगकर नहीं पले। जङ्गली फूल जैसे बिना किसी यत्न के आप ही उत्पन्न होता है और खिलता है वैसे ही विद्यासागर वीरसिंह गाँव के घर में ग़रीब घराने में जन्म लेकर आप ही अपनी चेष्टा से विकसित हुए। ग़रीब पिता ठाकुरदास ने किस तरह क्लेश उठाकर उनको पाला-पोसा और पढ़ाया-लिखाया, यह पहले ही लिखा जा चुका है। उस हाल को सुनकर कोई भी सहृदय पुरुष उनको धन्य कहे बिना नहीं रह सकता। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि अपरिचित ग़रीब बालक

ज़वानी की अवस्था में सुख-सम्भोग और प्रतिष्ठा पाकर संसार को तुच्छ समझते हैं, किन्तु विद्यासागर ने अतुल सम्मान और सम्पत्ति पाकर भी कभी ऐसा नहीं किया। उन्होंने बहुत विद्याएँ पढ़ीं, बहुत-सा ज्ञान, धन, सम्पत्ति और सम्मान प्राप्त किया, तब भी वे एक दिन या एक घड़ी के लिए अपने को नहीं भूले। वे सदा यह समझते रहे कि मैं वीरसिंहनिवासी ग़रीब ठाकुरदास वन्द्योपाध्याय का लड़का हूँ। झोपड़ी में बचपन बिताया था, इस बात को वे सदा गौरव के साथ स्मरण करते थे। एक वक्त खाकर और कभी कुछ न खाकर उन्होंने अपना छात्र-जीवन बिताया था, इसका उल्लेख करने में वे कभी सङ्कुचित न होते थे। तथापि उस समय उनसे बढ़कर प्रतिष्ठित पुरुष बङ्गाल में बहुत कम थे।

आज जो बँगला भाषा पढ़ी जाती है, उसके सङ्गठन के लिए बङ्गाली-मात्र उनके विशेष ऋणी और कृतज्ञ हैं। उन्होंने और अक्षयकुमार दत्त ने वर्त्तमान बँगला की सृष्टि की है। दोनों ने बँगला-साहित्य की बड़ी सेवा की है। ये लोग अगर बँगला-साहित्य के सेवक न होते तो उसकी इतनी जल्दी ऐसी उन्नति कभी न होती। साहित्य-सेवा में भी विद्यासागर की मौलिकता और काम करने की अद्भुत शक्ति स्पष्ट देख पड़ती है। एक दिन केवल कई घण्टे परिश्रम करके उन्होंने उपक्रमणिका बना डाली। उपक्रमणिका में उनकी विशेषता का विशेष परिचय प्राप्त होता है। बेताल-पचीसी, शकुन्तला और सीता-वनवास आदि पुस्तकों ने जिस लेखनी का गौरव बढ़ाया उस लेखनी की विशेषता यह है कि बच्चों के पढ़ने के लायक़ ग्रन्थ भी उसी से लिखे गये। उसी लेखनी से 'वर्णमाला' और 'वर्णपरिचय' भी लिखा गया। ये पुस्तकें भी स्कूल का मोआ-यना करने के लिए जाते समय, रास्ते में पालकी पर, उन्होंने लिखी

थीं। कोमलता और कठिनता का समावेश विद्यासागर के साहित्य-सम्बन्धी कार्य में भी देखा जाता है।

लड़कपन से ही दूसरों की सेवा करते रहकर जवानी के आरम्भ में जब वे सम्मान-प्रतिष्ठा के उच्च शिखर पर पहुँचे तभी से उन्होंने गुणी के गुण का आदर करने में, दुखियों का दुःख दूर करके उन्हें सुखी बनाने में अपने जीवन को अर्पण कर दिया। उन्होंने उस समय के अपने सर्व-श्रेष्ठ अधिकार को मनुष्य-सेवा में लगा दिया। गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिङ्ग के साथ परिचय होने के साथ ही उन्होंने हार्डिङ्ग-विद्यालय खुलवा दिये। इस तरह प्रेम-पूर्ण सेवा का भाव लेकर उन्होंने अपने जीवन के महाव्रत को पूर्ण करने का सूत्रपात किया। जिस भुवनविजयी कार्य के आगे सब भारतवासियों ने सिर झुकाया, जिस समाज-संस्कार के काम में उन्होंने सत्साहस, सत्य-निष्ठा और मनुष्यत्व का पूर्ण परिचय देकर अमर कीर्त्ति प्राप्त की उसका भी छोटा-सा अङ्कुर छात्रजीवन में ही उनके हृदय में उग आया था। बालक ईश्वरचन्द्र बालिका आत्मीया विधवाओं की दुर्दशा देखकर स्त्रियों के पक्षपाती बन गये थे। बैसाख-जेठ की कड़ी धूप में जिस समय पृथ्वी और आकाश जलता है उस समय पानी के लिए, एकादशी के दिन, बालिका विधवाओं को* छटपटाते देखकर विद्यासागर ने प्रतिज्ञा की थी कि "यदि कभी सुयोग प्राप्त होगा तो इन सुकोमल रमणियों की यह दुःख-दुर्दशा मिटाने का उद्योग अवश्य करूँगा।"

अपने गुरु वृद्ध वाचस्पतिजी की बालिका स्त्री को देखकर बड़े दुःख के साथ वे रोने लगे थे। वे एकमात्र बालिका के भावी परि-

* बङ्गाल में विधवाएँ एकादशी का निर्जल व्रत करती हैं। यह उनके लिए बहुत ज़रूरी समझा जाता है और चाहे प्राण निकल जायँ, पर उन्हें पानी नहीं दिया जाता।

खाम को ही विचारकर ऐसे व्याकुल नहीं हुए थे। क्रमशः इस तरह की अनेक बालिकाओं पर ऐसा सामाजिक अत्याचार होते देखकर उनसे नहीं रहा गया। वे स्त्रियों का पक्ष लेकर अकेले ही सारे समाज को परास्त करने के लिए उठ खड़े हुए। उन ऐसे सहृदय वीर पुरुष के लिए यही स्वाभाविक था।

ग़रीब के घर अनेक प्रकार के अभावों में जन्म लेकर समाज के शिरोभाग पर स्थान प्राप्त करने में समर्थ होना और हमेशा दीन-दुखियों के हित और सहायता के लिए आप कष्ट सहना सबका काम नहीं है। ऐसे काम इस तरह के महान् पुरुष ही कर सकते हैं। वे स्कूल में आदर्श विद्यार्थी, कामकाज के मैदान में निष्ठावान् और कर्त्तव्यपरायण आदर्श कर्मचारी और साहित्य-सेवा के मार्ग में सरल, परिमार्जित और श्रुतिमधुर गद्यरचना के पथप्रदर्शक रूप से हमारे सामने मौजूद हैं। मित्रों की सेवा करने में उनकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। राजा प्रतापसिंह सदा उनके सहायक मित्र रहे। विधवा-विवाह के आन्दोलन में उन्होंने धन से और कार्य से भी विद्यासागर की सहायता की थी। उस मित्रता के ऋण को विद्यासागर सदा कृतज्ञता के साथ स्मरण करते थे। राजा साहब के मरने पर उन्होंने उनके नाबालिग़ पुत्रों की भलाई करने में कोई कसर उठा नहीं रक्खी। समाज-संस्कार के मैदान में आज उनकी जगह पर काम करनेवाला कोई नहीं देख पड़ता। उन्होंने वीर वेश से खड़े होकर जातीयजीवन का कूड़ा-करकट निकालकर फेंक देने के लिए कमर कसी थी। उनके इस कार्य का उचित आदर हम लोग नहीं करते। हम लोग समय और अवस्था की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं। हम उनकी मुक्त शक्ति, मुक्तभाव और उदारतापूर्ण स्वाभिमान का सच्चा सम्मान किस तरह कर सकते हैं? अपनी उपमा वे आप ही हैं।

उन्होंने समाज-संस्कार-सम्बन्धी आन्दोलन के अवसर पर सर्व-साधारण के निकट अपना यथार्थ परिचय दिया था। उनकी अपरि-मेय शारीरिक और मानसिक शक्ति, विद्या-बुद्धि और जटिल सामा-जिक प्रश्नों के बारे में जानकारी और उनका किसी काम में भिड़ना सचमुच ही विचित्र और विलक्षण था। आगे की पीढ़ियों के बङ्गाली सदा उनको अपना गौरव समझेंगे और जितना समय बीतता जायगा उतना ही उनका चरित उज्ज्वल माधुर्य के साथ लोगों के मन को मुग्ध बनावेगा।

उन्होंने मनुष्यप्रेम का पूर्ण अनुभव प्राप्त किया था। वे मनुष्य-मात्र को सच्चे स्नेह की दृष्टि से देखते थे। वैसे स्नेह की दृष्टि से लोग अपने सगों को भी नहीं देख सकते। विद्यासागर लड़कपन से ही परोपकारी और दयालु थे। बारह वर्ष के बालक विद्यासागर आप अनेक कष्ट सहकर भी छात्रवृत्ति के रुपये से ग़रीब सहपाठियों की सेवा और सहायता करने लगे थे। इतनी थोड़ी अवस्था में जो बालक पराये दुःख को देखकर व्याकुल हो उठता था, दूसरों को सुखी बनाने के लिए आप सब तरह के कष्ट सह सकता था, वह दृढ़प्रतिज्ञ बालक अगर आगे चलकर परसेवापरायण महापुरुष के रूप में संसार के आगे उपस्थित हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है?

परोपकार करते समय विद्यासागर महाशय अपने-ग़ैर, स्वजा-तीय-विजातीय, स्वदेशी-विदेशी, स्त्री-पुरुष आदि का विचार नहीं करते थे। मनुष्यमात्र पर उनका एक-सा अनुराग था। पता लगाने से मुझे मालूम हुआ है कि संकट में पड़े हुए परिवार-सहित मदरासी ने उनकी सहायता पाकर अपने प्राण बचाये हैं, ग़रीब फ़िरङ्गी ने उनकी सहायता से अपने परिवार को मृत्यु के मुख में जाने से बचाया है और सब आदमियों द्वारा त्यागी गई मर रही कुलटा ने

भी उनकी सेवा से जीवन पाया है ! जिस महापुरुष ने यह देखकर कि दूध दुह लेने से गाय के बछड़े को कष्ट होता है और वह भूखा रहता है, बहुत दिनों तक दूध पीना छोड़ दिया था उस महात्मा के हृदय की कोमलता का अनुभव भी शायद हम लोग नहीं कर सकते। इसी से कहना पड़ता है कि लोकहितैषिता और जीव-दया में वे अद्वितीय थे।

बह रहा गङ्गा का जल जैसे समयानुसार पर्वत को नाँघकर दाहने और बायें सुख-सम्पत्ति, पुण्य और पवित्रता फैलाता हुआ सागर की ओर जाकर उसमें लीन हो जाता है वैसे ही विद्यासागर की दया का स्रोत कठिन कष्टों को नाँघता हुआ आसपास के और सारे देश के लोगों को सुखी बनाता हुआ उनके प्राणों के साथ अन्त को अनन्त दयामय के श्रीचरणों में जाकर लीन हो गया।

हमको भी विद्यासागर के जीवनचरित्र से दया, परोपकार, दृढ़ प्रतिज्ञा, स्वाभिमान, स्वावलम्ब आदि सद्गुणों की शिक्षा प्राप्त करके अपने चरित्र को ऐसा बनाना चाहिए कि उससे अपना, समाज का, देश का और संसार का उपकार और कल्याण हो। अगर हम इसके लिए चेष्टा करेंगे, सैकड़ों बाधा-विघ्नों की परवा न करके कर्त्तव्यपालन पर दृढ़ रहेंगे तो अवश्य परमेश्वर हमारा सहायक होगा; जैसा कि एक फ़ारसी का कवि कह गया है—"हिम्मते मर्दाँ मददे ख़ुदा।" तथास्तु।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, की

चुनी हुई पुस्तकें

वीरकेसरी नेपोलियन बोनापार्ट

इस पुस्तक में फ्रांस के प्रसिद्ध वीर सम्राट् नेपोलियन के जीवन की प्रायः समस्त छोटी-बड़ी घटनाओं का समावेश हो गया है। नेपोलियन की शिक्षा, उसका सरकारी नौकरी में प्रवेश, बढ़ते-बढ़ते सम्राट् तक हो जाना, यूरोप के भिन्न-भिन्न नरेशों के साथ सन्धि-विग्रह, जीत का सदुपयोग, प्रजा-पालन-चातुरी, रण-दक्षता, उसका प्रथम और द्वितीय विवाह, अन्तिम युद्ध और निर्वासन तथा उसके पश्चात् फ्रांस की दशा आदि का वर्णन इस ग्रन्थ में है। हिन्दी में नेपोलियन का ऐसा विस्तृत जीवनचरित अब तक नहीं था। पृष्ठ-संख्या ६५० से ऊपर। मूल्य २।।) दो रुपया आठ आने। सुन्दर जिल्द ३) तीन रुपये।

महादेव गोविन्द रानडे

न्यायमूर्त्ति रानडे प्रसिद्ध देशभक्त और समाज-सुधारक हो गये हैं। सरकारी नौकर होने पर भी वे सदा किसी न किसी रूप में देश-सेवा किया करते थे। राजा और प्रजा सभी के यहाँ उनका मान था। देश और समाज की उन्नति के लिए कटिबद्ध, अनेक सज्जन उनको गुरु का आसन देते हैं। उनका जीवन-चरित अनेक पुस्तकों के आधार पर श्रीयुत सूर्यराम सोमेश्वर देवाश्रयी ने गुजराती में लिखा है। उक्त पुस्तक का यह हिन्दी-अनुवाद है। प्रातः-स्मरणीय रानडे महोदय का इससे बढ़कर जीवन-चरित शायद ही कहीं मिले। यह पुस्तक प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी के काम की है। पृष्ठ-संख्या पौने चार सौ से ऊपर। मूल्य केवल १।।)

गारफ़ील्ड

अमरीका के एक प्रेसीडेंट का नाम "जेम्स एबरम् गारफ़ील्ड" था। उसका चरित्र इस पुस्तक में लिखा गया है। गारफ़ील्ड का जन्म एक साधारण किसान के घर में हुआ था। उसने अपने उत्साह, साहस और दृढ़ सङ्कल्प के कारण अमरीका के प्रेसीडेन्ट का सर्वोच्च पद प्राप्त कर लिया था। हमारे देश के नवयुवकों के लिए इस पुस्तक में बहुत कुछ उपदेश की सामग्री है। मूल्य ॥।) बारह आने।

हिन्दी-कोविद-रत्नमाला

दो भाग

पहले भाग में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और महर्षि दयानन्द सरस्वती से लेकर वर्तमान समय तक के हिन्दी के नामी चालीस लेखकों और सहायकों के सचित्र और संक्षिप्त जीवन-चरित दिये गये हैं; और दूसरे भाग में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा माधवराव सप्रे, बी० ए० आदि विद्वानों के तथा विदुषी स्त्रियों के जीवन-चरित छापे गये हैं। हिन्दी में यह पुस्तक अपूर्व है। प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी को यह 'रत्नों की माला' मँगाकर अपने कण्ठ की शोभा बढ़ानी चाहिए। प्रत्येक भाग में ४० हाफ़टोन चित्र दिये गये हैं। पहले भाग का मूल्य १॥।) एक रुपया बारह आने दूसरे भाग का मूल्य २) दो रुपये।

मिलने का पता—
मैनेजर, बुकडिपो, इंडियन प्रेस, लि०,
प्रयाग